वैशाख 1887
मई 1965

मूल्य : 6 रुपये

निदेशक, प्रकाशन-विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली-6, द्वारा प्रकाशित,
और प्रबन्धक, भारत-सरकार-मुद्रणालय, फरीदाबाद, द्वारा मुद्रित ।

दो शब्द

मानव-इतिहास की सम्पूर्ण धारा यही सिद्ध करती है कि शक्ति और श्रेष्ठता, दोनों ने सदैव ज्ञान का अनुसरण किया है। यह मानव की सीखने की क्षमता ही थी, जिसने उसे समस्त प्राणियों में सर्वोपरि बना दिया। मनुष्यों में भी श्रेष्ठता उन्हें ही प्राप्त हुई, जिनमें ज्ञानार्जन और उसके उपयोग की क्षमता सर्वाधिक थी। पुराने ज़माने में पुरोहितों और तान्त्रिकों ने श्रेष्ठतर ज्ञान के ही माध्यम से अपना प्रभुत्व स्थापित किया था और एक मूल्यवान रहस्य के रूप में उसे गोपनीय रखने की चेष्टा की थी। उन्होंने यह नहीं समझा था कि ज्ञान को छिपाने अथवा सीमाबद्ध रखने का प्रयत्न आत्मछलना है और इससे, अन्ततः, ज्ञान, श्रेष्ठता तथा शक्ति का ह्रास होता है। भारतीय इतिहास में ऐसे कितने ही दृष्टान्त हमें मिलते हैं, जब कुछ विशिष्ट वर्गों एवं श्रेणियों तक ही ज्ञान के सीमित हो जाने के कारण लोगों को भारी मुसीबतें झेलनी पड़ी हैं।

भौतिक सम्पत्ति के विपरीत, ज्ञान दान और वितरण के माध्यम से बढ़ता है। हालांकि औरंगज़ेब का दृष्टिकोण कितने ही क्षेत्रों में अत्यन्त संकीर्ण था और वह अनन्यता के आधार पर अपनी सत्ता बनाए रखने का प्रयत्न करता था, फिर भी वह उन चन्द भारतीय सम्राटों में से एक था, जिन्होंने सत्ता को स्थिर रखने के साधन-रूप में ज्ञान के महत्त्व को समझा था। एक बार एक विद्वान् ने जब इस आधार पर उससे विशेष व्यवहार पाना चाहा कि उसने उसे पढ़ाया था, तब औरंगज़ेब ने इस प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा—"यदि आपने मुझे वह दर्शन पढ़ाया होता, जो मानस को युक्ति-युक्त बनाता है और जो अत्यन्त ठोस तर्कों के बिना आश्वस्त होने की सीख नहीं देता; यदि आपने मुझे मानव-स्वभाव से परिचित कराया होता, मुझे श्रेष्ठतम सिद्धान्तों के प्रयोग का अभ्यासी बनाया होता; यदि आपने मुझे संसार और उसके अंगों की व्यवस्था तथा नियमित गति का उत्कृष्ट और समुचित परिचय दिया होता, तो मैं आपका उससे भी अधिक आभार मानता, जितना सिकन्दर अरस्तू का मानता था।" औरंगज़ेब ने यह भी घोषणा की कि एक शासक के लिए यह आवश्यक है कि वह "संसार के प्रत्येक राष्ट्र की विशिष्टताओं की, उसके प्राकृतिक साधनों और शक्ति की, उसके लड़ाई के तरीकों की, उसके आचार-व्यवहार, धर्म और प्रशासन-प्रणाली की जानकारी रखे।" वह जानता था कि किसी भावी राजा के प्रशिक्षण का एक अंग यह भी है कि वह ऐतिहासिक अध्ययन की एक नियमित प्रक्रिया के द्वारा राज्यों के उद्भव, उनकी प्रगति और उनके पतन की तथा उन घटनाओं, दुर्घटनाओं अथवा भूलों की जानकारी प्राप्त करे, जो महान् परिवर्तनों और शक्तिशाली क्रान्तियों को जन्म देती हैं।"

औरंगज़ेब की बौद्धिक क्षमता तो असन्दिग्ध थी ही, इसके अतिरिक्त यदि उसे वैसा प्रशिक्षण भी मिला होता और उसने यह सीखा होता कि राष्ट्रों की प्रगति और उनकी सम्पन्नता सभी नागरिकों को धर्म, जाति, राजनीतिक मत अथवा सामाजिक स्तर का भेदभाव किए बिना समान न्याय प्रदान करने पर निर्भर करती

है, तब भारतीय इतिहास का क्या रूप होता, इसकी कल्पना भी अत्यन्त रोचक है। जो भी हो, उसकी इस धारणा को तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि मानवीय विषयों के प्रशासन की ज़िम्मेदारी जिन पर है, उनके लिए उन मूलभूत सिद्धान्तों का ज्ञान अनिवार्य है, जो राज्यों के उत्थान-पतन तथा विभिन्न प्रकार के व्यवहारों के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रियाओं का नियमन करते हैं।

ऐसे ऐतिहासिक अध्ययन का महत्त्व आधुनिक युग में और भी बढ़ गया है और वह स्वयं मानव के अस्तित्व की जरूरी शर्त बन गया है। संसार की वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था में—यह बात बहुत हद तक उन क्षेत्रों के लिए भी सच है, जहां विधिवत् लोकतन्त्र नहीं है—देश की नीतियों और उसके कार्यक्रमों की ज़िम्मेदारी हर व्यक्ति पर आती है। फिर, विज्ञान और टेक्नोलाजी की प्रगति ने विभिन्न देशों के भाग्य को जो परस्पर बांध दिया है, उसके चलते आधुनिक मनुष्य का उत्तरदायित्व उसके अपने देश की सीमाओं से भी आगे पूरे विश्व तक विस्तृत हो गया है। चूंकि किसी एक देश में घटनेवाली घटना का सभी देशों पर असर होता है, इसलिए आज के नागरिक को मानव-जाति के भाग्य की चिन्ता प्राचीन युगों के राजाओं और राजकुमारों के मुकाबले कहीं अधिक रहती है। औरंगज़ेब ने महसूस किया था कि इतिहास की शिक्षा राजाओं के लिए आवश्यक है, लेकिन आज भारत-जैसे लोकतान्त्रिक गणराज्य के सभी नागरिकों के लिए ऐसी शिक्षा अनिवार्य हो गई है।

लगभग दो शताब्दी तक एक विदेशी सत्ता के अधीन रहने के कारण भारतीय, जातियों के उत्थान-पतन के कारणों के प्रति जागरूक हो गए हैं। धीरे-धीरे उन्होंने सम्पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त की, और फिर जो सबक़ उन्हें प्राप्त हुआ है, उसे काम में लाया, ताकि पहलेवाली दुखद गाथा की पुनरावृत्ति न हो पाए। इसके अतिरिक्त, जिस तरह भारत ने अपनी स्वतन्त्रता खोई और जिस तरह उसने उसे पुनः पाया, उसमें कुछ असाधारण तत्व थे, जिनके कारण उसका इतिहास सारे संसार के लिए भारी महत्त्व का बन जाता है। विशेष रूप से, महात्मा गांधी-द्वारा विकसित अहिंसात्मक संघर्ष की प्रणाली मानवीय सम्बन्धों की दुरूहतम समस्याओं में से एक का समाधान प्रस्तुत करती प्रतीत होती है। अतः, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय ऐतिहासिक अभिलेख-आयोग की जो पहली बैठक हुई, उसमें यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के विभिन्न चरणों का एक प्रामाणिक और विस्तृत इतिहास लिखा जाए। दिवंगत मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने इस प्रस्ताव का तत्काल स्वागत किया और आदेश दिया कि इसे कार्यान्वित करने के लिए अविलम्ब कदम उठाए जाएं।

कुछ लोगों का विचार था कि यह काम एक सरकारी अभिकरण के माध्यम से पूरा कराया जाए, पर शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया गया कि ऐसे अभिकरण सम्भवतः इस प्रयोजन के लिए उपयुक्त न हों। कारण, प्रथमतः किसी भी सरकारी संस्था के लिए स्वाभाविक है कि वह तत्कालीन सरकार के विचारों और मतों को प्रतिबिम्बित करे, जबकि राष्ट्रीय हित और ऐतिहासिक तथ्यात्मकता की दृष्टि से भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास को वस्तुनिष्ठ तथा निष्पक्ष होना चाहिए। दूसरी बात, इस इतिहास की सामग्री पूरे देश में बिखरी पड़ी है और बहुधा उन लोगों के पास है,

जिन्होंने स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया था। एक सरकारी संस्था, अपनी परम्परागत पद्धतियों से, ऐसे लोगों के पूर्वाग्रहों एवं सनकों के साथ पटरी बिठाते हुए उनसे जानकारी प्राप्त कर सकेगी, यह बात सन्दिग्ध प्रतीत हुई। इसीलिए यह आवश्यक हो गया कि सरकारी और निजी अभिलेख-संग्रहालयों में तथा संग्राम के परवर्ती चरणों में सक्रिय भाग लेनेवाले लोगों के पास पड़ी विशाल सामग्री को इकट्ठा करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किया जाए।

पहले कदम के रूप में, भारत-सरकार के तत्कालीन शिक्षा-परामर्शदाता डाक्टर ताराचन्द की अध्यक्षता में प्रतिष्ठित विद्वानों की एक विशेषज्ञ-समिति बनाई गई। इसकी प्रधान कर्तव्य-सीमा थी—सामग्री के संग्रह-कार्य को संगठित करने के लिए उपाय तथा तरीके प्रस्तावित करना और इतिहास तैयार करने के लिए अन्य व्यवस्थाएं करना। समिति ने सिफारिश की कि इतिहासकारों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से निर्मित एक केन्द्रीय संघटन के अतिरिक्त, देश के विभिन्न भागों में समान पद्धति पर ही प्रादेशिक समितियां भी बनाई जाएं। अतः, डा० सैयद महमूद की अध्यक्षता और श्री एस० एन० घोष के सचिवत्व में एक केन्द्रीय सम्पादक-मण्डल गठित किया गया। जनवरी 1953 में इस मण्डल की पहली बैठक में भाषण करते हुए मौलाना आज़ाद ने स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास को वस्तुनिष्ठ और निष्पक्ष बनाने की आवश्यकता पर बल दिया। स्वाधीनता प्राप्त हो जाने के कारण यह सम्भव भी था और आवश्यक भी कि भावावेश से बचा जाए, क्योंकि भावावेश निष्कर्षों को विकृत करता है और विकृत निष्कर्षों पर आधारित कार्य राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल होगा। उन्होंने यह भी संकेत दिया कि यद्यपि मुख्य रूप से यह राजनीतिक संघर्ष का ही इतिहास होगा, तथापि इसे साहित्य, शिक्षा, समाज-सुधार और वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास-जैसे अन्य क्षेत्रों में हुए राष्ट्रीय जागरण को भी उचित महत्त्व देना चाहिए।

मण्डल ने तीन वर्ष तक काम किया और अपनी प्रादेशिक समितियों की सहायता से भारत में राष्ट्रीय जागरण के लगभग प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित सामग्री बड़ी मात्रा में एकत्र की। उसने न केवल केन्द्र और राज्यों के सरकारी अभिलेख-संग्रहालयों तथा राष्ट्रीय और स्थानीय समाचारपत्रों का उपयोग किया, बल्कि विभिन्न राजनीतिक मतवादों से सम्बन्ध रखनेवाले और विविध सामाजिक तथा आर्थिक विचारधारावाले लोगों के भी वक्तव्य प्राप्त किए। सामग्री को यथासम्भव व्यापक बनाने के प्रयास में उसने भारत से बाहर के सूत्रों से भी सम्पर्क स्थापित किया।

इस प्रकार, मण्डल ने बड़ी उपयोगी सेवा की, पर शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि अस्थायी तौर पर बनाई गई एक तदर्थ संस्था आवश्यक सामग्री एकत्र करने के कार्य को पूरा नहीं कर सकती—पूरी सामग्री को चुन-छांट कर और एक सूत्र में पिरो कर एक समग्र इतिहास तैयार करने की तो बात दूर। विद्वान् इतिहासज्ञ और सक्रिय राजनीतिज्ञ, दोनों ही इसमें सम्मिलित थे और सामग्री के संग्रह-काल में ही उनके दृष्टिकोण का पार्थक्य स्पष्ट हो गया था। फिर, जब संगृहीत सामग्री की व्याख्या करने का समय आया, तब ये मतभेद और भी स्पष्ट हो गए। अतः, तय किया गया कि आगे के संग्रह का कार्य राष्ट्रीय अभिलेख-संग्रहालय को सौंप दिया जाए और सामग्री की व्याख्या करने और इतिहास लिखने का कार्य किसी एक प्रतिष्ठित विद्वान् के सुपुर्द कर दिया जाए। तदनुसार ही—डा० ताराचन्द को, जो आरम्भिक स्तर पर आयोजना-समिति के अध्यक्ष थे और जिनमें

इस कार्य को करने की विशेष सामर्थ्य थी, सामग्री का चुनाव करने और भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास तैयार करने का कार्य सौंपा गया।

जैसा कि पाठक स्वयं ही देखेंगे, डा० ताराचन्द ने एक विशाल और कल्पनाशील दृष्टिकोण अपनाया है और न केवल ब्रिटिश शासन के आगमन के समय की भारत की दशा का एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, बल्कि भारतीय और यूरोपीय इतिहासों का तुलनात्मक अध्ययन भी पेश किया है, जिससे विचाराधीन कालावधि में ब्रिटेन की प्रगति और भारत के पतन के कारणों पर हमारा ध्यान जा सके। उनका विषयोपचार वस्तुनिष्ठ तथा ऐतिहासिक है और उन्होंने राष्ट्रीय अथवा जातीय पूर्वाग्रहों से प्रेरित होकर नहीं, बल्कि ऐतिहासिक मानदण्ड के अनुसार प्रशंसा और निन्दा प्रदान की है। विश्लेषण और मत एकमात्र उनके हैं। हो सकता है, कोई उनके सभी निष्कर्षों और मतों को स्वीकार न करे, पर मेरा विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति इस बात से सहमत होगा कि उन्होंने तथ्यों का उपयोग बड़ी कुशलता और कलात्मकता के साथ किया है।

भारतीय स्वाधीनता के विलय और पुनः प्राप्ति की कहानी मानव-इतिहास में अध्ययन के सबसे आकर्षक विषयों में से एक है। एक जाति को, जिसका अतीत गौरवपूर्ण और शानदार था, जिसने कला और हस्तशिल्प का अत्यन्त विकास किया था और जिसके पास लगभग असीम मानवीय और भौतिक साधन थे, अपमान और पराजय का सामना केवल इसलिए करना पड़ा कि उसने न तो समाज के सभी स्तरों में राष्ट्रीय भावना का विस्तार किया था और न बाहरी दुनिया में हुई विज्ञान तथा टेक्नोलाजी की प्रगति के साथ अपना मेल रखा था। उसके पुनरुत्थान का आरम्भ तब हुआ, जब पराजय की ग्लानि ने एक गुरुतर राष्ट्रीय जाग्रति पैदा की और विदेशी शासकों ने यहां के प्राचीन समाज में आधुनिक शिक्षा और विज्ञान की विस्फोटक शक्तियां प्रविष्ट करा दीं। इस प्रकार जो उफान लाया गया, वह आज तक राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में समाहित है और सामाजिक संगठन तथा बौद्धिक चिन्तन-शैलियों में एवं धार्मिक विश्वासों तथा आचारों में दूरगामी परिवर्तन ला रहा है। जब राष्ट्रीय जागरण के चलते राष्ट्रीय आत्मसम्मान वापस आया, तब भारत पुनः स्वतन्त्र हो गया, यद्यपि इस प्रक्रिया में द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में फलित होनेवाली विश्व की हलचलों ने भी उसकी स्वाभाविक सहायता की।

यह निश्चय किया गया है कि भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन की कहानी तीन खण्डों में पेश की जाए और प्रत्येक खण्ड में चार सौ से पांच सौ तक पृष्ठ हों। पहले खण्ड का प्रकाशन आज—ब्रिटिश आधिपत्य को अनिवार्य बना देनेवाली पानीपत की तीसरी लड़ाई के दो सौ वर्ष बाद—किया जा रहा है। आरम्भिक युगों में भारतीय जाति के जीवन और इतिहास को आकार देनेवाली ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की पृष्ठभूमि में अठारहवीं सदी के भारत की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अवस्थाओं का वर्णन इस खण्ड में किया गया है। यूरोप में आधुनिक युग लानेवाले विकास-क्रमों का भी एक विहंगम चित्र इसमें प्रस्तुत किया गया है, ताकि अपेक्षाकृत रूढ़ भारतीय समाज पर पड़े पश्चिम के नए गतिवाद के प्रभाव को समझा जा सके।

इतना विशाल कार्य अनेक सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं तथा भारत में और भारत के बाहर रहनेवाले स्त्री-पुरुषों के सहयोग के बिना पूरा नहीं किया जा सकता था। इस राष्ट्रीय कार्य की पूर्ति में सहायता प्रदान करने के लिए हम उन सबके कृतज्ञ और ऋणी हैं। इससे भी अधिक हम डा० ताराचन्द और उनके सहयोगियों के ऋणी हैं

जिन्होंने बड़ी लग्न और सावधानीपूर्वक इतनी विशाल सामग्री को चुना-छांटा और उन सिद्धान्तों को खोजा, जिन्होंने इस संक्रमणमूलक, किन्तु क्रान्तिकारी काल में भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों को चित्रित करनेवाली विविधतामूलक और यदा-कदा परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को एक दिशा और एकता प्रदान की है।

नई दिल्ली,

26 जनवरी, 1961

—हुमायूं कबीर

आमुख

स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास लिखने के सिलसिले में मुझे कितनी ही समस्याओं का सामना करना पड़ा। इस इतिहास का आरम्भ कहां से हो ? एक उत्तर था : 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से। लेकिन कांग्रेस तो एक विकासशील राष्ट्रीय आन्दोलन की संगठित अभिव्यक्ति थी और राष्ट्रीय चेतना के विकास का इतिहास बताए बिना कांग्रेस के जन्म के कारणों और परिस्थितियों को स्पष्ट कर सकना असम्भव था। तब, राष्ट्रीय चेतना कब पैदा हुई ? 1857 की क्रान्ति की लपटों में, या उससे भी पहले ? अब, यह जरूरी हो गया कि राममोहन राय तक लौटा जाए। लेकिन राममोहन राय तो ब्रिटिश विजय के प्रभाव की उपज थे। अतः, इस निष्कर्ष से अलग जाना सम्भव नहीं था कि उस प्रभाव के स्वरूप का अध्ययन और स्पष्टीकरण अत्यन्त आरम्भिक अवस्थाओं से ही किया जाना चाहिए।

एक दूसरे प्रश्न का उत्तर दे सकना इससे भी कठिन था। मुझे न सिर्फ स्वाधीनता-प्राप्ति की कहानी कहनी थी, बल्कि स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास लिखना था। स्वाधीनता एक नकारात्मक धारणा है। इसका अर्थ है, पराधीनता की अनुपस्थिति। इसमें कोई सकारात्मक अर्थ-बोध नहीं है; यह विदेशी आधिपत्य को उलट कर राजनीतिक प्रभुसत्ता प्राप्त करनेवाले समाज के गुण-चरित्र की ओर कोई संकेत नहीं करती। स्वतन्त्रता विदेशी नियन्त्रण की अनुपस्थिति-मात्र से कहीं अधिक कुछ है; कारण, इसका तात्पर्य उस समाज से है, जिसमें कुछ सकारात्मक गुण भी हों—अर्थात्, जनता की इच्छा के अनुसार अपने मामलों के व्यवस्थित करने की सामर्थ्य और अपने सब सदस्यों को स्वतन्त्रता और समानता प्रदान करनेवाली लोकतान्त्रिक जीवन-पद्धति प्रदान करना।

अठारहवीं शताब्दी में ब्रिटिश हस्तक्षेप के फलस्वरूप भारत ने अपनी स्वाधीनता खो दी। किन्तु लगभग दो शताब्दी के ब्रिटिश संरक्षण में ही उसने पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। अब इससे सम्बद्ध दो प्रश्न उत्पन्न हुए। भारत ने अपनी स्वाधीनता क्यों खो दी और भौतिक तथा नैतिक अर्थों में इस हानि के क्या परिणाम निकले ? दूसरे, भारत स्वतन्त्रता-प्राप्ति के योग्य कैसे बना ? यूरोप स्वाधीनता से स्वतन्त्रता तक प्रगति कर चुका था और यह यात्रा उसने एक हजार वर्षों में, अर्थात् रोमन साम्राज्य के प्रान्तों में ट्युटानिक कबीलों के बस जाने से लेकर अठारहवीं सदी तक की अवधि में तय की थी; लेकिन विदेशी आधिपत्य और शासन का अनुभव उसने कभी नहीं किया था। दूसरी ओर, स्वशासन तक पहुंचानेवाली कष्टसाध्य यात्रा पर निकलने से पहले भारत को अपनी प्रभुसत्ता खो देनी पड़ी थी और यूरोप-द्वारा लिए गए समय के पांचवें हिस्से में ही उसे यात्रा के सब पड़ाव तय करने थे।

मुझे लगा कि जो-कुछ भारत में हुआ, उसकी व्याख्या के लिए मुझे, संक्षेप में ही सही, पश्चिम के अनुभवों पर प्रकाश डालना चाहिए। इसलिए, भारत की स्वतन्त्रता की कहानी की भूमिका के रूप में मैंने यूरोप में हुई प्रगति के इतिहास का सार-तत्व देने का प्रयत्न किया है।

भारत-द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति एक चमत्कारपूर्ण घटना है। यह एक सभ्यता का एक राष्ट्रीयता में रूपान्तर है। यह राष्ट्रीय प्रभुसत्ता की स्थापना के माध्यम से राष्ट्रीयता की पूर्णता है। अपनी प्रगति के पूरे मार्ग में यह जितना अन्य की हिंसा के विरुद्ध एक आन्दोलन रहा, उतना ही अपनी असंगतियों के खिलाफ एक आवाज़ भी। मतलब यह कि विदेशियों और स्वयं अपने लोगों, दोनों के सन्दर्भ में यह एक नैतिक संघर्ष था। और, जहां हर जगह ऐसे संघर्ष रक्तपात से परिपूर्ण रहे हैं, वहां भारतीय आन्दोलन अत्यन्त तीव्र और यातनाओं से ओतप्रोत होते हुए भी अहिंसक बना रहा।

स्वतन्त्रता का इतिहास एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। इसका पहला चरण उस सीमा तक प्रतिपक्षात्मक था, जहां तक वह प्राचीन व्यवस्था के विनाश का आग्रही था। यह उस प्रक्रिया का प्रतिपादन है, जो अठारहवीं सदी के मध्य में आरम्भ हुई और सन् 1857 के विप्लव में जिसकी परिणति हुई। दूसरा चरण है एक नई व्यवस्था का उद्भव, जिसने सन् 1857 के बाद की आधी शताब्दी में क्रमशः ज़ोर पकड़ा। तीसरा चरण है, प्राचीन एवं नवीन व्यवस्थाओं की तथा पूर्व एवं पश्चिम की भावनाओं के संघर्ष और संगम का और भारत राष्ट्र नामक एक नई इकाई के संसार में प्रवेश पाने का।

एक द्वन्द्वात्मक विषय-वस्तु को मैंने तीन खण्डों में प्रस्तुत किया है, जिनमें से यह पहला खण्ड विवेचन के प्रथम अंश से सम्बन्ध रखता है।

भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन का इतिहास लिखा जाए—यह विचार प्रथमतः भारत-सरकार के तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री दिवंगत मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के मन में उठा था। मौलाना आज़ाद में एक विद्वान् तथा राजनीतिज्ञ का और पुरानी दुनिया की परिष्कृति तथा संस्कृति एवं स्वतन्त्रता और प्रगति के लिए आधुनिक उत्कण्ठा का एक दुर्लभ सम्मिश्रण था। अपने जीवन का बड़ा भाग उन्होंने संघर्ष में बिताया। इस उद्देश्य की वेदी पर उन्होंने अपना सब-कुछ अर्पित कर दिया। अपनी सारी शक्ति—अपनी अद्वितीय वक्तृता, अपनी सन्तुलित निर्णय-क्षमता, अपने विवेकपूर्ण परामर्श, अपनी उदार देशभक्ति, अपनी तीव्र लगन, अपना आत्मसम्मान, अपना आदर्शवाद, सब-कुछ—उन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता की वेदी पर न्योछावर कर दी। फिर भी, प्रचण्ड संघर्षों और चैन की संक्षिप्त अवधियों के बीच ज्ञान के प्रति अपने अनुराग को उन्होंने कभी नहीं त्यागा। उनकी स्मरणशक्ति बड़ी अद्भुत थी और उनका मस्तिष्क उर्दू, फारसी, अरबी, आदि कितनी ही भाषाओं की कविताओं का, कितने ही देशों के इतिहासों का एवं धार्मिक कथाओं का खज़ाना था। अपनी पुस्तकों के बीच बैठ कर अथवा साहित्यिक कार्यों में व्यस्त रह कर उन्हें सर्वाधिक प्रसन्नता होती थी। भारत की स्वतन्त्रता उनका काम्य थी और उसकी उपलब्धि के बाद उसकी कहानी कहना उनकी अति प्रिय इच्छा।

मुझे शिक्षा-मन्त्रालय में लगभग चार वर्ष तक उनके साथ काम करने का सौभाग्य मिला था और इतिहास में मेरी रुचि से वह परिचित थे। अतः, यह काम हाथ में लेने के लिए जब उन्होंने मुझसे कहा, तब मैंने प्रसन्नता से इसे स्वीकार कर लिया। मैं उनका आभारी हूं कि उन्होंने यह काम करने का अवसर मुझे दिया, जो कि मुझे हृदय से प्रिय है। उन्होंने तीन विद्वानों—डा० वी० जी० दिघे, डा० आर० के० परमू तथा डा० बी० एम० भाटिया—का सहयोग मेरे लिए उपलब्ध कर दिया। इन सबने स्वेच्छिक और पूरे अनुराग से काम किया है। इस पुस्तक को लिखने में इन्होंने उल्लेखनीय योगदान किया है और इस खण्ड को पूरा करने में इनसे प्राप्त अमूल्य सहायता के लिए मैं इन सबका

आभारी हूं। वैज्ञानिक अनुसन्धान और सांस्कृतिक मामलों के मन्त्री श्री हुमायूं कबीर को भी मैं उनकी सहायता के लिए धन्यवाद देता हूं। इस कार्य में उन्होंने जो रुचि और उत्सुकता दिखाई, उसकी मैं कद्र करता हूं, क्योंकि यदि वह इसमें रुचि न लेते, तो कितनी ही कठिनाइयों को, विशेषकर प्रकाशन-सम्बन्धी कठिनाइयों को, हल करना सम्भव न होता। मैं भारत के राष्ट्रीय अभिलेख-संग्रहालय के निदेशक और कलकत्ता के राष्ट्रीय पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूं, जिन्होंने अपने अभिलेखों एवं पुस्तकों के अध्ययन की सहज अनुमति मुझे प्रदान की।

नई दिल्ली, —ताराचन्द

5 जनवरी, 1961

विषय-सूची

भूमिका

1. सिंहावलोकन

अठारहवीं शताब्दी में भारत पर ब्रिटेन का प्रभुत्व जम गया। भारत के इतिहास में लगभग पहली बार ऐसा हुआ कि इसके प्रशासन और भाग्य-निर्णय की डोर एक ऐसी विदेशी जाति के हाथों में चली गई, जिसकी मातृभूमि कई हज़ार मील दूर अवस्थित थी। इस तरह की पराधीनता भारत के लिए एक सर्वथा नया अनुभव थी, क्योंकि यों तो अतीत में भारत पर कई आक्रमण हुए थे और समय-समय पर भारतीय प्रदेश के कुछ भाग अस्थायी तौर पर विजेताओं के उपनिवेशों में शामिल हो गए थे, पर ऐसे अवसर कम ही आए थे और उनकी अवधि भी अत्यल्प ही रही थी। उदाहरण के लिए, ईरान के अकेमिनियन साम्राज्य में भारत के सीमान्त-प्रदेश शामिल थे और सिन्धु-घाटी से कर वसूला जाता था; कुषाणों ने कश्मीर और उत्तर-पश्चिमी भारत को जीत लिया था और एक शताब्दी से भी अधिक समय तक वे इन प्रदेशों पर शासन करते रहे थे। पह्लवों, शकों और हूणों की भी घुसपैठ अल्पकालीन ही सिद्ध हुई थी। गजनवी उपनिवेश में पंजाब सम्मिलित था, और सिन्ध पर अरबों का शासन था। अस्थायी शासन की इन घटनाओं के अलावा भारत को कई आक्रमणों का भी सामना करना पड़ा था; किन्तु आक्रान्ताओं के वे तूफानी अभियान इस देश को कुछ ही समय तक रौंदने के बाद आगे बढ़ गए थे। इनमें प्रमुख थे: सिकन्दर, तैंर, नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली। जिन विजेताओं ने भारत के अधिकांश पर स्थायी साम्राज्य स्थापित किए, वे थे—आरम्भिक मध्य-युगों में तुर्क और बाद में चग़ताई मुगल।

उत्तर-पश्चिमी भारत पर शासन करनेवाले कुषाण विजेता पूरी तरह भारतीय बन गए थे। उन्होंने भारतीय धर्मों, भारतीय भाषाओं और भारतीय रीति-रिवाजों को अपना लिया था। वे भारतीय समाज में घुल-मिल गए थे। लेकिन अफ़ग़ानिस्तान अथवा मध्य-एशिया से आनेवाले आरम्भिक मुसलमान विजेताओं का इतिहास इनसे भिन्न रहा। महमूद गजनवी, शहाबुद्दीन गोरी अथवा बाबर के बाद जो मुसलमान सैनिक तथा सेनापति, विद्वान् तथा व्यापारी भारत आए, उन्होंने शकों, कुषाणों और हूणों के विपरीत, भारत में अपने पृथक् व्यक्तित्व को मिटने नहीं दिया। वे अपने धर्म पर तो दृढ़ रहे ही, अपनी संस्कृति के अधिकांश को उन्होंने ज्यों-का-त्यों रखा; लेकिन इस देश में स्थायी रूप से बसने का उन्होंने निश्चय किया। अपने विदेश-स्थित ठिकानों से उन्होंने सम्बन्ध-विच्छेद किया और भारतीयों के साथ अपना भाग्य जोड़ा। जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं ने उन्हें अपनी प्रजा के साथ अधिकाधिक सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करने को विवश किया। नए वातावरण के अनुसार और प्रशासन के हित में, उन्होंने शासन और व्यवस्था-सम्बन्धी अपनी मान्यताओं में भी परिवर्तन किए। अपने कितने ही विदेशी रीति-रिवाजों को उन्होंने त्याग दिया और भारतीय जीवन तथा संस्कृति के तत्वों को ग्रहण किया। एक नए धर्म के आ जाने से धार्मिक क्षेत्र में भारत समृद्ध हुआ और नए तत्वों के समाहित होने से उसकी बहुरंगी सभ्यता में और विविधता उत्पन्न हुई।

इस प्रकार, यद्यपि मुस्लिम आधिपत्य के कारण भारत के प्राचीन समाजों में कई राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन आए, तथापि उसकी प्राचीन संस्कृति का आधार और स्वरूप बहुत-कुछ ज्यों-का-त्यों रहा । भारतीयों ने नवागन्तुकों को काफी-कुछ दिया और बदले में बहुत-कुछ प्राप्त किया। उन्होंने विजेताओं-द्वारा प्रचलन में लाई गई नई सामाजिक पद्धतियां सीखीं। कट्टर एकेश्वरवाद और समतावादी समाज पर बल देनेवाले इस्लाम धर्म के प्रभाव ने कतिपय प्रतिक्रियाएं उत्पन्न कीं, और हिन्दू-धर्म तथा सामाजिक पद्धतियों में एक आलोड़न पैदा हुआ, जिसके फलस्वरूप दोनों पक्षों के दृष्टिकोणों तथा रीतियों में समन्वय स्थापित हुआ । मुसलमानों की भाषाओं और साहित्यों ने हिन्दुओं की वाणी और लेखन पर व्यापक प्रभाव डाला। नए शब्द, मुहावरे और साहित्यिक विधाओं ने इस देश की धरती में जड़ें जमाईं और नए प्रतीकों तथा धारणाओं ने उनकी विचार-शैली को सम्पन्न किया। एक नई साहित्यिक भाषा विकसित हुई और कितनी ही मध्ययुगीन भारतीय-आर्य बोलियां आधुनिक साहित्यिक भाषाओं के रूप में प्रस्फुटित हुईं। वास्तु-कला, चित्र-कला और संगीत-कला के साथ-साथ अन्य कलाओं में भी भारी परिवर्तन आए और ऐसी नई शैलियों ने जन्म लिया, जिनमें दोनों के ही तत्व विद्यमान थे। तेरहवीं शताब्दी में यह जो प्रक्रिया आरम्भ हुई, वह पांच सौ वर्ष तक चलती रही ।

सोलहवीं शताब्दी में बाबर ने अफगान-वंशीय लोदी-परिवार को उलट दिया। उसके उत्तराधिकारियों ने भारतीय हितों को ही अपना हित माना और कुल मिला कर ऐसी नीतियों का अनुसरण किया, जिनके द्वारा राजनीतिक एकता और सांस्कृतिक सौमनस्य की प्रवृत्तियों को बल मिला । भारत के अधिकांश पर मुगल-साम्राज्य के विस्तार के सुदूरव्यापी परिणाम निकले। इसके चलते जातीय सरदारी-प्रथा और खुदमुख्तार रियासतों का खात्मा हो गया। उन दोहरे आधिपत्यवाली राजनीतिक इकाइयों को भी, जिनकी सत्ता को समय-समय पर मौर्य, कुषाण अथवा गुप्त-जैसे साम्राज्यों ने सीमित किया था, एक ऐसे साम्राज्य के संगठन में कस दिया गया, जिसका शासन सीधे केन्द्र से होता था। अर्द्ध-स्वतन्त्र कबीलों के थोड़े-बहुत इलाके और सीमा पर बिखरी कुछ जागीरदारियां तथा रियासतें ही बच रहीं।

मुगल-सम्राट् और उनके प्रमुख सामन्त कला तथा साहित्य के सुयोग्य संरक्षक थे। ब्रज, अवधी, बंगला, मराठी और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं को, जो परिष्कृत हिन्दुत्व और भक्ति-सम्प्रदाय (प्रेम और सेवा का धर्म) का वाहन बन चुकी थीं, राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था । सम्राट् और उसके प्रान्तीय सूबेदारों के दरबार कला और संस्कृति के केन्द्र बन गए थे। पहाड़ी प्रदेशों, राजस्थान, मध्य-भारत और दक्षिण के हिन्दू-शासक मुगलों के संरक्षण में विकसित शैलियों का अनुसरण करते थे।

मुगलों की राजनीतिक प्रणाली और भारत के सांस्कृतिक आदर्श उस सामाजिक-आर्थिक आधार पर प्रतिष्ठित थे, जो छोटे-मोटे परिवर्तनों के सिवा सम्पूर्ण प्राचीन और मध्य-युगीन इतिहास में अधिकांशतः सुस्थिर रहा। उसका आरम्भ सम्भवतः भारत में आर्यों के प्रारम्भिक निवास-काल में हुआ था।

यह सामाजिक-आर्थिक क्रमबद्धता भारतीय इतिहास की एक उल्लेखनीय विशेषता है। भारत के लोगों की बहुरंगी संस्कृति में जो एकस्वरता मिलती है,

उसका स्रोत यही है। इस प्रकार, यद्यपि भारत में बहुत-से धर्म, भाषाएं और जातियां हैं, तथापि जीवन के प्रति उसका मूलभूत दृष्टिकोण सैकड़ों-हज़ारों वर्षों से एक-सा रहा है। विभिन्न युगों में संस्कृतियों की संख्या में वृद्धि के बावजूद उनमें एक विशेष भारतीयता रही है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि भारत का सामाजिक-आर्थिक ढांचा, जिसका मूल आर्यों के प्रथम आगमन और उनके द्वारा पहले के आर्येतर भारतीयों को अपने में मिला लेने में निहित है, उन्नीसवीं शताब्दी तक बिना किसी मौलिक परिवर्तन के चलता रहा। इसका कारण शायद यह है कि यूरोप के विपरीत, भारत का जातीय स्वरूप एक बार जैसा बन गया, वैसा बन गया और आगे चल कर उसमें बहुत ही कम परिवर्तन हुए। यह स्वरूप-निर्माण उस समय हुआ, जब प्रवासी आर्य भारत आए—शायद वे कई दलों में बंट कर आए और उन्होंने भारत के विभिन्न भागों पर अधिकार किया। हर प्रदेश में वहां के मूल निवासियों को विभिन्न प्रकार से और विभिन्न संख्या में ग्रहण किया गया, और इस प्रकार, इन अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग सामाजिक व्यवस्थाएं स्थापित हुईं। लेकिन आर्यत्व की छाप इन सब पर कमोबेश रही और जो परम्पराएं एक बार बन गईं, वे बाद के जातीय स्थानान्तरण तथा अन्य गड़बड़ियों के कारण बदल नहीं पाईं। ये परम्पराएं भारतीय जनता में आर्य, द्रविड़ और आदिवासी तत्वों के सम्मिश्रण का परिणाम थीं। चूंकि अस्थायी हमलों और स्थायी आधिपत्य का जन-साधारण पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा, इसलिए परम्पराओं में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं हुआ। बाद में शक, हूण, जाट और गूजर-जैसी जातियों का आगमन समुद्र में छोटी-छोटी लहरों से अधिक सिद्ध न हो सका और ये जातियां उसकी विशालता में खो गईं।

तेरहवीं शताब्दी में जब मुसलमान विजेताओं ने अपना साम्राज्य स्थापित किया, तब भारत में एक नई संस्कृति ने प्रवेश किया। तब, प्राचीन और नवीन का मिलन हुआ और दोनों के बीच आदान-प्रदान हुआ। इस प्रक्रिया में एक जटिल स्थिति पैदा हो गई।

समाज के जातीय एवं आर्थिक आधार में अत्यल्प परिवर्तन हुआ। गांव सामुदायिक जीवन की आत्मनिर्भर इकाई के रूप में काम करता रहा। उद्योग और व्यापार में संघटन अथवा पद्धति-सम्बन्धी कोई मूल संशोधन नहीं हुआ और वे ज्यों-के-त्यों चलते रहे। हिन्दू और मुस्लिम-समाज का दो वर्गों—अधिकार-सम्पन्न, भूस्वामी और शासक-वर्ग; तथा प्रशासन-कार्यों में भाग नहीं लेनेवाला अधिकार-शून्य लोक-वर्ग—में विभाजन कायम रहा। राजनीतिक प्रणाली में कोई अन्तर नहीं आया। प्रशासन और जनता को परस्पर बांधनेवाले सूत्र बहुत ही कम और कच्चे थे; कारण, प्रशासन का कार्य-क्षेत्र बहुत ही सीमित था—प्रतिरक्षा के ख़याल से और अव्यवस्था को रोकने के लिए एक सेना खड़ी करना, और सेना का खर्च पूरा करने के लिए कर उगाहना। विधान-निर्माण उसके कार्य-क्षेत्र से बाहर था—इसी प्रकार न्याय-व्यवस्था का अधिकांश भी। विधान-निर्मात्री संस्थाएं थीं ही नहीं; दीवानी और व्यक्तिगत मामले अधिकतर गैर-सरकारी संस्थाओं-द्वारा निबटाए जाते थे।

जहां तक धर्म का सम्बन्ध है, यद्यपि निम्न वर्ग के लोग अन्धविश्वासों में डूबे रहे, और बुद्धिजीवी-वर्ग पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ा, तथापि आदान-प्रदान काफी

हुआ। इस्लाम के प्रभाव से हिन्दुओं में नए मतों और सम्प्रदायों ने जन्म लिया और उदारमना मुसलमान सूफियों तथा विद्वानों ने हिन्दुओं के दार्शनिक सिद्धान्तों तथा आत्मसंयम की पद्धतियों को अपनाया। साहित्य और कला के क्षेत्र में, हिन्दू और मुस्लिम-शैलियों का बहुत अधिक सम्मिश्रण हुआ। लेकिन कानून के क्षेत्र में पारस्परिक आदान-प्रदान बहुत ही कम हो पाया।

हां, सांस्कृतिक सामंजस्य अवश्य हुआ, पर एक राष्ट्रीय चेतना जगाने में वह असफल रहा, क्योंकि वर्ग और सम्प्रदाय जिन कठोर सांचों में जकड़े थे, उन्होंने उन्हें एक-दूसरे से मिलने नहीं दिया।

राज्य ने इस चेतना को बढ़ावा नहीं दिया और एक ही देश में साथ-साथ रहने के कारण जन-वर्गों में जो सम्पर्क पैदा हुआ था, उसके सिवा ऐक्य-भावना को बढ़ाने के लिए सचेत प्रयास बहुत ही कम हुआ। आर्थिक और सामाजिक विकास ने भी प्रादेशिक अनुराग अथवा व्यक्ति की समस्त देशवासियों के साथ एकरूपता की भावना को बढ़ावा नहीं दिया।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुगल-साम्राज्य का ढांचा चरमराने लगा और समय बीतने के साथ-साथ उसके पतन की गति तीव्र होती गई। केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता का शासन की आर्थिक स्थिति पर दुष्प्रभाव पड़ा—राजस्व घट गया, संचार-साधन लड़खड़ा गए, और उद्योग, व्यापार तथा कृषि को स्थानीय स्वरूप मिलने लगा। केन्द्र-विरोधी शक्तियां हावी होने लगीं, न्याय और व्यवस्था बिगड़ गई, वैयक्तिक एवं सार्वजनिक नैतिकता हिल गई। साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए और विदेशी आक्रमणों तथा आन्तरिक शत्रुओं का मुकाबला करने की उसकी शक्ति टूट गई।

ठीक इसी संकट की घड़ी में यूरोपीय राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भारतीय मामलों में हस्तक्षेप आरम्भ किया।

सन् 1498 में जब वास्को-दि-गामा कालीकट के बन्दरगाह पर उतरा, तब एशिया और यूरोप के सम्बन्धों में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। दोनों महाद्वीपों के बीच जो प्रतिद्वन्द्विता प्राचीन काल से चली आ रही थी, वह पन्द्रहवीं शताब्दी में इस्पहानी अन्तरीप से हब्शियों के हट जाने और बाल्कन प्रदेश में तुर्कों के पुनः आगे बढ़ने के साथ समाप्त हो चुकी थी। स्पेन और पुर्तगालवालों ने मुसलमानों का पीछा करते हुए समुद्रों को छान मारा और पश्चिम की ईसाई शक्तियों को अबीसीनिया में प्रीस्टर जान के काल्पनिक राज्य के साथ मिलाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार निरन्तर आगे बढ़ कर उत्तर-अफ्रीका और पश्चिम-एशिया के मुसलमानों को कुचलने का उपक्रम किया। अपने इन सामरिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने अफ्रीका की जहाज़ी परिक्रमा की, अरब-सागर को पार किया और वे भारत के पश्चिमी तट पर जा लगे।

पुर्तगाली साहसिकता के दूरगामी परिणाम निकले। प्रथमतः इसने तुर्की और अरबी जहाज़ों को भारतीय समुद्रों से निकाल बाहर किया और इस प्रकार, अब्बासी खलीफाओं के ज़माने और उससे भी पहले से भारत तथा पश्चिम-एशियायी पड़ोसियों के बीच जो शान्तिपूर्ण व्यापारिक सम्बन्ध चलते आ रहे थे, वे समाप्त हो गए। भारतीय आयातऔर निर्यात का सामान भारतीय और

एशियायी जहाजों में लाया और ले जाया जाता था; वह सब अब पुर्तगाली जहाजों में आने-जाने लगा और भारतीय जहाजरानी-उद्योग को घातक आघात पहुंचा। दूसरी बात, चूंकि भारतीय नौकानयन समाप्त हो गया, इसलिए दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध टूट गए और गंगा के प्रदेश से परे बर्मा से लेकर इंडोनेशिया तक के देश भारतीय प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो गए। जिस भारतीय संस्कृति ने थाइलैण्ड, इण्डोचीन और इण्डोनेशिया की शानदार और अद्‌भुत उपलब्धियों को प्रेरणा दी थी; जिसने मलाया, सुमात्रा, जावा और पूर्वी द्वीप-समूह के द्वीपों के पार तक फैले विशाल साम्राज्यों के निर्माण में सहायता दी थी और जिसने इन प्रदेशों को एक नया धर्म और नई सभ्यता प्रदान की थी, उसकी प्रगति अचानक अवरुद्ध हो गई।

सबसे बड़ी बात यह है कि पुर्तगालियों का भारतीय तट पर पांव रखना भावी का एक पूर्व-संकेत था। विज्ञान के नए आविष्कारों; मानव की प्रतिष्ठा और समाज के संगठन के नए आदर्शों; तथा भौतिक उन्नति और राष्ट्रीय शक्ति की नई कल्पनाओं से उत्प्रेरित होकर एक पुनरुज्जीवित और आत्म-विश्वासयुक्त यूरोप कर्मक्षेत्र में जुट पड़ा था और उसने पूरब के सबसे समृद्ध देश के द्वारों को खटखटाना आरम्भ कर दिया था।

लेकिन अकबर महान् और शान-शौकत-पसन्द शाहजहां का अपार वैभव-सम्पन्न, अपनी कलाओं के लिए दूर-दूर तक विख्यात और देदीप्यमान संस्कृतिवाला भारत अठारहवीं सदी में पहुंच कर अपनी ताकत खो चुका था। वह मुगल-साम्राज्य के नाम-मात्र के प्रभुत्व के नीचे गांवों, जातियों या उपजातियों, कबीलों और ताल्लुकों का एक मध्य-युगीन जड़ पिण्ड-मात्र रह गया था। भारत की अर्थ-व्यवस्था कृषि-प्रधान थी, उसकी कार्य-प्रणाली अत्यन्त पुरानी थी, उसका संघटन संकुचित था, उसका लक्ष्य गुज़ारे के लायक चीज़ों का उत्पादन था। भारत का उद्योग बहुत छोटे पैमाने का था और उसका उद्देश्य या तो अमीरों के लिए विलास-सामग्री बनाना था या स्थानीय बाज़ार की मामूली ज़रूरतों को पूरा करना। इसमें पूंजी का योगदान बहुत ही नगण्य था। इसके विपरीत, यूरोप समुद्र-पारीय बाज़ारों का विकास कर रहा था। वह अमेरिका से सोने और चांदी के खज़ाने ला रहा था, जिससे उद्योग और वाणिज्य को नवजीवन मिल रहा था। तेज़ी से बढ़ती हुई पूंजी के दबाव में विशेषज्ञता का विकास हो रहा था और व्यापारी एवं बैंकर भूस्वामी कुलीन-वर्ग पर छाते जा रहे थे। यूरोप के दिमाग को जो बन्धन-मुक्त कर रहा था और उसे नई-नई खोजों तथा आविष्कारों के लिए उकसा रहा था, वह उग्र वैज्ञानिक आन्दोलन भारतीय बुद्धि को अभी तक गुदगुदा नहीं पाया था। भारत का सामाजिक और व्यक्तिगत आचरण उन सशक्त भावनाओं से अनुप्राणित नहीं हुआ था, जो यूरोप के सामन्तवादी एवं अराजक समाज को सुसंगठित ठोस राष्ट्रों में रूपान्तरित कर रही थीं। यूरोप में धर्म का युग समाप्त हो रहा था और तर्क का युग ड्योढ़ी पर था, जब कि भारत के उच्चतम मनीषियों का दृष्टिकोण अभी तक परलोकोन्मुख था और उनकी सर्वोच्च आकांक्षा थी, परमतत्व के साथ एकाकार होना।

सत्रहवीं शताब्दी में भारत का गौरव अपनी पराकाष्ठा पर था और उसकी मध्य-युगीन संस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई थी। पर एक-के-बाद-एक जैसे-जैसे शताब्दियां बीतीं, वैसे-वैसे यूरोपीय सभ्यता का सूर्य तेज़ी से आकाश के मध्य की ओर

बढ़ने लगा और भारतीय गगन में अन्धकार छाने लगा। फलतः जल्दी ही देश पर अंधेरा छा गया और नैतिक पतन तथा राजनीतिक अराजकता की परछाइयां लम्बी होने लगीं।

पुर्तगाल ने अपने दूर-दूर तक फैले साम्राज्य को बनाए रखने के लिए बहुतेरे हाथ-पांव फेंके। लेकिन सन् 1580 में जब वह स्पेनी ताज के अधीन हो गया, तब दौड़ में पीछे छूट गया। सतहवीं शताब्दी के आरम्भ में लगता था कि स्पेन समस्त संसार को अपने चरणों म झुका लेगा, लेकिन उसकी सड़ी-गली अर्थ-व्यवस्था और संकुचित धार्मिक कट्टरता ने उसे परेशानी में डाल दिया। नीदरलैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड-जैसे छोटे और युवा, पर उत्साही देशों ने उसका सिर नीचा कर दिया। उन्होंने उसके जहाजी बेड़ों को समुद्रों से निकाल बाहर किया और नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया। धीरे-धीरे नीदरलैण्ड ने भी दम तोड़ दिया और अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक मैदान में केवल दो प्रतिद्वन्द्वी—इंग्लैण्ड और फ्रांस—रह गए। आरम्भ में फ्रांस आगे बढ़ता दीखा। उसकी नई और सशक्त नीतियों ने दक्षिण में उसके प्रभाव को सर्वोच्च बना दिया, लेकिन शीघ्र ही सन् 1789 की क्रान्ति के रूप में प्रकट हुई आन्तरिक विग्रह की परछाईं समुद्र-पार तक फैल गई और भारत में फ्रांस के प्रतिनिधियों को अपने देश की सरकार से वह स्थायी सहायता नहीं मिल सकी, जिसके बिना अन्तिम विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी। सप्तवर्षीय युद्ध ने फ्रांस की महत्वाकांक्षाओं को अन्तिम रूप से कुचल दिया और मैदान एकमात्र अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

अंग्रेजों ने फ्रांस-द्वारा ईजाद किए गए तरीकों को सीख लिया था। उनके प्रयोग में वे उन्हें भी मात दे गए। उन्होंने भारतीय शासकों की कमजोरियों और मूर्खताओं का पूरा लाभ उठाया और स्वयं भारतीयों की सहायता से पूरे भारत के मालिक बन बैठे। उपनिवेश-स्थापना में ज़िम्मेदारियां निहित थीं। अंग्रेज़ व्यापार करके लाभ कमाने आए थे। वे राज्य के खज़ाने में आनेवाले राजस्व का उपयोग निर्यात के लिए भारतीय माल के उत्पादन और खरीद में करने लगे। वाणिज्य की और मालगुज़ारी उगाहने की ज़रूरतों से प्रेरित होकर एक प्रशासन-यन्त्र की स्थापना की गई। इस प्रकार, एक मृतप्राय समाज-पद्धति का भारी बोझ ढोनेवाला और फिर भी कला, साहित्य, दर्शन तथा धर्म की सम्पन्न थाती का स्वामी भारत विजेता, अहंकारी और प्रगतिशील उस ब्रिटेन के आमने-सामने जा पहुंचा, जो अपने नैतिक और भौतिक स्वरूप में एकदम आधुनिक था।

पूरब और पश्चिम के इस मिलन से अद्भुत परस्पर-विरोधी परिणाम निकले—शुभ और अशुभ का मिश्रण सामने आया। पहला नतीजा यह निकला कि भारतीय अर्थ-व्यवस्था को ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था के अनुकूल बदला और ढाला गया। साथ ही, गरीबी, जनसंख्या और भूमि पर दबाव—ये सब बढ़ गए। एक विशाल भौतिक क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। दूसरे, भारत का मस्तिष्क बहुत गहराई तक आन्दोलित हो उठा। एक ओर तो सत्ता में सन्देह करने की भावना पैदा हुई और पश्चिम की वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया गया, और दूसरी ओर पुनर्जागरण की प्रवृत्तियों को बल मिला और पूर्वजों के गौरव का अभिमान पुष्ट हुआ। फलतः राष्ट्रीय चेतना जागी, जिसका अनिवार्य फल यह निकला कि एक स्वाधीन, उत्तरदायी तथा लोक-

तान्त्रिक राज्य के रूप में स्वतन्त्रता-प्राप्ति की कामना बलवती हुई। लेकिन इस जाग्रति के साथ ही दुर्भाग्यपूर्ण साम्प्रदायिक आवेश और वर्ग-भेद ने भी सिर उठाया। भारत वैदेशिक आधिपत्य से तो अतीत में भी लम्बी-लम्बी अवधियों तक मुक्त रहा था, पर स्वतन्त्रता एक नई धारणा थी। शायद एकदम नई रणा भी यह नहीं थी, क्योंकि भारतीय दर्शन—हिन्दू, बौद्ध और मुस्लिम—आत्मा की आन्तरिक स्वतन्त्रता के विचार से परिचित था। वस्तुत: स्वतन्त्रता इसका केन्द्रस्थ भाव था। फिर भी, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का सन्देश नया था।

इस परिवर्तन की प्रक्रिया ही इस पुस्तक का विषय है। भारत का रूपान्तर और राष्ट्रीय चेतना का विकास पश्चिम के प्रभाव का ही परिणाम था। लेकिन स्वयं पश्चिम में राष्ट्रवाद एक काफी हाल की चीज़ थी। अठारहवीं सदी तक यह भावना यूरोप के सुदूर पश्चिम के देशों तक सीमित थी। वहां से यह उन्नीसवीं सदी में केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप में फैली और बाद में संसार के सभी देशों में इसका प्रसार हो गया।

यूरोप में राष्ट्रवादी समाजों की उत्पत्ति सामाजिक विकास-क्रम में सबसे हाल की घटना है। यूरोप ने सामन्तवाद से आरम्भ किया, सोलहवीं शताब्दी में उसने वाणिज्यवादी व्यवस्था को अपनाया और अठारहवीं शताब्दी के मध्य के बाद वह औद्योगिक पूंजीवाद तथा राष्ट्रवाद की ओर बढ़ा। दूसरी ओर, भारत अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक उस प्राचीन प्रणाली पर कायम रहा, जिसकी तुलना यूरोपीय सामन्तवाद से की जा सकती है। तब, पाश्चात्य प्रभाव के आघात ने पुराने ढांचे को चरमरा दिया और एक परिवर्तन-क्रम की ओर उसे ढकेला, जिसकी परिणति स्वतन्त्रता में हुई।

ऐसी विश्वव्यापी हलचल इस तथ्य को प्रदर्शित करती है कि इतिहास को संकीर्ण बना कर नहीं समझा जा सकता। विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले लोग कितने ही अलग-अलग क्यों न दीखें, एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पहुंचनेवाले प्रभावों के प्रति खुले रहते हैं। फलत: एक देश में हुई घटनाओं पर, संसार के दूसरे हिस्सों में घटित घटनाओं से उन्हें पूरी तरह काट कर, विचार नहीं किया जा सकता। इतिहास अनिवार्यत: एक विश्व-इतिहास है और जिस समय मानव धरती पर प्रकट हुआ, तभी से यह केवल अपने भौतिक वातावरण से ही नहीं, बल्कि मानवीय वातावरण से भी प्रभावित होता आ रहा है।

इन्हीं कारणों से भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव और स्वतन्त्रता की प्राप्ति को आत्मगत करने के लिए पाश्चात्य समाजों के इतिहास का अध्ययन करना और राष्ट्रवाद के विकास को आरम्भ से अन्त तक समझ लेना बहुत ज़रूरी है।

2. यूरोप में राष्ट्रवाद का विकास

प्राचीन यूरोप का विध्वंस

यूरोप में राष्ट्रवाद बहुत बाद में प्रकट हुआ, लेकिन उसकी जड़ें बहुत पहले के इतिहास में भी काफी गहरी हैं। यूरोपीय राष्ट्रवाद के निर्माण में बहुत-से कारणों ने योग दिया, पर वे अलग-अलग युगों में सक्रिय रहे। इनमें से दो का—जाति और संस्कृति का—मूल तो सुदूर अतीत में है। यद्यपि यूरोपीय राष्ट्रों का जातीय संगठन विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है, तथापि उसका प्रमुख तत्व आर्य-रक्त ही है। इन देशों में

आर्यों ने ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में बसना आरम्भ कर दिया था। इनके अनगिनत कबीलों में से यूनानियों और रोमनों ने सीमातीत सफलता और गौरव प्राप्त किया। जिन संस्कृतियों को उन्होंने पाला-पोसा, उन्हीं के आधार पर आधुनिक यूरोपीय जीवन का ढांचा खड़ा किया गया है।

सबसे पहले यूनानी और रोमन आर्य आकर बसे थे। यूनानी आधार-प्रतिष्ठाता थे। रोमनों ने अभिजात हेलेनिक सभ्यता को सारे यूरोप में फैलाया, जो स्काटलैण्ड से ईरान तक फैली और कितनी ही शताब्दियों तक जीवित रही। अन्त में, इस साम्राज्य को उन बर्बरों ने कुचल डाला, जो थे तो आर्य-रक्त के ही, पर जो राइन और डेन्यूब-पार के देशों में रहते थे। आर्यों के इस दूसरे स्थान-परिवर्तन के बहुत गम्भीर और महत्वपूर्ण परिणाम निकले।

प्रान्तों में बर्बर ट्युटानिक जातियों की घुस-पैठ बहुत पहले ही आरम्भ हो गई थी। कई शताब्दियों तक सीमाएं सुरक्षित रहीं, क्योंकि रोम के सम्राटों ने सुरक्षा की एक योजना कार्यान्वित की थी, जिसने बर्बरों को पीछे ढकेल रखा था। लेकिन अन्ततः आन्तरिक कलह और विग्रहों ने साम्राज्य के शक्ति-स्रोत को सुखा डाला और सन् 378 ईसवी में उसकी सेनाओं को एड्रियनपोल में बुरी तरह मुंह की खानी पड़ी। सम्राट् वेलन्स मारा गया। सौ वर्षों के भीतर गाथ, वण्डाल, फ्रैंक और दूसरी ट्युटानिक जातियां उमड़ पड़ीं और उन्होंने इन प्रान्तों पर अधिकार कर लिया।

जब ट्युटानिक दल रोम की सुरक्षा-पंक्तियों का विध्वंस कर रहे थे, तभी एक दूसरा गम्भीर खतरा पैदा हो गया। हूणों ने एशिया के मैदानों को पार किया और वे दक्षिण-रूस में घुस आए। उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी गाथों को अपने अधीन किया और अपना प्रभुत्व राइन तक फैलाया। तब उनके महान् नेता अत्तिला के अधीन एक शक्तिशाली सेना ने राइन को पार कर गाल (आधुनिक फ्रांस) में प्रवेश किया। पर मारियेक्स के युद्ध (सन् 451 ईसवी) में रोम की इज्जत बच गई और हूणों की बाढ़ उतर गई। रोम की सेनाओं की यह अन्तिम विजय थी, क्योंकि शीघ्र ही, सन् 476 ईसवी में, रोम गाथों के कब्ज़े में चला गया और इस देवपुरी का शानदार ढांचा धूल में मिल गया।

रोमनों ने जिस जीवन-पद्धति का निर्माण किया था, वह जड़ से उखड़ गई। नए बसनेवाले अपने साथ अपने रीति-रिवाज और संस्थाएं भी लाए थे। और यद्यपि इन नए लोगों ने अभिजात संस्कृति के अवशिष्ट तत्वों को ग्रहण किया, तथापि यूरोप में एक पूर्णतः नई संस्कृति पनप उठी।

रोम के पतन के बाद के युग में आक्रामक जातियां स्थिर रूप से बस गईं और उन्होंने एक नई व्यवस्था विकसित करने का प्रयत्न किया। फ्रैंक जाति के शासक शार्लमेन ने तो आठवीं शताब्दी में रोमन साम्राज्य को पुनरुज्जीवित भी किया। किन्तु नौवीं शताब्दी में कैरोलिजियन व्यवस्था भी बिखर गई और विप्लव की तीसरी लहर आरम्भ हुई। उत्तर की जातियों अथवा स्कैण्डिनेवियन देशों के वाइकिंग लोगों, बाल्टिक तट की स्लाव जातियों, पूरब के मगियारों और दक्षिण के सरासनों ने यूरोप की ट्युटानिक जातियों पर दबाव डालना आरम्भ कर दिया। वाइकिंग लोग ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी में तबाही मचाने लगे और साम्राज्य के प्रदेशों में बहुत पहले से खानाबदोश के रूप में विचरनेवाली स्लाव जातियां पूर्वी यूरोप में बस गईं।

इस बीच अरब उत्तर-अफ्रीका को जीत चुके थे और स्पेन में घुस आए थे। उन्होंने गाथ राज्यों को उलट दिया और पाइरिनीज़ को पार करके वे फ्रांस तक धंस आए। पर फ्रैंक लोगों ने उन्हें सीमा पर ही रोक दिया।

इस प्रकार, भयानक हत्याकाण्डों, विप्लवों और हिंसाओं के बीच यूरोपीय राष्ट्रों की नींवें रखी गईं। विनोग्रदाफ के शब्दों में, "मोटे रूप में सन् 476 से सन् 1000 तक का यूरोपीय इतिहास का पूरा समय, प्रथम दृष्टि में लगता है कि एक विप्लवपूर्ण उफान का युग था, जिसमें किन्हीं भी प्रेरक सिद्धान्तों और सुस्थापित संस्थाओं को खोज पाना लगभग असम्भव है।" कबायली जातियों के देश-परिवर्तन ने रोमन साम्राज्य को उलट दिया था। मगियारों और मूरों के आक्रमणों और उत्तर की जातियों-द्वारा किए गए विध्वंसों ने उस कबायली समाज को अस्त-व्यस्त कर दिया था, जो रोमन साम्राज्य के बाद अस्तित्व में आया था। उस समय वहां जीवन और सम्पत्ति की अत्यधिक अरक्षा की स्थिति वर्तमान थी और इस स्थिति ने उस आकार को रूप दिया, जिसमें आगे मध्य-युगों में यूरोपीय समाज ढला। हर कहीं केन्द्रीय सत्ता लुप्त हो चुकी थी और उसी के साथ राजकीय कराधान की प्रणाली भी नष्ट हो गई थी। विशाल सामाजिक संगठन इस आर्थिक व्यवस्था के कारण टिक नहीं सकते थे। उत्पादन घट गया था; व्यापार नष्ट हो गया था और यूरोप को एक नैसर्गिक अर्थ-व्यवस्था के स्तर से पुनरारम्भ करना पड़ा था। उस समय मानव की दो ही बड़ी समस्याएं थीं, हिंसा से सुरक्षा और जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं का प्रबन्ध। इनका हल तलाश करने में एक नए सामाजिक संगठन का विकास हुआ। इसके विकास में रोमन और ट्युटानिक परम्पराओं एवं संस्थाओं ने अपना योगदान दिया। फलतः सामन्तवादी समाज-पद्धति का जन्म हुआ।

सामन्तवाद का उद्भव

इस सामन्तवादी समाज का अर्थ है, तीसरा यूरोप। पहला यूरोप, अर्थात् नगर-राज्यों का ग्रीक-रोमन यूरोप, आठवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त तक बारह सौ वर्ष से भी अधिक समय तक जीवित रहा। दूसरा यूरोप, अथवा कबायली समाज-संगठनवाला ट्युटानिक यूरोप, पांचवीं शताब्दी में पहले यूरोप की चिता पर बना, लेकिन नौवीं सदी के अन्त तक नष्ट-भ्रष्ट हो गया। इस प्रकार, यूरोपीय सभ्यता की क्रमबद्धता दो बार भंग हुई। तीसरे अथवा सामन्तवादी यूरोप ने अपना जीवन नौवीं शताब्दी में आरम्भ किया। इसने क्रमशः एक विशेष प्रकार की सभ्यता का विकास किया, जो तेरहवीं शताब्दी में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा।

तेरहवीं शताब्दी से पश्चिम-यूरोप की जातियां सामन्तवाद को त्याग कर राष्ट्रवादी राज्यों के रूप में विकसित होने लगीं। मध्य-युगीन यरोप जिस सांचे में ढला हुआ था, उसे तोड़ डालनेवाली बहुसंख्यक क्रान्तियों ने इस रूपान्तर को जन्म दिया, जिसका क्रम अठारहवीं शताब्दी के मध्य में पूरा हो पाया।

सामन्ती संगठन मानव की इन तीन प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से अस्तित्व में आया—(1) जीवन की सुरक्षा, (2) शारीरिक आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली वस्तुओं का उत्पादन, और (3) नैतिक तथा धार्मिकपद्धतियों के माध्यम से आन्तरिक गुत्थियों का सुलझाव।

रोटी मानव अस्तित्व के लिए बहुत जरूरी है, लेकिन वह सिर्फ रोटी के सहारे

ही तो नहीं जीता। आत्मा की मांग भी उसे दबाती है और यह मांग शरीर की मांग से कहीं अधिक बड़ी और ज़रूरी भी बन सकती है। मानव आशा तथा भय से विह्वल हो उठता है और उसे पूरा करने अथवा उसका निराकरण करने का प्रयत्न करता है। मध्य-युगीन यूरोप का मानव उन सब अनिष्टों से बचने को आतुर था, जिनसे उस भयानक युग में उसका जीवन घिरा था। उसकी आत्मा अधिक उदार और अधिक नैतिक जीवन-पद्धति के लिए तड़पती थी। सामाजिक बुराइयों के प्रति एक ऊब, और भ्रष्टाचार, क्रूरता तथा हिंसा के प्रति एक विराग वह अनुभव करता था। उसमें मन की उच्चतर आकांक्षाओं को पूरा करने की एक मांग थी, अपनी प्रतिष्ठा को पुष्ट करने की एक इच्छा थी और उन सामाजिक तथा राजनीतिक बन्धनों को ढीला करने की कामना थी, ज़ो उसकी अन्तस्थ स्वतन्त्रता का दम घोंटे देती थीं।

इस प्रकार, मध्य-युगों में सैनिक, आर्थिक और धार्मिक—इन तीन तत्वों ने यूरोप के सामाजिक-आर्थिक संगठन को आकार देने में सहयोग किया।

इस प्रणाली को विकसित होने में तीन सौ वर्ष लगे। तेरहवीं शताब्दी में यह अपनी परिणति तक पहुंची। तब एक क्रमिक पतन आरम्भ हुआ और अन्त में सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था का स्थान व्यापारिक पूंजीवाद ने ले लिया। हुआ यह कि उत्पादन के सामन्ती तरीके विकासशील समाज की ज़रूरतों को पूरा करने के अयोग्य सिद्ध हो गए और और इस प्रकार, कामगार लोगों को उत्पादन-साधनों के स्वामियों से सम्बद्ध करनेवाले सम्बन्ध-सूत्र टूट गए। अन्तिम विच्छेद यूरोप के विभिन्न देशों में विभिन्न समयों पर हुआ। इंग्लैण्ड में सामन्तवाद का अन्त सत्रहवीं शताब्दी में हुआ; फ्रांस में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और रूस तथा जर्मनी में उसके भी बाद।

सामन्तवादी समाज का सार-तत्व था, सैनिक सेवा के साथ ज़मीन की पट्टेदारी का संयोजन। ऐसा आदमी और आदमी के बीच एक खास किस्म के परस्पर-निर्भरता के सम्बन्ध के द्वारा किया जाता था। बड़े लोग आश्रितों की रक्षा करने और उन्हें जीविका जुटाने का भार ग्रहण करते थे और आश्रित अपनी सेवाएं, अपने श्रम के फल का एक अंश, अन्य सहायताएं, दायित्व और स्वामिभक्ति उन्हें अर्पित करते थे। चूंकि आश्रित की गरज़ बड़ी थी, इसलिए तराज़ू का पलड़ा उसके विरुद्ध रहता था। दोनों को बांधनेवाला सूत्र व्यक्तिगत था। यह पारस्परिक दायित्वों को आरोपित करता, उन्हें मान्यता देता एवं एक सोपानिक समाज की सृष्टि करता था।

इस सोपानिक तन्त्र में दो वर्ग थे—कुलीन-वर्ग अथवा वह श्रेष्ठ अल्पसंख्यक वर्ग, जो ज़मीनों का स्वामी था; और आश्रितजन वर्ग—मुक्त असामी और कमिया-वर्ग—जो श्रम करता था, और ज़मीन को जोतता था। यह भूस्वामी कुलीन-वर्ग भी दो भागों में बंटा था—योद्धा और पुरोहित। इस प्रकार, तीन वर्गों, अर्थात् श्रम करनेवालों, युद्ध करनेवालों और उपासना करनेवालों के रूप में सामन्ती संगठन की तीन भुजाएं प्रत्यक्ष थीं।

सामन्ती ग्राम

सामन्ती समाज की इकाई थी, गांव। विभिन्न देशों में इसके विभिन्न नाम थे। इंग्लैण्ड में इसे 'मेनर' कहते थे, फ्रांस में 'सिग्नियूरी' और जर्मनी में 'ग्राण्डहरसेफ्ट'।

मकान, खेती के लिए खुले खेत, चरागाह तथा ईंधन और लकड़ी के लिए जंगल—ये सब गांव और उसके क्षेत्र में सम्मिलित थे। मूल गांव असामियों की झोंपड़ियों और घरों का एक झुण्ड होता था। यदि लार्ड गांव में ही रहता था, तो उसका भवन और भवन के साथ लगे अन्य हिस्से—जैसे कि बाग और कहीं-कहीं गिरजाघर—भी वहीं होते थे। गांव के बाहर खुले मैदान रहते थे। ये दो असमान भागों में बंटे होते थे। छोटा भाग गांव के लार्ड अथवा सिग्नियूर के लिए सुरक्षित था और बड़े भाग में किसानों के परिवार हिस्सा बांट कर काम चलाते थे। असामी की जोत को 'वर्गेट' अथवा 'यार्डलैण्ड' नाम दिया जाता था और यह साधारणतया 30 एकड़ होती थी। हिस्सेदारों के हर परिवार को एक निश्चित और स्थायी हिस्सा मिल जाता था, जो चार वर्गेट (एक हाइड) से लेकर आधा वर्गेट (हाइड का आठवां भाग) तक होता था। लेकिन यह हिस्सा एक इकट्ठे टुकड़े के रूप में नहीं होता था और एक ब्लाक तक सीमित नहीं रहता था। यह कई लम्बी और संकरी पट्टियों से, जिनमें प्रत्येक साधारणतया एक एकड़ (220 गज लम्बी और 22 गज चौड़ी) की होती थी और जिसे एक दिन में जोता जा सकता था, मिल कर बनता था। ये पट्टियां पूरे मैदान में बिखरी होती थीं। मेंड़ या अनजुती घास उन्हें एक-दूसरे से अलग करती थी। ऐसा बंटवारा सहयोगी कृषि की आवश्यकता पैदा कर देता था। इसलिए आठ बैलों से खींचे जानेवाले बड़े-बड़े पहियोंवाले हल जुताई के लिए एक साथ जोड़ लिए जाते थे। अकेले एक किसान-द्वारा काम में लाए जानेवाले बिना पहियों के हल भी इस्तेमाल में आते थे।

जीवन-निर्वाह के लिए जिन फसलों की आवश्यकता थी, वे सब गांव में उगाई जाती थीं—अन्न की फसलें, जैसे गेहूं तथा रई; जौ तथा अंगूर, जिनसे शराब बनती थी; जई, सेम और मटर, जो पशुओं के चारे के काम आती थीं; और कपड़ा बुनने के काम आनेवाली पटसन। फसल उगाने की पद्धति एक दो या तीन खेतों पर निर्भर रहती थी। खेती की प्रणाली बहुत आदिम कालीन थी, इसलिए उपज बहुत कम होती थी और व्यक्तिगत रूप से किसान के लिए ऐसा कोई आकर्षण नहीं था, जिसके चलते वह बढ़िया तरीके इस्तेमाल करता। इस प्रकार, एक बुशल बीज बोने पर सिर्फ चार या पांच बुशल ही अन्न पैदा हो पाता था।

गांव के निवासी थे—(1) किसान और मजदूर, जो खेत पर काम करते थे और जो मुक्त असामी और कमिये अथवा रैयत कहलाते थे; (2) दस्तकार, जैसे बढ़ई, चमार, लुहार, सुनार, जुलाहे, कतिये, बेकर, आदि; (3) गांव के लार्ड के कर्मचारी, जैसे दीवान, भण्डारी, बेलिफ अथवा कानूनगो और लार्ड के स्तर के अनुसार अन्य कारिन्दे; (4) लार्ड के परिवार के सदस्य और उसके स्क्वायर; तथा (5) पादरी। पहले तीन अकुलीन-वर्ग के लोग होते थे और बाद के दो कुलीन-वर्ग के।

इन दोनों वर्गों के परस्पर-सम्बन्धों से ही सामन्ती समाज को एक विशेष स्वरूप प्राप्त था। ये सम्बन्ध उनके जीवन के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक, सभी पक्षों को प्रभावित करते थे। ये उत्पादन के उन विशिष्ट तरीकों-द्वारा निर्धारित होते थे, जो तब तक चलते रहे, जब तक पूंजीवाद ने उन्हें उखाड़ नहीं फेंका। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में ग्रामीण जनता में प्रमुख रूप से कमियों अथवा रैयतों की ही संख्या अधिक थी। बाद में मुक्त असामी संख्या में बढ़ गए और अन्ततः कमिया-प्रथा समाप्त कर दी गई। कमियों के हर परिवार को ग्राम के लार्ड की ओर से

एक घर और खुले क्षेत्रों में पट्टियों के रूप में बिखरा हुआ जमीन का हिस्सा मिलता था। इसके अतिरिक्त, बांगर, साझे के चरागाह, जंगल और मछलियों के लिए नदी का प्रयोग भी वे कर सकते थे। जोत, जो मूलतः जीवन-भर के ठेके पर दी जाती थी, शीघ्र ही वंशानुगत बन गई। लेकिन जिन शर्तों पर यह जोत रखी जाती थी, वे बड़ी ही कष्टदायक थीं। प्रथम तो, कमियों का स्तर गुलामों से बहुत मामूली-सा ही बेहतर था। गुलामों की तरह उन्हें खरीदा या बेचा तो नहीं जा सकता था, लेकिन वे अपने स्वामी को छोड़ नहीं सकते थे। कमिया जमीन से बंधा था। यदि कभी वह भागने का प्रयत्न करता, तो सामन्ती प्रथा के अनुसार लार्ड को उसका पीछा करने, उसे पकड़ने और और उस पर जुर्माना करने का अधिकार था। बिना अनुमति के वह अपनी भूमि न तो बेच सकता था और न किसी अन्य के नाम पर कर सकता था। उत्पादक और भूस्वामी के बीच के सम्बन्ध उस जोर-जबर पर आधारित थे, जिसका अधिकार कानून और प्रथा से प्राप्त था।

कमियों के दायित्व तीन भागों में बांटे जा सकते हैं: खेती का काम, अतिरिक्त सेवाएं और भूमि के उपयोग के बदले में पैसे, अथवा जिन्स के रूप में अदायगी। पहले वर्ग में सबसे प्रमुख था, साप्ताहिक श्रम। कमिया का यह कर्तव्य था कि वह लार्ड की निजी भूमि पर काम करने के लिए सप्ताह में सामान्यतः तीन दिन एक आदमी भेजे। उसे अपने हल-बैल जुताई के लिए और घोड़ा-गाड़ी सामान ढोने के लिए देनी पड़ती थी।

उसकी अतिरिक्त सेवाओं में, जिन्हें 'उपहार-श्रम' कहा जाता था, फसल काटना, अनाज भरना, खलिहान के समय फसल को लार्ड के गांव ले जाना, आदि सम्मिलित थे। उसे मेंड़ों, पुलियाओं, नहरों, खाइयों, सड़कों, पुलों, भवनों और तालाबों पर भी काम करना पड़ता था। उसे भेड़ें पालनी पड़ती थीं और उनके बाल कतरने पड़ते थे।

जिन्स के रूप में अदायगी में खेतों की उपज सम्मिलित होती थी। किसान को हर वर्ष गल्ले, जई, घास, मुर्गियों, अण्डों, मछलियों, शराब, शहद और मोम, आदि का हिस्सा देना पड़ता था। बैल, भेड़, सूअर और बकरों पर भी वह पैसे या जिन्स के रूप में कर देता था।

अनगिनत दायित्व और देनदारियां ऐसी भी थीं, जिन्हें नगद चुकाना पड़ता था। प्रथम वर्ग में उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बांधनेवाले कर थे, जैसे प्रति वर्ष दिया जानेवाला प्रति व्यक्ति-कर अथवा चुंगी। लड़की के विवाह की अनुमति के लिए विवाह-कर और लड़के को पढ़ने भेजने की अनुमति के लिए शिक्षा-कर। यदि कोई कमिया निस्सन्तान मर जाता, तो स्वामी को उसकी ज़मीन पर अधिकार कर लेने का हक था। एक उत्तराधिकार-कर भी था, जिसे 'हेरियट' कहा जाता था, और जिसका अर्थ था, अपने हाथ का सबसे बढ़िया पशु देना। असामी के परिवार पर भी एक कर लगता था, जिसे 'टालेज' अथवा 'टेल' कहते थे।

दूसरे वर्ग में जोत से सम्बन्धित देनदारियां सम्मिलित थीं। इनमें से एक थी, 'केन्स', जिसमें प्रथा-द्वारा निश्चित एक नगद किराया सम्मिलित था। इसे अदा न करने पर जोत छीन ली जाती थी। दूसरा कर था, सहायता-कर। असामी की मृत्यु पर उसका उत्तराधिकारी भूमि को फिर से प्राप्त करने के लिए वर्ष-भर का किराया देता था। 'टिये'

तीसरा कर था। खेत की उपज का दसवां भाग गिरजाघर को देना पड़ता था। इन तीन के अतिरिक्त और भी कितनी ही देनदारियां थीं, जैसे सम्पत्ति बेचने की अनुमति का शुल्क; सड़कों, पुलों, बन्दरगाहों और दर्रों के प्रयोग पर कर; गल्ले, नमक, रसद और अन्य माल की बिक्री पर चुंगी; दुकानों, बाजारों और मेलों के लिए लाइसेन्स की फीस।

नगद अथवा जिन्स के रूप में इन देनदारियों के अतिरिक्त कमिया को लार्ड के और भी बहुत-से काम करने पड़ते थे, जैसे—चक्की में उसका आटा पीसना; अपनी भट्टी पर उसकी रोटियां पकाना; अपनी मशीन में उसके अंगूरों अथवा अंजीरों को निचोड़ना; उसके चमड़े को कमाना, आदि। इनके अतिरिक्त, ईंधन अथवा मकान के लिए जंगल से लकड़ी काटने पर, मैदानों में पशु चराने पर और नदियों से मछलियां पकड़ने पर भी कर था।

इस सारे बोझ के बावजूद कमिये की पट्टेदारी की सबसे बड़ी विशेषता थी उसकी अरक्षा, क्योंकि लार्ड की इच्छा के विरुद्ध उसके पास कोई उपाय नहीं था। अपने पड़ोसी के खिलाफ तो वह ग्राम-न्यायालय में, जिसका जज उसका लार्ड ही होता था, निवेदन कर सकता था; पर अपने लार्ड के विरुद्ध राज्य के न्यायालय का आश्रय उसे प्राप्त नहीं था। उसकी सुरक्षा का एकमात्र साधन थी सामन्ती प्रथा, जिसने कानून का रूप ग्रहण कर लिया था, और लार्ड की व्यावहारिक आवश्यकताएं, क्योंकि लार्ड अपने कृषि-लाभों और जागीर के धन्धों के लिए कमियों की स्वैच्छिक सेवा पर निर्भर करता था।

लेकिन कमियों के कष्ट की गाथा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। साधारणतया लार्ड गांव में नहीं रहता था, लेकिन जब-तब वहां आता था। जब वह आता था, तब उन्हें उसकी खातिरदारी करनी पड़ती थी। उन्हें लार्ड को उसके रक्षकों, सेवकों, घोड़ों, कुत्तों और पक्षियों के दल के साथ दावत देनी पड़ती थी। विशेष अवसरों पर—उदाहरण-स्वरूप, जब घर बनाया जाता था, तब—उसे पत्थर देने पड़ते थे और बोझा ढोने के लिए पशु और गाड़ियां देनी पड़ती थीं। युद्ध के समय किसानों को लार्ड के भवन पर पहरा देना पड़ता था, किलेबन्दी करनी पड़ती और खाइयां खोदनी पड़तीं थीं तथा लार्ड के अभियानों में उसके साथ जाना पड़ता था।

गांव का श्रमिक और उत्पादक-वर्ग इन कमियों और मुक्त असामियों से ही निर्मित था। मुक्त असामियों की स्थिति कमियों से बेहतर थी। वे अधिक अच्छे घरों में, जिनमें कई कमरे, आंगन और बगीचा होता था, रहते थे। गांव में उनका भूमि-भाग भी कमियों की तरह ही पट्टियों के रूप में बिखरा होता था और उन्हें भी परम्परागत ढंग से खेती करनी पड़ती थी। लेकिन उनकी पट्टेदारी की शर्तें भिन्न थीं। मुक्त असामी किसानों अथवा बटाईवालों की ही तरह एक निश्चित लगान देकर भूमि को स्थायी रूप से रखते थे और यह लगान बढ़ाया नहीं जा सकता था। उन्हें बेदखल भी नहीं किया जा सकता था। वे अपनी सम्पत्ति को स्वतन्त्र रूप से बेच सकते थे, इच्छानुसार उसकी वसीयत कर सकते थे, किसी को दे सकते थे अथवा विभाजित कर सकते थे। शर्त सिर्फ यह थी कि लार्ड का देय अर्थात् निश्चित लगान और वचनबद्ध सेवाएं अर्पित की जाती रहें।

स्वतन्त्र असामियों को कमियोंवाले अनेक दायित्वों का भी बोझ नहीं ढोना पड़ता था। वे चाहने पर गांव छोड़ सकते थे। अपने बच्चों के विवाह के लिए उन्हें स्वामी की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती थी। उन्हें मृत्यु-कर अथवा गांव से बाहर घर बनाने

का कर यानी चुंगी भी नहीं देनी पड़ती थी। यद्यपि स्वतन्त्र आसामी सम्मत शर्तों पर अर्थात् "क्या लगान देला है और कितनी सेवाएं करनी हैं", यह निश्चित हो जाने पर पट्टेदार बन जाते थे और यद्यपि ये कमियों के मुकावले स्वामी के निर्णयों से असन्तुष्ट होने पर राजा के न्यायालय में निवेदन कर सकते थे, तथापि सभी कृषि-कार्यों में वे कमियों के समस्तर थे। वे ग्राम-समाज के सदस्य थे और उसके निर्णयों से बंधे थे। अपनी ज़मीनों की व्यवस्था में वे स्वतन्त्र नहीं थे, क्योंकि उन्हें फसलों की अदला-बदली के बारे में, सम्मिलित चीज़ों के प्रयोग और मेंड़ों के निर्माण के बारे में जातीय प्रथा का अनुसरण करना पड़ता था। उन्हें खलिहानों में भी छोटे-छोटे काम करने पड़ते थे।

गांव के स्वामी की निजी ज़मीनें, जिन्हें 'सीर' कहा जाता था, एकमात्र मालिक के लाभ के लिए ही जोती जाती थीं। वे भी असामियों और रैयतों की ज़मीनों की तरह ही बंटी होती थीं। एक स्थान पर इकट्ठी सम्पत्ति के रूप में नहीं, बल्कि खुले खेतों में पट्टियों के रूप में ही ये भी बिखरी होती थीं। इन्हें जोतने का काम अंशतः तो जिन्स के रूप में चुकाए जानेवाले श्रमिक करते थे और अंशतः वे कमिये करते थे, जो कानून और प्रथा के अधीन नियमित साप्ताहिक श्रम और मौसम के विशेष अवसरों पर उपहार-श्रम करने को मजबूर थे। इस प्रकार, जुताई, बुवाई, हेंगाई, कटाई और भराई का काम पूरा करा लिया जाता था। स्वामी की निजी उपज बाजार ले जाई जाती थी, उसकी ज़मीनें तथा भवन व्यवस्थित रखे जाते थे और उसके हितों का पूरा ध्यान रखा जाता था।

सभी लार्ड अपने गांवों में नहीं रहते थे। जो रहता भी था, वह गांव की हलचलों में बहुत कम भाग लेता था। लार्ड अपने अधिकार अहलकारों की एक मण्डली को सौंप देता था, जो गांव की जनता का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाती थी। ये थे दीवान, बेलिफ, अमीन और अन्य कारिन्दे। दीवान, जो कई गांवों का प्रबन्ध करता था, सारे काम-काज की आम देखभाल करता था। वही प्रथाओं और नियमों का संरक्षण भी करता था। वह अपने स्वामी के अधिकारों की देखभाल करता था, ग्रामों में घूमता था और लार्डों की सीर ज़मीनों की देखरेख करता था। वह लगान और किराए के हिसाब पर भी नजर रखता था—कमियों से काम लेता था और लार्ड के सामान्य हितों की देखभाल करता था। बेलिफों और दूसरे नौकरों तथा कारिन्दों पर उसका नियन्त्रण रहता था।

गांव के सीधे प्रबन्ध के लिए बेलिफ ज़िम्मेदार था। वह खेतों और चरागाहों में प्रतिदिन आता-जाता था और देखता था कि खेती में कहीं ढील तो नहीं हो रही है और सब अपने काम को ठीक तरह पूरा कर रहे हैं या नहीं। सीर की फालतू उपज को भी वही बाज़ार ले जाता था।

अमीन को गांव के लोग चुनते थे और वह लार्ड तथा असामियों के बीच बिचौलिये का काम करता था। वह स्वयं एक कमिया होता था और उसका असामियों से ही विशेष सम्पर्क रहता था। पद और कार्य की दृष्टि से वह बेलिफ से नीचे होता था। वह लगान वसूल करने और रसीदों और खर्चों का हिसाब रखने का ज़िम्मेदार होता था। अमीन को कुछ ज़मीन मिली होती थी, जिसका लगान आंशिक अथवा पूर्ण रूप से माफ रहता था।

इनके अतिरिक्त, कितने ही सेवक और होते थे, जो भिन्न-भिन्न काम करते थे। उन्हें गांववालों में से ही चुन लिया जाता था और विभिन्न रूपों में उनकी सेवाओं का प्रतिफल दे दिया जाता था।

इनमें थे—जमादार और चपरासी, जो आदेश और बुलावे ले जाते थे; लेखा-परीक्षक, जो हिसाब देखते थे और शिकायतें सुनते थे; जंगलों के रखवाले, हलवाहे, गाड़ीवान, ग्वाले, सूअर पालनेवाले, घुड़साली, कपड़ों तथा अन्य सामग्रियों के संरक्षक, कंचुकी, रसोइये, शिकारी, वनाधिकारी, आदि। लार्ड की गृहस्थी के लिए दर्जी, कवच-निर्माता, बेकर, आदि कारीगरों की भी आवश्यकता होती थी। हर धन्धे की देखभाल एक कारिन्दा करता था।

ये कारिन्दे असामियों और कमियों के बीच के वर्ग के होते थे। कमियों की तरह कुछ विवशताएं इनकी भी थीं, पर इन्हें जमीनें बख्शीश में मिली होती थीं और स्वयं लार्ड से इनका सीधा सम्बन्ध रहता था।

जमींदारी अर्थ-व्यवस्था के दो उद्देश्य थे: ग्रामीणों के लिए जीविका का प्रबन्ध और लार्ड के लिए लाभ का संरक्षण। इन उद्देश्यों की पूर्ति गांव के दुहरे प्रबन्ध-यन्त्र से, अर्थात् ग्राम-समाज और लार्ड के अहलकारों-द्वारा की जाती थी। ग्राम-समाज में मुक्त और अमुक्त असामियों के दल शामिल थे, जिनके भूमि में हिस्से होते थे और जो गांव के मामलों में जोरदार आवाज़ ऊंची करते थे।

हर असामी के पास भूमि का एक निश्चित अंश रहता था, जो कई पट्टियों से मिल कर चलता था। भूमि पिता से पुत्र को मिलती जाती थी। लेकिन जुताई का अधिकार व्यक्ति को तभी मिलता था, जब हल उठने का समय आ जाता था। जैसे ही फसल सिमट चुकती थी, ये अधिकार समाप्त हो जाते थे। बीच की अवधि में जमीन पूरी बिरादरी के काम आती थी। जुताई के तरीकों और कृषि-पद्धतियों को पूरा गांव मिल कर तय करता था। कानूनन बंजर भूमि, चरागाह और बांगर लार्ड की सम्पत्ति होते थे। लेकिन असल में ग्राम-समाज ही उनकी व्यवस्था करता था और असामी की ज़मीन के आकार के हिसाब से ग्रामीणों-द्वारा उनके उपयोग के नियम बनाता था। इमारती लकड़ी के लिए जंगलों, ईंधन के लिए पेड़ों, और घास के मैदानों का उपयोग भी नियमों-द्वारा नियन्त्रित था।

लार्ड की मीर का गांव से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। इस पर लाभ इन तरीकों से कमाया जाता था: (1) कुछ भाग असामियों को उठा कर, और (2) कमियों से बलपूर्वक लिए गए श्रम-द्वारा बाकी ज़मीन की जुताई करा कर। सेवकों की वृत्ति अंशतः असामियों-द्वारा दिए गए लगान में से दी जाती थी।

ग्राम की दुहरी अर्थ-व्यवस्था सम्पत्ति के स्वामित्व की धारणा में प्रतिबिम्बित थी। रोमवालों की धारणा के अनुसार, सम्पत्ति रूढ़ एकत्व की विशेषता से विशिष्ट है। इसके स्वामित्व में किसी अन्य का कोई अधिकार नहीं। लेकिन मध्य-युगीन यूरोप के सामन्ती समाज में रोम की इस धारणा को बदल लिया गया। स्वामित्व अथवा स्वत्व बंट गया। एक ही भूमि के टुकड़े पर कई पक्षों का स्वामित्व-अधिकार मान लिया गया। सर्वप्रथम तो स्वामित्व का सीधा और श्रेष्ठ अधिकार था, जिसे 'प्रधान क्षेत्र' कहा जाता था। दूसरे, उपयोग और उपज के इस्तेमाल का हीनतर अधिकार था, जिसे 'उपयोगी क्षेत्र' कहा जाता था। इस प्रकार, भूमि पर लार्ड अथवा असामी किसी का भी चरम स्वामित्व नहीं था। सामन्ती सिद्धान्त के अनुसार, भूमि राजा की थी, जो उसे अपने प्रमुखों में बांट देता था। ये प्रमुख उसे बैरनों और लार्डों में बांटते थे, जिनसे असामी और रैयत लोग अपने खेत प्राप्त करते थे।

लेकिन सम्पत्ति के अधिकार की कानूनी प्रकृति कुछ भी क्यों न हो, गांव के आर्थिक

जीवन में लार्ड परोपजीवी ही होता था। वह कोई आर्थिक कार्य नहीं करता था। फिर भी, सभी लाभ उसे ही प्राप्त होते थे। किसान जीविका-प्राप्ति के लिए अपने खेतों पर श्रम करते थे, पर उनके समय और शक्ति का अधिकांश लार्ड की सीरों पर काम करने के लिए अनिवार्यतः नियुक्त रहता था।

सामन्त-वर्ग और सैनिक संगठन

अपने आर्थिक पक्ष में सामन्ती प्रथा उत्पादन की एक संस्था थी, जिसमें वह श्रमिक-वर्ग सम्मिलित था, जो खेत जोतता, लगान देता और भूमि के स्वामी और नियन्त्रक लार्डों को अपनी कृषि-सेवाएं अर्पित करता था। साथ ही, यह एक सैनिक संगठन भी था। सामन्ती लार्डों से भूमि प्राप्त करके सैनिक सेवा अर्पित करनेवाले अनुचरों का एक सोपानिक व्यवस्था-क्रम भी इसमें निहित था।

खेतों पर काम करनेवाले काश्तकार और गांव की रक्षा करनेवाले सैनिक अनुचर, दोनों का जागीर में सम्मिलन होता था। दोनों को एक ही ढंग के समझौते-द्वारा एक ही प्रणाली से अपने पट्टों और कर्तव्यों में नियोजित किया जाता था। दोनों को ही वफादारी की औपचारिक दीक्षा (सेवा की स्वीकृति) लेनी पड़ती थी तथा स्वामिभक्ति और आज्ञापालन की कसम खानी पड़ती थी। दोनों को ही भूमि विधिवत् प्रदान की जाती थी और हस्तान्तरण एक ध्वज, दण्ड अथवा पत्रक देकर सूचित किया जाता था। सिर्फ काश्तकारों के मामले में इस सौदे के श्रेष्ठतर पक्ष, यानी लार्ड, का प्रतिनिधित्व दीवान करता था और उसकी सेवावधि को पट्टेदारी अथवा रैयती कहा जाता था। लेकिन योद्धा अपनी ज़मीन का पट्टा, जिसे 'फीफ़' अथवा 'फ्यूडम' कहते थे, सीधे लार्ड से प्राप्त करता था। हीन असामी से सम्बन्धित समारोह सादा और श्रेष्ठ असामी का समारोह विशद होता था।

काश्तकार की पट्टेदारी की तरह ही सैनिक अनुचर को भी जागीर प्राप्त करने पर कितने ही कर्तव्यों एवं देयों का निर्वाह करना पड़ता था। दोनों ही निष्ठा और वफादारी की शपथ से आरम्भ करते थे और दोनों को ही उत्तराधिकारी के नाम जोत अथवा जागीर चढ़ते समय अनुतोष-धन देना पड़ता था। दोनों की समस्थिति यहां समाप्त हो जाती थी; क्योंकि सैनिक अनुचर के नकारात्मक और सकारात्मक कर्तव्य काश्तकार से भिन्न थे। स्वामिभक्ति की शपथ लेते समय अनुचर को मालिक को हानि न पहुंचाने—उस पर, उसकी सम्पत्ति, प्रतिष्ठा अथवा परिवार पर आक्रमण न करने—का वचन देना पड़ता था। लेकिन ये वचन पारस्परिक थे। लार्ड और उसके अनुचर, नाइट और स्क्वायर, उसके साथ रहते, साथ खाते और साथ ही अभियानों पर जाते थे। स्नेह और आदर के सूत्रों से दोनों बंधे होते थे।

लेकिन अनुचर के सामन्तवादी कर्तव्यों को 'सहायता' और 'परामर्श' ये दो नाम दिए जाते थे। सहायता में सैनिक सेवा सम्मिलित थी। सैनिक अनुचर को वर्ष में कम-से-कम चालीस दिन स्वामी के साथ पास-पड़ोस के प्रदेशों में युद्धों और अभियानों पर जाना पड़ता था। वह युद्ध में उसकी अंगरक्षा करता और किलेबन्दियों की रक्षा करता था। उसे स्वामी के साथ रहना पड़ता था और उसकी व्यक्तिगत सेवाएं करनी पड़ती थीं। कुछ सहायताएं नगद और जिन्स के रूप में भी होती थीं, जैसे अभिषेक के समय उपहार, लार्ड के बदलने पर अनुतोष-धन और जागीर बेचने की अनुमति का शुल्क। असामान्य

अवसरों पर अतिरिक्त सहायता देनी पड़ती थी, जैसे धर्म-युद्धों का खर्च उठाने के लिए; लार्ड की मुक्ति का मूल्य चुकाने के लिए और उसकी लड़की के विवाह और बेटे के 'नाइट' बनने के समय होनेवाले उत्सवों के लिए।

कर्तव्यों का दूसरा वर्ग था, परामर्श। लार्ड की अदालतों में तथा युद्ध और शान्ति की एवं परम्परागत नियमों को बदलने की समस्याओं पर विचार करने के लिए बुलाई गई सभाओं में सैनिक अनुचरों का उपस्थित होना इसमें सम्मिलित था। सैनिक अनुचरों के पारस्परिक झगड़ों को निबटाने के लिए उन्हें न्यायाधिकरण में भी शामिल होना पड़ता था।

सामन्तवादी सरदारों का यह सोपानिक तन्त्र कई वर्गों में बंटा था। सर्वोच्च स्तर पर वे सामन्त थे, जिन्हें प्रतिष्ठित पद प्राप्त थे—राजा, ड्यूक या अर्ल, मारक्विस और काउण्ट। ये बहुत-सी जागीरों के स्वामी होते थे और युद्ध के समय बहुत बड़ी संख्या में घुड़सवार लाते थे। दूसरे स्तर पर वे सामन्त थे, जिन्हें सरकारी पद प्राप्त नहीं थे। ये कितने ही गांवों के स्वामी होते थे और इनमें से प्रत्येक घुड़सवारों के एक दल का दलपति होता था। इन्हें साधारणतया बैरन, सिन्यूर (जमींदार) अथवा लार्ड कहा जाता था। इनके बाद नाइट होते थे। एक नाइट एक अकेले क्षेत्र, एक गांव अथवा गांव के एक अंश का स्वामी होता था। यह लार्ड की सेना में रहता था और उसी से अपना क्षेत्र प्राप्त करता था। क्रम में निम्नतम होते थे, स्क्वायर। ये नाइटों के पार्श्वचर के रूप में आरम्भ करते थे और बाद में भूस्वामी और सामन्त-वर्ग के सदस्य बन जाते थे। इन सामन्ततन्त्र में जागीर के आकार से और अधीनस्थ योद्धाओं की संख्या से बड़प्पन का निर्णय होता था।

पादरी और चर्च

योद्धाओं और श्रमिकों के अतिरिक्त सामन्तवादी समाज का एक तीसरा वर्ग भी था, पादरी—मठजीवी पादरी और गृहस्थ पादरी।

मध्य-युगों में जीवन-यापन की परिस्थितियां बड़ी कठोर थीं और सामान्य जीवन-स्तर बहुत ही गिरा हुआ था। सम्पत्ति का उत्पादन न्यूनतम था, क्योंकि कृषि-प्रणालियों का स्तर आदिम कालीन था। "किसान जब जमीन पर चलता था, तब उसके फटे हुए जूतों में से उसकी उंगलियां झांकती थीं और उसके मोज़े उसके घुटनों पर चारों ओर लटके रहते थे।" उसकी पत्नी "नंगे पैर बर्फ पर चलती थी और उसके पैरों से खून बहता था।"[1] उन्हें निष्ठुरतापूर्वक चूसा जाता था और दासों को "पशुओं की तरह खरीदा और बेचा जाता था। उन्हें डण्डों से पीटा जाता था और शायद ही कभी आराम करने अथवा सांस लेने का समय दिया जाता था।"[2] लार्ड के बेलिफ बहुधा गंवारों की चमड़ी उधेड़नेवाले की स्पृहणीय उपाधि प्राप्त कर लिया करते थे।

---

1. एच० एस० बेनेट की 'लाइफ आन द इंग्लिश मेनर' (1150-1400) पृष्ठ 164, 185-86 से मारिस डाब-द्वारा 'स्टडीज इन द डेवलपमेंट आफ कैपिटलिज्म' में पृष्ठ 44 पर उद्धृत

2. सी० जी० काल्टन की 'सोशल लाइफ इन ब्रिटेन फ्राम द कान्क्वेस्ट टु द रिफार्मेशन', पृष्ठ 340, 341-42 से मारिस डाब-द्वारा पूर्वोक्त पुस्तक में पृष्ठ 44 पर उद्धृत

अनन्त युद्ध और हिंसा, रक्तपात और लूट-खसोट उस युग का सामान्य नियम था। सामन्तों का प्रधान धन्धा था—युद्ध, शिकार और प्रतियोगिताएं।

समाज के तीनों स्तरों में से किसान के पास जीवन के सांस्कृतिक आचारों और अनुग्रहों को साधने का साधन नहीं था और योद्धा के पास उसकी इच्छा नहीं थी। इसलिए लोगों की धार्मिक और नैतिक आवश्यकताओं को पूरा करने का कर्तव्य पादरी के कन्धों पर था। पादरी धार्मिक और बौद्धिक आवश्यकताओं को पूरा करते थे। अपने ज्ञान और उदारता के कारण वे भारी सम्मान का उपभोग करते थे।

पादरियों की संस्था अथवा चर्च का संगठन एक पुरोहिततन्त्र के रूप में था, जिसके शीर्ष पर पोप होता था। उच्चतर पादरियों से निर्मित इस संगठन में बिशप प्रेबीटर अथवा प्रीस्ट और डेकन सम्मिलित थे। विशप "एक विशप-प्रदेश का स्वामी होता था, जो आरम्भिक युगों में प्रान्तीय गवर्नर के इलाके-जितना बड़ा होता था।" बिशप अपने प्रदेश की शिक्षा, उसके अनुशासन और प्रशासन के लिए ज़िम्मेदार होता था। उसे धर्मदाय के रूप में धर्मस्व मिलता था, जिसका वह उपयोग करता था। वह पादरियों के प्रशिक्षण का और उनकी जीविका का प्रबन्ध करता था।

आरम्भ में विशपों को राजकीय अनुदान मिलते थे और उन्हें धर्मसचिवों के रूप में माना जाता था। जैसे-जैसे सामन्तशाही का विकास होता गया, वे शाही अफसरों का रूप ग्रहण करते गए। उन्हें जागीरें मिलने लगीं, जिनमें प्रशासनिक कर्तव्य भी निहित रहते थे। ये जागीरें आंशिक रूप में चर्च के कार्यों के लिए और अंशतः राजा को सैनिक सेवाएं प्रदान करने के लिए दी जाती थीं। इनके धर्मस्व की शर्तें सामन्तों के राजस्व की शर्तों के समान ही होती थीं। फलतः यद्यपि सिद्धान्तरूप में उनका निर्वाचन होता था, पर व्यवहार में वे दरबार के सामन्त-वर्ग से ही लिए जाते थे।

प्रेस्बीटर और डेकन विशपों के सहायक होते थे। इनमें प्रथम धर्म-कृत्यों की पूर्ति में और दूसरे प्रशासन में सहायता देते थे।

छोटे पादरी कस्बों, गांवों और बस्तियों के स्थानीय गिरजाघरों के अधिकारी होते थे। बहुधा इन गिरजाघरों के संस्थापक लार्ड ही उनको नियुक्त करते थे और उन्हें ज़मीनें दे देते थे। स्वभावतः ही, ग्राम-पादरी अपने यजमानों पर निर्भर थे और बिशपों का उन पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता था। इस प्रकार, गिरजे से लगी भूमि के कारण गिरजों के प्रबन्धक स्थानीय लार्डों से सामन्तवादी सूत्रों-द्वारा सम्बद्ध रहते थे।

इनके अतिरिक्त, जन-साधारण की सक्रियता और उनके उपहारों के फलस्वरूप कुछ धर्म-पीठ और मठ भी बन गए थे। यहां अपने सांसारिक परिवेश से विरक्त लोग आश्रय लेते थे और संन्यासी का जीवन बिताते हुए धार्मिक क्रियाओं में अपना समय लगाते थे। मठ समाज की भारी सेवा करते थे। वे ग्रामों में आस्था का प्रकाश फैलाते थे। लोगों को पूजन-विधियां, उपासना और पवित्र जीवन-यापन के तरीके सिखाते थे। वे सुसम्बद्ध धार्मिक आदर्शों और ग्रामों की आवश्यकताओं को अभिव्यक्ति देते थे। मठ-व्यवस्था के सदस्य उच्च वर्ग के ही लोग होते थे।

यद्यपि आरम्भ में ये तीनों पक्ष कमोबेश स्वतन्त्र थे, पर धीमे-धीमे ये एक सार्वदेशिक चर्च-जैसी संस्था में संगठित होते गए और रोम उसका केन्द्र बन गया। यह संगठन सामन्ती व्यवस्था का अंग नहीं था, पर उससे अन्तर्वद्ध अवश्य था।

मध्य-युगीन जीवन में चर्च एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता था। जहां तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, चर्च उसके लिए नैतिक मान स्थिर करता था और उसके उन विश्वासों का निर्देश देता था, जो उसके जीवन को धार्मिक वातावरण से आवृत कर लेते थे। जन्म से मृत्यु तक मानव-जीवन में आनेवाले प्रमुख अवसरों पर पादरी धार्मिक संस्कार आयोजित करते थे। लोगों का दैनिक जीवन-क्रम आत्म-स्वीकृति और प्रायश्चित्त की प्रथा के माध्यम से पादरियों की सतर्क आंखों के नीचे बीतता था।

चर्च को पवित्र आदेश प्रदान करने का अधिकार था और यही पादरी और सामान्य जन के रूप में जनता का वर्गीकरण करता था। चर्च सबको संयम में बांधता था और शान्तिपूर्ण पेशे अपनाने के अवसर प्रदान करता था। उसने रविवारों, त्योहारों और सप्ताह के अन्तिम दिनों को ईश्वरीय कृपा अथवा ईश्वरीय विश्राम के दिन घोषित किया और इस प्रकार अविराम श्रम को रोकने का प्रयत्न किया। पादरी लोग उन अक्खड़ योद्धाओं में आत्मभाव भरते थे, जो ईश्वरीय क्रोध और अन्तिम निर्णय के सिवा और किसी से नहीं डरते थे। श्रेष्ठतर जीवन बिताने के उपदेश देकर और आदेश न माननेवालों के लिए शाश्वत सौभाग्य के द्वार बन्द करा देने की धमकी देकर पादरी कानून और व्यवस्था के प्रयोजन को ठोस बल प्रदान करते थे। इस प्रकार, राजनीतिक और आर्थिक मामलों में चर्च का प्रभाव बढ़ गया था। प्रधान पादरी उच्चतम सामन्तों के समस्तर गिने जाते थे। बिशपों और ऐबटों के अनुचरों और सैनिकों के अपने दल होते थे, जो उनके साथ सामन्ती सूत्रों से बंधे रहते थे। वे राज-कार्यों में हस्तक्षेप करते थे। उनमें से कुछ युद्धों में भाग लेते थे और कितने ही परामर्शदाताओं तथा प्रशासकों के भी रूप में काम करते थे। चर्च आर्थिक विषयों को नियमित करने का भी प्रयास करते थे। वह चीजों के उचित मूल्य निर्धारित करने के साथ-साथ सूदखोरी की मनाही करते थे।

अपने मूल और प्रकृति से ही सामन्ती प्रथा का अर्थ था—सत्ता का विकेन्द्रीकरण और प्रभुसत्ता का खण्डीकरण। मध्य-कालीन विधिवेत्ता और सामन्ती कानूनों और प्रथाओं के अधिकारी विद्वान् श्री ब्यूमेनायर का मत है कि "प्रत्येक बैरन अपने इलाके में सर्वसत्ता-सम्पन्न है।" प्रत्येक सैनिक अनुचर को व्यक्तिगत युद्ध करने का हक था। राजा को बैरन की अनुमति के बिना उसके प्रदेश में आदेश घोषित करने का अधिकार नहीं था। सभी कानून, जिनमें कर लगाना भी सम्मिलित था, एक विधि-सभा अथवा संगठन के माध्यम से बनाए जाने आवश्यक थे और सैनिक अनुचरों की सम्मति से बड़े लार्डों की अदालत में उन पर विचार किया जाता था।

न्याय-व्यवस्था भी विकेन्द्रित थी। केवल वही फौजदारी मुकदमे राजकीय न्यायालयों में सुने जाते थे, जिनके लिए मृत्यु अथवा अंग-भंग का दण्ड निर्दिष्ट था। छोटे-मोटे मुकदमे स्थानीय लार्ड की अदालत में तय होते थे। जागीरों अथवा ग्रामों की पंचायतें न्याय की स्थानीय संस्थाओं के रूप में काम करती थीं। जागीरी अदालतों का संगठन मुक्त और कमिये, सभी असामियों को सम्मिलित करके किया जाता था। छोटे फौजदारी मामले ही नहीं, बल्कि भूमि के पट्टों और मुक्त अथवा अमुक्त सभी अनुचरों की व्यक्तिगत बातों से सम्बन्धित दीवानी अभियोग भी उन्हीं के क्षेत्राधिकार में थे। रैयतों के मामलों में जागीरी अदालतों का निर्णय अन्तिम होता था। लेकिन जहां तक मुक्त असामियों का सम्बन्ध था, पट्टेदारी से सम्बद्ध मामलों में लार्ड उनके निर्णय को पलट सकता था और फौजदारी मुकदमों के फैसलों पर राजकीय न्यायालय पुनर्विचार कर सकता था।

सामन्ती अर्थ-व्यवस्था एक रुद्ध व्यवस्था थी। आदिम ढंग की कृषि इसका आधार थी। खेती की उपज बहुत साधारण थी और इसलिए अतिरिक्त अन्न बहुत कम बचता था। इससे मात्र निर्वाह की ही आवश्यकताएं पूरी हो पाती थीं। गांव के लोग ही उसे खा डालते थे। जो बच रहता था, वह जागीरदार और उसके परिवार को दे दिया जाता था। अन्न के अतिरिक्त पटसन, ऊन और चमड़ा भी गांव पैदा करता था। नमक, लोहा, मसाले, कपड़े और धातु के बर्तनों का उन्हें अपना अन्न, पटसन और चमड़ा देकर आयात करना पड़ता था। बाजार में माल बहुत कम था और उसका विस्तार बहुत सीमित था।

गांव की प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था में पैसे अथवा पूंजी का बहुत कम उपयोग था। श्रम-विभाजन अथवा विशेषीकरण के लिए वहां बहुत थोड़ा अवसर था। इस सामन्ती पद्धति में पड़ी अथवा खड़ी, दोनों ही दिशाओं में गति अवरुद्ध थी। सामन्त और किसान, दोनों ही वर्गों के बीच एक ऐसी खाई थी, जिसे पाटा नहीं जा सकता था। सामाजिक स्तर अधिकांशत: जन्म और सम्पत्ति पर निर्भर था। श्रम और उत्पादन करनेवाले आर्थिक व्यक्ति तथा युद्ध और प्रशासन करनेवाले राजनीतिक पुरुष के बीच नौकर और मालिक का रिश्ता था और इसलिए पारस्परिक सौहार्द तथा समझौते की गुंजायश बहुत ही कम थी।

राजनीतिक दृष्टि से सामन्ततन्त्र की इकाइयां एक-दूसरे से बहुत ढीले रूप में जुड़ी थीं। हर इकाई आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर और प्रशासन अर्थात् पुलिस और न्याय-पालिका की दृष्टि से खुदमुख्तार थी। राजा और केन्द्रीय सरकार का सैनिक अनुचरों और ग्रामों पर बहुत मामूली नियन्त्रण था, क्योंकि बीच के सामन्ती बैरनों ने राज्य के भीतर राज्य स्थापित कर रखा था। हां, इंग्लैण्ड इसका अपवाद था। यहां नार्मन शासकों ने सामन्ती उच्च वर्ग के असामियों पर अपना सीधा नियन्त्रण स्थापित कर लिया था। शेष यूरोप के शासक लार्डों की जागीरों में रहनेवाली प्रजा को सीधे आदेश नहीं दे सकते थे।

ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि मध्य-युगीन यूरोपीय देश खुदमुख्तार ग्रामीण राजतन्त्रों के समुच्चय थे और ग्रामों की सारी सक्रियता उनके लार्डों के सैनिक प्रयोजनों और राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक थी। लेकिन हर लघु ग्रामीण राजतन्त्र सुसंगठित था और जब तक अस्तित्व रखता था, तब तक सुचालित यन्त्र की तरह काम करता था। इसकी रीति-नीतियां और नियम बहुत सूक्ष्म और व्यापक थे तथा इनका पालन बिना विशेष ननुनच के किया जाता था। इनका उल्लंघन करनेवालों को नियमित न्याया-लयों-द्वारा दण्ड दिया जाता था। ग्राम की विधि-संस्थाएं—जैसे ग्रामीणों की सभा अथवा लार्ड की सभा—जिनमें मुक्त और अमुक्त अनुचर शामिल होते थे बिना अधिक बाधाओं के ही काम करती थीं। उनके कार्यवाहक दीवान, बेलिफ और अन्य अपना काम ईमानदारी से करते थे। न्यायपालिका व्यक्तिगत पक्षपात से अनुचित रूप में प्रभावित हुए बिना, मान्य रीति-रिवाजों और नियमों के अनुसार, फौजदारी (छोटे मामलों) और दीवानी मुकदमों का फैसला करती थी।

धर्म के क्षेत्र में व्यक्ति और समाज, दोनों ही चर्च के गहरे प्रभाव में थे। लेकिन वह विशेष सीमाओं में ही सक्रिय था। ईसाई धर्मलेख, जिनके आधार पर चर्च के नियम और सिद्धान्त निर्मित थे, अधिकतर आत्मोत्कर्ष के ग्रन्थ थे। उनका मानव के बाह्याचरण से कम और उसके अन्तर्जीवन से अधिक सम्बन्ध था। वे आचरण-सम्बन्धी विवरणों से कम और मानसिक प्रवृत्तियों तथा आत्मिक शक्तियों से अधिक सम्बन्ध रखते थे। उन्होंने

विवाह और उत्तराधिकार के तथा सम्पत्ति और समाज-स्तर के वर्गीकरण के लिए कोई नियम नहीं बनाए थे। धार्मिक विधान-द्वारा निर्धारित नियम और कानून चर्च की सत्ता से उद्भूत थे और धर्मलेखों में निहित निषेधाज्ञाओं का हवाला देकर उनके विरुद्ध अपील की जा सकती थी।

सामन्तवादी प्रशासन की प्रधान विशेषता थी उसका एकान्ती होना, लेकिन उसमें विश्ववादी तत्व भी वर्तमान थे, जो उसे लचीला बनाते थे। इस विश्ववाद की जड़ें मध्य-युगीन संस्कृति में ही निहित थीं। सार्वदेशिक रोम साम्राज्य का विचार अभी तक जीवित था और महत्वाकांक्षी राजाओं को प्राचीन परम्पराएं पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रेरित करता था। सभी यूरोपियनों का धर्म एक था। वह ईसाई-मात्र के सामाजिक-राजनीतिक संगठन की धारणा को प्रोत्साहन देता था। रोम के चर्च के अधीन पश्चिमी ईसाई राज्य-संघ इस बात का प्रमाण है। एक-सा विचार और सिद्धान्त, एक-सा संस्कार और अनुष्ठान; एक-सा अनुशासन और संगठन—ये सब तत्व एकता के सशक्त प्रेरक थे। एक भाषा, लैटिन, के माध्यम से सभी यूरोपीय जातियों की समान शिक्षा-पद्धति, अध्ययन का समान पाठ्यक्रम और अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालय तथा विश्वविद्यालय, आदि इन तत्वों को और भी बल देते थे। फिर, आर्थिक अवस्थाएं एक समान थीं और राष्ट्रवादी एकान्तिकता अनुपस्थित थी।

सामन्तवाद की सोपानिक व्यवस्था, जो विभिन्न स्तरों पर इकाइयों को स्वायत्तता प्रदान करती थी, विश्ववाद के विचार को प्रशंसनीय रूप से प्रोत्साहन देती थी। लौकिक पक्ष में सर्वसत्ता-सम्पन्न जागीरदार और ताल्लुकेदार उन बड़े लार्डों—काउण्ट, अर्ल और ड्यूकों—के प्रति समर्पित थे, जिनसे वे जागीरें प्राप्त करते थे। स्वयं बड़े लार्ड राजाओं के प्रधान असामी और रैयत थे। सभी राजतन्त्र शार्लमेन-द्वारा सन् 800 में पुनरुज्जीवित पवित्र रोम साम्राज्य के, जिसे जर्मन राजाओं ने पुनर्निर्मित किया था, करद सामन्त समझे जाते थे। यह साम्राज्य सार्वदेशिक प्रभुसत्ता-सम्पन्न कहलाता था, पर इसके आदेश कभी भी जर्मनी और इटली की सीमाओं से बाहर नहीं गए।

धार्मिक क्षेत्र में, पुरोहिततन्त्र पोप को अपना अध्यक्ष मानता था। उसके बाद कार्डिनलों, बिशपों और लाट-पादरियों का क्रम था और उनके बाद छोटे पादरी आते थे। इनके पारस्परिक सम्बन्ध सामान्य सोपानिक तन्त्र का अनुसरण करते थे।

सामन्तवादी पद्धति में दो सर्वोच्च प्रधान माने जाते थे—एक, सामान्य प्रशासन का, और दूसरा, धार्मिक व्यवस्था का। इन दोनों में किसे प्राथमिकता मिले, यह लम्बे विवाद का विषय रहा है। तेरहवीं शताब्दी में पोप को सर्वोच्च सत्ताधारी माना जाता था। लेकिन शीघ्र ही स्थिति बदल गई और राजाओं ने उसकी प्रभुसत्ता को मानने से इनकार कर दिया।

नगरों का जीवन

सामन्ती समाज मुख्यतः ग्रामीण था। लेकिन इस समाज में उनके अविकल अंश के रूप में एक रोचक तत्व विकसित हो रहा था, वह था नगरीकरण का विकास। चूंकि यही विकास अन्ततः सामन्ती पद्धति के विनाश, सामन्ती समाज को बदलने और राष्ट्रीय समाजों की उत्पत्ति के लिए रास्ता तैयार करने का उत्तरदायी है और चूंकि ऐसी स्थितियां भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अस्तित्व में नहीं आईं, इसलिए इस विकास

के कारणों का और यूरोपीय समाजों में महान् परिवर्तन लानेवाली इसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन बहुत रोचक सिद्ध होगा।

रोम-साम्राज्य को समाप्त कर देनेवाले बर्बरों के आक्रमण ही रोम के नगरों के विनाश और यूरोप के आदिम कबायली ग्रामवाद की ओर लौट जाने के लिए उत्तरदायी थे। लेकिन जब देश-परिवर्तन और लूटपाट की बाढ़ दब गई और प्रवासी एक जगह स्थिर हो गए, तब नई शक्तियों ने नए आधारों पर नागरिक जीवन का निर्माण आरम्भ किया। आरंभ में गांव और नगर में शायद ही कोई अन्तर था, क्योंकि व्यापार और उद्योग, दोनों ही कृषि के मुखापेक्षी थे और ग्राम आत्मनिर्भर थे, क्योंकि गांव का कारीगर ही उनकी जरूरत की कुछ मामूली चीजें बना दिया करता था।

लेकिन नई आवश्यकताएं प्रकट हुईं, जिन्होंने इस आत्मनिर्भरता को प्रभावित किया। इंग्लैण्ड में डेनों के आक्रमणों और यूरोप के उत्तरी देशों में उत्तरी जातियों की घुस-पैठ ने लोगों को मजबूर किया कि वे ऐसी किलेबन्दियों और दुर्गों के भीतर आश्रय लें, जो ऊंची दीवारों और पानी-भरी खाइयों से घिरे हों। इस प्रकार, बाद में नगरों को जन्म देनेवाले लोगों के इस जमाव का एक कारण रहा—युद्ध और हिंसा। दूसरा कारण बना, ईसाई मठों की स्थापना। ये मठ कलाओं और कारीगरियों के केन्द्र बन गए, क्योंकि ये शान्ति और स्थिरता का वातावरण प्रदान करते थे। फिर, कुछ स्थानों को इसलिए महत्व प्राप्त हो गया और लोग उनकी ओर आकर्षित होने लगे कि वे लौकिक और धार्मिक, दोनों ही स्तरों के बड़े जमींदारों के गढ़ थे। भौगोलिक स्थिति—किसी घाट, चौराहे, नदी-तट अथवा समुद्र-तट पर बस जाने—ने भी व्यापार और धन्धों के विकास के लिए अनुकूल सुविधाएं उपलब्ध कर दीं।

नगरों का जीवन उनके उद्योग और व्यापार में निहित था। उनका पुनरुद्धार और विकास मध्य-युगीन समाज के इतिहास में सर्वाधिक विस्फोटक तत्व सिद्ध हुआ। ग्यारहवीं सदी में व्यापार के साथ-साथ जागरण का श्रीगणेश हुआ। इंग्लैण्ड और सिसिली पर नार्मन विजय ने, पुर्तगाल में ईसाई शक्ति के उद्भव ने तथा स्पेन में मूरों पर ईसाइयों की विजय ने यात्रा और साहसिकता की लगन को उन्मुक्त कर दिया, जिसका वाणिज्य पर बहुत उपयोगी प्रभाव पड़ा। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन और भूमध्य-सागर परस्पर जुड़े थे और कपड़ा, सिल्क, ऊन, धातु के बर्तन, हथियार, बर्बरी घोड़े, सन्तरे, चकोतरे, शराब आदि चीजों से लेस व्यापारियों ने इन देशों में चारों ओर घूमना आरम्भ कर दिया।

इसके बाद धर्म-युद्धों का युग आया। इनके कारण यूरोप के अक्खड़ और पिछड़े हुए निवासी पूरब की उच्चतर सभ्यताओं के सम्पर्क में आए। इन धर्म-युद्धों ने भी व्यापार को प्रोत्तेजित किया। वेनिस, जेनेवा, पीसा, बर्सिलोना और मार्सिलीज के व्यापारी लेवण्ट के बन्दरगाह पर पूरब की उन विलास-सामग्रियों को खरीदते थे, जिन्हें दमिश्क, बगदाद, मिस्र, ईरान, भारत और चीन से आनेवाले कारवां लाते थे। वे उन्हें यूरोप के सभी नगरों में वितरित कर देते थे। मेले लगते थे और व्यापार-मार्गों के साथ अथवा जहां भी किसी प्रबुद्ध सामन्ती लार्ड की शक्ति के कारण अथवा, किसी धर्मपीठ की पवित्रता के कारण शान्ति और सुरक्षा सम्भव थी, वहीं बाजार बन गए थे।

व्यापार में वृद्धि के फलस्वरूप ग्राम और नगर के बीच आवागमन बढ़ गया था। आरम्भिक युगों में तो ग्रामोद्योग ग्रामीण कृषि के संलग्नक-मात्र थे। ग्रामीण जागीर में अपना घर बना लेता था: वहीं वह सूत कातता था, कपड़े बुनता था, जूते बनाता था,

और औज़ार, हल तथा अन्य सामान तैयार करता था। राजाओं, प्रमुख सामन्तों और चर्चों के विशिष्ट पुरुषों की विशालतर जागीरों में उत्पादन अधिक विस्तृत था। श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता वहां अधिक मात्रा में उपलब्ध थी। लेकिन ग्यारहवीं शताब्दी के बाद परिस्थितियां बदल गईं। किसानों के साथ अतिरिक्त मात्रा में उपज रहने लगी। व्यापार के पुनरुद्धार से नगरों में धन आ गया और गांव की अतिरिक्त कृषि-उपज और कारीगरों की चीज़ों के बीच अदला-बदली बढ़ गई।

जैसे-जैसे व्यापार-उद्योग विकसित हुए, नागरिक क्षेत्रों में सुदूरगामी परिवर्तन हुए। आरम्भिक मध्य-युगों में बहुत-से नगर किलाबन्द शिविर अथवा दुर्ग-मात्र थे। इंग्लैण्ड के कस्बों (बरों) और महाद्वीपीय गढ़ियों का निर्माण वाइकिंग जातियों की लूट-पाट से खेतिहर प्रजा को बचाने और उनकी सुरक्षा के लिए किया गया था। कुछ समय बाद व्यापारी और कारीगर इनकी ओर आकर्षित हुए। वे दीवारों के बाहर बस गए और वहां उन्होंने अपने घर और व्यापार-केन्द्र बना लिए। व्यापारी यहां आकर इकट्ठे होने लगे। उनकी संख्या बढ़ी और वे सम्पन्न बन गए। बचाव के लिए उन्होंने दीवारें खींच लीं, उपासना के लिए गिरजे बना लिए और अन्य आवश्यक संस्थाएं संगठित कीं।

ग्यारहवीं शताब्दी में जब व्यापार पुनरुज्जीवित हुआ, तब यूरोप के आर-पार दो धाराएं बहने लगीं। एक तो, उत्तर के स्कैण्डिनेवियन देशों से कुस्तुन्तुनिया की ओर, और दूसरी, भूमध्य-सागरीय देशों और पश्चिम-यूरोप के बीच। इस व्यापारिक पुनरुज्जीवन से इटली के नगरों ने सबसे पहले लाभ उठाया। वे आर्थिक जीवन के सम्पन्न और पनपते हुए केन्द्र बन गए। कुस्तुन्तुनिया से टक्कर लेनेवाले एक लाख की आबादी के नगर वहां खड़े हो गए। उनमें पूंजी संचित हो गई। कलाएं और कारीगरियां बहुगुणित हुईं और विशेषज्ञता ने बड़ी तेज़ प्रगति की। इन नगरों ने व्यवसाय-संगठन के तरीकों और वाणिज्य की तकनीकों में भी प्रगति की। इटली के व्यापारी मेलों में जाते थे और इटली के बैंकर यूरोप के राजाओं को आर्थिक सहायता देते थे।

इस प्रकार, इटली की नागरिक अर्थ-व्यवस्था का प्रभाव उत्तर तक फैला। इटली के पूंजीपति—आस्ती के मामूली महाजनों से लेकर लम्बार्डी के बड़े-बड़े बैंकरों तक, सभी—पूरे यूरोप में कारबार करते थे। इटली की पूंजी उत्तर में नगरीकरण के आन्दोलन को बढ़ावा देती थी। इंग्लैण्ड में, जिसकी आबादी सन् 1370 में मुश्किल से 15,00,000 थी, 100 से ऊपर पट्टा-प्राप्त नगर थे। विशेषज्ञता भी इतनी प्रगति कर गई थी कि अकेले पेरिस में डेढ़ सौ से अधिक विभिन्न शिल्प-उद्योग थे।

यह सच है कि उत्तर के नगर आरम्भ में दक्षिणी नगरों की अपेक्षा गरीब और कम आबादीवाले थे। उदाहरण के लिए, तेरहवीं शताब्दी में लन्दन में पच्चीस हज़ार से भी कम लोग रहते थे। ग्राम और नगर में बहुत स्पष्ट अन्तर नहीं था। दोनों ही सामन्ती संगठन के अंग थे और एक-जैसे भारों और अवरोधों से पीड़ित थे। सम्पन्नता और पूंजी के बढ़ते हुए संचरण ने दोनों को ही सामन्ती ज़ंजीरों से छुटकारा दिलाया। ग्राम ऐसे मुक्त किसानों के निवासस्थान बन गए, जो विशेष पट्टों के अधीन भूमि जोतते थे और बेगार करने अथवा भूमि से बंधे रहने के लिए विवश नहीं थे। सामाजिक स्तर का स्थान समझौते ने ले लिया।

नगरों में व्यापारियों के पास पूंजी जमा हो गई और उनकी लाभ कमाने की लालसा बढ़ गई। वे साहूकारों में; बैंकों तथा अन्य पूंजीगत हलचलों में; व्यापार,

विशेषकर निर्यात को बढ़ाने में, ज़मीनों में और उद्योगों में अपना पैसा लगाने लगे।

इस व्यावसायिक विकास का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम निकला नगरों में मुक्ति-आन्दोलन का उठ खड़ा होना। इंग्लैण्ड में बरों और महाद्वीप में कम्यूनों ने लौकिक और धार्मिक, दोनों ही वर्गों के सामन्ती लार्डों के जुए को अपने कन्धों से उतार फेंका। कभी तो उन्होंने संघर्ष और विद्रोह (ऐसा विशेषकर चर्च की जागीरों में हुआ) के माध्यम से मुक्ति प्राप्त की और कभी अपने शाही अथवा सामन्ती स्वामियों की कृपा और सहयोग से; कभी-कभी उन्होंने उनकी कठिनाइयों से लाभ उठा कर भी अपना काम निकाला।

मूल रूप में वे कस्बे भी, जिनमें व्यापारी रहते थे, संगठन की दृष्टि से सामन्ती और उद्देश्य की दृष्टि से सामरिक थे। उनके कानून और रिवाज निरंकुश थे। उनका प्रशासन ज़मींदाराना था। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सम्पत्ति पर अंकुश रखते थे और उनकी सामन्तवादी कर-प्रथा व्यापार के लिए कष्टकर तथा विघ्नमय थी। न्याय की भी व्यवस्था व्यापारिक समाज की ज़रूरतों के अनुकूल नहीं थी। महाद्वीप में तो व्यापारियों ने व्यापार की आवश्यकताओं से प्रेरित होकर सामन्ती दायित्वों से मुक्त होने के उद्देश्य से व्यापार-मण्डल और संघ बना लिए थे। वे परस्पर एकत्र हो गए थे और सभी आक्रमणों के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने की उन्होंने शपथ ले ली थी। इस प्रकार, जीवन में कम्यूनों का प्रवेश करा दिया गया।

कम्यून की स्वायत्तता का अर्थ था एक सहयोगी संस्था का निर्माण, जिसके देश के सामान्य नियमों से भिन्न अपने विशेष सुविधाप्राप्त प्रादेशिक कानून थे। इन कानूनों को लागू करने के लिए उसकी अपनी अदालतें थीं। सत्ता और प्रशासन के उसके अपने साधन थे और उसका अपना संविधान था। सार रूप में, हर कम्यून एक नगरपालिका-गणराज्य था।

इंग्लैण्ड की नगरपालिकाओं का इतिहास महाद्वीप के देशों की अपेक्षा कम कोलाहलपूर्ण है। वैसे परिणाम दोनों के एक-जैसे ही हैं। इंग्लैण्ड के राजाओं ने नार्मन विजय से ही सामन्ती बैरनों की सत्ता को सीमा में बांधने के प्रयास किए थे। इन बैरनों ने अपनी निजी जागीरों में स्थित कस्बों की मांगों को स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया था और उन्हें स्वतन्त्रता के अधिकारपत्र प्रदान कर दिए थे। बैरनों की जागीरों के अन्य कस्बों को भी ऐसी सुविधाएं प्राप्त करने में अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। केवल बिशपों और मठों से सम्बन्धित कस्बों को ही दृढ़ विरोध से निबटना पड़ा और सुविधाएं प्राप्त करने के लिए एक लम्बे और कठोर संघर्ष में से गुजरना पड़ा।

इंग्लैण्ड के नगरों ने क्रमशः अपने प्रत्यक्ष लार्डों और राजा के स्थानीय प्रतिनिधियों अर्थात् शेरिफों की सत्ता से मुक्ति प्राप्त कर ली। अधिकारपत्रों ने उन्हें कितनी ही सुविधाएं प्रदान कर दीं—उदाहरणार्थ, बैरन के और राजा के अफसरों के हस्तक्षेप के बिना नगरों से राजस्व वसूलने का अधिकार, बशर्ते कि एक निश्चित राशि खज़ाने में जमा कर दी गई हो; न्याय के क्षेत्र में, बाहरी अदालतों के अधिकार-क्षेत्र से मुक्ति; अपने मजिस्ट्रेट चुनने, अपना प्रशासन चलाने, और व्यापारियों तथा शिल्पकारों के अपने संघ स्थापित करने का अधिकार।

नगरों के इस तेज़ विकास का समाज पर गहरा असर पड़ा। यूरोप की आरम्भिक अर्थ-व्यवस्था गांव पर आश्रित थी। परवर्ती मध्य-युगों में सामाजिक जीवन पर नागरिक अर्थ-व्यवस्था छा गई। पहले गांव राजनीतिक व्यवस्था की लगभग एक खुदमुख्तार इकाई था। अपनी उन्मुक्ति का दावा करता हुआ और अपनी स्वायत्तता को प्रयोग में लाता हुआ नगर अब करीब-करीब एक सर्वोच्च प्रभुसत्ता-सम्पन्न गणराज्य बन गया था। राष्ट्रवादी राजनीतिक संस्थाओं से युक्त होकर, नगरपालिकाओं के पारस्परिक सम्बन्धों में वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सतर्क रहने लगा। एक ओर यदि ग्रामीण क्षेत्रों से सामन्ती अराजकता मिटती जा रही थी, तो दूसरी ओर नगर सामन्ती जागीरों का स्थान ग्रहण कर रहे थे। यूरोप के कुछ भागों में—उदाहरणार्थ, इटली में—ये इतने शक्तिशाली हो गए थे कि देश की एकता को भंग करने तक की सामर्थ्य इनमें आ गई थी। अन्य देशों में केन्द्रीय सत्ता ने अधीनस्थ नगरपालिकाओं पर अलग-अलग मात्रा में अपना नियन्त्रण बनाए रखा।

नगरों की आन्तरिक सामाजिक पद्धति सामन्ती जागीरों से भिन्न थी। नगरों की अर्थ-व्यवस्था व्यापार-मण्डल कहलानेवाले व्यापारियों के संघों पर निर्भर थी। नगर के व्यापार का एकाधिकार मण्डल में निहित था और उसके अधिकार अधिकारपत्र-द्वारा संरक्षित थे। मण्डल सहयोग को और सामूहिक मोलभाव को प्रोत्साहन देता था और एक कल्याण-संस्था के कर्तव्य पूरे करता था। इसके विशुद्ध आर्थिक कार्यों में उद्योग और व्यापार का नियन्त्रण तथा नियमन सम्मिलित था। यह कीमतों को स्थिर करने के लिए आदेश जारी करता अथवा मान निर्धारित करता था। बाज़ारों का नियमन करने के लिए यह समान बाट और गज़ भी नियत करता था।

लेकिन व्यापार-मण्डलों की सक्रियता आर्थिक मामलों तक ही सीमित नहीं थी। आरम्भ में ये सम्पूर्ण नागरिक संघ के सदस्यों के रूप में राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग में हिस्सा बंटाते थे। अन्ततः ये समस्त राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार रखनेवाले विशेषाधिकार-सम्पन्न समुदाय बन गए। इन्होंने सामान्य लोगों, विशिष्ट लोगों एवं कामगारों को प्रशासन में उनके अधिकार से वंचित कर दिया। यह विशेषाधिकारी व्यवस्था मध्यमवर्गीय बुर्जुआ अर्थात् किसानों और कुलीनों के बीच के वर्ग से निर्मित थी और मण्डल अथवा बुर्जुआ की आम सभा के माध्यम से अपनी सत्ता को कस्बे पर लागू करती थी। इस सभा का प्रमुख कार्य सार्वजनिक कर्मचारियों अथवा मजिस्ट्रेटों को चुनना था। असली सरकार इन अफसरों से ही बनती थी। इंग्लैण्ड के नगरों में इन्हें 'मेयर' या 'आल्डरमैन' या 'बेलिफ' कहते थे। फ्रांस में ये 'कौंसिलर' अथवा 'जूरर' अथवा 'सिंडिक' कहलाते थे। ये उद्योगों को नियमित करने के लिए आदेश जारी करते थे, नगरपालिका की पूंजी का नियमन करते थे, सेना का नेतृत्व करते थे और सुरक्षा के लिए आवश्यक कार्रवाई करते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि दीवानी और फौजदारी, दोनों ही क्षेत्रों में ये नागरिक को न्यायदान भी करते थे।

नगर-प्रशासकों की दो प्रधान समस्याएं थीं—भोजन और सुरक्षा का प्रबन्ध करना। दोनों में ही खर्चा होता था। इसने एक ऐसी वित्त-पद्धति का विकास जरूरी बना दिया, जो इन भारी खर्चों को उठा सके। हल यह निकला कि नगरपालिका कर लगाए—चाहे नागरिकों की सम्पत्ति पर सीधा कर अथवा नगर में आनेवाले माल पर परोक्ष चुंगी। बाज़ारों का नियमन करके अन्न के आयात को और उपभोक्ता के लिए उसके

विक्रय मूल्य को नियन्त्रित किया जाता था। सुरक्षा का प्रवन्ध दीवारें खींच कर, खाइयां खोद कर और हथियार खरीद कर किया जाता था।

व्यापार की प्रगति ने व्यापार-मण्डलों के विकास को प्रेरित किया था। उद्योग की उन्नति से शिल्पकार-मण्डल कहलानेवाले कारीगरों और कामगारों के संघ वने। इनकी स्थापना "निस्सन्देह मध्य-युगीन वुर्जुआ सभ्यता की सबसे रोचक और मौलिक सृष्टि थी।" मध्य-युगीन अर्थ-व्यवस्था पर इनका गहरा असर पड़ा।

शिल्पकार-मण्डल तीन प्रकार के सदस्यों से मिल कर वनता था—उस्ताद, वेतन-भोगी और शिष्य। हर शिल्प का अपना अलग मण्डल था और कोई भी व्यक्ति, जो शिल्प-विशेष में काम करना चाहता था, मण्डल का सदस्य वने विना वैसा नहीं कर सकता था। शिल्पकार वनने का इच्छुक व्यक्ति एक शिष्य के रूप में मण्डल में शामिल होता था और किसी भी व्यक्ति के लिए शिष्य के रूप में काम किए विना उस्ताद वनना असम्भव था। शिष्य का दाखिला एक सार्वजनिक और पवित्र समझौते के रूप में होता था, जो दोनों पक्षों पर पारस्परिक जिम्मेदारियां डालता था। उस्तादों की भावी संख्या को और इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए कि शिल्प-विशेष पर उसके साधकों का ही एकाधिकार हो, शिष्यता को सख्ती से सीमित रखा जाता था। ये प्रतिवन्ध जाति के रूप में दृढ़ नहीं हो सके थे, क्योंकि उस्ताद के लड़कों को छोड़ कर, जहां वंशानुक्रम स्वीकृत था, और सभी वर्गों के लिए दाखिला खुला था।

शिष्यता की अवधि सामान्यतः लम्वी होती थी—तीन से लेकर वारह वर्षों तक। उस्ताद का यह कर्तव्य माना जाता था कि वह शिष्यों को खाना, कपड़ा और रहने का स्थान, तकनीकी पद्धतियों की शिक्षा और जो-कुछ भी अन्य आवश्यक चीजें हों, दे। उस्ताद शिष्य के आम व्यवहार और उसकी अच्छी तथा कुशल कारीगरी के लिए जिम्मेदार होता था। उसके गलत आचरण पर उसे दण्ड देने का उसे अधिकार था। शिष्य को उस्ताद के प्रति आज्ञाकारी और वफादार रहना पड़ता था। उसे उसके घरेलू काम करने पड़ते थे और कभी-कभी कुछ फीस भी देनी पड़ती थी।

प्रशिक्षण की अवधि समाप्त होने पर शिष्य वेतन-भोगी कारीगर अथवा अनुचर वन जाता था। ऐसे कारीगर को यात्रा करने और दूसरे नगर में अन्य उस्ताद के कारखाने में काम करने की छूट थी। परख की अवधि के वीच, जो एक से तीन वर्ष तक ही होती थी, अपने काम के लिए उसे उस्ताद से वेतन मिलता था। लेकिन दिन में वहुत लम्बे समय तक, सूर्योदय से सूर्यास्त तक, उसे जुटे रहना पड़ता था।

शिष्य अथवा कारीगर एक परीक्षा के वाद अथवा अपनी कारीगरी और विद्या के सवूत के रूप में एक वढ़िया चीज वना कर उस्ताद के आकांक्षित वृत्त में शामिल हो जाता था। परख-अवधि के वीच उसकी आय इतनी हो जाती थी कि वह एक स्वतन्त्र कारखाना स्थापित करने के लिए पर्याप्त धन जमा कर सके। एक पवित्र समारोह के वीच उम्मीदवार को उस्ताद का पद दे दिया जाता था। समाज के नियम और कानून उसके सामने पढ़े जाते थे और वह उनका पालन करने की शपथ लेता था।

मण्डलों में सम्मिलित कारीगरों के इन तीन वर्गों के वीच भाई-चारे का सच्चा भाव रहता था। उस्तादों और कारीगरों को भी शिष्य की तरह ही उसी प्रशिक्षण और अनुशासन से होकर गुजरना पड़ता था। वे अपने छोटे-छोटे कारखानों में मिल कर काम करते थे। जीवन के सुख वे वांट कर भोगते थे और अपने अच्छे-वुरे दिनों में मिल कर

साथ खड़े होते थे। मण्डल अपने सदस्यों के आर्थिक हितों की रक्षा करता था। वह काम के घंटे निश्चित करता, वेतन तय करता और वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करता था। वह धार्मिक हितों की भी देखभाल करता था। वह उपासना और धार्मिक समारोह मनाने का प्रबन्ध करता था और गरीब तथा विपत्तिग्रस्त सदस्यों की सहायता करता था। मण्डल सभी प्रकार के झगड़ों में अदालत का भी काम करता था और सदस्यों को कानूनी अदालतों में जाने से रोकता था।

मण्डल का प्रशासन उसके सदस्यों के हाथ में था। मण्डल की सभाएं निश्चित अवधि के बाद नियमित रूप से होती थीं और अपनी कार्रवाइयों के नियमन के लिए कानून बनाती थीं। कुछ मण्डलों ने समितियां भी संगठित की थीं, जो अपराधों का निर्णय करतीं और कानून बनाती थीं। कार्यपालक अधिकार कारिन्दों में निहित थे, जिन्हें साधारणतया सभा चुनती थी। ये लोग सदस्यों के काम की देखरेख करते थे और चीज़ों के गुण-स्तर को बनाए रखते थे। ये आदेशों और नियमों को लागू करते थे।

मूलतः शिल्पकार-मण्डलों को नगरपालिका की सत्ता के स्वामी व्यापारियों के विरोध के मुकाबले अपनी स्थिति संगठित करनी पड़ी थी। लेकिन बाद में उन्हें जन-संस्थाओं के रूप में मान्यता दे दी गई। उन्हें सीमित अधिकार भी मिल गए और नागरिक प्रशासन के अधीन विभागों के रूप में उन्हें देखा जाने लगा। जैसे-जैसे नगरपालिका-प्रशासन के साथ इन मण्डलों का सम्बन्ध दृढ़ होता गया, इनका महत्व बढ़ता गया। बाद में तो नागरिक बनने के लिए और नगरपालिका के दफ्तर में नियुक्ति के लिए शिल्पकार-मण्डल की सदस्यता एक प्रधान साधन बन गई। उदाहरणार्थ, मेयर का पद उनके आश्रित हो गया। शिल्पकार-मण्डलों ने व्यापार-मण्डलों को स्थानच्युत कर दिया।

सामन्ती पद्धति ने विशिष्ट और सामान्य के बीच समझौते का प्रयत्न किया, किन्तु उसका सामाजिक-आर्थिक आधार अत्यन्त पृथकतावादी था और उसकी जड़ें स्थानीयता में बहुत गहरी समाई हुई थीं। सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों में विश्ववाद का बहुत कम महत्व था। उसकी इकाइयों में एक आन्तरिक सामंजस्य और स्थिरता थी, जो विशालतर समग्र के साथ उन्हें क्षीणतम और दुर्बलतम सम्बन्ध-सूत्र ही रखने देती थी।

यद्यपि आरम्भिक मध्य-युगों का सामूहिक जीवन एक अकेले परमाणुवत् स्वशासी ग्राम के चतुर्दिक केन्द्रित था, तथापि उसकी महत्वाकांक्षा ऊपर उठ कर पूरे ईसाई-जगत् की एकता की सिद्धि तक उड़ा करती थीं। ये महत्वाकांक्षाएं सामाजिक जीवन के सभी पक्षों में अभिव्यक्त होती थीं। ये महत्वाकांक्षाएं जलवायुगत, जातीय एवं भौगोलिक विभेदों के ऊपर उठे एक विश्व-समाज की, राजनीतिक व्यवस्था-चक्र के शिरोबिन्दु एक विश्व-राजतन्त्र की, दिव्य आदेशों के अनुसार लोगों के आचरण को नियन्त्रित करने-वाले एक विश्व-चर्च की, रोम की न्यायसंहिता पर आधारित एक विश्व-न्याय-विधान की, वीरता के विश्वव्यापी नियमों की, एक विश्व-भाषा, अर्थात् लैटिन, की धारणाओं को जन्म देती थीं। कला, साहित्य, दर्शन और धर्म में भी ये अभिव्यक्त होतीं थीं।

सामन्तवाद का पतन

एक संकीर्ण किन्तु अत्यन्त पृथकतावादी और एक उदार किन्तु कृत्रिम विश्व-वादी धारणाओं के बीच राष्ट्रवादी समाज और राष्ट्रीय राज्य की मध्यमार्गी धारणा

की कोई गुंजाइश न थी। सामन्ती सत्ता के दोनों पक्षों—पृथकतावादी और विश्व-वादी—के पूर्णतया बिखर जाने पर ही उसका उद्‌भव हो सका।

तेरहवीं शताब्दी में उच्चतम विकास के ठीक बाद ही सामन्तवाद के बिखराव का क्रम आरम्भ हो गया। मध्य-युगीन सामन्त-प्रणाली के रूपान्तरण के लिए यों तो कितने ही कारण थे, पर उनमें अधिक महत्वपूर्ण थे : जनसंख्या का उतार-चढ़ाव और पूंजी।

ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक यूरोप की आबादी लगातार बढ़ती रही। इसके बाद उसका बढ़ना न केवल रुका, बल्कि चौदहवीं शताब्दी में अत्यधिक युद्धों, प्लेग और महामारी के कारण जनसंख्या में कमी आई। इससे कृषि-श्रमिकों की सुलभता और ग्रामों की कृषि-आवश्यकताओं के बीच का सन्तुलन बिगड़ गया। काफी कृषि-योग्य भूमि, विशेषकर लार्डों की सीर, अनजुती रह गई। वेतन बढ़ गए, कामगारों को बेगार अखरने लगी, और उनकी कुशलता भी घट गई। लार्डों और असामियों के सम्बन्ध बिगर गए।

पूंजी के आगमन ने इन प्रवृत्तियों को और बढ़ावा दिया। लार्डों ने इस बात में अधिक लाभ देखा कि वे अपने असामियों को सामन्ती सेवाओं से मुक्त कर दें, ज़मीनों को काश्त पर उठा दें अथवा उन्हें जोतने के लिए पैसा देकर श्रमिक रख लें। कामगार लार्डों की ज़मीनों पर बेगार करने से मुक्त हो गए और उन्हें अपने समय तथा शक्ति का अपने खेतों में उपयोग करने का अवसर मिल गया। इससे बाज़ार में बेचने के लिए उनके पास अतिरिक्त उपज होने लगी और वे नगरों से अपनी ज़रूरत की चीज़ें खरीदने के योग्य धन पा गए।

तेरहवीं शताब्दी के बाद क्षणिक उतार-चढ़ावों और सोने के सिक्कों के फिर से चल जाने के फलस्वरूप किसानों की दशा सुधर गई। कीमतें बढ़ गईं और जिन ज़मींदारों ने लगान नगदी में बदल लिया था, उन्हें भारी हानि उठानी पड़ी। लेकिन किसानों को लाभ पहुंचा। आय के घट जाने और खर्चों के बढ़ जाने का परिणाम यह निकला कि लार्डों पर कर्ज बढ़ गया। उन्हें अपनी ज़मीनें बेचने पर विवश होना पड़ा और कितने ही अवसरों पर नगरों के व्यापारियों ने उन्हें खरीद लिया।

इसके परिणाम बड़े क्रान्तिकारी हुए। ग्रामों में कामगारों का स्थान मुक्त किसानों ने ले लिया और मुक्त श्रमिकों का एक वर्ग बन गया, जो ज़मीनों से बंधा नहीं रहा। ग्रामीण कारीगर को अपना शिल्प छोड़ देना पड़ा, क्योंकि गांववालों ने अपनी ज़रूरतों के लिए अधिक कुशल और कला-प्रवीण नागरिक शिल्पकारों पर निर्भर होना आरम्भ कर दिया। पट्टेदारी और रूढ़ समाज-स्तर पर खड़ा ग्रामीण समाज अब एक मुक्त सम-झौते के आधार पर निर्मित होने लगा। अर्द्धदास उन्मुक्त व्यक्ति बन गए। परम्परागत अधिकारों और कर्तव्यों का स्थान नगद लेन-देन ने ले लिया। ज़मींदार-वर्ग ने पैसा कमाने के दूसरे तरीके ढूंढ़ने आरम्भ किए। नगरों में वाणिज्य का विकास ऐसा ही एक रास्ता था। राज्य के नागरिक और सैनिक विभागों में नियुक्तियों का विस्तार दूसरा तरीका बना। जो लोग भूमि पर रह गए, वे अपनी ज़मीनों को संगठित करने लगे और उन पर बाज़ारी फसलें उगाने के साथ-साथ भेड़ें पालने लगे। इस प्रकार, सामन्ती गांव की मध्य-युगीन अर्थ-व्यवस्था पूरी तरह बदल गई।

मध्य-युगीन कस्बों का भी स्वरूप-परिवर्तन हुआ। नागरिक उद्योगों की रूढ़ पद्धति हाथ की कारीगरी थी और उनकी कार्य-प्रणालियों में बहुत कम विभिन्नता थी।

आरम्भ में व्यापारियों के मण्डल ही सामान्यतः उद्योगों का नियन्त्रण करते थे। लेकिन सत्ता के दुरुपयोग, पूंजी की गड़बड़ी और पक्षपातपूर्ण न्याय-व्यवस्था ने उन्हें कमज़ोर बना दिया तथा नष्ट कर दिया। अब शिल्पकार-मण्डलों ने उनका स्थान ले लिया। उन्होंने एकाधिकारों और एकान्तिक पद्धतियों का निर्माण किया और नागरिक प्रशासनों पर अधिकार पा लिया।

लेकिन सोलहवीं शताब्दी में शिल्पकार-मण्डलों का भी पतन हो गया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह हुई कि सम्पन्न शिल्पकार व्यापारी और कारखानेदार बन गए। नागरिक सीमाओं से बाहर रहनेवाले कारीगरों के लिए, जिन पर मण्डलों के नियम लागू नहीं होते थे, उन्होंने माल का निर्माण असम्भव कर दिया। इस प्रकार, कारखानेदार अथवा व्यापारी उद्योगपति वेतनभोगी कारीगरों के वर्ग से अलग हो गया। उद्योग-पति-वर्ग ने कारीगरों पर नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से विशेष वर्दीवाली 'लिवरी' कम्पनियां चालू कीं। यह एक ऐसी व्यवस्था थी, जिसके अनुसार कारीगर अपने श्रम के बदले वेतनभोगी कामगार बन जाते थे और व्यापारी पूंजीपति मालिक। इस प्रणाली को 'घरेलू अर्थ-व्यवस्था' कहा जाता था। इन कम्पनियों के बनने से नागरिक स्थानीयता भंग हो गई। शिल्पकार-मण्डलों का एकाधिकार नष्ट हो गया और पूंजी सीमित एकाधिकारवाद के बन्धनों से मुक्त हो गई।

इन हलचलों के कारण सामन्ती ग्राम और कस्बे जिस अलगाव में काम करते थे, वह टूट गया। नगर और ग्राम एक व्यवसाय में भागीदार बन गए और एक सामान्य सामाजिक संगठन के रूप में परस्पर-सम्बद्ध हो गए। आत्मनिर्भरता लुप्त हो गई और एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ने लगा। फलतः पारस्परिक निर्भरता बढ़ी।

राज्य का उद्‌भव

जब सामन्ती अर्थ-व्यवस्था का रूप-परिवर्तन एक नए समाज की नींव रख रहा था, जब उसकी ग्राम और नगर नामक इकाइयां एक विशालतर समाज-यन्त्र के रूप में पुनर्गठित हो रही थीं, तब एक केन्द्रीभूत सत्ता के उद्‌भव ने, राजाओं के हाथों में शक्ति के संचय ने, इस विकास-क्रम को तेज़ किया और मज़बूत बनाया। केन्द्रीकरण वैसे तो हर दिशा में हुआ, लेकिन सामान्य प्रशासन और सैनिक-संगठन के क्षेत्रों में उसका विशेष ज़ोर रहा।

सामन्तवाद अपने राजनीतिक पक्ष में अराजकतावादी था। राज्य की शक्ति सीमित थी। सामन्ती लार्डों और चर्च के पास सत्ता का बड़ा भाग था और राजा का अपनी अधिकांश प्रजा पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण बहुत कम था। सिर्फ इंग्लैण्ड में नार्मन विजेताओं ने पूरी विजित प्रजा पर अपना सीधा शासन आरोपित किया था। ऐसे समाज में विधायक कार्रवाइयों के लिए बहुत कम गुंजाइश थी, क्योंकि प्रथाएं सर्व-व्यापक थीं। न्याय अधिकांशतः निजी था, क्योंकि अधिकतर अदालतें साम्प्रदायिक, सामन्ती अथवा धार्मिक थीं, और राज्य की अदालतों का अधिकारक्षेत्र अत्यन्त सीमित था। केन्द्रीय प्रशासन का यन्त्र आदिम कालीन था। राजा के पदाधिकारी उसकी गृहस्थी के संचालक-मात्र थे। सेना में वे सामन्ती रंगरूट सम्मिलित होते थे, जिन्हें सामन्तों के झण्डों के नीचे इकट्ठा किया जाता था और जो सामन्ती प्रथा के अनुसार सैनिक सेवा करने को बाध्य थे। उनकी सामान्य अवधि वर्ष में चालीस दिन

थी और राज्य की सीमा से वाहर सेवा करने की उन्हें कोई बाध्यता नहीं थी।

उन असभ्य युगों में, जब युद्ध की कला का बहुत-कुछ विकास हो चुका था, अपने दुर्ग में बैठा बैरन बहुत आसानी से राजद्रोह कर सकता था, क्योंकि घेराबन्दी समय और धन, दोनों ही दृष्टियों से बहुत महंगी पड़ती थी। इस प्रकार, अपनी सत्ता के विस्तार के इच्छुक राजाओं और अपनी शक्ति को सुरक्षित रखने के प्रति सतर्क महा-सामन्तों के बीच एक स्वाभाविक विरोध वर्तमान था। धर्मादेशों से पुष्ट राजभक्ति और अधीनता की औपचारिक शपथें भी बार-बार के बलवों और विद्रोहों को रोक नहीं पाती थीं।

इनके बीच सर्वोच्चता का संघर्ष सैकड़ों वर्षों तक चलता रहा। भाग्य के उतार-चढ़ाव हुए। राजा कभी सफल हुआ और कभी हार गया। पर अन्ततः पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक परिस्थितियां निश्चित रूप से केन्द्रीय सत्ता के पक्ष में हो गईं।

इस संघर्ष में ग्राम और नगर, दोनों ने ही भाग लिया। नगरों ने एक केन्द्रीय शक्ति का पक्ष लिया, क्योंकि उनके हित में यही था कि शान्ति और व्यवस्था कायम हो। बैरनों का औद्धत्य उसे बार-बार भंग करता था। नगर दो रूपों में शक्ति के सूत्र उपलब्ध कराते थे: करों-चुंगियों, तथा ऋणों के माध्यम से। इस प्रकार प्राप्त धन ने सामन्ती राजस्व और सेवाओं पर निर्भर करने से राजाओं को मुक्त कर दिया और उन्हें वैतनिक सेनाएं रखने के योग्य बना दिया। नागरिक अर्थ-व्यवस्था-द्वारा निर्मित मध्यम वर्ग ने भी राज-तन्त्र को मजबूत बनाने में सहयोग दिया। ये लोग, स्वभावतः ही, सामन्ती उच्च वर्ग के विरोधी थे। फिर, व्यापार के फैलाव के लिए सुरक्षित सड़कों और शान्तिपूर्ण बाजारों की जरूरत थी। इन्हें प्राप्त करने का लक्ष्य लेकर उन्होंने राजाओं का पक्ष-समर्थन किया। उन्होंने पूंजी का संचय किया और न केवल उच्चतर जीवन-स्तर पा लिया, बल्कि संस्कृति के प्रति एक रुचि भी विकसित कर ली। उन्होंने ऐसे स्कूल स्थापित किए, जो चर्च के अनुशासन से मुक्त जन-सामान्य के लिए ज्ञान के केन्द्र बन गए। इन स्कूलों से शिक्षा प्राप्त करके निकले लोगों ने राजकीय प्रशासन-विभागों में नौकरियां कर लीं और राजसत्ता के पक्ष को बढ़ावा दिया।

महाद्वीप में मध्यम वर्ग के एक अंग ने रोमन कानून का अध्ययन किया। इन लोगों ने कानून, व्यवस्था और सर्वोच्च केन्द्रीय सत्ता से सम्बन्धित रोमन विचारों का मध्य-युगीन राजनीति में प्रवेश कराया।

युद्ध-प्रणाली में हुए परिवर्तनों ने—उदाहरणस्वरूप, बारूद के प्रयोग ने राजाओं की शक्ति को बढ़ा दिया और लड़ाई के किलाबन्दी के तरीके को व्यर्थ बना दिया। जब राजाओं की शक्ति बढ़ रही थी, तब जागीर-व्यवस्था को प्रभावित करनेवाले आर्थिक उलट-फेर भी सामन्तवर्ग को कमज़ोर बना रहे थे। इस क्रम की परिणति यह हुई कि राज-तन्त्री निरंकुशता ने ज़ोर पकड़ लिया और सामन्ती खुदमुख्तारी नष्ट हो गई।

प्रशासन के क्षेत्र में, राज्य के बड़े-बड़े विभाग बन गए और उच्चाधिकारी उनका नियन्त्रण करने लगे। मन्त्रियों, अफसरों और क्लर्कों की संख्या बढ़ी और इस प्रकार इन सबके स्रोत, मध्यम वर्ग, का प्रभाव बढ़ा।

इंग्लैण्ड में राजा प्रशासन-यन्त्र का प्रधान था और सीधे अथवा अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से वैधानिक, न्यायिक, आर्थिक और प्रशासकीय कार्यों में भाग लेता था। अधिकार की दृष्टि से बड़े अफसरों का स्थान उसके बाद ही था—पहले कानून और वित्त

का अधिकारी न्यायाधिपति अथवा मुख्य मन्त्री, और जब यह पद समाप्त कर दिया गया तब चान्सलर, कोषाध्यक्ष, कान्स्टेबल और मार्शल।

तेरहवीं शताब्दी में विधान बनाने और कर लगाने का काम संसद् के हाथ में आ गया। इसमें सामन्त, पादरी और मध्यम वर्गों के प्रतिनिधि शामिल होते थे। अपने उच्च सदन (हाउस आफ लार्ड्स) को इसने कुछ विशेष विषयों का क्षेत्राधिकार दे दिया। संसद् कानून बनाने और राज्यों के लिए राजस्व का प्रबन्ध करनेवाली केन्द्रीय संस्था बन गई। इसकी गतिविधियों ने समाज की एकता को बड़ा बढ़ावा दिया, क्योंकि इसके निर्माण से ये वर्ग एक सहयोगी संगठन में बंध गए और इसकी सक्रियता राज्य की पूरी प्रजा को सीधे प्रभावित करने लगी। इस प्रकार, राज्य की बढ़ती हुई गतिविधियों ने सामन्ती इकाइयों की पृथकता और आत्मनिर्भरता को समाप्त कर दिया।

इसी प्रकार, न्याय भी सामन्ती अथवा साम्प्रदायिक अदालतों का निजी मामला न रहा। राज्य की केन्द्रीय अदालत का क्षेत्राधिकार विस्तृत हो गया। यह 'किंग्स बेंच' सामान्य मुकदमों की अदालत और 'एक्सचेकर' के माध्यम से काम करने लगी। 'किंग्स बेंच' का क्षेत्राधिकार फौजी मामलों और उन सब मुकदमों पर था, जहां शान्ति भंग की गई हो अथवा शक्ति का अवैध प्रयोग किया गया हो। सामान्य मुकदमों की अदालत में राज्य के लोगों के दीवानी मुकदमों को सुना जाता था। 'एक्सचेकर' शाही राजस्व से और राजस्व के संग्रह और इस्तेमाल से सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों की सुनवाई करता था। राजा की परिषद् और संसद् भी न्याय-यन्त्र के अंग थीं।

राजा और उसकी अदालतों-द्वारा न्यायिक अधिकार धारण कर लिए जाने से सामन्ती अदालतों की न्यायिक सत्ता की समाप्ति में सहायता मिली, क्योंकि वे सब मामले, जो व्यवहारतः जागीरी अथवा 'बरो' अदालतों के सामने पहुंचा करते थे, अब शाही अफसरों की अदालतों में पेश होने लगे।

यहां एक रोचक बात यह है कि एकीकरण की प्रगति सामन्ती राजस्व पर निर्भरता से राजा की मुक्ति का क्रमिक अनुसरण करती रही। सामन्ती देयों, सहायता-करों, चुंगियों, आदि के अतिरिक्त आय के नए स्रोत प्रकट हुए, जैसे कि सभी प्रकार के भूमि पट्टेदारों पर कर, आय और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कर, आयात-निर्यात पर महसूल, अदालती फीस, जुर्माने तथा विशेषाधिकारों और पदों की बिक्री। जब फिजूलखर्च महत्वाकांक्षी और लड़ाकू राजाओं के लिए ये भी काफी नहीं होते थे, तब वे मध्यम-वर्गीय महाजनों और बैंकरों से ऋण लेने का मार्ग अपनाते थे।

ऐसी ही एक बात ने सेना को भी प्रभावित किया। सामन्ती प्रथा के अनुसार, राजा की सेना में सामन्तों की सेवा करनेवाले असामी सम्मिलित होते थे। ये वर्ष में चालीस दिन सेवा करने को बाध्य थे और समुद्र-पार जाने से दूर भागते थे। इस प्रथा के दोषों को महसूस करते हुए बारहवीं शताब्दी में सैनिक सेवा के बदले धन देने का तरीका अपनाया गया और सभी मुक्त असामियों को उनकी आय के अनुसार शस्त्र-सज्जित करने के कानून बनाए गए। इस सेना का कर्तव्य था, शान्ति स्थापित करना और अपराधों को रोक-थाम करना। राजा-द्वारा नियुक्त अफसर एक सेना खड़ी करते थे, जिसे स्वयं राजा वेतन देता था और साज-समान से लैस करता था। राजा ऐसा इसीलिए कर पाता था कि उसका राजस्व बढ़ गया था। वेतनभोगी सेना और बारूद, ये दो ऐसे हथियार थे, जिन्होंने सामन्तवाद के दुर्ग को उड़ा दिया।

चौदहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के बीच सामन्त-युगीन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों की प्रणाली छिन्न-भिन्न हो गई। सामन्ती समाज और चर्च के सोपानिक तन्त्र का आधार था व्यक्तिगत सम्बन्ध, जो असामी और ज़मींदारों, कामगार-वर्ग और मुक्त किसानों, सामन्तों और महासामन्तों, महासामन्तों और राजाओं, उस्तादों और कारीगरों के बीच विद्यमान पट्टेदारी और अनिवार्यतापरक सम्बन्धों को भी प्रभावित करता था। यह व्यक्तिगत सम्बन्ध टूट कर विखर गया और इसके स्थान पर एक नई प्रणाली आ गई, जिसमें पट्टेदारी और अनिवार्यता से सम्बन्धित रिश्ते अधिक मज़बूत बन गए तथा व्यक्तिगत सम्बन्ध कमज़ोर पड़ गए। यह प्रणाली अठारहवीं शताब्दी तक चलती रही।

3. वाणिज्यवादी प्रणाली

सामन्ती पद्धति के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद सोलहवीं से अठारहवीं तक की दो शताब्दियां यूरोपीय इतिहास में मध्य और आधुनिक युगों के बीच का संक्रान्ति-काल कहलाती हैं। आर्थिक क्षेत्र में हस्तशिल्प पर आधारित मध्य-युगों के नागरिक व्यापार का स्थान वाणिज्यवादी प्रणाली ने ले लिया, और राजनीति में सामन्ती लार्डों की अर्द्धस्वायत्त जागीरों के ढीले-ढाले संघ की जगह केन्द्रीभूत और शक्तिशाली राजकीय एकतन्त्रों ने ले ली। बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में भी एक विस्तृत और विशाल क्रान्ति हो गई, जिसका दिमाग के रुखों, रुझानों और कार्य-पद्धतियों पर प्रभाव पड़ा। इसने लोगों के विश्वासों को बहुत गहराई तक झकझोर डाला। इस प्रकार, इस तिहरे आन्दोलन ने समाज का रूपान्तरण किया और यूरोप के प्रादेशिक, धर्म-निरपेक्ष, राष्ट्रीय, आत्मचेता समाजों पर आधारित आधुनिक, स्वतन्त्र और स्वशासी राज्यों का युग आ पहुंचा। इन समाजों के सदस्य व्यक्ति और समूह, दोनों ही—राष्ट्रीय भावनाओं और प्रादेशिक अनुराग के सम्बन्ध-सूत्रों से परस्पर बंधे थे।

अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में वाणिज्यवादी प्रणाली ने सामन्ती व्यवस्था का स्थान लिया। वाणिज्यवाद ने नए उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित किया। आर्थिक सहायता, एकाधिकार और कर से मुक्ति देकर, विदेशों की प्रतियोगिता को सीमित करके, चुंगियों को इस प्रकार ढाल कर कि कच्चे माल के आयात और तैयार माल के निर्यात को बल मिले, तथा नियन्त्रण-द्वारा उत्पादन-स्तर बनाए रख कर इसने उद्योगों का पोषण किया। कितने ही अन्य तत्वों ने भी इसकी प्रगति में सहयोग किया—उदाहरण के लिए, व्यक्तिवाद का विकास, जो स्वयं मध्य-युगीन प्रणाली के विनाश का एक परिणाम था; ग्रामीण संस्थाओं और मण्डलों के प्रभाव का लोप; व्यक्ति की अपने आर्थिक जीवन में चर्च और नैतिक के नियन्त्रण से मुक्ति; और बुद्धि तथा आत्मा पर कसी जंजीरों का टूट कर बिखर जाना।

जिन कारणों ने वाणिज्यवाद को जन्म दिया, उनमें सबसे महत्वपूर्ण था, पूंजी का संचय। इसने कृषि, व्यापार और उद्योगों को प्रभावित किया। कृषि-क्षेत्र में खेतों की चकबन्दी और भेड़ पालने के लिए बाड़ों के निर्माण ने उत्पादन की वृद्धि में सहायता पहुंचाई और उद्योगों के लिए श्रमिक उपलब्ध हुए। व्यापारिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण बातें थीं—लिवरी कम्पनियों का विकास, जिन्होंने हस्तशिल्पों को व्यापारी उद्योगपतियों के नियन्त्रण में ला दिया, नए मार्गों तथा अमेरिका एवं भारत-जैसे नए देशों की खोज के

फलस्वरूप नए बाजारों का विकास, और यूरोप के आर्थिक केन्द्र का भूमध्य-सागरीय देशों से हट कर अतलान्तिक समुद्र-तटवर्ती देशों में चला जाना।

भारत और अमेरिका की खोज का बड़ा प्रेरक परिणाम निकला। वाणिज्य और उद्योग आगे बढ़े। सत्रहवीं सदी के अन्त में समुद्रपारीय व्यापार से इंग्लैण्ड को प्राप्त होनेवाली राष्ट्रीय सम्पत्ति यूरोप से होनेवाली आय की तिगुनी थी। वाणिज्य ने नौका-नयन और जहाज़-निर्माण को बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। अमेरिका से यूरोप में सोने और चांदी की एक बाढ़-सी आ गई। इस प्रकार, तरल पूंजी अचानक ही बढ़ गई और इससे व्यावसायिक उद्योगों को बड़ा बल मिला। वाणिज्य और उद्योग की नई-नई प्रणालियों ने व्यापारियों और उद्योगपतियों को लाभ पहुंचाया।

वाणिज्यवादी पद्धति के आने से आर्थिक एकता का भी पक्ष पुष्ट हुआ। इसने सिक्कों, बाटों और गज़ों में विद्यमान विषमताओं को दूर कर दिया। इसने चुंगी की रुकावटों और नगर-चुंगियों को समाप्त करके स्थानीय प्रथाओं की जगह एक सामान्य नीति लागू की और एक सन्तुलित अर्थ-व्यवस्था स्थापित की। इसने राज्य के अधिकारों में वृद्धि की। राज्य के सभी विरोधी—चर्च, कस्बे और सामन्ती जागीरें—इसके बढ़ते हुए नियन्त्रण के आगे झुक गए। वाणिज्यवादी नीतियों के द्वारा राज्य ने धन और शक्ति प्राप्त की, जिसका उपयोग उसने उपनिवेश बसाने, सेनाएं खड़ी करने और विरोधियों के विरुद्ध युद्ध करने में किया।

वाणिज्यवादी अर्थ-व्यवस्था उत्पादन के उस तरीके पर आधारित थी, जिसे घरेलू पद्धति कहते हैं। इसके अनुसार कारीगर अपने परिवार के साथ अपने घर पर ही काम करता था। काम के औज़ार उसके अपने होते थे, लेकिन बिचौलिया अथवा व्यवसायी कच्चा माल उसे देता था और तैयार माल बेचने के लिए ले लेता था। इस प्रकार, व्यापारी खरीदार से सीधा सम्बन्ध रखता था और निर्माता की सक्रियता पर नियन्त्रण रखता था। वाणिज्यवाद ने मध्य-वर्ग और बुर्जुआ पूंजीवाद को विजय दिलाई।

वाणिज्यवाद उस राजनीतिक परिवर्तन-क्रम का ही एक हिस्सा था, जिसके अधीन राज्य पूरा प्रभाव और सत्ता अपने पास संचित कर रहा था। सोलहवीं शताब्दी में सामन्ती कुलीनतन्त्र ने राज्य का मुकाबला करना और उसकी सत्ता को सीमित करना छोड़ दिया। लेकिन लोगों की बुद्धि और उनके विश्वासों पर चर्च का प्रभाव अभी तक बाकी था। जिन आन्दोलनों ने मानव-मस्तिष्क को मुक्त किया और रोमन कैथोलिक चर्च के संगठन और अनुशासन को भंग किया, वे थे नवजागरण और सुधार आन्दोलन।

नवजागरण, जो इटली में आरम्भ हुआ, एक संश्लिष्ट प्रक्रिया था। अपन आरम्भिक स्तरों में यह प्राचीन यूनान की सांस्कृतिक परम्परा का पुनरुद्धार था। लेकिन यूनानी संस्कृति एक बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति थी। यह सभ्यता मानवतावाद से परिपूर्ण थी और नैसर्गिक जीवन में रस लेती थी। इसमें अति-मानवीय तत्वों को कोई महत्व प्राप्त नहीं था।

दूसरी ओर, सामन्ती यूरोप में धर्म का प्रभाव सर्वव्याप्त था और राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन भी उसके निदेशन तथा नियन्त्रण से पूरी तरह बाहर नहीं था। चर्च ने उन सीमाओं को भी निर्धारित कर दिया था, जिनमें रह कर बुद्धि अथवा तर्क अपना काम करें। वह जीवन के सभी पक्षों में ईसाइयों के आचरण और जीवन को नियमित करता था और उनके लिए व्यवहार के स्तर निर्दिष्ट करता था।

नवजागरण ने इस मध्य-युगीन धर्मतन्त्र को घातक चोट पहुंचाई। लोग अब अपने तर्कों के समर्थन के लिए बुद्धि का सहारा लेने लगे। धर्म की सत्ता और परम्परा के दावों की उन्होंने छानबीन आरम्भ कर दी। वे प्रकृति और विज्ञान, मानव और उसके सुख-दुख, सौन्दर्य और साहसिक कार्यों में रुचि लेने लगे। व्यक्ति ने साम्प्रदायिक जीवन के उस खोल को फाड़ दिया, जिसमें वह अब तक बन्द था।

इस प्रकार प्राप्त स्वतन्त्रता धर्म के क्षेत्र में भी शीघ्र ही फैल गई। लूथर-जैसे लोगों ने रोमन कैथोलिक चर्च के निदेशों और सिद्धान्तों की परीक्षा आरम्भ कर दी और अपनी आत्मा को पीटर की चट्टान के सहारे टिकाने के बदले, अपने जीवन की संगति व्यक्तिगत विश्वासों में ढूंढ़ना शुरू किया। चर्च की एकता बिखर गई। इंग्लैण्ड के राजाओं ने संसद् की सहमति से रोम के साथ अपना आस्था-सम्बन्ध तोड़ दिया और इंग्लैण्ड के प्रादेशिक चर्च पर सर्वोच्च अधिकार प्राप्त कर लिया। जर्मनी में कितने ही राजाओं ने लूथर का अनुगमन किया और रोमन कैथोलिक मान्यताओं और पोप की सर्वोच्चता को तिलांजलि दे दी। कालविन ने स्विट्ज़रलैण्ड में एक ऐसे ही आन्दोलन का नेतृत्व किया। प्रोटेस्टेंट मत यूरोप के दूसरे देशों में फैल गया।

सुधार-आन्दोलन ने हर यूरोपीय देश को रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, इन दो प्रतिद्वन्द्वी दलों में बांट दिया। प्रत्येक मत का लक्ष्य न केवल मानव के संकीर्ण धार्मिक जीवन का नियन्त्रण था, बल्कि उसके राजनीतिक, आर्थिक और नागरिक आचरण का निदेशन भी था। ऐसी परिस्थिति में युद्ध अनिवार्य था। जब विभेद इस सीमा तक पहुंच जाते हैं कि समझौता सम्भव नहीं रहता, तब तलवार निर्णायक बनती है।

सोलहवीं शताब्दी के मध्य से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक के सौ वर्षों में यूरोप धर्म-युद्धों में उलझा रहा। भयंकर हत्याकाण्डों और विध्वंसक सैनिक-अभियानों के बाद अन्ततः यूरोपियनों ने यह सबक सीखा कि एक साथ ही अच्छा रोमन कैथोलिक और अच्छा प्रोटेस्टेंट बनना सम्भव है और इसके साथ ही अपने प्रादेशिक राज्यों के प्रति वफादार भी रहा जा सकता है।

इस प्रकार, राजनीति में धर्म-निरपेक्षता आई और धर्म उन विषयों में उलझने से मुक्त हो गया, जिनकी जड़ें मानव के निम्न सांसारिक स्वार्थों में थीं। ईसा की सलाह कि "जो चीज़ें सीज़र की हैं, उन्हें सीज़र को दे दो, और जो भगवान् की हैं, उन्हें भगवान को" अन्ततः लागू हुई और शान्तिपूर्ण स्थितियां स्थापित हुईं। मत और सम्प्रदाय अपने भेदभाव भूल गए और समान उद्देश्यों की स्थिति के लिए समान राष्ट्रीयता के सम्मिलित सदस्य बन गए।

राष्ट्रीय राज्योंवाले आधुनिक यूरोप के निर्माण में तीन आन्दोलनों ने एक साथ हिस्सा लिया। वाणिज्यवाद ने राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय शक्ति की आर्थिक नींव रखी, नवजागरण ने राष्ट्रीय भाषाओं और संस्कृतियों को प्रोत्साहित किया और सुधार-आन्दोलनों ने राष्ट्रीय चर्चों की स्थापना की। मध्य-युगीन विश्ववाद का स्थान धर्म-निरपेक्ष और प्रादेशिक समाजों के पृथकतावाद ने ले लिया।

4. औद्योगिक क्रान्ति और राष्ट्रवाद

राजाओं की केन्द्रीभूत राजनीतिक सत्ता के अधीन यूरोपीय जातियों में राष्ट्रीय एकता की चेतना विकसित हुई। इस चेतना के दो पक्ष थे—एक देश-विशेष में

रहनेवाले लोगों की समानता की चेतना, और अन्य देशों के वासियों से उनके भेद की चेतना।

इंग्लैण्ड पहला देश था, जहां इस प्रकार का राष्ट्रीय भाव प्रकट हुआ। कारण यह हुआ कि सन् 1688 की अंग्रेजी क्रान्ति के फलस्वरूप सत्ता राजा के हाथ से निकल कर स्वयं प्रजा को मिल गई थी। वफादारी शासक के प्रति न रह कर स्वयं जनता के प्रति उन्मुख हो गई थी। फिर, व्यक्ति एवं समाज ने अपनी एकता अपनी संसद् में पा ली थी। पहला जनप्रिय राष्ट्रीय गीत 'रूल ब्रिटेनिया' सन् 1740 में लिखा गया था।

सन् 1789 में फ्रांस का प्राचीन शासन एक खूनी क्रान्ति की लपटों में जल कर भस्म हो गया। इस विप्लव में राजा के दिव्य अधिकार का सिद्धान्त नष्ट हो गया। चौदहवें लुई की बदनाम घोषणा "राज्य मैं हूं, मैं हूं राज्य" और उसके प्रपौत्र पन्द्रहवें लुई की गर्वोक्ति "सर्वोच्च सत्ता सिर्फ मेरे व्यक्तित्व में निहित है; मेरी जनता मुझसे एकरूप होकर ही अस्तित्व रखती है" शून्य में उछाल दी गई। क्रान्ति के बाद फ्रांस एक राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ और नेपोलियन की विजयों ने उसे यशोद्दीप्त कर दिया।

नेपोलियन की विजयों ने यूरोप में राष्ट्रवाद की मशाल जला दी और सत्रहवीं शताब्दी के उपरान्त देशों ने, एक के बाद एक, उसकी चमक को महसूस किया। यूनान और बेल्जियम, जर्मनी और इटली, पोलैण्ड और हंगरी राष्ट्रवाद की प्रेरणा से प्रेरित हुए और उन्होंने स्वतन्त्रता तथा एकता की कामना की। अब एशिया पर उसके जादू का असर होने लगा। जापान ने नेतृत्व किया। तुर्की, ईरान, चीन और भारत, सभी ने एक हलचल और उत्तेजना महसूस की। आज राष्ट्रवाद एक विश्वव्यापी परिस्थिति है। यह सभी महाद्वीपों के लोगों को आन्दोलित और अनुप्राणित करता है।

सामन्तवादी अराजकता से राष्ट्रवादी संगठन तक पहुंचने में यूरोप को सात शताब्दियां लगीं। लेकिन जैसे ही एक बार राष्ट्रवाद स्थिर हो गया, प्रगति की रफ्तार तेज हो गई।

चूंकि मध्य-वर्ग राष्ट्रवाद का अगुआ था, इसलिए, स्वभावतः ही, उसे इसका सर्वप्रथम लाभ भी मिला। राजनीतिक शक्ति उसके हाथों में चली गई और राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्था में उसके हित प्रधान बन गए। सत्ता के राजा और एक रूढ़ अल्पतन्त्र के कब्जे से निकल कर बुर्जुआ-वर्ग के हाथों में पहुंच जाने का फल हुआ, मुक्त समाजों का उद्भव। ये समाज सिर्फ इसलिए स्वतन्त्र नहीं हैं कि विदेशी नियन्त्रण अथवा हस्तक्षेप से मुक्त हैं और न सिर्फ इस कारण कि अपनी शक्तियों के प्रयोग में ये स्वतन्त्र हैं, बल्कि इसलिए कि ये उस सत्ता का आदेश मानते हैं, जो उनकी अपनी इच्छा में, जनता की इच्छा में, निहित है। इन समाजों में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग मताधिकार के माध्यम से जनता-द्वारा चुने गए जन-प्रतिनिधियों-द्वारा किया जाता है। इकरार की स्वतन्त्रता होने से व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता सुरक्षित थी। चिन्तन, अभिव्यक्ति, धर्म और जीविका के क्षेत्रों में व्यक्तिगत रुचि पर लगे बन्धन टूट जाने से व्यक्ति की सांस्कृतिक स्वतन्त्रता निश्चित है।

मध्य-वर्ग के संरक्षण में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विकास के कारण उत्पादन ने अत्यधिक उन्नति की है और सम्पत्ति का अभूतपूर्व विस्तार हुआ है। अधिकाधिक लोगों ने वैभव और सत्ता में हिस्सा लिया है और इस प्रकार पूरे समाज के साथ राज्य की एकरूपता का क्रम पूर्ण समानता, स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की उपलब्धि की ओर और तेजी से आगे बढ़ा है। इस विकास-क्रम के बीच व्यक्ति, समाज और राज्य के महत्व और

उनका स्थिति में क्रान्ति आ गई है और मानवीय मूल्यों एवं उद्देश्यों से सम्बन्धित धारणाओं का पूर्ण रूपान्तरण हो गया है।

यूरोप का विस्तार

यूरोप का पूंजीवादी समाज अपनी प्रकृति में निहित तर्क के द्वारा दुनिया-भर में फैल जाने के लिए प्रेरित हुआ, जिससे वह अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त कर सके और अपने तैयार माल के लिए नए बाजार ढूंढ़ सके। इसी खोज में वह भारत पहुंचा। तब पूंजीवादी यूरोप के सबसे प्रगतिशील देश इंग्लैण्ड ने इस देश पर अपना आधिपत्य जमा लिया और उन शक्तियों को गति दे दी, जिन्होंने इसे बदल डाला। इस प्रकार प्रेरित होकर भारत ने राष्ट्रीयता की ओर जानेवाला मार्ग निश्चित किया और राष्ट्रीय एकता की चेतना के जाग उठने से स्फूर्त और जाग्रत भारतीयों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष किया।

यूरोप के सामाजिक विकास का इतिहास जो प्रकाश डालता है, उससे भारत के अतीत को समझने में सहायता मिलती है। यूरोपियनों के आने से पहले ऐतिहासिक परिवर्तनों की गति और रूपरेखा जिस शैली का अनुसरण कर रही थी, वह भारत की स्थितियों के अनुकूल ही थी। इस परिवर्तन का क्रम बहुत धीमा था, क्योंकि जीवन-स्थितियां रूढ़ थीं। या तो जनसंख्या स्थिर थी या उसमें आनेवाला उतार-चढ़ाव देश के विशाल निर्जन प्रदेशों द्वारा सम्भाल लिया जाता था। उत्पादन के तरीके स्थिर और लोगों की मामूली जरूरतों के लिए काफी थे। सामाजिक स्तर-विन्यास रूढ़ था और सामाजिक गतिशीलता अनुपस्थित। तब, सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में भारत के लोग पश्चिम के एक ऐसे वेगवान् समाज की भयानक टक्कर में आ गए, जो सभ्यता के सभी रूपों में उससे भिन्न था। फलतः पश्चिमी प्रभाव उग्र गति से अपना काम करने लगे। उन्होंने सामाजिक परिवर्तनों के क्रम को तेज़ कर दिया और उन समान परिणामों को उत्पन्न किया, जिन्हें यूरोप अनुभव कर चुका था।

भारत में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद पतन बड़ी तेज़ी से हुआ। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक केन्द्रीय सत्ता पूरी तरह नष्ट हो चुकी थी। और एक अव्यवस्था तथा अराजकता यहां छा गई थी। दुर्भाग्यवश, कोई व्यक्ति या समूह मुगल साम्राज्य का स्थान लेने और देश की एकता को बचाए रखने के लिए ऊपर नहीं आया। इस प्रकार जो राजनीतिक शून्य बना, उसने विदेशी शक्तियों को आमन्त्रित किया। अतीत में, समान परिस्थितियों में, मध्य-एशिया के हमलावर इस शून्य को भरते रहे थे। अठारहवीं शताब्दी में भारत के उत्तर-पश्चिमी पड़ोसी घातक पारस्परिक संघर्ष में उलझे हुए थे। यद्यपि सन् 1739 में नादिर शाह ने और 1748 और 1773 के बीच अहमद शाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किए और दिल्ली साम्राज्य के बिखरते हुए ढांचे को घातक आघात पहुंचाए, तथापि ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया की आन्तरिक अवस्थाएं महमूद गज़नवी, शहाबुद्दीन गोरी और बाबर की उपलब्धियों को दुहराने में असमर्थ रहीं।

इस प्रकार, परिस्थितियां समुद्र-पार के विदेशियों को इस बात के लिए प्रेरित करने लगीं कि वे भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करें। इनमें से कई एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। अन्त में, अंग्रेज़ों ने अपने सभी यूरोपीय विरोधियों को हरा दिया और भारत के लोगों को वे अपने शासन के अन्तर्गत ले आए।

सन् 1757 के प्लासी के युद्ध के साथ पर्दा उठता है और अत्यन्त मानवीय रुचि का एक प्रभावशाली नाटक आरम्भ होता है, जिसका अन्तिम दृश्य 15 अगस्त, 1947 के दिन खेला गया। यह नाटक सच ही महाकाव्य-सदृश था। इसके परिपाक और उपसंहार में दो शताब्दियां बीत गईं। जैसा कि अन्य सभी नाटकों में होता है, नैतिक और भौतिक शक्तियों का बृहत् संघर्ष इसकी कथावस्तु का मूल विषय है। इसकी प्रस्तावना प्राचीन युगों तक जाती है, लेकिन इस नाटकीय महाकाव्य की घटनाओं का इतिहास अठारहवीं शताब्दी के उन आरम्भिक वर्षों में प्रारम्भ होता है, जब प्राचीन भारत लुप्त होने लगा और नई शक्तियां अपना प्रभाव जमाने लगीं।

इस नाटक का परिपाक तीन अंकों में हुआ है। पहले अंक में भारत, जिसकी सामर्थ्य ने उसे धोखा दे दिया है, स्वतन्त्रता की हानि की दिशा में औंधे मुंह गिरता है। दूसरे अंक में एक पूरी तरह विदेशी सभ्यता का आघात एक नई स्फूर्ति पैदा करता है, जो प्राचीन शक्ति के अवशेषों को एक ताजा जीवन-पद्धति के रूप में विकसित करती है। और, अन्तिम अंक में इस प्रकार पुनर्जन्म-प्राप्त भारत स्थिरतापूर्वक आत्मोपलब्धि और स्वतन्त्रता की ओर बढ़ता है।

पहला अध्याय

मुगल-साम्राज्य का पतन और विनाश

औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारी

पचास वर्षों तक उस साम्राज्य की बागडोर औरंगजेब के हाथों में रही, जो आकार, जन-संख्या और वैभव की दृष्टि से समकालीन विश्व के राज्यों में अतुलनीय था। अपने अत्यन्त दुर्वह कर्तव्य का पालन करने में उसने अनुराग, मनोयोग, साहस और धैर्य के उन गुणों का परिचय दिया, जो उसे मानवों का एक विलक्षण शासक बना देते हैं। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह एक आदर्श व्यक्ति था। वह उन सब बुराइयों से मुक्त था, जो एशिया के राजाओं और शासकों में सामान्यतः थीं। वह सरल जीवन, नहीं, तपस्वी का-सा जीवन बिताता था। खाने-पीने, वेश-भूषा और जीवन की अन्य सभी सुख-सुविधाओं में वह संयम बरतता था। साम्राज्य के प्रशासन के भारी काम में व्यस्त रहते हुए भी वह अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए कुरान की नकल करके और टोपियां सीकर कुछ पैसा कमाने का समय निकाल लेता था। उसकी अन्तिम वसीयत में अपने दफनाए जाने के खर्चों के सम्बन्ध में उसके आदर्श इस प्रकार थे : "मेरी सिली हुई टोपियों के मूल्य में से चार रुपये दो आने महालदार आया बेग के पास हैं। वह पैसा ले लेना और उसे इस गरीब पर कफन डालने में खर्च कर देना। कुरान की नकल करके कमाए गए तीन सौ पांच रुपये मेरे व्यक्तिगत खर्चों के लिए मेरी थैली में पड़े हैं। मेरी मृत्यु के दिन उन्हें फकीरों में बांट देना।"[1] उसकी दिनचर्या बड़ी कठोर थी, चौबीस घण्टों में से केवल तीन घण्टे वह सोता था।[2] वह बड़ा ही सख्त काम लेनेवाला था, अपने से भी और दूसरों से भी। अपने विशाल प्रशासन के एक-एक विवरण की वह देखभाल करता था और हर सैनिक अभियान का स्वयं निदेशन करता था। उसमें अक्षय स्फूर्ति और प्रबल इच्छा-शक्ति थी।

फिर भी, इतनी मेहनत, सतर्क देखभाल, निष्ठायुक्त पवित्र जीवन, तथा प्रशासक; कटनीतिज्ञ और सेनापति के रूप में उसकी असन्दिग्ध योग्यता के बावजूद उसका शासन असफल रहा। वह स्वयं भी इस बात को जानता था। अपने द्वितीय पुत्र आजम को लिखे अन्तिम पत्र में उसने स्वीकार किया था : "मैं सल्तनत की सच्ची हुकूमत और किसानों की भलाई एकदम नहीं कर सका हूं। इतनी बेशकीमती जिन्दगी बेकार गई।"[3]

अपनी मृत्यु से ठीक पहले औरंगज़ेब ने अपने साम्राज्य को अपने तीन बेटों मुअज्जम, आज़म और कामबख्श के बीच बांट दिया था। लेकिन अभी उसकी आंखें मुंद ही रही थीं कि गद्दी पर अधिकार पाने के लिए उनके बीच झगड़े आरम्भ हो गए। भाइयों के बीच हुए इस संघर्ष में मुअज्जम विजयी रहा और वह बहादुर शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। किन्तु उसका शासन-काल अत्यल्प रहा— चार ही वर्ष शासन करके वह सन् 1712 में मर गया।

---

1. यदुनाथ सरकार : 'हिस्टरी आफ औरंगजेब', खंड 5, पृष्ठ 264
2. यदुनाथ सरकार : 'स्टडीज इन औरंगजेब्स रेन', पृष्ठ 38
3. यदुनाथ सरकार, 'हिस्टरी आफ औरंगजेब,' खंड 5, पृष्ठ 259

अब उत्तराधिकार के लिए पुनः युद्ध आरम्भ हो गया ।

उसके चारों बेटों ने गद्दी पाने के लिए इतने बेहूदा ढंग से जल्दबाजी की कि बेचारे बहादुर शाह की लाश को लगभग एक महीने तक दफनाया भी नहीं जा सका । अन्त में, यह युद्ध बादशाह के द्वितीय और योग्यतम बेटे आजिमुश्शान तथा दूसरी ओर विलासी जहांदार शाह के बीच द्वन्द्व में परिणत हो गया । लेकिन युद्ध-संचालन में आजिमुश्शान की मूर्खता और काहिली तथा ईरानी दल के एक प्रमुख नेता ज़ुल्फिकार खां और शाही सेना के प्रथम खजांची मीर बख्शी के योग्य सेनापतित्व के कारण गद्दी जहांदार शाह को मिल गई ।

जहांदार शाह के गद्दी पर बैठने से साम्राज्य की राजनीति में एक नए किन्तु मनहूस तत्व ने प्रवेश किया । अभी तक उत्तराधिकार-युद्ध में राजकुमार स्वयं ही प्रधान प्रतिद्वन्द्वी रहा करते थे । अब वे पीछे चले गए और उनके स्थान पर महत्वाकांक्षी सामन्त, बड़े पदाधिकारी तथा दलों के नेता शक्ति के असली प्रतियोगी बन गए । उन्होंने राजकुमारों को नाम-मात्र के राजाओं और दिखावटी प्रमुखों के रूप में इस्तेमाल किया, क्योंकि इन नामों के साथ सम्मान जुड़ा था और शाही मुहर से आदेशों और निदेशों को कानूनी रूप मिल जाता था । ये शक्तिशाली सामन्त राजाओं को बनानेवाले बन गए । इन्होंने सत्ता और संरक्षण का प्रयोग किया और वैभव संचित कर लिया । आपस के घातक संघर्ष खुल कर आरम्भ हो गए और उन्होंने साम्राज्य के विशाल आकार को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया ।

जहांदार शाह लापरवाह, लम्पट और 'पागलपन की हद तक नशेबाज़' था । उसने दुराचारपूर्ण और स्त्रैण दरबारी जीवन का एक दुष्ट नमूना सामने रखा और शासक-वर्ग की नैतिकता को कलुषित कर दिया । उसके प्रभाव ने न केवल प्राचीन शाही गौरव का पुनरुद्धार असम्भव कर दिया, बल्कि मामूली सीमाओं के एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में बचे रहने की उसकी सम्भावनाओं को भी धूल में मिला दिया ।

बादशाह एक कठपुतली बन कर रह गया और सारी सत्ता वज़ीर तथा अन्य मन्त्रियों के हाथों में चली गई । फिर, उन्होंने अपने कर्तव्य अपने सहायकों के हाथों में सौंप दिए । इस प्रकार, उत्तरदायित्व बंट गया और पद सत्तासीन मन्त्री की इच्छा और खब्त के अनुसार एक से दूसरे व्यक्ति के हाथों में जाने लगे । अस्थायी पदाधिकारियों ने इन अवसरों का उपयोग शीघ्रातिशीघ्र लाभ कमाने के लिए किया । परिणामतः प्रशासन में लापरवाही होने लगी और अराजकता फैल गई । गद्दी के लिए बहुत-से उम्मीदवार प्रकट होने लगे और सम्राटों के जल्दी-जल्दी बदलने से राजभक्ति की भावना लुप्त हो गई ।

अपने ग्यारह महीने के शासन में जहांदार शाह ने अपने पूर्वजों-द्वारा संचित खज़ाने का अधिकांश भाग लुटा दिया । सोना, चांदी और बाबर के समय से इकट्ठा की गई अन्य मूल्यवान चीज़ें उड़ा दी गईं ।

तब बरहा के सैयदों ने फर्रुखसियर को सम्राट् के विरुद्ध खड़ा कर दिया । और सम्राट् सेना को छोड़ कर अपनी प्रिय बेगम लाल कंवर के साथ युद्ध के मैदान से कायरतापूर्वक भाग निकला ।

दुर्भाग्यवश, फर्रुखसियर एक घृणास्पद चरित्र का व्यक्ति सिद्ध हुआ । वह अपने वादों का झूठा, अपने हितैषियों के प्रति कृतघ्न, कपट-योग-द्वारा उत्पीड़क, अस्थिर-चित्त कायर और क्रूर था । वह अपने प्रिय व्यक्तिगत अनुचरों मीर जुमला और खान

दौरां खां के कहने पर चलता था। उसने सैयद-बन्धुओं से झगड़ा आरम्भ कर दिया और वास्तविक शक्ति-प्रयोग का प्रयत्न किया। अब, स्वभावतः ही, सैयद-बन्धु, जिन्होंने अपनी असन्दिग्ध योग्यता और विशाल साधनों को उसके हवाले कर दिया था, शासन पर, विशेषकर नियुक्तियों पर, और विजयों से होनेवाले लाभ के बंटवारे पर अपना पूरा नियन्त्रण चाहने लगे।

गतिरोध दिन-पर-दिन कटुतर होता गया। सैयदों के नियन्त्रण को तोड़फेंकने की इच्छा से फर्रुखसियर ने अत्यन्त गर्हित ढंग के द्रोह और षड्यन्त्र का सहारा लिया। हुसैन अली को राजपूताने के विद्रोहियों को दबाने के लिए जानेवाली सेना का सेनापति नियुक्त किया गया। साथ ही, विद्रोही जोधपुर-नरेश अजित सिंह राठौर को गुप्त पत्र लिखा गया कि यदि उसने हुसैन अली को समाप्त करा दिया, तो उसे भारी इनाम दिए जाएंगे। योजना विफल रही। अजित सिंह ने घुटने टेक दिए और इससे भी बड़ी बात यह कि सम्राट् के पत्र उसने हुसैन अली को सौंप दिए। अब एक दूसरा षड्यन्त्र रचा गया। दक्कन के सूबेदार निज़ामुलमुल्क को वापस बुला लिया गया और उस सूबे को हुसैन अली के सुपुर्द कर दिया गया। जब वह दक्कन जाने के रास्ते में था, तब दक्कन के सहायक सूबेदार दाऊद खां को गुप्त रूप से भड़काया गया कि वह उसे रोके। यह षड्यन्त्र भी व्यर्थ रहा। दाऊद हार गया और मारा गया।

तीन वर्षों तक ऐसे ही दांवपेंच चलते रहे। बादशाह ने एक के बाद एक विश्वस्त सरदारों को अब्दुल्ला को कुचलने का काम उस समय सौंपा, जब उसका भाई दक्कन में था। पर किसी में भी यह काम करने का साहस न था। अब उसने अपने ससुर राजा अजित सिंह को सहायता के लिए बुलाया। लेकिन जोधपुर का वह चतुर वृद्ध शासक अपने जामाता के चरित्र को जानता था। वह दिल्ली आया, पर उसने सैयद अब्दुल्ला का साथ दिया। तूरानी दल के नेता निज़ामुलमुल्क और उसके भतीजे मुहम्मद अमीन खां-जैसे मुगल कुलीनतन्त्र के ठोस स्तम्भ भी ढिलमिल और अविश्वसनीय बादशाह के विरोधी बन गए।

जब इन षड्यन्त्रों की कहानी हुसैन अली तक पहुंची, तब उसने उत्तर की ओर वापसी में शीघ्रता की। सन् 1719 में वह दिल्ली पहुंचा और इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को सदा के लिए तत्काल समाप्त कर देने का उसने निश्चय किया। उसकी सेना के साथ पेशवा बालाजी विश्वनाथ, सेनापति खांडेराव दभाड़े, सन्ताजी भोंसले और अन्य लोगों के नेतृत्व में ग्यारह हज़ार मराठे भी थे। दिल्ली के किले और महल में फर्रुखसियर के सहायकों को समाप्त कर दिया गया। बादशाह, जो कायरतापूर्वक स्त्रियों के महल में जा छिपा था, खींच कर बाहर लाया गया। उसे अन्धा करके एक उजाड़ अंधेरी और बिना किसी साज-सामानवाली छोटी-सी कोठरी में बन्दी बना दिया गया। फिर उसे बुरी तरह अपमानित किया गया, भूखा रखा गया, पीटा गया, हल्का ज़हर दिया गया और अन्ततः कुछ दिनों बाद बड़े ही अपमानजनक ढंग से उसका वध कर दिया गया।

फर्रुखसियर के शासन के गिने-चुने वर्षों में साम्राज्य ने विघटन की ओर लम्बे-लम्बे डग भरे। हर कहीं भयानक अव्यवस्था फैल गई। सरदारों, ज़मींदारों और कबीलों के नेताओं ने सरकारी सत्ता की अवज्ञा करना आरम्भ कर दिया। दिल्ली की गलियों में बड़े सरदारों के अनुचर आपस में लड़ाइयां करने लगे। सड़कें चारों ओर डाकुओं से भर

गई। फर्रुखसियर ने प्रान्तों से शाही खजाने में लाए जानेवाले राजस्व को मार्ग में ही गड़बड़ करा देने का उदाहरण प्रस्तुत किया था। यह ऐसा उदाहरण था, जिसका लाभ उठाने से वे महत्वाकांक्षी साहसिक लोग नहीं चूके, जो स्वतन्त्र सामन्त-राज्य स्थापित करने के इच्छुक थे। शाही आदेशों को खुले रूप में तोड़ा जाने लगा और पदाधिकारी विना अनुमति के ही अपने पद छोड़ कर चले जाने लगे। जिन नियमों और आदेशों का औरंगजेब के समय सख्ती से पालन किया जाता था, उनकी अब उपेक्षा होने लगी। भ्रष्टाचार और अव्यवस्था फैल गई। आय कम हो गई और संचित सम्पत्ति चुक गई। वतन वकाया पड़ गए और भूखी सेना विद्रोही वन गई।

जो सबसे भयानक बात हुई, वह थी, विभिन्न दलों से सम्बन्ध रखनेवाले सरदारों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या-द्वेष। इनमें चार दल महत्वपूर्ण थे: तूरानी, ईरानी, अफगान और हिन्दुस्तानी। इनमें पहले तीन मध्य-एशिया, ईरान और अफगानिस्तान से आए उन विदेशियों के वंशज थे, जिन्हें भारत आने पर नागरिक और सैनिक विभागों में नियुक्त किया गया था। इनमें से बहुत-से परिवार औरंगजेब के शासन-काल में ही भारत पहुंचे थे और ऊंचे पदों पर आसीन हो गए थे। ट्रांस-आक्सिआना से आए तूरानी सुन्नी मतावलम्बी थे। ईरानियों ने ईरान के पूर्वी और पश्चिमी प्रान्तों, खुरासान और फारस से स्थानान्तरण किया था। ये शिया थे। अफगान सिन्धु-पार के सीमावर्ती पहाड़ी प्रदेशों से आए थे। इनमें बहुत-से रुहेले कबीले के थे। ये अधिकतर सुन्नी थे। इन्होंने उत्तर-भारत के कितने ही स्थानों में, विशेषकर बरेली और फर्रुखाबाद में, अपनी स्थायी बस्तियां बसा ली थीं। हिन्दुस्तानी सरदारों में वे मुस्लिम परिवार सम्मिलित थे, जो इस देश में पीढ़ियों से रह रहे थे। स्वभावतः ही, वे नए आनेवालों से ईर्ष्या करते थे।

जब तक केन्द्रीय सत्ता मजबूत रही, ये दल नियन्त्रण में रहे। लेकिन बहादुरशाह की मृत्यु के बाद इनका महत्व और प्रभाव बढ़ गया, क्योंकि विरोधी दावेदारों ने गद्दी प्राप्त करने के लिए इनसे सहायता मांगना आरम्भ कर दिया। अठारहवीं शताब्दी का इतिहास इनके षड्यन्त्रों और बेहद तेजी से वफादारी बदलने की कथाओं से भरा पड़ा है।

हर दल ने सम्राट् के व्यक्तित्व पर नियन्त्रण पाकर अपना उल्लू सीधा करने की कोशिश की। इसके लिए वे कैसे भी तरीके इस्तेमाल करने और कीमत की परवाह न करते हुए, जहां से भी मिले, वहीं से सहायता लेने में नहीं चूकते थे। यही कारण है कि जब हुसन अली ने फर्रुखसियर को सिंहासनच्युत करने का निर्णय किया था, तब वह मराठों को ले आया था और सम्राट् को उसने मजबूर किया था कि वह शिवाजी की विजयों के आधार पर मांगे गए उनके स्वराज्य की न केवल पुष्टि करे, बल्कि दक्कन में चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने की अनुमति भी उन्हें दे दे। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रान्तीय राजस्व का पैंतीस प्रतिशत, जो अठारह करोड़ रुपये की विशाल राशि बनता था, उनके पास चला गया। इस समझौते से 'मराठा-राज्य का शासक आगे से सम्राट् का एक अधीनस्थ और आज्ञाकारी सेवक तो बन गया', पर राजस्व में उसकी हिस्सेदारी हो गई और साम्राज्य के मामलों में हस्तक्षेप करने का उसे बहाना मिल गया।

पर सैयद-बन्धु लम्बे समय तक अपनी विजय का आनन्द नहीं ले सके। मुहम्मद शाह ने, जिसे उन्होंने गद्दी पर बिठाया था, उनकी अधीनता का विरोध किया। तूरानी दल के नेता, दक्कन का सूबेदार निज़ामुलमुल्क, मुगल सेना का सेनापति मीर मुहम्मद अमीन खां, उसका भतीजा तथा लाहौर का सूबेदार अब्दुस्समद खां, आदि, और

ईरानी दल के सरदार भी सैयदों के शासन से तंग आ गए थे। इन सबने उन्हें समाप्त कर देने का निश्चय किया। इसका सुराग मिलने पर सैयदों ने उन्हें उनके पदों से हटा देने के लिए कदम उठाए। लेकिन जो सेना उन्होंने निज़ामुल्मुल्क के विरुद्ध भेजी, वह हार गई और उसका सेनापति मारा गया। इस पर हुसैन अली मुहम्मद शाह को साथ लेकर निज़ामुल्मुल्क को कुचलने के लिए स्वयं चला। मुहम्मद अमीन खां ने, जो सहायक बख्शी के रूप में उसके साथ गया था, सैयद को मारने का जाल रचा। जब सेना फ़तहपुर सीकरी से आगे बढ़ी, तब षड्यन्त्र को लागू किया गया और हुसैन अली को मार डाला गया (सन् 1720)। इससे अब्दुल्ला बहुत रुष्ट हो गया और भाई की मृत्यु का बदला लेने के उद्देश्य से उसने मुहम्मद शाह को हटा देने का निर्णय किया तथा उसे युद्ध के लिए ललकारा। लेकिन वह हार गया और बन्दी बना लिया गया। दो साल बाद उसे कैद में ही जहर दे दिया गया। इस प्रकार, फर्रुखसियर के सिंहासनच्युत होने के इक्कीस महीने के भीतर ही राजा बनानेवालों की किस्मत का फैसला हो गया।

युवक मुहम्मदशाह को प्रशासन में कोई रुचि नहीं थी। वह निम्न कोटि के लोगों से घिरा रहता था और तुच्छ कामों में अपना समय बिताता था। उसने सब-कुछ मीर मुहम्मद अमीन खां के बेटे और अपने वज़ीर कमरुद्दीन खां के हाथों में छोड़ दिया। लेकिन वज़ीर काहिल, सुस्त और विलासप्रिय व्यक्ति साबित हुआ। दिल्ली में कोई शासन न रहा। प्रान्तीय सूबेदार को विपत्ति पड़ने पर सहायता न मिल पाती। जब नादिर शाह अफ़गानिस्तान पर चढ़ आया और काबुल के सूबेदार ने सैनिक सहायता तथा बकाया वेतन अदा करने के लिए धन मांगा, तब उसकी प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

इधर, प्रमुख सरदार कमरुद्दीन की बढ़ी हुई ताकत से ईर्ष्या करने लगे थे और साम्राज्य के विरुद्ध उसके शत्रुओं के साथ राजद्रोहपूर्ण षड्यन्त्र रच रहे थे। वे इतने सुस्त हो गए थे कि ऐसे सभी सैनिक कार्यों से बचते थे, जिनमें संकट की सम्भावना थी। उनमें से कोई भी मराठों से लड़ने को तैयार नहीं था और जब उन्हें ज़िद्दी जोधपुर नरेश के विरुद्ध अभियान का आदेश दिया गया, तब उन्होंने बहाने बना दिए। सम्राट् और सरदारों के उदाहरण से सब ओर अनैतिकता फैल रही थी।

इसके परिणाम घातक हुए। साम्राज्य बिखरने लगा। कितने ही प्रान्त लगभग स्वतन्त्र हो गए। बिहार, बंगाल और उड़ीसा में मुर्शिदकुली खां और अवध में सआदत खां दिल्ली के नाम-मात्र के राजभक्त रह गए। काबुल और लाहौर के सूबेदारों को उनके अपने साधनों पर छोड़ दिया गया। मराठों ने गुजरात मालवा और बुन्देलखण्ड के एक भाग पर अधिकार कर लिया। दोआब में रुहेले अपनी खुदमुख्तार रियासतें स्थापित करने में जुट गए।

राजपूताने में तीन प्रमुख राजवंश थे। इनमें मेवाड़ के सीसोदिया मुग़ल-राजनीति में बहुत रुचि लेते थे—वैसे सम्राट का संरक्षण उन्हें मान्य था। यशवन्त सिंह की मृत्यु के समय से जोधपुर के राठौर औरंगज़ेब के विरोधी रहे थे, पर उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने सन्धि कर ली थी। यद्यपि उन्होंने उच्च पद भी ग्रहण किए, तथापि उनकी राजभक्ति अस्थिर रही। जयपुर के कछवाहे भी, जो अधिक स्थायी रूप में राजभक्त रहे थे, सामान्य नैतिक पतन के शिकार हो गए। राजा जय सिंह को, जिसने चूड़ामन के नेतृत्व में हुए जाट-विद्रोह को दबाया था, मराठों के वार्षिक हमलों का सामना करने के लिए मालवा

का सूबेदार नियुक्त किया गया। लेकिन शाही हितों की रक्षा करने के स्थान पर उसने मराठों से साठ-गांठ कर ली और परिणामस्वरूप वह सूबा हाथ से निकल गया।

यहां तक कि दिल्ली के आसपास के इलाकों को भी खतरा पैदा हो गया। सिख, जाट, रुहेले और मराठे चारों ओर मंडरा रहे थे। सन् 1737 में बाजी राव राजधानी में घुस आया और उसने साम्राज्य की निरीहावस्था का पर्दाफाश कर दिया। शाही राजधानी के अन्दर और बाहर अव्यवस्था फैल गई।

2 नादिर शाह का आक्रमण

लेकिन तभी एक कहीं बड़ा दुर्भाग्य साम्राज्य पर टूटा। दिल्ली पर बाजी राव के आक्रमण के एक वर्ष बाद ही ईरान का राजा नादिर शाह उत्तरी अफगानिस्तान में घुस आया। तैयारी न होने और लापरवाही के कारण काबुल में घुसना उसके लिए आसान हो गया। उसने खैबर दर्रा पार किया और तेजी से लाहौर की ओर बढ़ा। मार्ग में उसे बहुत थोड़े विरोध का सामना करना पड़ा। जब संकट दिल्ली पर आ गया, तब मुगलों में हलचल पैदा हुई और मुहम्मद शाह अपनी सेना लेकर करनाल में आ जमा। लेकिन सेनापतियों की अयोग्यता और आपसी सहयोग की कमी के कारण उन्हें करारी हार खानी पड़ी। हार से अनैतिकता बढ़ी। सन्देह, भय और चिन्ताओं से प्रेरित होकर सेनापति आत्मरक्षा के प्रयास में एक-दूसरे के विरुद्ध जाल रचने लगे। राजद्रोह बढ़ गया। अवध का सूबेदार सआदत खां, जिसे युद्ध में बन्दी बना लिया गया था, एक ईरानी था। वह तूरानियों से, विशेषकर निज़ामुलमुल्क से, जिसे सम्राट् का प्रधान परामर्शदाता नियुक्त किया गया था, बहुत जलता था। बदले की भावना से अन्धा होकर उसने नादिर शाह की धन-लिप्सा का लाभ उठाया और उसे दिल्ली जाने के लिए उकसाया। उसने कहा कि वहां उसे कल्पनातीत परिमाण में धन मिलेगा।

नादिर की तृष्णा उद्दीप्त हो गई। उसने सम्राट् को बन्दी बना लिया और दिल्ली की ओर कूच किया। उसने जामा मस्जिद के मंच से स्वयं को भारत का सम्राट् घोषित कराया। उसके नाम के सिक्के ढाले गए। दिल्ली इस आधिपत्य से आतंकित हो उठी। जब नादिर और उसके अफसरों ने प्रमुख और धनी नागरिकों को नियमित रूप से लूटना और लोगों को अपमानित करके, उनको सता कर, उनसे पैसे चूसना आरम्भ किया, तब चारों ओर रोष फैल गया। एक छोटी-सी घटना ने तूफान मचा दिया और नादिर ने कत्लेआम के आदेश जारी कर दिए। गलियों में खून की नदियां बहने लगीं। बाजार-के-बाजार आग की भेंट हो गए। नादिर ने लूट में भारी सम्पत्ति इकट्ठी की। सोने और चांदी की सिल्लियां, हीरे, मयूरासन, और बादशाहों द्वारा पीढ़ियों से संचित कीमती खजाने उसके अधिकार में चले गए। वह अनगिनत हाथी, घोड़े, ऊंट और लगभग पन्द्रह करोड़ रुपये नगद लूट ले गया।

विजेता की भारत में ठहरने की कोई योजना नहीं थी। उसने मुहम्मद शाह को उसका ताज सौंपा और अपनी विशाल सम्पत्ति के साथ वापस चल पड़ा। नादिर शाह के आक्रमण ने साम्राज्य को वह धक्का पहुंचाया, जिससे वह कभी नहीं उबर सका। काबुल का प्रान्त हाथ से निकल गया। भारत की सीमा सिन्ध तक पीछे हट आई। खैबर का दर्रा और पेशावर शत्रुओं के हाथों में चले गए।

पंजाब अराजकता और आक्रमणों का शिकार बन गया। जब नादिर ने पंजाब को

जीता, तब लाहौर का सूबेदार ज़करिया खां था। वह सन् 1745 में मर गया। तब, उसके बेटों में सूबेदारी के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। उनमें से एक ने काबुल की गद्दी पर नादिर शाह के उत्तराधिकारी अहमद शाह अब्दाली को निमन्त्रित किया। तब से 1773 में अपनी मृत्यु तक अब्दाली पंजाब को रौंदता और लूटता रहा।

अठारहीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का भारत हावेसियन परिस्थितियों का एक जीता-जागता नमूना था। वह उस जंगल के समान था, जिसमें हिंसक पशुओं की प्रकृतिवाले मनुष्य चारों ओर घूमते थे। आत्यन्तिक स्वार्थ और शक्ति की असाधारण रूप में संकीर्ण वासना उनकी प्रेरणा थी। कोई नैतिक विचार और कोई दूरदृष्टिपरक लक्ष्य उन्हें बांध नहीं पाता था। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए जालसाज़ी और धोखाधड़ी, अपने तात्कालिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए बल-प्रयोग और छल-कपट का आश्रय लेने में वे मैकिएवेली को भी लज्जित करते थे। प्रतिद्वन्द्वी व्यक्तियों और दलों के मूर्खतापूर्ण घातक संघर्षों में भारत खोखला और बर्बाद हो गया। वह एक भी ऐसा नेता तैयार न कर सका, जो पर्याप्त प्रभुत्व-सम्पन्न हो और अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था स्थापित करता।

इस राजनीतिक और नैतिक पतन के बावजूद अठारहवीं शताब्दी में ऐसे बलवान, दिलेर और दृढ़प्रतिज्ञ लोगों की कमी नहीं थी, जो शक्ति और साधनों से भरपूर थे। कितने ही ऐसे ओजस्वी, जोशीले और दुस्साहसी लोग थे, जो अपनी ज़िन्दगी को दांव पर लगा देना खिलवाड़ समझते थे; उनकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहा जा सकता। बस, अभाव एक उपयुक्त लक्ष्य का था, जो उनकी कार्रवाइयों को उपयोगी दिशाओं में मोड़ सकता और उनके जीवन को सार्थक कर सकता। वे तूफ़ानी समुद्र पर इधर-उधर भटकनेवाली बिना चप्पू की नाव के समान थे।

उनकी अनियन्त्रित महत्वाकांक्षाओं से साम्राज्य में अराजकता फैल गई। रुहेलखण्ड में रुहेलों ने शाही अधिकारियों को निकाल बाहर किया, उनकी जागीरें छीन लीं और स्वतन्त्र रियासतें कायम कर लीं। रुहेलखण्ड से आगे अवध, बिहार, बंगाल और उड़ीसा पहले ही लगभग पूरी तरह स्वतन्त्र हो चुके थे। यमुना के दक्षिण में पश्चिम की ओर राजपूताने तक और दक्षिण की ओर चम्बल नदी तक जाटों का राज्य था। उससे पूरे राजपूताना, दोआब और भारत के पूर्वी प्रान्तों में मराठे अपना मनचाहा कर रहे थे। गुजरात और मालवा उनके अधिकार में थे। राजपूत रियासतें उनकी दया पर आश्रित थीं और दक्कन उन्हें कर देता था।

मुगल-सम्राट् का वास्तविक शासन दिल्ली और आगरा के आसपास तक सीमित हो गया था। वैसे, भारत के अधिकांश भाग पर वह अब भी अपनी विधिसम्मत सत्ता का दावा करता था और खिताब देता तथा नियुक्तियों को पुष्ट करता था।

प्रशासन की ढील-ढाल ने साम्राज्य की आन्तरिक शक्ति को सुखा डाला। जागीरें बांटने में जिस लापरवाही से काम लिया गया, उससे सम्राट् की निजी आय के लिए सुरक्षित शाही भूमि का क्षेत्र बहुत घट गया। खज़ाना खाली हो गया और राजस्व घट जाने से नियमित सेनाएं रखना और उन्हें सुसज्जित कर सकना असम्भव हो गया। गृह-युद्धों में उच्च और निम्न वर्ग के सामन्त बड़ी संख्या में मारे गए थे। इसलिए नागरिक और सैनिक पदों के लिए योग्य व्यक्ति मिलने कठिन हो गए। एक समर्थ सेना के बिना सम्राट् पूरी तरह निस्सहाय हो गया। इस प्रकार, सन् 1739 में करनाल में मुहम्मद शाह की पराजय के बाद से दिल्ली एक संगठित साम्राज्य का केन्द्र न रहा।

3. अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण

जब दिल्ली की मस्जिदों में जुम्मे की नमाज के बाद नादिर शाह को भारत का सम्राट् घोषित किया गया था, तब लगा था कि इतिहास को दुहराया गया है। दो बार पहले अर्थात् बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में और फिर सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में समान परिस्थितियों में एक विदेशी शक्ति ने भारत को अपने आधिपत्य में ले लिया था। भारत के ये विजेता स्थल-शक्तियां थे, और स्थल-मार्गों से भारत आए थे।

लेकिन सोलहवीं शताब्दी में समुद्र-पार से एक भिन्न प्रकार की शक्ति समुद्री मार्गों को पार करती हुई आई और उसने भारत के तटीय प्रदेशों पर अपने पैर जमा कर अपने अस्तित्व का पता दिया। उस समय इस बात का अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता था कि मुगल-साम्राज्य के विनाश से उत्पन्न शून्य को कौन भरेगा—कोई स्वदेशी तत्व अथवा उत्तर-पश्चिम से आई कोई स्थल-शक्ति, अथवा अप्रत्याशित प्रदेशों से आनेवाली कोई ताकत एक बिल्कुल नए ढंग से ही उसे भरेगी। लेकिन शीघ्र ही भवितव्य ने एक निश्चित रूप लेना आरम्भ कर दिया और अठारहवीं सदी के अन्त तक भविष्य के विषय में कोई सन्देह नहीं रहा।

सन् 1739 में करनाल में नादिर शाह की विजय और सन् 1803 में दिल्ली पर लेक के अधिकार के बीच की अवधि में भारत को इतिहास के सबसे अधिक अपमानजनक और दुखद काल से होकर गुजरना पड़ा। दिल्ली का ऐतिहासिक गौरव और उसकी शाही ताकत बर्बाद हो चुकी थी। लेकिन उसका जादूभरा नाम अब भी लोगों के मनों को और महामारी की तरह देश को उजाड़ने वाले चतुर्मुखी संघर्षों को प्रभावित करने में समर्थ था। दिल्ली वह केन्द्र बना रहा, जहां सभी महत्वाकांक्षाएं आकर मिलती थीं। हां, शाही ताज को पहननेवाला बादशाह एक खिलौना-मात्र रहा। उसने इन सब हलचलों में बहुत ही हीन और नितान्त गौरवशून्य भाग लिया।

दिल्ली के सिंहासन पर बैठनेवाली इन कठपुतलियों की कहानी अब संक्षेप में कह दी जाए। नादिर शाह आया और चला गया, पर साम्राज्य के सरदारों ने उससे कोई पाठ नहीं सीखा। तूरानियों और ईरानियों की प्रतिद्वन्द्विता में कोई कमी नहीं आई। वे लड़ते-झगड़ते रहे। सन् 1739 में कमरुद्दीन खां और उसका भतीजा निज़ामुलमुल्क क्रमशः वजीर (प्रधान मन्त्री) और मीर बख्शी (वित्त मन्त्री) थे। अवध के सूबेदार सफदर-जंग के नेतृत्व में ईरानी उनका विरोध करते थे और हिन्दुस्तानी दल उनका साथ देता था। चोटी के तूरानियों के बीच भी एकता नहीं थी। मुहम्मद शाह के विश्वासपात्र तूरानियों से अपना पीछा छुड़ाना चाहते थे। सन् 1740 में दरबार की हालत से और वजीर के व्यवहार से उकता कर निज़ामुलमुल्क दिल्ली छोड़ कर दक्कन चला गया था। कमरुद्दीन वज़ीर बना रहा। लेकिन शक्ति सफदरजंग और उसके अनुगामियों के हाथ में चली गई।

सन् 1748 में अहमद शाह अब्दाली का पहला हमला हुआ। नादिर शाह की हत्या के बाद वह हेरात, कन्धार और काबुल के प्रान्तों का स्वामी बन गया था। लाहौर और मुल्तान के सूबेदार ज़करिया खां के दोनों बेटों के परस्पर-युद्ध और उसके छोटे भाई शाहनवाज़ खां के राजद्रोहपूर्ण सौदेबाजियों ने अहमद शाह के सामने भारत-अभियान का बहाना प्रस्तुत कर दिया। लाहौर पर अधिकार करके वह सरहिन्द की तरफ बढ़ा और

उसने नगर के निकटवर्ती एक गांव में एकत्र शाहज़ादा अहमद की शाही सेनाओं को घेर लिया। युद्ध हुआ। यद्यपि वज़ीर कमरुद्दीन मारा गया, तथापि मुगल-सेना ने अब्दाली की टुकड़ियों के पैर उखाड़ दिए और उसे वापस अपने देश लौटने को विवश होना पड़ा।

इस अप्रत्याशित विजय का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि 26 अप्रैल, 1748 को मुहम्मद शाह की मृत्यु के बाद अहमद शाह शान्ति-पूर्वक गद्दी पर बैठ गया। नया सम्राट् 'एक अच्छी प्रकृति का बुद्धू' था, जिसने युद्ध अथवा प्रशासन की कोई शिक्षा नहीं ली थी। "शैशव से इक्कीस वर्ष की अवस्था तक उसका पालन-पोषण हरम की औरतों के बीच लापरवाही और गरीबी में हुआ था। अक्सर अपने पिता की डांट उसे खानी पड़ती थी।" स्वभावतः ही, राज्य के काम विश्वासपात्रों, "राजा के मित्रों", "हिजड़ों और स्त्रियों के एक गुट" के हाथों में पड़ गए। इस गुट की प्रधान थी राजमाता ऊधम बाई, जो मुहम्मद शाह से विवाह करने से पूर्व एक मामूली नर्तकी थी। उसने हर नियुक्ति के बदले उपहार के रूप में मोटी रकम वसूल करके बेकार आदमियों को ऊंचे पद दे दिए। प्रशासन की चिन्ता किसी को नहीं थी। सूबेदार और सरदार शाही राजस्व का दुरुपयोग करते थे। उनका उदाहरण शक्तिशाली ज़मींदार अपनाते थे और अपने कमज़ोर पड़ोसियों की ज़मीन हथिया लेते थे।

ईरानियों के नेता और अवध के सूबेदार, सफ़दरजंग, के वज़ीर बन जाने पर इस दल का प्रभाव बढ़ गया। लेकिन इसे भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तूरानी सरदार उसके विरुद्ध थे। राजा के विश्वासपात्र उसकी नीतियों को काटते थे और कमज़ोर अहमद शाह को उसके विरुद्ध कर देते थे। वज़ीर भी दिल्ली के कामों में एकान्तिक रूप से रुचि नहीं ले पाता था, क्योंकि उसे अपने प्रान्त पर भी काफी ध्यान देना पड़ता था। रुहेले उसके घोर शत्रु थे और प्रान्त के आन्तरिक शासन में ढील-ढाल चल रही थी।

ऐसी परिस्थितियों में अहमद शाह अब्दाली और उसके अफगान मित्रों ने उत्तर से और मराठों ने दक्षिण की ओर से संकट उपस्थित कर दिया। आगे जो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएं घटीं और जिनका परिणाम अन्ततः भारतीय स्वतन्त्रता का विनाश हुआ, उनमें इन्हीं दोनों दलों के नेताओं ने मुख्य हिस्सा लिया। मुगल-सम्राट् और उसके सरदार शतरंज के मोहरे-भर रहे और दूसरे प्रमुख नेताओं ने भी बहुत तुच्छ और हीन भूमिका अदा की।

सन् 1748 की पराजय के बाद अब्दाली ने सन् 1749 की हेमन्त-ऋतु में पंजाब पर आक्रमण किया। इसका सूबेदार मुईनुलमुल्क मृत वज़ीर कमरुद्दीन का बेटा था। लेकिन जिस दल के हाथ में दिल्ली की शक्ति थी, उसका वह विश्वासपात्र नहीं था। फलतः उसे कोई सहायता नहीं दी गई। उसे अपना प्रदेश छोड़ना पड़ा और अब्दाली के सेनापति को हर्जाने के रूप में भारी धन देना पड़ा। ऐसे सस्ते शिकार ने अब्दाली की भूख तेज़ कर दी। सन् 1751 में उसने भारत पर तीसरी बार हमला किया। केन्द्रीय सरकार से किसी प्रकार की सहायता न पाकर भी मुईन ने यथासम्भव उसका विरोध किया, पर उसे आत्मसमर्पण करना पड़ा। पंजाब और मुल्तान के सूबे अफगान शासकों के हाथों में चले गए और दिल्ली को सीधा खतरा हो गया।

जब अफगान पंजाब को रौंद रहे थे, तब वज़ीर सफ़दरजंग अपने "दिल्ली-मार्ग के सांपों" रुहेलों, को कुचलने में व्यस्त था। लेकिन रुहेला-सरदार अहमद खां बंगश चौकस भी था और फुर्तीला भी। उसने विलासप्रिय ईरानी सरदार को पराजित और अपमानित किया। इसलिए सफ़दरजंग को रुहेलों के संकट से अपनी रक्षा के लिए मराठों से एक

अस्थायी सन्धि करनी पड़ी और जाटों की सहायता के लिए सौदा करना पड़ा। मल्हार राव होल्कर और जयापा सिन्धिया को उनकी सेनाओं के लिए प्रतिदिन 25,000 रुपये और सूरजमल जाट को 15,000 रुपये देने के लिए उसे वचनबद्ध होना पड़ा। उन्होंने दोआब को साफ कर दिया और रुहेलों को हिमालय की तलहटी तक पीछे खदेड़ दिया। फिर, उन्होंने उनके साथ एक शान्ति-सन्धि कर ली, जिसके अनुसार इस अभियान का खर्चा सफदरजंग के बदले उनके मत्थे मढ़ा गया।

मराठा-सरदार पहले ही मालवा ले चुके थे, गुजरात को रौंद चुके थे और बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा पर हमला कर उन्हें लूट चुके थे। वे राजपूताने में प्रवेश कर चुके थे और अब (1752) उन्होंने दोआब में भी अपनी चौकियां स्थापित कर ली थीं, अर्थात् साम्राज्य के अन्तरंग में उन्होंने अपने पैर जमा लिए थे। मार्च 1752 की अस्थायी सन्धि के अनुसार उन्होंने साम्राज्य के संरक्षकों की भूमिका ग्रहण कर ली थी और दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर पा लिया था। इस प्रकार, सर्वोच्चता के लिए अफगान और मराठे, ये दो प्रतिद्वन्द्वी आमने-सामने आ जमे।

शीघ्र ही उन्हें सीधे टकराना पड़ा। लेकिन ऐसा होने से पहले दिल्ली और शाही दरबार को अकथ विपत्तियों और अपमानों का सामना करना पड़ा। सफदरजंग के लालच और घमण्ड ने सरदारों को अपना शत्रु बना लिया था और सम्राट् को रुष्ट कर दिया था। राजमाता ने उसे हटाने के लिए एक षड्यन्त्र रचना आरम्भ किया। उसके कारिन्दों को किले से निकाल दिया गया। उसके त्यागपत्र को, जो उसने यह सोच कर दिया था कि बादशाह डर कर दब जाएगा, स्वीकार कर लिया गया। अब आपे से बाहर होकर वज़ीर ने अपने स्वामी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। उसके साथी जाटों ने दिल्ली को लूट लिया।

इसी बीच तूरानी सरदारों ने ईरानी आधिपत्य के विरुद्ध अपना पूरा ज़ोर लगा दिया। कमरुद्दीन का एक बेटा इत्तिमादुद्दौला वज़ीर बन गया और निज़ामुलमुल्क आसफ जाह प्रथम का पोता इमादुलमुल्क मीर बख्शी। उन्होंने नजीब खां (नजीबुद्दौला) के नेतृत्व में रुहेलों को और अन्ताजी मंकेश्वर की अधीनता में मराठों को सहायता के लिए बुला लिया। किले पर अधिकार करने का सफदरजंग का प्रयास विफल रहा, लेकिन धन की कमी, सेना का वेतन चुकाने में असमर्थता और वज़ीर तथा मीर बख्शी के मतभेदों के कारण सम्राट् को सन्धि करनी पड़ी। सफदरजंग अपने प्रान्त अवध को वापस लौट गया (1753)।

गृह-युद्धों ने सरकार को भारी आर्थिक कठिनाइयों में डाल दिया था। सेना बकाया वेतन के लिए बेचैन हो उठी। दिल्ली की गलियों में प्रतिदिन झगड़ों और उपद्रवों के दृश्य देखने में आने लगे। उपद्रवी सेनाओं एवं मराठा तथा रुहेला लुटेरों से जीवन और सम्पत्ति की रक्षा का कोई उपाय नहीं था। सफदरजंग के चले जाने के बाद वज़ीर और मीर बख्शी के मतभेद बढ़ गए। चूंकि सम्राट् वज़ीर की ओर झुका था, इसलिए मीर बख्शी ने मराठों की मदद लेकर सम्राट् को हटाने का निश्चय किया। विद्रोही मीर बख्शी और उसके साथियों ने उसे विवश किया कि वह इत्तिमाद को हटा कर इमाद को वज़ीर बना दे। वज़ीर बन कर इमाद ने पहला काम यह किया कि बेचारे निस्सहाय अहमद शाह को सिंहासनच्युत कर दिया। उसने बावन-वर्षीय राजकुमार अज़ीज़ुद्दीन को आलमगीर द्वितीय के नाम से गद्दी पर बिठाया। इसके पांच वर्ष बाद (सन् 1759) कैद से छूटने का प्रयत्न करने पर उसने उसकी हत्या कर दी।

इस अयोग्य पर महत्वाकांक्षी और अविवेकी वज़ीर के शासन के ये पांच वर्ष अत्यधिक अव्यवस्था, दिवालियापन और यातना के वर्ष थे। बादशाह, मन्त्री और जनता सभी को लज्जा और अपमान भुगतना पड़ा।

इमाद और सफ़दरजंग, दोनों ने ही मराठों को सहायता के लिए बुलाया था। पेशवा ने रघुनाथ राव को उत्तर की ओर भेजा, पर जब तक वह वहां पहुंच सका, दोनों अपना झगड़ा समाप्त कर चुके थे। लूट का माल न पाकर मराठे जाटों और राजपूतों के विरुद्ध हो गए, क्योंकि सन् 1752 की सहायता-सन्धि के अधीन दिए गए आगरा और अजमेर के प्रान्तों पर अधिकार करने से उन्होंने उन्हें रोक दिया था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रघुनाथ राव और मल्हार राव होल्कर ने दोआब को रौंदा तथा लूटा और जयापा सिन्धिया तथा उसके भाई दत्ताजी ने राजपूताने को छान मारा। तब लूट का माल लेकर ये सरदार पूना लौट गए और दो वर्षों का लम्बा अभियान (1753-55) बिना किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि के समाप्त हो गया। रघुनाथ राव के आचरण से उत्तर के सभी लोगों में भय, क्रोध और घृणा के भाव भर गए, जिसका घातक परिणाम निकला।

सन् 1752 में पंजाब अफ़गानों की अधीनता में चला गया था। लेकिन अहमद शाह ने उसका शासन मुईनुल्मुल्क के हाथों में ही सौंप दिया था। सन् 1753 में उसकी मृत्यु के बाद हालत बड़ी तेज़ी से खराब होती गई और अराजकता फैल गई। इस विषम स्थिति में मुईन की विधवा मुगलानी बेगम ने व्यवस्था स्थापित करने के लिए अहमद शाह और इमादुल्मुल्क से प्रार्थना की। अहमद शाह के कोई कार्रवाई करने से पहले ही इमाद लाहौर पहुंच गया और उसने अपना सूबेदार तथा सहायक सूबेदार नियुक्त कर दिया। यह एक अतिक्रमण था, जिसे अफ़गान बादशाह सहन नहीं कर सकता था। उसने आगे-आगे तो अपने एक सेनापति को भेजा, जिसने लाहौर पर अधिकार कर लिया और पीछे-पीछे एक बड़ी सेना लेकर स्वयं भी सन् 1757 में आ धमका।

अब तो उत्तर के लोगों पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। पंजाब हिंसा और अव्यवस्था का गढ़ बन गया, जिसमें सिखों, मुगलों और मराठों ने एक-दूसरे से प्रतियोगिता की। आक्रमणकारी लाहौर और सरहिन्द पर अधिकार करके दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली उसके मुकाबले के लिए एकदम तैयार नहीं थी। रुहेलों का नेता नजीबुद्दौला अपने स्वामी का साथ छोड़ कर अफ़गानों से मिल गया। इमाद ने जाटों, मराठों और राजपूतों को सहायता के लिए इकट्ठा करने का अन्तिम प्रयत्न किया, पर विफल रहा। बिना किसी मुकाबले के ही कायर वज़ीर ने राजधानी हमलावर को सौंप दी। लूटपाट और क्रूरता का राज्य चारों ओर फैल गया और दिल्ली खोखली हो गई। अमीर-गरीब, सरदार-साधारणजन, स्त्री-पुरुष, सभी को बिना किसी भेदभाव के यातना और अपमान सहना पड़ा।

किन्तु दिल्ली की यातनाएं उनकी तुलना में एकदम नगण्य हैं, जिन्हें मथुरा, गोकुल और वृन्दावन के पवित्र तीर्थों को सहना पड़ा। अफ़गान सेना दिल्ली को रौंदने के बाद जलते हुए गांवों की कतारों, सड़ती हुई लाशों और बर्बादी को पीछे छोड़ती हुई आगे बढ़ी। मार्ग में जाटों को कुचलते हुए वे लोग मथुरा, वृन्दावन

और गोकुल की ओर बढ़े। इन पवित्र नगरों ने जिस नरसंहार और विनाश को देखा, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। आम हत्याकाण्ड के कारण "सात दिनों तक यमुना का पानी खून-जैसा लाल बन कर बहता रहा"—ऐसा मथुरा नगर के उस मुसलमान जौहरी का कहना था, जिसका सब-कुछ लूट लिया गया था और जो कुछ दिनों से भूखों मर रहा था। मन्दिरों को अपवित्र किया गया, स्त्रियों का अपमान किया गया और बच्चों को टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया गया। कोई भी ऐसी नृशंसता नहीं थी, जो बाकी रही हो।

लेकिन इस दुखद घटना का सबसे लज्जाजनक पक्ष था, इन स्थानों के तथाकथित संरक्षकों और अभिभावकों का उपेक्षा-भाव। जिन मराठों ने हिन्दवी स्वराज्य का झण्डा ऊंचा किया था और डींग हांकी थी कि वह कन्याकुमारी से अटक तक लहराएगा; जिन्होंने साम्राज्य को विदेशी आक्रमण से बचाने का व्रत लिया था और अभी-अभी आगरा प्रान्त की सूबेदारी ग्रहण की थी; जो धर्म के नाम पर पवित्र हिन्दू तीर्थों पर अपने अधिकार का दावा करते थे और इसलिए जिनका नैतिक कर्तव्य था कि वे ब्रज-मण्डल की रक्षा करते, उन्होंने विपत्ति के समय बड़ी निर्लज्जतापूर्वक हिन्दुत्व को धोखा दिया। जाटों ने थोड़ा विरोध किया, क्योंकि अफ़गान उनके अपने प्रदेश को रौंद रहे थे। लेकिन आरम्भिक मुकाबले में ही हार कर वे अपने घावों की मरहम-पट्टी करने के लिए अलग हट गए और लोगों को उन्होंने अपने क्रूर भाग्य पर छोड़ दिया। राजपूत अपने तुच्छ आपसी झगड़ों में डूबे थे और उन्हें एकदम पता नहीं था कि शेष भारत में क्या हो रहा है। दिल्ली का सम्राट्, भारत का कानूनी शासक और जनता का संरक्षक धूल में लोट रहा था और एक विदेशी विजेता के हाथों में बन्दी था।

इस प्रकार, दिल्ली, मथुरा, आगरा और उत्तर भारत के हज़ारों नगरों और गांवों से पीड़ा की जो कराह उठी, वह शेष भारत में सुनी नहीं जा सकी। लेकिन जो काम आदमी नहीं कर सका, वह प्रकृति ने किया। अफगान सेना की भयंकर कार्रवाइयों को हैज़ा की बीमारी ने रोका। सिपाही घर जाने के लिए व्याकुल हो उठे। अब्दाली को वापसी के लिए मजबूर होना पड़ा। पर अनुमानतः तीन से बारह करोड़ रुपये के बीच का लूट का माल और तैमूर के वंश का अकथनीय अपमान करने के बाद ही वह लौटा। सम्राट् को विवश किया गया कि वह मुहम्मद शाह की सोलह वर्षीय लड़की का विवाह "इस खूंखार और दादा की वयवाले अफ़गान से कर दे, जिसके दोनों कान कटे हुए थे और जिसकी नाक एक कोढ़-जैसे नासूर से सड़ रही थी।"[1] यह एक बड़ा ही कड़वा मूल्य था, लेकिन राजनीति दया नहीं जानती और शासकों की मूर्खता, असंगति और उनके अपराधों का दण्ड मासूम प्रजा को भुगतना ही पड़ता है।

अहमद शाह नजीबुद्दौला को दिल्ली में अपना प्रतिनिधि नियुक्त करके कन्धार लौट गया। उसे मीर बख्शी का पद दिया गया और शासन के सभी अधिकार उसे

1. यदुनाथ सरकार, 'फ़ालआफ द मुगल एम्पायर', खण्ड 2, पृष्ठ 128 (सरकार ने 'दादा-जैसा' शब्द इस्तेमाल किया है। लेकिन यह कुछ गलत है, क्योंकि सन् 1757 में अब्दाली लगभग 35 वर्ष का था।)

सौंप दिए गए। बूढ़े वज़ीर इमाद को सत्ता से रहित कर दिया गया, लेकिन वकीले-मुतलक का उत्तरदायित्वहीन किन्तु सम्मानित पद उसे मिला।

अहमद शाह की वापसी के तत्काल बाद पुराना खेल फिर शुरू हो गया। इमाद ने नजीब को हटाने के लिए षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। अब्दाली की आंधी के गुज़र जाने के बाद मराठे भी उत्तर में प्रकट हो गए। उन्होंने बड़ी तेज़ी से अपनी जागीरों, किलों और चौकियों को ले लिया और उन्हें हड़पनेवालों को निकाल बाहर किया। उन्होंने दोआब पर फिर से अपना नियन्त्रण स्थापित किया और अपने कर उगाहना आरम्भ कर दिया।

सम्राट् और इमाद ने नजीब को निकालने के लिए मराठों से साठ-गांठ की। नजीब ने उनसे लड़ना चाहा, लेकिन प्रतिद्वन्द्वियों से हार कर इमाद के घर की स्त्रियों पर अपना गुस्सा उतारा। तब विरोध को बेकार देख कर उसने बिना शर्त घुटने टेक दिए। मराठों के लिए दिल्ली और साम्राज्य का स्वामी बनने का मार्ग खुल गया।

दिल्ली से मराठा सेनाएं रघुनाथ राव और मल्हार राव होलकर के सेनापतित्व में पंजाब में घुस आईं और अप्रैल सन् 1758 में उन्होंने लाहौर पर अधिकार कर लिया। उन्होंने अहमद शाह के प्रतिनिधियों को निकाल बाहर किया और अदीना बेग को अपना सूबेदार नियुक्त किया।

दिल्ली से निकाले जाने के बाद नजीब अवसर की प्रतीक्षा में था। उसने अब्दाली से पत्र-व्यवहार किया और अपने खोए हुए प्रदेशों को फिर से प्राप्त करने के लिए उसे भारत आने को फुसलाया। दत्ताजी सिंधिया के सेनापतित्व में नजीब को दण्ड देने के लिए मराठे आगे बढ़े, पर उसने मुज़फ्फरनगर के पास एक मोर्चा-बंद और किलाबंद चौकी के पीछे से उनकी प्रगति रोक दी। घिरा हुआ रुहेला सरदार यहां महीनों मराठों को रोके रहा—तब तक, जब तक अवध के नवाब-द्वारा भेजा गया गोसाईं हिन्दुओं का एक रिसाला उसकी सहायता के लिए नहीं पहुंच गया। दूसरी दिशा में किए गए उसके प्रयासों का भी फल निकला। अब्दाली काबुल से चला और उसने सिन्धु-घाटी पार की। मराठा टुकड़ियों को खदेड़ता हुआ, तेज़ी से पंजाब पार करके, वह दिल्ली की ओर बढ़ा। दत्ताजी ने उसे थानेश्वर पर रोकने का विफल प्रयास किया। इसमें असफल रह कर यमुना को पार करने के रास्ते की रक्षा के लिए वह पीछे हटा। पर उसकी सेना को फिर हार खानी पड़ी। दत्ताजी स्वयं मारा गया। मल्हार राव ने अब्दाली को तंग करने की कोशिश की, लेकिन उसे हानि उठानी पड़ी और वह राजपूताने की ओर पीछे हट गया।

उत्तर में मिली इन पराजयों के समाचारों ने पूना में बेचैनी फैला दी और स्थिति को संभालने के लिए पेशवा-परिवार के एक सदस्य के सेनापतित्व में एक शक्तिशाली सेना भेजने का निर्णय किया गया। बालाजी बाजी राव के भतीजे सदाशिव राव भाऊ को सेनापति-पद के लिए चुना गया। पेशवा का पुत्र विश्वास राव सेना का नाम-मात्र का प्रधान बनाया गया। 22,000 मराठा सैनिकों, और फ्रांसीसी जनरल बूसी से तोपखाने की शिक्षा पाए हुए इब्राहिम खां गर्दी के नेतृत्व में 8,000 अनुशासित सिपाहियों को लेकर उन्होंने उत्तर की ओर कूच किया। उत्तर की

मराठा सेनाएं, जो होल्कर, सिन्धिया और अन्य दलपतियों के नेतृत्व में दिल्ली के चारों ओर पड़ाव डाले पड़ी थीं, भाऊ की सेनाओं के साथ मिल गईं।

मराठों को आशा थी कि उनका पुराना साथी, अवध का नवाब, उनका साथ देगा और राजपूत तथा जाट भी उन्हें सक्रिय सहायता देंगे। लेकिन रुहेलों और नवाब के बीच चली आ रही लम्बी और कटु शत्रुता के बावजूद नवाब ने अब्दाली का साथ दिया, हालांकि उसने साथ दिया दबे-दबे ही। उसे इस तथ्य ने प्रेरित किया कि नजीब और अब्दाली अपनी सेनाओं के साथ दोआब में उपस्थित थे और उसके प्रदेशों को बड़ी सरलता से रौंद सकते थे। मराठे उसकी सीमाओं से बहुत दूर यमुना के उस पार थे, और वे अफगानों तथा रुहेलों की सम्मिलित सेनाओं को पार करके ही उस तक पहुंच सकते थे। मराठों की सफलता का उसके लिए अर्थ था, स्थायी आधिपत्य। लेकिन यह सर्वविदित था कि अब्दाली की भारत में टिकने की कोई इच्छा नहीं थी। मराठों ने उसके पिता को धोखा दिया था और उनके वचन पर विश्वास नहीं किया जा सकता था।

राजपूत राजा भी अभी हाल में ही मराठों-द्वारा की गई उनके प्रदेशों की लूटपाट को भूल नहीं सके थे और वे किसी भी पक्ष का साथ देने को तैयार नहीं थे। अन्ततः जो भी जीत जाए, उसी के पक्ष में खड़े हो जाने की उन्होंने सोची थी। जाट शासक सूरजमल भी मराठों के प्रति सन्दिग्ध था, क्योंकि उसे उनके वादों पर बहुत थोड़ा विश्वास था। उसके रुख को प्रदेश के मराठा सूबेदार गोविन्द बल्लाल बुंदेला के दुष्ट इरादों ने भी पक्का किया था, जो अलीगढ़ के नए जाट-किले को हड़पना चाहता था[1]।

स्पष्ट ही, उत्तर में मराठों का एक भी मित्र अथवा साथी नहीं था और उनके अपने सेनापतियों में इस बात पर मतभेद था कि अब्दाली के विरुद्ध किन युद्ध-नीतियों का प्रयोग किया जाए। उनकी सेनाओं की सफलता सिर्फ दिल्ली में प्रवेश कर लेने में थी, क्योंकि अहमद शाह दोआब में था और दिल्ली में एक छोटी-सी टुकड़ी थी, जो शक्तिशाली मराठों को नहीं रोक सकती थी।

लेकिन दिल्ली एक फन्दा सिद्ध हुआ। पेशवा के पास फालतू धन नहीं था। जागीरों और रियासतों से उन गड़बड़ हालतों में कर वसूल करना कठिन था और लूट-मार से लाभ भी बहुत थोड़ा हुआ था। आदमियों के साथ-साथ घोड़ों के लिए भी रसद की कमी थी। रसद थोड़ी पड़ रही थी और शत्रु चारों ओर मंडरा रहे थे। स्थिति की गम्भीरता ने भाऊ को दिल्ली से बाहर जाने पर विवश कर दिया। अब्दाली की भी दशा, भाऊ की तुलना में, कुछ ही अच्छी थी, क्योंकि वह भी धन की कमी को अनुभव कर रहा था और घर लौटने के लिए उत्सुक था। लेकिन नजीब-द्वारा धन और सामान का दिया जाना तथा भाऊ का जिद्दी रुख उसके लिए इस बात के शक्तिशाली कारण बन गए कि वह ठहरे और झगड़े को चरम सीमा तक ले जाए।

दोनों विरोधी पानीपत में आमने-सामने आए। युद्ध में मराठा सेनापति ने

---

[1] यदुनाथ सरकार, 'फाल आफ द मुगल एम्पायर', खण्ड 2 (1934 का संस्करण,) पृष्ठ 256

दो घातक भूलें कीं। उसने अपने संचार-साधनों को कट जाने दिया और मराठा-युद्ध के परम्परागत तरीकों को छोड़ दिया। अपनी प्रशिक्षित टुकड़ी की बन्दूकों पर निर्भर रहते हुए उसने सैनिकों की विशाल जमात को और अपने शिविर के साथियों को चौड़ी और गहरी खाइयों की एक पंक्ति के पीछे जमा दिया। अफगान-सेना दक्षिण की ओर जानेवाली एक सड़क पर जमा थी। अब्दाली ने अपने सैनिक चारों ओर फैला दिए और रसद, आदि आने के मराठा-संचार-मार्गों को काट दिया। "चारों ओर का प्रदेश मराठों का शत्रु था और अतीत में उनके द्वारा ढाई गई भीषण बर्बादियों का बदला लेने के लिए उबल रहा था।"[1] इसलिए भाऊ के शिविर को कोई सहायता नहीं मिली और घोर भुखमरी उसके सामने मुंह बाए खड़ी हो गई। भूख से निराश और विवश होकर भाऊ ने युद्ध का खतरा उठाने का निर्णय किया। 14 जनवरी, 1761 को वह शिविर से बाहर निकला और दोनों विरोधी भीषण संघर्ष में गुत्थम-गुत्था हो गए।

भारतीय युद्धों में निर्णय मुख्यतः नेता के गुणों पर ही निर्भर करता रहा है। पानीपत में एक साधन-सम्पन्न, कुशल और मध्य एशिया तथा भारत में युद्धों के लम्बे अनुभव वाला एक सेनापति अपेक्षाकृत एक युवक सेनापति के सामने खड़ा था, जिसने सिर्फ कर्नाटक में दक्षिण-भारतीय सेनाओं के विरुद्ध ही कुछ युद्ध लड़े थे। मराठों की अपेक्षा अब्दाली के पास अधिक सैनिक, अधिक तोपें, अधिक ज़िरहबख्तर और अधिक बढ़िया घुड़सवार थे। अफगान-सेनापति और उसके कप्तानों का मराठों की अपेक्षा अधिक योग्य होना, उनका अधिक उत्साही तथा अनुशासित होना अफ़गान सेना की विजय का कारण बना। मराठों ने ज़ोरदार धावे बोले और वे एक महान् जाति के अनुकूल दृढ़ता और वीरता के साथ लड़े। पर भूख ने उन्हें कमज़ोर बना दिया था और दोपहर बाद तक वे थक गए। अब्दाली के बन्दूकचियों ने उनके केन्द्र को छलनी बना दिया। लोग घबड़ाई और हांफती हुई भीड़ के रूप में पीछे हटे। इब्राहिम गर्दी के अधीन उनकी बाईं भुजा ने अब्दाली की सेना की दाहिनी भुजा बने रुहेलों पर आक्रमण किया, लेकिन एक सख्त और खूंखार लड़ाई के बाद, जिसमें उसके अस्सी प्रतिशत बन्दूकची मारे गए, उसे मैदान छोड़ देने को विवश होना पड़ा। मराठों की दाहिनी भुजा में स्थित सिन्धिया और होल्कर, नजीब और शुजाउद्दौला के सामने खड़े थे। लेकिन उन्होंने लड़ाई में बहुत थोड़ा भाग लिया। जब उन्होंने देखा कि केन्द्र और बाईं भुजा नष्ट कर दी गई है, तब होल्कर भागा और सिन्धिया की टुकड़ियां उसके पीछे भागीं। पराजय एक सर्वनाश में बदल गई। भयंकर कत्ले-आम आरम्भ हो गया। अट्ठाइस हजार लोगों की लाशें मैदान में बिखर गईं। अधिकतर सैनिक अफसर मारे गए। विश्वास राव और भाऊ, दोनों ही वीरतापूर्वक लड़ते हुए काम आए।

पानीपत की पराजय एक प्रथम कोटि का विनाश सिद्ध हुई। लेकिन यह निर्णायक किसी दशा में नहीं थी। अब्दाली के लिए यह एक बेकार की विजय थी। जैसे ही उसने पीठ मोड़ी, उसकी विजय खण्ड-खण्ड हो गई। घर पर वह और उसके उत्तराधिकारी विद्रोहियों से त्रस्त थे और उत्तर तथा पश्चिम से उज़बकों

---

1 जी०एस० सरदेसाई, 'न्यू हिस्टरी आफ द मराठाज़' खण्ड 2, पृष्ठ 430

और ईरानियों का संकट सिर पर था। वे भारत-स्थित अपने प्रतिनिधियों को उचित सहायता देने में असमर्थ थे। सिख अपने गढ़ों से निकल कर चारों ओर छा गए। उन्होंने अफ़गान अफसरों को निकाल बाहर किया और चारों ओर लूट-मार के धावे बोले। कुछ ही वर्षों में सिन्धु के इस पार अब्दाली के विजयों का चिह्न भी बाकी नहीं बचा। मराठों को बड़ी करारी चोट लगी थी। लेकिन दस ही वर्ष में वे उत्तर में वापस लौट आए और मुगल-सम्राट् शाह आलम के संरक्षक बन कर उसे सन् 1771 में इलाहाबाद से दिल्ली लिवा लाए।

यह बात सन्दिग्ध है कि यदि पानीपत में मराठे जीत जाते, तो भारत के परवर्ती इतिहास में उससे कुछ विशेष अन्तर पड़ता। सत्य यह है कि सन् 1761 से पहले ही मराठा-राजनीति में टूट-फूट के असन्दिग्ध चिह्न प्रकट हो चले थे। उनके घरेलू प्रशासन का आधार दुर्बल था। मराठा-स्वराज का प्रदेश गरीब था। एक साम्राज्य को थामने के लिए पर्याप्त राजस्व के साधन वहां नहीं थे और इसीलिए पेशवा की सरकार को लूट और बलात् वसूली पर अपनी सेनाएं खड़ी करने की नीति अपनानी पड़ी थी। स्वराज अथवा मराठा-प्रदेश से बाहर का भारत कुछ सरदारों में बंटा हुआ था, जिनसे यह आशा की जाती थी कि वे उनके और केन्द्रीय सरकार के पोषण के लिए धन देंगे। लेकिन केन्द्रीय सरकार के पास इतनी काफी सेनाएं नहीं थीं कि वे सरदारों के दुराग्रह को कुचल सकतीं। कोई ऐसा सिद्धान्त भी उन्होंने विकसित नहीं किया था, जो उन सबको जोड़ कर रख सकता। शिवाजी के वंश के राजा के प्रति स्वामिभक्ति पेशवा के सत्तासीन हो जाने के कारण नष्ट हो गई थी। पेशवा मैदान में बहुत देर से पहुंचा था और मन्त्री एवं सेनापति, जो कुछ ही समय पहले तक उसके समस्तर थे, उसकी सत्ता के प्रति ईर्ष्यालु थे। इन परिस्थितियों में फूट और आन्तरिक झगड़े अनिवार्य थे। सन् 1738 जैसे आरम्भिक वर्ष में ही, जब राघोजी भोंसले मुगल-साम्राज्य के पूर्वी भागों से चौथ वसूल कर रहा था, वह पेशवा बाजीराव प्रथम से झगड़ बैठा था। मामला इस सीमा तक पहुंचा था कि अगला पेशवा बालाजी राव मुगल-सम्राट् के कहने पर सन् 1743 में भोंसले को दण्ड देने के अभियान में बंगाल के नवाब अलीवर्दी खां का साथ देने पर राजी हो गया था। होल्कर और सिन्धिया का विरोध तो सुलझता ही नहीं दीखता था। दामाजी गायकवाड़ पेशवा का मुकाबला कर बैठा था और होल्कर का रुख दबी-दबी शत्रुता का था। पानीपत के बाद के दिनों में पेशवा की गद्दी का उत्तराधिकार भी दावेदारों के पारस्परिक युद्ध के संकट से मुक्त नहीं रहा था।

मराठा-राजनीति ने ऐसा रूप ग्रहण कर लिया था, जिसके अनुसार बड़े जागीरदारों और सरदारों के कुछ परिवार स्वतन्त्र रियासतें स्थापित करने की ताक में थे। राजनीतिक मामलों में जनता का अथवा वर्गों का कोई हिस्सा नहीं था। मराठा नेताओं ने उच्च कोटि की राजनीतिज्ञता का भी परिचय नहीं दिया। वे लालची और छीन-झपट करनेवाले थे। उन्होंने किसानों को पीस दिया और अपनी प्रजा अथवा अधीन मित्रों की सहानुभूति प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने स्वयं अपने लोगों के हितों और उनकी सांस्कृतिक प्रगति में भी कोई रुचि नहीं दिखाई।

पानीपत की पराजय अन्तिम नहीं थी। जो युद्ध वास्तव में निर्णायक हुआ और जिसके क्रान्तिकारी परिणाम निकले, वह पानीपत से चार वर्ष पहले ही प्लासी-स्थित आम के दलदली बागों में लड़ा जा चुका था।

भारत से जाने से पहले अहमद शाह अब्दाली अली गौहर को शाह आलम द्वितीय के नाम से सम्राट् घोषित कर गया था। लेकिन चूंकि शाह आलम राजधानी से बाहर था, इसलिए नजीबुद्दौला दिल्ली का प्रधान प्रशासक और राज्य-प्रतिनिधि बना। शहज़ादा जवानबख्त को युवराज-पद दिया गया। इस प्रकार, 1761 से 1770 तक नजीबुद्दौला शासन के केन्द्र में रहा। वह केवल सम्राट् का ही नहीं, बल्कि अहमद शाह अब्दाली का भी प्रतिनिधि था। उसे दिल्ली के चारों ओर के मुगल-प्रदेश में व्यवस्था कायम करनी थी और जाटों तथा सिखों की लूट-खसोट को रोकना था। जाटों के विरुद्ध तो वह सफल रहा। सूरजमल को उसने लड़ाई में मार डाला और उसके बेटे को विरोध के अयोग्य बना दिया। लेकिन सिखों के विरुद्ध वह विफल रहा और उन्हें काबू में नहीं कर सका। हां, फुलकियां सिख सतलज-पार के सरदारों से कट गए।

4. मराठों के झगड़े और दिल्ली का पतन

सन् 1770 तक पानीपत के धक्के से मराठे इतना काफी उभर चुके थे कि उत्तर में फिर से प्रकट हो सकें और अपनी सत्ता को फिर से स्थापित कर सकें। इसी अवसर पर नजीब की मृत्यु ने शाह आलम को मजबूर किया कि वह एक चीज़ चुन ले—या तो अंग्रेज़ों के संरक्षण में इलाहाबाद में रहे, या मराठों की सहायता लेकर दिल्ली की गद्दी प्राप्त करने का प्रयत्न करे। सम्राट् की राजधानी लौटने की चिन्ता का मराठा सरदारों ने पूरा लाभ उठाया। उन्होंने उसके साथ एक सन्धि कर ली और उसे दिल्ली लिवा ले जाने और पुनः गद्दी पर बिठाने का वचन दिया। इस प्रकार, बारह वर्षों के निष्कासन के बाद शाह आलम शाही शक्ति के प्रतीक और उसके केन्द्र राजधानी में लौट गया।

बाहर रहते हुए भी शाह आलम ने बिहार और बंगाल पर अपनी सत्ता फिर से स्थापित करने के लिए कुछ प्रयास किए थे, पर बंगाल के नवाब के हाथों उसे मुंह की खानी पड़ी थी। यह एक अजीब संयोग है कि पानीपत के युद्ध के अगले ही दिन साम्राज्य के भाग्य के प्रति अचेत शाह आलम ने बिहार के एक नगर के पास एक अंग्रेज़ी सेना से लड़ाई की थी, किन्तु उसे हार कर सन्धि करनी पड़ी थी। फिर, तीन वर्ष बाद (1764) जब सम्राट् और अवध के नवाब ने, गद्दी से हटा दिए गए नवाब कासिम अली खां (मीर कासिम) का पक्ष ग्रहण किया था, तब उनकी सम्मिलित सेनाओं को बक्सर में पराजित होना पड़ा था। इस प्रकार, शाह आलम अंग्रेज़ों से पेन्शन पाने लगा था और शुजाउद्दौला उनके अधीन हो गया था। एक विदेशी शक्ति पर निर्भर रहने की इस अपमानजनक स्थिति को समाप्त करने के लिए ही शाह आलम ने मराठों का संरक्षण स्वीकार किया था और इलाहाबाद छोड़ दिया था।

मराठे अब दिल्ली के मामलों पर नियन्त्रण करने की स्थिति में आ गए थे। लेकिन वे चौथे पेशवा माधव राव की सन् 1772 में मृत्यु के बाद पूना उत्तराधिकार सम्बन्धी अनिवार्य झगड़ों में उलझ गए थे। पेशवा के चाचा रघुनाथ राव ने नारायण राव को हटाने के लिए जाल रचा। उसे बड़ी सरलता से असन्तुष्ट तत्वों की सहायता प्राप्त हो गई।

पेशवा के परामर्शदाता अपने स्वामी के भाग्य के सम्बन्ध में कमोवेश उपेक्षा का भाव धारण किए हुए थे। महल के रक्षक गर्दियों को फुसला लिया गया। पेशवा ने पूरी सतर्कता नहीं बरती और पदारूढ़ होने के नौ मास के भीतर ही उसकी हत्या कर दी गई।

एक गृह-युद्ध आरम्भ हो गया और रघुनाथ राव (राघोवा) ने अंग्रेज़ों से सैनिक सहायता की बातचीत की। अब जैसे पतीली आग पर चढ़ा दी गई थी। सभी मराठा सरदार झगड़े में शामिल हो गए। उनके दक्षिण के पड़ोसियों—हैदराबाद के निज़ाम और मैसूर के हैदर अली—ने अपने-अपने हितों के अनुसार पक्ष ग्रहण कर लिए। फ्रांसीसी तक संघर्ष में शामिल हुए। अन्त में सन् 1782 की सालबाई की सन्धि ने इस लम्बे युद्ध का अन्त किया।

विप्लव और संघर्ष के इन वर्षों में मराठा सरदारों को उत्तर के मामलों की ओर ध्यान देने का बहुत कम अवसर मिला। दिल्ली को उसके हाल पर छोड़ दिया गया। नजफ खां, जिसने बंगाल में अंग्रेज़ों के सम्पर्क में रह कर सैनिक विद्या सीखी थी और जिसे उनका विश्वास तथा सहयोग प्राप्त था, दिल्ली का प्रभावशाली शासक बन गया। यद्यपि उसमें नागरिक प्रशासन को ठीक रखने की आवश्यक योग्यता नहीं थी, तथापि वह चारों ओर से उमड़ते हुए शत्रुओं के आक्रमणों से साम्राज्य के बचे-खुचे हिस्सों को बचाए रख सका।

सन् 1782 में नजफ खां मर गया। उसके सहायकों के बीच राज्य-प्रतिनिधित्व के लिए एक गन्दा संघर्ष आरम्भ हुआ। इसमें उन लोगों ने अपने को नष्ट कर लिया और मराठों के लिए मार्ग खोल दिया। मराठों का नेता महादजी सिन्धिया दक्षिण के युद्धों से मुक्त होकर अब उत्तर के मामलों की देखरेख करने की स्थिति में आ गया था। उत्तराधिकार-युद्ध ने मराठा-संगठन की जड़ों को हिला दिया था और एक संघ के केन्द्र के रूप में पेशवा की सत्ता कमज़ोर पड़ गई थी। सिन्धिया, होल्कर, गायकवाड़ और भोंसले-जैसे सरदार दक्षिण, बंगाल और अवध के मुगल सूबेदारों की तरह ही स्वायत्त प्रान्तीय शासक बन गए। महादजी की महत्वाकांक्षा थी कि वह दिल्ली के मुगल-महासामन्त की स्थिति प्राप्त करे। नजफ खां के सहायकों के षड्यन्त्रों और झगड़ों से सम्राट् मुक्ति पाना चाहता था। उसने प्रशासन की बागडोर हाथ में लेने के लिए महादजी को दिल्ली बुलाया।

अंग्रेज़ दिल्ली के मामलों को बहुत बारीकी से जांच-परख रहे थे और इस बारे में उनके अपने इरादे थे; पर अभी वे उन तूफानी लहरों में कूद पड़ने को तैयार नहीं थे। लेकिन सम्राट् पर नियन्त्रण पाने के लिए मराठों और अंग्रेज़ों में संघर्ष अनिवार्य था। अंग्रेज़ मराठों की अपेक्षा अधिक सतर्क और साधन-सम्पन्न थे। अपनी योजना के आर्थिक, सैनिक और कूटनीतिक पहलुओं के बारे में आश्वस्त हुए बिना वे आगे नहीं बढ़े। दूसरी ओर, मराठे व्यय, उपलब्ध सेनाओं की योग्यता और साथियों की विश्वस्तता का विचार किए बिना ही दिल्ली के झगड़ों में कूद पड़े। वे केवल लाभ की चमक से आकर्षित हुए।

इस प्रकार, महादजी ने सम्राट् का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसने फतहपुर सीकरी के निकट एक शिविर में सम्राट् के सामने अपने को प्रस्तुत किया, उसके पैरों पर अपना सिर रखा और सोने की 101 मोहरें उसकी नज़र कीं। सम्राट् ने राज्य-प्रतिनिधि (वकीले-मुतलक) का पद, जिसमें प्रधान मन्त्री (वज़ीर) और प्रधान सेनापति

(मीर बख्शी) के कर्तव्य सम्मिलित थे, उसे प्रदान किया[1]। पेशवा के अधिक बड़े दावे को ठुकरा दिया गया। महादजी की महत्वाकांक्षा पूरी हो गई। मुगल-साम्राज्य का सर्वोच्च पद उसने प्राप्त कर लिया था। प्रान्तीय सूबेदारों और सर्वोच्च पदाधिकारियों को नियुक्त और बर्खास्त करना तथा जागीरें प्रदान करना और कर लगाना उसके अधिकार में आ गया था। वह सम्राट् का प्रतिनिधि और राज्य में उसके बाद सर्वप्रमुख व्यक्ति बन गया था।

लेकिन, वास्तव में, बहुत ऊंची कीमत देकर महादजी ने एक बेकार का खिलौना लिया था। उसे दस लाख रुपया मासिक व्यय करके एक बड़ी सेना रखनी पड़ती थी और इसके लिए उसे उस संकुचित साम्राज्य में से पैसा खींचना पड़ता था, जिसे कितनी ही बार रौंदा और लूटा जा चुका था। शाही आदेश दिल्ली और आगरा के ज़िलों से आगे कठिनाई से ही असर रखते थे और यहां भी शाही क्षेत्रों का बहुत बड़ा भाग या तो दे डाला गया था, या उस पर उन लोगों ने कब्ज़ा कर लिया था, जो बल-प्रयोग के बिना कानूनी कर देने से भी इनकार करते थे। और भी बुरी बात यह थी कि हर दिशा से और अन्दर से भी शत्रु उस पर दबाव डाल रहे थे। मुगल-सरदार उसके विरुद्ध जाल रचते और विद्रोह करते थे। अस्थिर चित्त और अविश्वस्त सम्राट् ने स्थायी सहयोग नहीं दिया। पेशवा के दरबार में नाना फड़नवीस का प्रभाव उसके विरुद्ध काम कर रहा था और घरेलू सरकार के पास, जिसे मैदान में पहुंचे हुए अपने सेनापति की पूरी सहायता करनी चाहिए थी, "विपत्ति के समय महादजी की मदद करने के लिए न धन था और न वैसी इच्छा।"[2] जयपुर के राजा ने निश्चित नज़राना देने से इनकार कर दिया और अंग्रेज़ों की सहायता प्राप्त करने के लिए अपने दूत को लखनऊ भेजा। महादजी उसके विरुद्ध कार्रवाई करने पर विवश हो गया। लेकिन वेतन का बहुत पुराना बकाया और भुखमरी के भय के कारण मुगल-टुकड़ियों के साथ छोड़ जाने से उसकी स्थिति विडम्बनाजनक बन गई। वह राजा को दबाने में विफल रहा।

मुगल-अमीर गुलाम कादिर रुहेला ने महादजी के संकट का लाभ उठाया। ढिल-मिल शाह आलम को गद्दी से उतार दिया गया। उसे यातनाएं दी गई और अन्धा बना दिया गया। लेकिन इसी बीच महादजी लालसर की अपनी हार से उभर आया था। उसने दिल्ली पर फिर से अधिकार कर लिया। उसने अन्धे सम्राट् को फिर से गद्दी पर बिठाया और प्रशासन-यन्त्र का पुनर्निर्माण करने तथा सेनाओं एवं पेशवा-सरकार की लगातार मांगों को पूरा करने के उद्देश्य से विद्रोही सामन्तों और ज़मींदारों को वश में करने का निर्णय किया, ताकि राजस्व और धन इकट्ठा हो सके।

लेकिन कितने ही ऐसे शत्रु थे, जिन्होंने उसके मार्ग में रुकावटें डाली थीं। ये थे अफ़गान, रुहेले, मुगल-सरदार, राजस्थान के राजा और भाड़े के अव्यवस्थित सिपाही, जो बिगड़ी हुई हालतों का लाभ उठाने की ताक में रहते थे। मराठा-सरदारों में होल्कर उसका प्रतिद्वन्द्वी था और नाना फड़नवीस उसके बढ़ते हुए सम्मान तथा प्रभाव के प्रति ईर्ष्यालु था। नाना फड़नवीस ने महादजी को सीमित करने के लिए एक चाणक्यवादी

---

1 जब सिन्धिया ने कहा कि वह तो पेशवा के अनुचर के रूप में ही सब-कुछ कर रहा था, तब पेशवा की सभा में बहुत रोष प्रकट किया गया।

2 यदुनाथ सरकार, 'फाल आफ़ द मुगल एम्पायर', खण्ड 3, पृष्ठ 282

जाल रचा। उसने नजराने इकट्ठे करने के लिए उत्तरी प्रदेशों को सिन्धिया, होल्कर और पेशवा के प्रतिनिधि अली बहादुर के बीच बांट दिया। जान बूझ कर प्रत्येक के लिए नजरानों की राशि इतनी ऊंची रखी गई कि कोई अपना हिस्सा पूरी तरह वसूल न कर सके और इस प्रकार तीनों लगातार आपसी कलह में उलझे रहें।

अपने शत्रुओं और उनके षड्यन्त्रों के विरुद्ध महादजी की प्रतिक्रिया थी : एक अत्यन्त विशाल सेना इकट्ठी करना, जो शान्ति और व्यवस्था कायम रखने तथा नज़राने एवं भूमि-कर एकत्र करने में समर्थ हो। यह सेना दि बॉयन ने, जो सन् 1784 से उसकी नौकरी में था, तैयार की। उसने जो सेना खड़ी की, उसकी सदस्य-संख्या अन्ततः 39,000 तक पहुंच गई। यह मुख्यतः पैदल सेना थी, जिसे फ्रांसीसी पद्धति से प्रशिक्षित किया गया था। इसके साथ तोपची टुकड़ियां थीं, जिन्हें यूरोपीय देखरेख में काम करनेवाले कारखानों में तैयार तोपों और बन्दूकों से सुसज्जित किया गया था।

इस नई सेना के कारण महादजी शत्रुओं पर छा गया और अपने प्रतिद्वन्द्वी होल्कर-समेत सभी शत्रुओं पर उसने निर्णायक विजय प्राप्त कर ली। सन् 1793 तक वह अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुंच गया। उसका नाम और यश मराठों में अद्वितीय बन गया, लेकिन उसकी विजय अल्पजीवी रही, क्योंकि दो वर्षों के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गई और इसके साथ ही मराठे अपने अन्तिम महान् सैनिक कूटनीतिज्ञ से वंचित हो गए।

इसके बाद घोर अव्यवस्था का समय आया। चारों ओर झगड़े आरम्भ हो गए। महादजी का गोद लिया बेटा, दौलत राव, और उसकी सौतेली माताएं आपस में झगड़ने लगीं। सिन्धिया के नागरिक और सैनिक अधिकारी, जो विभिन्न ब्राह्मण-उपजातियों, देशस्थ और शेणवी से सम्बन्ध रखते थे, एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने लगे। तुकोजी होल्कर के बेटे अपने पिता की विरासत के लिए एक-दूसरे से भ्रातृघातक युद्ध में उलझ गए। युवक पेशवा माधव राव द्वितीय की मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकार के झगड़े आरम्भ हो गए, जिसमें मराठा-सरदारों ने विरोधी पक्ष ग्रहण किए।

जो गृह-युद्ध अब आरम्भ हुआ, उसमें प्रमुख भाग लेनेवाले थे, यशवन्त राव होल्कर और दौलत राव सिन्धिया। नाना फड़नवीस ने काफी ढुलमुल करने और अपने घोर शत्रु राघोबा के बेटे को दूर रखने के विफल प्रयासों के बाद अन्ततः उसी का पक्ष-समर्थन किया। कोल्हापुर के राजा छत्रपति शिवाजी और पटवर्धन-सरदार परशुराम भाऊ के बीच युद्ध छिड़ जाने से भी अधिक उलझनें पैदा हो गईं। प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं के अभियानों ने देश को तबाह कर दिया। गांव-के-गांव उनके घोड़ों की टापों से रौंद डाले गए। नगरों को लूटा और बर्बाद किया गया। धनिकों को कटघरों में यन्त्रणाएं दी गईं और गरीबों ने अकथनीय कष्ट सहे। मराठा-प्रदेश में चारों ओर अराजकता फैल गई।

यह युद्ध, जिसमें सब एक-दूसरे से लड़े, अंग्रेजों के लिए दैवी वरदान सिद्ध हुआ। वे उस नेपोलियन के साथ जीवन-मरण के संघर्ष में उलझे थे, जिसने भूमध्य-सागर को पार कर लिया था, पिरामिडों की छाया में तुर्कों को हरा दिया था और जो सीरिया में घुस आया था। उसके दूत रूस और पूर्वी देशों को अंग्रेजों के विरुद्ध उकसा रहे थे और प्रसिद्ध था कि टीपू सुलतान उसके साथ पत्र-व्यवहार कर रहा है। ऐसे समय अपने हितों की रक्षा के लिए अंग्रेजी सरकार ने वेलसली-बन्धुओं को भारत भेजा।

कलकत्ते में पद-ग्रहण करते ही वेलसली ने मराठों को सहायक सन्धियों के जाल में खींच लाने के लिए उनसे बातचीत आरम्भ की। पेशवा ने प्रथम तो उनके इन प्रयासों

की ओर कोई ध्यान नहीं दिया; लेकिन जब यशवन्त राव होल्कर ने उसे हरा दिया, (1802) और पूना से बाहर खदेड़ दिया, तब उसे ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा। वह बसईं भाग गया और वहां उसने एक सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए, जिसके अनुसार वह अंग्रेज़ों के अधीन हो गया।

इस प्रकार, केन्द्रीय मराठा-राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया। लेकिन मराठा-सरदार अब भी शक्तिशाली थे। अंग्रेज़ों के सौभाग्य से अपने घोर संकट के दिनों में भी मराठे अपनी अवशिष्ट शक्ति की रक्षा के लिए एक नहीं हो सके। ऐसी मूर्खता को भाग्य ने क्षमा नहीं किया। सिन्धिया और होल्कर अंग्रेज़ों से अलग-अलग लड़े और दोनों को बारी-बारी से करारी हार खानी पड़ी।

महादजी सिन्धिया ने दक्षिण के लिए कूच करने से पहले साम्राज्य के प्रशासन का उचित प्रबन्ध कर दिया था। उसने दिल्ली के चिश्तियों के सरदार शाह निज़ामुद्दीन को राज-प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया था और दिल्ली के प्रदेशों को कर उगाहने के उद्देश्य से छः ज़िलों में बांट दिया था। दुर्भाग्यवश, दिल्ली से सिन्धिया की लम्बी अनुपस्थिति, यूरोपीय सेनापतियों की गद्दारी, राज-प्रतिनिधि की क्रूरता और उसके लालचीपन, तथा साहसिक लोगों की लूटपाट ने सम्राट् एवं लोगों के जीवन को इतना दुखी बना दिया कि वर्णन नहीं किया जा सकता।

जब वेल्सली ने दौलतराव के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की, तब ब्रिटिश सेनाओं ने उत्तर और दक्षिण में स्थित मराठा फौजों को बहुत तेज़ी से घेर लिया। उत्तरी पक्ष का सेनापति लेक अलीगढ़ पहुंचा और उसने पेरन के अधीनस्थ सिन्धिया की सेनाओं को उखाड़ डाला। फिर उसने दिल्ली की ओर कूच किया। 16 सितम्बर, 1803 को उसने दिल्ली में प्रवेश किया। सम्राट् शाह आलम ब्रिटिश संरक्षण में चला गया और मुगल-साम्राज्य का अस्तित्व वस्तुतः समाप्त हो गया।

दक्षिण में आर्थर वेल्सली (भविष्य के ड्यूक आफ वेलिंगटन) ने सिन्धिया और भोंसले की सेनाओं को क्रमशः असई और अरगांव में नष्ट कर डाला और तब गाविलगढ़ के किले पर अधिकार कर लिया। देवगांव और सर्जी-अंजनगांव की सन्धियों पर हस्ताक्षर करके भोंसले और सिन्धिया ने अपनी स्वतन्त्रता समाप्त कर दी। इस प्रकार, शिवाजी का 'हिन्दू पाद पादशाही' का सपना नष्ट हो गया।

दूसरा अध्याय

अठारहवीं शताब्दी में सामाजिक संगठन

1. भारतीय इतिहास की विशेषताएं

बाबर ने सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में मुगल-साम्राज्य की नींव रखी। उसके योग्य और सबल उत्तराधिकारियों ने एक विशाल क्षेत्र में उसे फैलाया—इतना कि औरंगजेब की मृत्यु तक उसकी सीमाएं उत्तर में कराकोरम पर्वत तथा आक्सस नदी तक और दक्षिण में कावेरी नदी तक फैल गईं। पश्चिम से पूरब तक यह साम्राज्य ईरान और वर्मा के राज्यों के बीच स्थित था। इस प्रकार, मुगल अपने से पहले अथवा बाद के किसी भी साम्राज्य से अधिक विस्तृत प्रदेशों पर राज करते थे।

इस विशाल साम्राज्य ने अपने समय में अतुलनीय धूमधाम, शानशौकत तथा वैभव और संस्कृति से भरपूर होने की प्रसिद्धि प्राप्त की। प्रशासन और राज्य-प्रबन्ध की इसकी प्रणाली ने विशाल भूभागों में शान्ति और व्यवस्था कायम की। कला और साहित्य की प्रगति के लिए भी अद्वितीय अवसर उपलब्ध हुए। विश्व-सभ्यताओं के इतिहास में इसकी उपलब्धियां एक शानदार अध्याय जोड़ती हैं। लेकिन यह अद्भुत प्रासाद अधिक समय तक कायम नहीं रह सका। सन् 1526 में पानीपत में नींव रखी जाने से लेकर सन् 1739 में नादिर शाह के आक्रमण तक की 213 वर्ष की अवधि में ही यह साम्राज्य समाप्त हो गया। मुगल-साम्राज्य की अवधि लम्बी नहीं थी, पर भारतीय साम्राज्य साधारणतः अल्पजीवी ही रहे थे। मौर्य-साम्राज्य का डेढ़ शताब्दी से भी कम समय में अन्त हो गया। सातवाहनों ने अपना साम्राज्य पहली शताब्दी ईसा-पूर्व के मध्य स्थापित किया और दक्षिण पर समुद्र से समुद्र तक अपना प्रभुत्व विस्तृत किया। पर उनके शासन की कुल अवधि तीन शताब्दी से भी कम है। गुप्त-वंश ने लगभग दो सौ वर्ष तक राज किया। दक्षिण के चोल और बंगाल के पाल-जैसे प्रादेशिक राज्य अधिक दिनों तक कायम रहे—शायद इस कारण कि उनकी स्थिति संरक्षित थी। अन्यथा, साधारणतः, प्राचीन और मध्य-युगीन सभी भारतीय राज्य और साम्राज्य अल्पजीवी ही रहे।

वैदिक युग से लेकर अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक फैले इतिहास में एक समय पर दो शताब्दियों से अधिक की अविकल राजनीतिक एकता का लाभ भारत ने कभी नहीं उठाया। अशोक का अखिल भारतीय साम्राज्य उसकी मृत्यु के लगभग एकदम बाद ही बिखर गया। चौथी शताब्दी में समुद्रगुप्त-द्वारा जीते गए प्रदेश पांचवीं शताब्दी के अन्त में बुद्धगुप्त के समय तक हाथ से निकल गए, जब उत्तर-पश्चिम के हूण हमलावरों ने गुप्तों की सत्ता को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। खिलजियों का साम्राज्य कठिनाई से तीस वर्ष (सन् 1290-1320 तक) टिका। तुगलकों की सत्ता को मुहम्मद तुगलक की मृत्यु (1351) से पहले ही बंगाल और दक्कन में चुनौती दी जाने लगी थी। मुगलों के साम्राज्य का ढांचा औरंगजेब की मृत्यु के बाद आधी शताब्दी के भीतर ही खण्ड-खण्ड होकर बिखर गया। इस प्रकार, भारत का इतिहास साम्राज्यों के उत्थान और पतन तथा एक के पतन और अगले की स्थापना के बीच की अराजकता की कहानी है।

भारत के इतिहास के विषय में दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि साम्राज्यों की राजधानियां और राजनीतिक प्रणालियों के प्रभाव-केन्द्र स्थायी नहीं रहे।" मौर्यों और गुप्तों की राजधानी पूर्वी भारत में थी। सातवाहनों ने दक्कन से राज किया। गुर्जर-प्रतिहारों की राजधानी कन्नौज थी। चोल दक्षिण-भारत के थे और मध्य-युगीन सुल्तानों तथा मुगलों ने दिल्ली अथवा आगरे से अपने प्रभुत्व को विस्तृत किया। यूरोपीय स्थितियों के मुकाबले में केन्द्रिकता का यह अभाव दर्शनीय है। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड, फ्रांस और इटली के राज्यों ने लन्दन, पेरिस और रोम के विशिष्ट केन्द्रों से ही अपना रूप-विन्यास किया था।

यद्यपि भारत के किसी भी एक हिस्से ने केन्द्रीकरण में एक प्रधान भूमिका निरन्तर अदा नहीं की, तथापि यह सच है कि भारत के मध्य-देश (ध्रुव मध्य-देश) अर्थात् सरस्वती तथा सदानीरा के और हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच के प्रदेश का राजनीतिक-सांस्कृतिक जीवन में युग-युग से एक विशिष्ट सम्मानित स्थान रहा है। कारण, यह प्रदेश प्राचीन युगों में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं राम, भरत और जनक के राज-कुलों का तथा मध्य-युगों में तुर्क और मुगल-साम्राज्यों का गढ़ रहा। गंगा, यमुना और सरस्वती-जैसी पवित्र नदियों और हरिद्वार, अयोध्या, मथुरा, प्रयाग तथा काशी-जैसे तीर्थस्थानों की भूमि भी यही है। यहां कुछ महान् भारतीय भाषाओं—संस्कृत, पाली, व्रज और उर्दू—ने जन्म लिया और वे फलीं-फूलीं। यहीं बुद्ध और महावीर के धर्मों का तथा भक्ति और सूफी-आन्दोलनों का विकास हुआ।

मध्य-देश वह केन्द्र रहा, जहां से सांस्कृतिक प्रभाव भारत के सभी प्रदेशों में पहुंचते थे। लेकिन यह सांस्कृतिक केन्द्र भारत के लोगों को एक संगठित सामाजिक-राजनीतिक इकाई के रूप में बांधे रखने और इस उद्देश्य की ओर उन्हें आकर्षित करने में विफल रहा।

भारत एक इकहरे सामाजिक संगठन का विकास करने में असफल क्यों रहा और इसका राजनीतिक ढांचा अस्थिर क्यों रहा—ये वे समस्याएं हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है। इन्हें समझे बिना अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजों-द्वारा भारत की विजय को और इसके लगभग 200 वर्ष बाद भारत-द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति को स्पष्टतः नहीं समझा जा सकता। इसलिए यह जरूरी है कि विजय के अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना को सरल बनानेवाली जो विशिष्ट अवस्थाएं भारत में वर्तमान थीं, उनका विश्लेषण किया जाए।

अब, सभ्यता के निर्माण और उसके विनाश, दोनों में ही मानव और प्रकृति को एक भूमिका अदा करनी पड़ती है। इन दोनों में प्रकृति की भूमिका मानव की भूमिका से कमज़ोर होती है। प्रकृति अवसर प्रदान करती है, लेकिन यह मानव का काम है कि वह उससे लाभ उठाए। वह चुनौतियां प्रस्तुत करती है, जिन्हें यथोचित प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा रहती है। जब मनुष्य प्रकृति की देन का उपयोग करता है, तब वह अपना कदम आगे रखता है और एक से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ता जाता है। इसके विपरीत अवस्था में या तो वह गतिहीन स्थिति में पड़ा रहता है, या इतिहास-क्रम के बीच जो-कुछ उसने श्रम-पूर्वक बना कर खड़ा किया, वह टूट जाता है और अन्ततः बिखर जाता है। लेकिन समाजों और सभ्यताओं का उत्थान और पतन आवश्यकता के किसी दृढ़ नियम से शासित नहीं होता। जहां तक दिखाई पड़ता है, मानव अपने भाग्य का निर्माण स्वयं

ही करता है, प्राकृतिक कारण उसकी शक्तियों को चाहे कितना ही सीमित कर दें। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रणालियां मानव-द्वारा प्राकृतिक साधनों के सृजनात्मक उपयोग की ही परिणति हैं।

यद्यपि ज्ञान की वर्तमान अवस्था में संश्लिष्ट कार्य-कारणवाद के उलझे हुए जाल को वैज्ञानिक पद्धति से सुलझाना असम्भव है, तथापि अतीत की घटनाओं का मात्र वर्णन करके और उनकी शृंखला की अथवा उनमें उपस्थित कार्य-कारण सम्बन्धों की उपेक्षा करके सन्तोष कर लेना सम्भव नहीं है। इतिहास को समझने की दिशा में आगे बढ़ने के लिए इन कारणों के प्रभाव का मूल्यांकन आवश्यक है।

यदि सभी इतिहासों की तरह भारत का भी इतिहास मन और प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया का एक लेखा है, तो जिन विभिन्न तत्वों ने अठारहवीं शताब्दी की घटनाओं को रूप-आकार दिया, उनके योगदान का मूल्यांकन ज़रूरी हो जाता है। और, आरम्भ उस प्राकृतिक वातावरण से ही किया जा सकता है, जो मानवीय प्रयासों को प्रेरणा और अवरोध, दोनों ही प्रदान करता है।

2. भूमि

भारत उन्नीसवीं शताब्दीवाले अर्थों में एक देश नहीं है। आकार की दृष्टि से वह उसी वर्ग में पड़ता है, जिसमें सोवियत रूस, चीन, आस्ट्रेलिया, कनाडा और अमेरिका हैं। जनसंख्या की दृष्टि से वह चीन के बाद संसार का सबसे बड़ा देश है।

इसकी भौगोलिक विशेषताएं इसे विश्व का एक निचोड़ अथवा प्रतीक बना देती हैं। कारण, सभी प्रकार की जलवायु; लगभग हर ढंग की भूमि और जल; पशुओं और पौधों की अधिकतर जातियां; कितने ही प्रकार के खनिज पदार्थ और कितनी ही मानवीय जातियां इसके विभिन्न क्षेत्रों में पाई जाती हैं।

यह देश प्राकृतिक दृष्टि से चार भागों में बंटा है। हिमालय-प्रदेश, उत्तरी मैदानों का प्रदेश, मध्यवर्ती उच्चभूमि, और पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी समुद्रतटों-सहित दक्कन।

हिमालय का प्रदेश हिम का अविच्छिन्न आवास है। इसी की गोद में कश्मीर की संगीतमय घाटी अवस्थित है, जिसे मुगलों ने 'धरती का स्वर्ग' बताया था। यहीं अनगिनत पर्वतीय राज्य हैं, जिनमें से कुछ बहुत छोटे और चित्रमय हैं, और सिक्किम, भूटान तथा नेपाल-जैसे अन्य राज्य हैं, जिनमें बसनेवाली मजबूत और लड़ाकू जातियां पर्वतारोही की तरह स्वच्छन्दता प्रेमी हैं।

उत्तरी मैदानों का प्रदेश, जो अरब-सागर से बंगाल की खाड़ी तक विस्तृत है, उन महान् नदियों की देन है, जिनके उद्गम-स्थल हिमाच्छादित हिमालय में हैं। उपजाऊ पंजाब को सिन्धु और उसकी सहायक नदियां सींचती हैं। जाड़ों में ठंडी और गर्मियों में गर्म इसकी शुष्क और स्फूर्तिदायक जलवायु, तथा नगण्य से लेकर साधारण तक वर्षा इसे परिश्रमी किसानों और प्रचुर कृषि-उपज की भूमि बना देती है। राजस्थान का एक बहुत बड़ा भाग रेगिस्तान है। यह पीली रेत का एक लहराता समुद्र है, जहां जल बहुत कम है और जीविका कमाना बहुत कठिन। लेकिन राजस्थान ने उस गर्वीली राजपूत-जाति को जन्म दिया है, जो अपने वंश और कबीले के सम्मान की रक्षा के प्रति बहुत व्यग्र, आतिथ्य-भाव से ओतप्रोत, दोष की सीमा तक उदार, अपने सरदारों के प्रति

वफादार, प्रमाद की हद तक वीर और साहसी, लेकिन सुस्त और संगठित कार्रवाई करने में अक्षम रही है।

मध्य-भूमि अरावली और राजमहल की पहाड़ियों के बीच अवस्थित नदियों से भरा प्रदेश है। यह वह तल-भूमि है, जिसमें हिमालय का फालतू जल उत्तर से और विन्ध्याचल का जल दक्षिण से आकर बहता है। ये नदियां अपने साथ उपजाऊ मिट्टी लाती हैं, जिसने मध्य-भूमि की नांद को भर दिया है और उसे हजारों फुट गहरी मिट्टी की पर्त प्रदान की है। धीमे-धीमे बहनेवाली गंगा हिमालय की घाटियों से बाहर निकल कर उपजाऊ मिट्टी की मोटी पर्त के बीच बहती हुई दाहिनी और बाईं, दोनों ओर से सहायक नदियों को ग्रहण करती हुई बड़ी शान से तब तक आगे बढ़ती चली जाती है, जब तक बंगाल की खाड़ी के विशाल विस्तार का आलिंगन करने के लिए दक्षिण की ओर नहीं मुड़ जाती। यह एक गर्म प्रदेश है। यद्यपि जाड़ा हल्का पड़ता है, तथापि ग्रीष्म के महीनों में पपड़ी जमी धरती पर सूर्य की किरणें क्रूरतापूर्वक दहकती हैं। तब, जून मास में दक्षिण-पूर्व और दक्षिण-पश्चिम से काले बादल घिरने लगते हैं तथा धरती की प्यास बुझाने और उसे समृद्ध हरियाली से ढंक देने के लिए बरसात आ पहुंचती है।

यह मध्य-भूमि प्राचीन और मध्य, दोनों ही युगों में भारतीय संस्कृति की पीठस्थली रही है। इसकी भाषाओं को सर्वाधिक व्यापक भाव से मान्यता मिली है। यह साहित्य और कला के लिए प्रसिद्ध रही है। इसके राजाओं के वीरतापूर्ण कार्य और पवित्र पुरुषों के पावन कृत्य उन किंवदन्तियों, कहानियों तथा वीर-गीतों में निहित हैं, जो पूरे भारत की एक मूल्यवान धरोहर बन गए हैं। इसकी नदियों के तटों के साथ-साथ वे नगर बसे, जो शक्ति के केन्द्र बन गए, और वे आश्रम बने, जिन्होंने ज्ञान तथा सत्य के अन्वेषकों को आश्रय दिया।

जैसे ही गंगा राजमहल पहाड़ियों के पास से सरक कर आगे निकलती है, वह बंगाल के डेल्टानुमा मैदान में प्रवेश करती है। गंगा, ब्रह्मपुत्र और मेघना, जो इस भूमि पर धीमे-धीमे बहती हैं, उस मिट्टी से लदी चलती हैं, जिसे वे अपने साथ खींच लाती हैं। यह विशाल दलदली तटों पर जमा होती चलती है और नदी पंखे की तरह फैलती जाती है। इसकी शाखाएं कमानियों का रूप धारण कर लेती हैं। बंगाल एक वाष्पीय मैदान है, जो प्रचुर वर्षा, अनगिनत जल-धाराओं और जलाशयों के कारण गर्म और नर्म रहता है। यहां उपज बहुत घनी है और जीवन सहज। 'स्वर्णमय बंगाल' को भारत के अधिकतर भागों से बढ़-चढ़ कर प्रकृति के वरदान मिले हैं।

गंगा के नांदनुमा मैदान के दक्षिणी छोर से भूमि ऊंची होने लगती है, यहां तक कि यह कैमूर-विन्ध्या-श्रेणियों के उतार तक पहुंच जाती है। यह उठा हुआ प्रदेश मध्य-भारत की उच्च भूमि है। पश्चिम से पूर्व तक मालवा, बुन्देलखण्ड और बघेलखंड के प्रदेश इसमें सम्मिलित हैं। पूर्व में कैमूर-माइकल की पर्वत-श्रेणी इस प्रदेश को छोटानागपुर और उड़ीसा से अलग करती है और पश्चिम में चम्बल नदी और अरावली पहाड़ियां इसे राजपूताना और गुजरात से काटती हैं। विन्ध्याचल, जो गंगा के मैदान से आरम्भ होकर हल्के उभार के साथ अपनी चोटी की ओर उठता है, अब मुंह के बल नीचे दक्षिण की ओर लुढ़क जाता है। ढलान के पादप्रदेश में नर्मदा का संकरा तट-प्रदेश है। इस नदी में अमरकण्टक के सोतों का जल आता है। यह जबलपुर की निकटवर्ती संगमर्मरी चट्टानों की गहरी

घाटियों में से गुज़रती है और तब जंगलों और पहाड़ियों में से होकर शान्तिपूर्वक समुद्र की ओर बह जाती है। नर्मदा बड़े ही चित्रमय दृश्यों के बीच मार्ग बनाती हुई चलती है। प्राचीन काल में इसके तटों पर अनगिनत आश्रम, मन्दिर और पूजा-स्थल बनाए गए थे। पश्चिमी समुद्र-तट के बन्दरगाहों तक पहुंचने के लिए उत्कण्ठित यात्री पाटलिपुत्र से विन्ध्य-पर्वत-श्रेणियों के साथ चल कर चित्रकूट, भिलसा और उज्जैन होते हुए भड़ौंच पहुंचा करते थे। जो दक्कन में प्रवेश करना चाहते थे, वे पहले दर्रों में से गुज़रते थे और तब नदी के उस पार चले जाते थे। नर्मदा की किलेबन्दी ने लगभग पवित्र गंगा-जैसी श्रेष्ठ पावनता के आवरण में उसे लपेट लिया है।

नर्मदा दक्कन के उस पठार की उत्तरी सीमा है, जो सुदूर दक्षिण तक एक कील की तरह गड़ा चला गया है। इसके दोनों ओर पूर्वी और पश्चिमी घाट हैं। पूर्वी घाट अव्यवस्थित रूप में फैली कम ऊंची पहाड़ियों की एक श्रेणी है, जिसके बीच-बीच में रिक्त स्थल हैं। बंगाल की खाड़ी और इस घाट के बीच का चौड़ा मैदान उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश और तमिलनाड की समुद्र-तटवर्ती भूमि है। तट चमरंग से ढंकी दलदलों और रेत के टीलों से भरा है। इनके बीच-बीच में वे डेल्टे बिखरे हैं, जिन्हें उन नदियों ने बनाया है, जो घाट में यहां-वहां पड़ी दरारों में अपना गाद-भरा जल लिए घुसी चली आती हैं। इनमें प्रमुख हैं—महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के डेल्टे। इन डेल्टा-मैदानों में कुछ खाड़ियां हैं, अन्यथा यह समुद्र-तट बंगाल की खाड़ी से सामान्यतः आनेवाले मानसूनों और अन्धड़ों के आघातों के सामने उन्मुक्त पड़ा है। समुद्र-तट छिछला है। वह बन्दरगाहों और बड़े-बड़े जलयानों की सुरक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है। लेकिन समुद्र-तटवर्ती मैदान उपजाऊ हैं। वर्षा और नदियां, दोनों से इतना काफी जल प्राप्त हो जाता है कि यह क्षेत्र—विशेषकर उत्तर में उड़ीसा का और आन्ध्र के उत्तरी ज़िलों का इलाका—धान की दृष्टि से बहुत सम्पन्न बन गया है। दक्षिण की ओर के प्रदेशों में मानसून बहुत देर से पहुंचते हैं और वर्षा की मात्रा बहुत कम हो जाती है। यहां सिंचाई के लिए तालाबों और सोतों का जल प्रयोग में लाया जाता है। यहां की रेतीली मिट्टी और समुद्रतट की नमकीन हवा में ताड़, पंखिया खजूर और केसुरिना के वृक्ष बहुत होते हैं।

जब कि उड़ीसा भारत के अतीत की मुख्य हलचलों से शताब्दियों तक अलग-थलग रहा है, आन्ध्र और तमिलनाड देश के इतिहास की सरगर्मियों में बड़ा ज़ोरदार हिस्सा लेते रहे हैं। ये प्रदेश सातवाहनों, चालुक्यों, चोलों, काकतियों, विजयनगर-साम्राज्य और बहमनी-राज्यों की कार्रवाइयों के केन्द्र रहे हैं। इस समुद्र-तट के दक्षिण-भाग में वे मंडियां थीं, जहां पूर्व और पश्चिम के बीच का विश्व-व्यापार होता था और जहां एक दिशा से दूसरी दिशा की यात्राओं पर जानेवाले रोम, अरब, ईरान, मलाया और चीन के व्यापारी आपस में मिलते थे।

पश्चिमी समुद्र-तट बहुत संकरा है। इसकी रीढ़-सदृश पर्वतश्रेणी सह्याद्रि से लेकर नीलगिरि और उससे भी आगे तक लगभग अविकल रूप से फैली हुई है। इसमें पांच हज़ार फुट तक ऊंची चोटियां हैं। नीलगिरि-पर्वत-श्रेणी में डोडाबेटा की ऊंचाई तो आठ हज़ार सात सौ फुट से भी अधिक है। पश्चिमी समुद्र-तट में कच्छ और काठियावाड़, गुजरात, कोंकण, कनारा, केरल, आदि कितने ही प्रदेश सम्मिलित हैं। कच्छ समुद्र से घिरा एक द्वीप है और काठियावाड़ एक प्रायद्वीप है, जिसे एक संकरी पट्टी मुख्य भूमि से जोड़ती है। गुजरात मालवा के पठार का ही एक विस्तार है, मानो सिन्धु-गंगा के मैदान

की अवस्थाएं प्रायद्वीप तक बढ़ आई हों। कोंकण एक तटवर्ती तल-भूमि है, जो तीस से पचास मील तक चौड़ी है और खानदेश से गोआ तक फैली है। पहाड़ियों ने यत्र-तत्र इसे काटा है और पश्चिमी घाट की खड़ी चट्टानें इस पर छाई हुई हैं। पश्चिमी घाट चपटी चोटियोंवाले पर्वतों की एक अस्त-व्यस्त श्रेणी है, जिसे गहरी-पतली घाटियां विभक्त करती हैं। ये पर्वत प्राकृतिक दुर्ग हैं। मुगलों के साथ अपने संघर्ष में मराठों ने इनका उपयोग किया था।

कोंकण और केरल के बीच कनारा की तटीय पट्टी है। घाट से समुद्र की ओर तेज़ बहनेवाली जल-धाराओं ने इसे बुरी तरह काट-छांट डाला है। इन नदियों की घाटियां ही खेती के लिए अवसर प्रदान करती हैं, अन्यथा प्रचुर वर्षा से पनपे हुए और मलेरिया से ओतप्रोत जंगल इन पहाड़ियों पर छाए हुए हैं। लेकिन इन जंगलों में सागवान और चन्दन की लकड़ी प्रचुरता से पाई जाती है।

केरल पश्चिमी समुद्र-तट का सुदूरतम दक्षिणी भाग है। उत्तर में नीलगिरि और दक्षिण में अनामलाई तथा कार्डेमम पहाड़ियां ऐसे अवरोध हैं, जो केरल को शेष देश से अलग करती हैं। इन्हें नीलगिरि और अनामलाई पर्वतों के बीच-स्थित पालघाट की रिक्त भूमि ही विच्छिन्न करती है। इन पहाड़ियों से निकल कर छोटी-छोटी नदियां समुद्र की ओर बहती हैं और अपने मुहानों पर छोटे-छोटे डेल्टे बना कर सामुद्रिक नौकानयन के लिए मार्ग प्रदान करती हैं। अन्यथा, कच्छ और समुद्र-ताल सारे तट पर फैले हैं और जल-मार्ग ही संचार का एकमात्र साधन है।

पश्चिमी समुद्र-तट, विशेषकर पश्चिमी घाट, असम के बाद भारत का सबसे तर प्रदेश है। इसके पूरे विस्तार में अनगिनत छोटे और बड़े बन्दरगाह हैं। ईरान की खाड़ी और लाल सागर की प्राचीन सभ्यताओं के केन्द्र पश्चिम में इसके सम्मुख हैं और अधिक आधुनिक समय के अफ्रीका के दक्षिणी छोर का चक्कर काट कर जानेवाला यूरोपीय जल-मार्ग भी इसी के समक्ष पड़ता है।

पूर्वी और पश्चिमी घाटों के बीच और सतपुड़ा, माइकल तथा हज़ारीबाग की पर्वत-श्रेणियों के दक्षिण में भारतीय प्रायद्वीप का भगर्भशास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन वह भूखण्ड है, जिसे 'दक्कन' कहा जाता है। यह प्रायद्वीप आकार में तिकोना है। इसका आधार वह चौड़ा उत्तरी पठार है, जिसे एक खड़ी रेखा पश्चिम में मराठी बोलनेवाले लोगों, मध्य में हिन्दी बोलनेवालों और पूर्व में तेलुगु-भाषियों के बीच बांट देती है। नीचे पठार का मध्य-भाग है। इसमें कन्नड़, तेलुगु और तमिल-भाषाओं के क्षेत्र सम्मिलित हैं। दक्षिणी भाग के फिर दो हिस्से हो जाते हैं, जिनमें से पश्चिम की भाषा मलयालम है और पूर्व की तमिल।

महाराष्ट्र-प्रदेश में दक्कन के पठार, पश्चिमी घाट और कोंकण समुद्र-तट के अंश सम्मिलित हैं। मिट्टी, जलवायु और उपज की दृष्टि से इनमें प्रत्येक की निजी विशेषताएं हैं। पठार की मिट्टी मुख्यतः गैर-सैलाबी है। मानसून पश्चिमी घाटों पर ही अपना अधिकांश भाग खाली कर डालते हैं और दक्कन के हिस्से में वर्ष-भर में बीस से तीस इंच तक वर्षा होती है। मोटा अनाज—बाजरा, कोदो और मड़वा—यहां सबसे अधिक होता है, तथा ज्वार-बाजरा ही परिश्रमी तथा मितव्ययी मराठा किसानों का प्रमुख भोजन है।

पठार का आन्ध्र अथवा तेलंगानावाला भाग बिल्कुल भिन्न है। इसकी विशेषताएं हैं—क्षरित भूमि, चौड़ी और खुली घाटियां, चट्टानों और पाषाण-खंडों के समूह, कमज़ोर

रेतीली मिट्टी और मामली वर्षा। मराठवाड़ा की तुलना में तेलंगाना बहुत थोड़ी हरीतिमावाला प्रदेश है। यहां पेड़ बहुत थोड़े हैं, घास भी घटिया और बहुत कम है।

उत्तरी दक्कन के हिन्दी-भाषी प्रदेश में प्राचीन दक्षिण-कोशल अथवा गोंडवाना—जैसे, उड़ीसा की सीमा पर स्थित दुर्द्धर्ष पहाड़ियों और जंगलों का प्रदेश है।

दक्कन की बीच की पट्टी में मैसूर का पठार, दक्षिणी आन्ध्र और उत्तरी तमिलनाड हैं। मैसूर का पठार समुद्र की सतह से 1,500 से 4,000 फुट तक ऊंचा है, और तुंगभद्रा एवं कावेरी नदियों तथा उनकी अनेक सहायक नदियों के प्रमुख जल-स्रोत इसी में अवस्थित हैं। वर्षा मामूली है—वर्ष में 25 से 35 इंच तक, और खेती तालावों से सिंचाई पर ही अधिकांशत: निर्भर करती है।

मैसूर से नीचे तिकोने प्रायद्वीप का शीर्ष बहुत तेजी से संकरा हो जाता है। केरल और तमिलनाड के कछारी मिट्टी के मैदान इसकी दो भुजाएं हैं और नीलगिरि, अनामलाई, कार्डेमम तथा पालनी पहाड़ियों की उच्च भूमियां इसके बीच में हैं। पहाड़ियों पर वर्षा बड़े जोर की होती है। ये निसर्गतया ही उष्ण-कटिबन्धीय जंगलों से ढंकी हैं। नीलगिरि में यूकिलिप्टस के नीले वृक्ष सघनता से होते हैं और इन्हीं को देख कर इन पहाड़ियों को यह नाम दिया गया है।

दक्कन के पठार, तथा उत्तर की ओर पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रतटों की उपजाऊ निम्न भूमियों के बीच भारी विषमता है। प्रदेश की पहाड़ी प्रकृति; कमजोर मिट्टी; वर्षा का तटों तक सीमित रहना; कुछ भागों में वनों की प्रचुरता तथा कुछ में वनस्पति की कमी; ये सब ऋणात्मक विशिष्टताएं हैं। ये आराम और प्रचुरता के जीवन को अवसर नहीं देतीं। इसीलिए भारत की सभ्यताएं दक्कन के चारों ओर की निम्न भूमियों, सिन्धु-गंगा के मैदानों, बंगाल की खाड़ी अथवा खम्भात की खाड़ी में गिरनेवाली नदियों के डेल्टों तथा समुद्र-तटवर्ती मालाबार और कोरोमंडल में पनपी हैं। संस्कृति के इन केन्द्रों से चल कर ही लोग दक्कन की उच्च भूमियों में घुस आए हैं और उनके कुछ हिस्सों को अपनी विशिष्ट संस्कृतियों के क्षेत्र में खींच लाए हैं। इन्होंने मूल निवासियों को घने जंगलों और दुर्गम पहाड़ों की ओर ढकेल दिया, जहां वे आज भी रहते हैं।

भारत की भौगोलिक स्थितियों में विद्यमान विषमता चौंकानेवाली है। जलवायु, मिट्टी, वर्षा, तापक्रम तथा स्थल और जल की विभिन्न विशेषताओंवाले बहुत-से प्रदेशों में देश बंटा है। देश की विशालता, आवागमन और संचार-साधनों की पुरातनता, अपेक्षाकृत कम सघन जन-संख्या—ये सब ऐसे तत्व थे, जिन्होंने अतीत में प्रदेशों के पृथक्करण को बढ़ावा दिया। जब तक ऐसी अवस्थाएं रहीं, तब तक सामाजिक समुदाय की चेतना का प्रकट होना बहुत कठिन था।

किन्तु इन सब विषमताओं के पीछे कुछ समताएं भी हैं। ये उन पहाड़ों और समुद्रों की देन हैं, जो देश को घेरे हुए हैं। सम्पूर्ण भारत को एक अर्धोष्ण-कटिबन्धीय मानसूनी जलवायु देने में—जिसमें जाड़ा, गर्मी और वर्षा की ऋतुएं क्रमश: इस तरह आती हैं कि इनकी अवधि सुनिश्चित हो गई है और इनके बारे में पूर्वघोषणा की जा सकती है—हिमालय एक शक्तिशाली घटक है। समुद्र और उत्तर में पहाड़ों की एक अर्द्धवृत्ताकार दीवार एक ऐसा ढांचा खड़ा कर देती है, जिसके बीच जीवन विशेष बाहरी हस्तक्षेप के बिना ही आगे बढ़ता चला गया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य और समाज में यद्यपि एक

संघटनात्मक एकता उत्पन्न नहीं हुई, तथापि संस्कृति के क्षेत्र में सामान्य रीतियां और मनोवृत्तियां विकसित हुईं और सामान्य विशेषताएं पनपीं।

प्रकृति पर विज्ञान और अन्वेषणों की विजय के द्वारा भूगोल की चुनौतियों का सामना किया गया है। मनुष्य अब भौतिक अवरोधों पर, यहां तक कि आकाश के दुराग्रह पर भी, काबू पाने में समर्थ हो गया है। प्रकृति का ज्ञान मानवीय प्रयोजनों के लिए प्राकृतिक शक्तियों को वशीभूत करने में सहायक बना है। पहाड़ों, नदियों, जंगलों और जलवायुओं के द्वारा प्रस्तुत कठिनाइयों को समाप्त कर दिया गया है और भौगोलिक विविधताओं ने मानव की ऐक्य-भावना के सामने घुटने टेक दिए हैं।

लेकिन ये सब सरगर्मियां बहुत आधुनिक हैं और उन्नीसवीं सदी तक पहुंच कर ही भारत को इनका लाभ मिल सका है। इससे पहले भौगोलिक विषमताएं देशवासियों पर और उनकी अवस्थाओं पर हावी थीं और उन्होंने साथ रहना और एक होना कठिन बना दिया था तथा केन्द्रोपसारी शक्तियों का लगभग अबाध रूप से ज़ोर था।

आज विज्ञान ने मानव की सेवा में एक विराट् शक्ति नियुक्त कर दी है। लेकिन अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मानव को मात्र उतनी ही शक्ति उपलब्ध थी, जितनी मानव अथवा पशु से सम्भव थी। कृषि और उद्योगों में मानव की उत्पादन-सामर्थ्य उन्हीं पर निर्भर थी। प्रादेशिक विभागों के बीच सम्पर्क तथा केन्द्र-द्वारा प्रशासनिक नियन्त्रण सीमित था।

इसीलिए पृथकतावाद, स्थानीयतावाद और प्रदेशवाद राष्ट्रवाद अथवा विश्ववाद से प्रबल थे। यद्यपि प्रकृति ने एक ऐसा भौतिक ढांचा दे रखा था, जो एक विशिष्ट संस्कृति और एक समग्र सामाजिक संगठन की सुविधा प्रदान कर सकता था और दरअसल उसकी ओर संकेत भी करता था, तथापि विभेदक भौगोलिक शक्तियों पर काबू पाने के लिए आवश्यक तकनीकी ज्ञान के अभाव ने सामाजिक और राजनीतिक एकता के विकास को स्थगित कर रखा था।

जो विशाल अवरोध भारत को उसके पड़ोसियों से अलग करते थे, वे ऐसे शक्तिशाली तत्व थे, जो एक विशिष्ट व्यक्तित्व के विकास में सहायक थे और अन्य देशों की संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति को अलग करते थे। लेकिन प्रादेशिक विषमताओं ने अखिल भारतीय सांस्कृतिक एकता और सामाजिक संगठन के लिए आवश्यक समन्वय-प्रक्रिया को रोक दिया।

3. निवासी

किसी भी जाति के इतिहास में भौगोलिक तत्व का बड़ा महत्व होता है, पर मानवीय तत्व का उससे भी अधिक महत्व है। मनोदशा, विचार, भाव, चरित्र और तौर-तरीके संस्थाओं को स्वरूप देते हैं और विभिन्न कालों में जातीय प्रगति को दिशा प्रदान करते हैं। भारतीयों की आज की भाषाओं उनके धर्मों, विश्वासों और पूजा-विधियों, उनके सामाजिक संगठन और सौन्दर्याभिव्यक्ति, इन सब पर उनकी परम्पराओं की छाप अंकित है। उदाहरणार्थ, सातवीं सदी ईसा-पूर्व में उपनिषदों के वाक्यों से लेकर बीसवीं शताब्दी में गांधीजी की शिक्षाओं तक मनोदशाओं और नैतिक धाराओं की एक अटूट श्रृंखला चली आ रही है। लेकिन इस एकता और एकरूपता के ऊपर विभिन्नता की पर्त है, क्योंकि भारत भाषाओं,

जातियों, धर्मों और प्रथाओं के बहुगुणन का आगार है। विषमता उतनी ही सुस्पष्ट और आकर्षक है, जितनी संस्कृति के कुछ गुणों में विद्यमान समानता। इस विविधता का एक स्रोत है, भारतीय आबादी का स्वरूप।

भारत के निवासियों में कई जातियों का मिश्रण है। इन जातियों में से कुछ इस देश में इतने लम्बे समय से रह रही हैं कि इन्हें स्थानीय समझा जा सकता है। अन्य जातियां ऐतिहासिक कालों में बाहर से यहां आईं। ये आपस में घुल-मिल गईं और इन्होंने कितनी ही विभिन्न किस्मों को जन्म दे दिया। जातियों के भारत में आगमन और उनके यूरोप में आव्रजनों के बीच एक शिक्षाप्रद अन्तर है। दोनों में समानता मात्र आर्य-भाषा-भाषी जातियों के आवागमन की है। यूरोप में ये देशान्तरण तीन धाराओं में हुए। प्रारम्भिक आव्रजक बल्कान और इटली तथा पश्चिमी, मध्यवर्ती एवं पूर्वी प्रदेशों में, वहां पहले से रहनेवाले लोगों को हटा कर अथवा उन्हें अपने में समाहित कर, बस गए। लेकिन पांचवीं शताब्दी में रोम-साम्राज्य की सीमाओं के पार से आव्रजकों की एक दूसरी लहर दबाव डालने लगी और विसी-गाथ, ट्युटन, वंडाल, फ्रैंक तथा अन्य लड़ाकू जातियों ने रोम की किलाबन्द सीमाओं से टकराना आरम्भ कर दिया। अन्ततः किलाबन्दी टूट गई और बर्बरों की बाढ़ महान् साम्राज्य पर छा गई।

यूरोप के विभिन्न प्रदेशों में इन जातियों के बस जाने से उन प्रदेशों में, जहां पूर्ववर्ती आर्य-जातियों ने अड्डा जमाया था, नए समाजों का जन्म हुआ। इन जातियों ने कबायली सरदारवाले राज्य स्थापित किए और अपने उन कुलीन साथियों की सहायता से, जो व्यक्तिगत वफादारी की भावना से सम्बद्ध थे, उस भूक्षेत्र पर शासन किया। उनके संगठन का स्वरूप ही ऐसा था कि वे युद्ध, विजय और विस्तार की ओर प्रवृत्त हुए।

इस देशान्तरण ने हर प्रदेश को प्रभावित किया। इंग्लैण्ड में ऐंगल और सैक्सन, फ्रांस में फ्रैंक, स्पेन में विसी-गाथ, उत्तरी इटली में लम्बार्ड, नीदरलैण्ड में बेल्गे तथा बल्कान देशों में आस्ट्रो-गाथ आकर बसे। इनके बस जाने से एक नया यूरोप सामने आया—वह यूरोप, जिसमें पवित्र रोमन शान्ति का स्थान निरन्तर चलनेवाले कबायली युद्धों ने ले लिया।

लेकिन छठी शताब्दी से शान्ति का क्षेत्र विकसित होने लगा। कबीले बस गए और संगठित हुए। ईसाई धर्म और लैटिन संस्कृति फैली। आठवीं शताब्दी में चार्ल्स महान् ने एक साम्राज्य की स्थापना की, जिसने रोमन साम्राज्य की स्मृतियों को हरा कर दिया। पूरब में कुस्तुन्तुनियां उस अन्य साम्राज्य की राजधानी बना, जिसने एशिया माइनर के एक बहुत बड़े भाग को अपने अधिराजत्व में ले लिया।

तब, इस दूसरे यूरोप को एक विध्वंसात्मक क्रान्ति का सामना करना पड़ा। जंगली, भयानक और असभ्य उत्तरी जातियां स्कैण्डिनेवियन देशों से; लड़ाकू मगियार खानाबदोश पूरब से; और सभ्य मुसलमान उत्तरी अफ्रीका से आकर प्रकट हुए।

उत्तरी जातियों—नार्वेजियन, स्वीड और डेन लोगों ने ब्रिटेन और फ्रैंक साम्राज्यों पर विजय-अभियान किए। ये लोग साहसी और निपुण मल्लाह थे। नदियों के मुहानों में प्रवेश करके जल-मार्गों पर तैरते हुए ये राज्यों के केन्द्र तक घुस आए। मगियारों ने—जिनके तेज घोड़ों और अचूक धनुर्विद्या ने जो भी सामने आया, उसे ध्वस्त कर दिया—कारपेथियन पहाड़ों को पार करके मध्य-जर्मनी और उत्तरी इटली को तहस-नहस कर डाला। अन्ततः ये उत्तरी और दक्षिणी स्लावों के बीच एक बाड़ा खड़ा करके हंगरी में बस गए।

मुसलमान, जो पूरे उत्तरी अफ्रीका को खलीफा के आधिपत्य में ले आए थे, आठवीं शताब्दी के आरम्भ में स्पेन को पार करके प्रायद्वीप को रौंदते हुए दक्षिणी फ्रांस तक घुस आए। इन्होंने बाइज़ण्टाइन साम्राज्य के देशों पर भी दबाव डाला।

नौवीं और दसवीं शताब्दियों की इन घुसपैठों और देशान्तरणों ने यूरोप पर बहुत गहरा असर डाला। ब्रिटेन में ऐंग्लो-सैक्सन और यूरोप में कार्लोविंजियन सरकारों के नष्ट हो जाने से जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा की समस्याएं बहुत उग्र हो उठीं। सैनिक भूमि-पट्टों तथा सामन्ती समझौतों एवं कर्तव्यों से परस्पर-बंधे संरक्षकों और संरक्षितों, लार्डों और कामगारों का एक द्विध्रुवी समाज दूसरे यूरोप के खंडहरों पर उठ खड़ा हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी तक तीसरा यूरोप अस्तित्व में आया। इसका निरन्तर अविच्छिन्न विकास तब तक होता रहा, जब तक राष्ट्र-राज्यों का आधुनिक यूरोप पल्लवित नहीं हो गया।

भारत का इतिहास इससे भिन्न रहा है। आर्यों के भारत-आगमन से पहले यह देश बहुत छितरा कर बसा हुआ था और उत्तरी मैदानों तथा पठारों के विशाल क्षेत्र घने जंगलों से ढके थे। इन प्रदेशों के निवासी विभिन्न भाषाएं बोलते थे और उनकी शारीरिक विशेषताएं भी विभिन्न थीं। उनकी भाषाएं मंगोल, आस्ट्रेलायड और द्रविड़-परिवारों से सम्बन्ध रखती थीं।

आर्यों के देशान्तरण ईसा-पूर्व की दूसरी सहस्राब्दी में घटित हुए। आर्य कहां से आए, यह पूरी तरह निश्चित नहीं है। डेन्यूब के निचले भाग से लेकर आक्सस के ऊपरी हिस्सों के बीच के विशाल प्रदेशों के विभिन्न अंश उनका मूल निवास-स्थान होने का दावा करते हैं। अपनी यात्रा में उन्होंने किन मार्गों का अनुसरण किया, यह भी निश्चित रूप से बता सकना सम्भव नहीं है।

जो नदियां पश्चिम से बह कर सिन्धु में गिरती हैं, उनकी घाटियों में से होकर वे भारत में प्रविष्ट हुए। बहुत लम्बे समय तक वे सरस्वती के तटों पर टिके रहे। उनके पवित्र साहित्य में इस नदी को एक विशेष पावनता प्राप्त है। वे ज्यों-ज्यों उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी प्रदेशों से आगे बढ़े, उनके कबीलों और दलों ने सिन्धु-गंगा के मैदानों में छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिए। लेकिन जैसे-जैसे वे अपने मूल स्थान से आगे बढ़ते गए, वैसे-वैसे उनकी संख्या कम होती गई और सामूहिक देशान्तरण छोटे-छोटे दलों के नेतृत्व में किए जानेवाले विजय-अभियानों में बदल गया। अन्ततः आर्य-संस्कृति की सर्वोच्चता पूरे भारत पर स्थापित हो गई।

हर प्रदेश में आर्य और मूल संस्कृतियों के सम्मिश्रण ने एक विशेष किस्म को जन्म दिया। सिन्धु-गंगा के मैदानों में पंजाब और राजस्थान पंजाबी और राजस्थानी बोलियां बोलनेवाले तथा समान शारीरिक विशेषतावाले लोगों के निवास-स्थान बन गए। मध्य-देश और बिहार की उच्च जातियों का शारीरिक विन्यास एकसमान है, पर निम्न जातियां भिन्न हैं। इस प्रदेश में बोली जानेवाली भाषाएं हिन्दी (पश्चिमी और पूर्वी) की ही विभिन्न बोलियां हैं।

बंगाल में लोगों की शारीरिक किस्म से पता चलता है कि उनमें मंगोल जाति का मिश्रण हुआ है, किन्तु उनकी भाषा—बंगला—आर्य-परिवार की है।

केन्द्रीय उच्च भूमि गुजरात, मालवा, बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड में मध्याकारी सिर और ठिगने कदवाले लोग रहते हैं। गुजरात की भाषा राजस्थानी से मिलती है, लेकिन

मध्यवर्ती भागों में हिन्दी की बोलियां मालवी, बुन्देली और बघेली बोली जाती हैं। छोटा-नागपुर एक ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी प्रदेश है, जिसमें गहरी घाटियां बहुतायत से हैं। यह जंगलों से ढंका है और अनार्य कबीलों के लोग बहुत बड़ी संख्या में यहां रहते हैं। इनका अपना कबायली संगठन और भाषाएं हैं। इनमें संथाल, मुंडा, उड़ांव, हो और गोंड प्रमुख हैं। इनकी कुछ भाषाएं द्रविड़ हैं और कुछ आस्ट्रेलायड अथवा मुंडा बोलियां हैं। इन कबायली लोगों की शारीरिक विशेषताएं हैं, मध्याकारी सिर और चौड़ी नाक।

दक्कन का पूर्वी भाग तीन प्रदेशों में बंटा है—उड़ीसा, आन्ध्र और तमिलनाड। उड़ीसा के लोगों की भाषा बंगला से मिलती-जुलती है। आन्ध्र के लोग तेलुगु बोलते हैं, जो द्रविड़-भाषा है। तमिल लोग, जो प्रायद्वीप के दक्षिणी भागों में रहते हैं, दो विशिष्ट किस्मों में बंटे हैं। सिर का आकार और विन्यास तथा चेहरे के नक्श इस विभाजन के आधार हैं। लेकिन दोनों ही तमिल-भाषा बोलते हैं।

दक्कन के पश्चिमी भाग में महाराष्ट्र, कर्नाटक (कुर्ग, मैसूर, कनारा) और मालाबार का समुद्र-तट सम्मिलित हैं। महाराष्ट्रियों की भाषा आर्य है, लेकिन अपने शरीर-विन्यास में ये पंजाब और राजस्थान से भिन्न हैं।

कन्नड़-भाषी लोग महाराष्ट्रियों से मिलते-जुलते हैं। उनमें भी उच्च और निम्न जातियों के बीच अन्तर है। कन्नड़-भाषा द्रविड़ है, पर आर्य-शब्द उसमें बड़ी संख्या में मिश्रित हैं।

मालाबार के निवासी लम्बे सिरवाले हैं और अपनी शारीरिक विशेषताओं में तमिल लोगों के अनुरूप हैं। उच्च जातियां, नम्बूद्री ब्राह्मण और नायर, निम्न जातियों और कबीलों की अपेक्षा अधिक लम्बी तथा गोरी हैं।

तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम द्रविड़-परिवार की भाषाओं की शाखाएं हैं। इनके बोलनेवाले आर्य-भाषाएं बोलनेवालों के बाद दूसरा स्थान रखते हैं।

भारत में आबादी का वितरण दो बातें स्पष्ट करता है। प्रथम यह कि भौगोलिक विभाजन नृवंशीय किस्मों के समानान्तर हुए हैं। लगता है, पहले और बाद के निवासियों के मिश्रण ने उस समय की कम-अधिक विलग अवस्थाओं में विशिष्ट किस्मों को जन्म दिया, जिनमें प्रत्येक ने अपनी विशिष्ट भाषा विकसित कर ली। हर प्रदेश ने अपनी विशेष भाषा के साथ-साथ एक-न-एक प्रकार के व्यक्तित्व को निरन्तर बनाए रखा है।

तेरहवीं शताब्दी में भी अमीर खुसरो में इन भाषायी विभाजनों की चेतना दिखाई पड़ती है। उसने ग्यारह भाषाओं का उल्लेख किया है। इनमें तीन द्रविड़ हैं—धुर-समुद्री (कनारी), तिलंगी (तेलुगु), और मावरी (तमिल); सात उत्तर की आर्य-भाषाएं—सिन्धी, कश्मीरी, गुजराती, गौरी (पश्चिमी बंगला), बंगला (पूर्वी बंगला), अवधी (पूर्वी हिन्दी), देहलवी (पश्चिमी हिन्दी) और कुबरी (पहचानी नहीं जा सकी)।

अबुल फजल ने दस भारतीय भाषाओं का ज़िक्र किया है: कश्मीरी, सिन्धी, मुल्तानी (पश्चिमी पंजाबी), देहलवी (हिन्दी), बंगला, मारवाड़ी (राजस्थानी), गुजराती, मराठी, तेलुगु और कन्नड़।

सोलहवीं शताब्दी में अकबर ने अपने साम्राज्य को एक आधार पर, जो उसे प्राकृतिक आधार प्रतीत हुआ होगा, प्रान्तों में बांटा था। सिन्धु के मैदान को मुल्तान और ठट्टा में बांटा गया था। लाहौर राजधानी के साथ पंजाब एक अलग प्रान्त था। राजस्थान

का केन्द्र अजमेर था। दिल्ली, आगरा, अवध और इलाहाबाद में मध्य-देश आ जाता था। सुदूर पूर्व का मैदान बिहार-सहित बंगाल प्रान्त के रूप में संगठित था। केन्द्रीय उच्च भूमि का मालवा नामक भाग ही साम्राज्य में सम्मिलित था, क्योंकि बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड स्वतन्त्र थे। पश्चिमी दक्कन का पठार और उसके समुद्र-तटीय प्रदेश अहमदाबाद (गुजरात), खानदेश और बरार के प्रान्तों में विभाजित थे।

औरंगज़ेब ने प्रान्तों का पुनर्विभाजन किया और साम्राज्य को इक्कीस प्रशासनिक इकाइयों में बांटा। ये भारत के प्राकृतिक और भाषायी विभाजनों से बहुत अधिक मिलते-जुलते थे। मुल्तान और लाहौर के प्रान्त पंजाब के दो भाग थे, जो पंजाबी की दो शाखाएं बोलते थे। दूसरे भाषायी प्रान्त थे—सिन्धी-भाषी ठट्टा; राजस्थानी बोलनेवाला अजमेर; हिन्दी-भाषी दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद और अवध; बिहारी, बंगला और उड़िया बोलनेवाले बिहार, बंगाल और उड़ीसा; मालवी बोलनेवाले मालवा और केन्द्रीय उच्च भूमि; गुजराती-भाषी गुजरात; तथा मराठी-भाषी खानदेश, बरार, बीदर और बीजापुर।

इस प्रकार, प्रादेशिक जन-वर्गों और उनकी भाषाओं की विशिष्ट प्रकृति को पूरे इतिहास के बीच मान्यता दी जाती रही है।

इन विभाजनों के पीछे एकता की एक अचेत स्वीकृति निश्चय ही रही है। यह सच है कि विभिन्न प्रदेशों के निवासियों में विभिन्न तत्वों का मिश्रण हुआ। लेकिन विभिन्न मात्राओं में एक तत्व सबमें समान रूप से रहा और वह है, आर्यत्व। आर्य-परिवार, वंश और कबीले विभिन्न संख्याओं में देश के विभिन्न प्रदेशों में जाकर बस गए थे और उन्होंने प्रादेशिक आबादियों पर अपनी छाप अंकित कर दी थी।

द्रविड़ तथा छोटी-मोटी भाषाओं—उदाहरणार्थ, मुंडा, आदि—के अतिरिक्त सभी भाषाओं का आधार आर्यों की भाषा बनी। लेकिन आर्य-भाषा में भी अनार्य-तत्व रिस गए। सबसे बड़ी बात यह कि विभिन्न भाषाओं के साहित्यों का विषय बड़ी दूर तक समान है; क्योंकि उन सभी ने संस्कृत-साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है। धार्मिक विश्वासों और आचारों तथा सभी प्रदेशों की सामाजिक प्रणालियों पर आर्य-प्रभाव के चिह्न निर्विवाद रूप से अंकित हैं।

आर्यों के भारत में एक बार बस जाने और अपनी भाषा, धर्म तथा सामाजिक प्रणालियों को देश-भर में फैला देने के बाद हर प्रदेश में वहां के मिश्रित जनवर्ग की खास किस्म से प्रेरित होकर विभिन्न संस्कृतियां पनपीं। इन विभिन्नताओं के रहते हुए भी इन विविधताओं में कितनी ही बातें समान थीं।

यूरोप में जो-कुछ हुआ, उसके विपरीत कबीलों का इतने बड़े पैमाने पर देशान्तरण इसके बाद यहां कभी नहीं हुआ, जिससे प्रादेशिक बस्तियों अथवा लोगों के चरित्र और उनकी संस्कृतियां अस्त-व्यस्त होतीं। ऐसा नहीं है कि बाद के युगों में विदेशी भारत में नहीं आए; लेकिन इन बाद में आनेवालों की संख्या इतनी बड़ी नहीं रही कि वह प्रादेशिक आबादियों के विन्यास में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देती।

आर्यों के आने के बाद शक (सीथियन), यूची और हूण भारत में आए। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि जाट और गूजर, जो सिन्धु-गंगा के मैदान के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में सघनता से बिखरे हुए हैं, इन्हीं के वंशज हैं। कई लेखकों का यह भी मत है कि राजपूतों का मूल इन्हीं विदेशी जातियों में खोजा जा सकता है। छठी शताब्दी से पहले, अर्थात भारत में हूण-साम्राज्य की स्थापना से पूर्व, उनके कबायली नामों का ज्ञान इतिहास

को नहीं है, और छठी शताब्दी में उनका अचानक शक्तिशाली बन जाना इस धारणा की पुष्टि करता है।

लेकिन इन जातियों के वैदेशिक उद्गम के सिद्धान्त में कितनी भी सचाई क्यों न हो, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इनकी संख्या किसी भी प्रदेश में मूल निवासियों के किसी भी बड़े स्थानान्तरण की ओर अथवा सांस्कृतिक प्रणालियों या सामाजिक-आर्थिक रूपरेखाओं में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन ला देने की ओर संकेत नहीं करती।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के अंक (1901 की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार) हमें उनकी संख्याओं का विवरण देते हैं। राजपूताने में राजपूत पूरी आबादी का 6.4 प्रतिशत थे, जाट 8.7 प्रतिशत और गूजर 4.8 प्रतिशत; पंजाब में राजपूत 7.4 प्रतिशत थे, जाट 19.5 प्रतिशत (इस संख्या में मुसलमान-हिन्दू-सिख जाट शामिल हैं), और गूजर 1.5 प्रतिशत। उत्तर-प्रदेश में, जो इन जातियों का दूसरा महत्वपूर्ण गढ़ है, विवरण इस प्रकार था—राजपूत 8.3 प्रतिशत, जाट 1.9 प्रतिशत और गूजर 0.69 प्रतिशत।

इसी रिपोर्ट के अनुसार, इन प्रान्तों में राजपूतों, जाटों और गूजरों की अधिकतम संख्या इस प्रकार थी:—राजपूताना में पूरी 97,00,000 की आबादी में 6,20,000 राजपूत, 8,50,000 जाट और 4,60,000 गूजर; पंजाब में पूरी 2,48,00,000 की आबादी में 19,00,000 राजपूत, 50,00,000 जाट और 7,40,000 गूजर थे; उत्तर-प्रदेश के 4,66,70,000 निवासियों में 34,00,000 राजपूत और 7,80,000 गूजर थे।

इन तीन वर्गों के जातीय स्वरूप के बारे में विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि ये एक ही आर्य-शरीर-वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिम-भारत के कितने ही स्थानों को गूजरों ने अपने नाम दिए हैं, तथापि उनका सबसे पहला राज्य जोधपुर में स्थापित हुआ था। यहीं से वे उत्तर प्रदेश में फैले और उन्होंने गुर्जर-प्रतिहार-साम्राज्य स्थापित किया। यह सम्बद्धता प्रतिहार राजपूतों के साथ गूजरों की एकरूपता की ओर संकेत करती है। गूजरों के कुछ वंशीय नाम वही हैं, जो राजपूतों के हैं और उनके शारीरिक नाक-नक्श भी एकसमान हैं।

जहां तक जाटों का सम्बन्ध है, वे राजपूतों के छत्तीस प्राचीन वंशों में सम्मिलित हैं। जाटों का अपना दावा यह है कि वे यदु-वंश (एक राजपूत कबीले) से सम्बन्धित हैं। इबटसन कहता है: "उनके लगभग एकसमान शरीर-विन्यास और नाक-नक्श तथा उनके बीच हमेशा से विद्यमान गहरे सम्बन्ध—इन दोनों बातों को देखते हुए कम-से-कम इतना अत्यधिक सम्भव है कि वे एक ही नृवंश से सम्बन्ध रखते हों।"[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि मूल में तीनों वर्ग एक ही जाति से सम्बन्ध रखते थे। राजपूतों के जाटों के स्तर तक गिर जाने और जाटों के राजपूतों के स्तर तक उठ जाने के विवरण उनके रक्त-सम्बन्ध को सूचित करते हैं। यह सुविदित है कि जाति-प्रथा अतीत में उतनी सख्त नहीं थी, जितनी आज है और इसकी सम्भावना है कि इन तीनों जन-वर्गों की संख्याएं अन्य वर्गों के इनमें घुल-मिल जाने से इतनी बढ़ गई हों।

---

1 डी० इबटसन, 'पंजाब कास्ट्स', लाहौर, 1916 (भाग 3, 'द जाट, राजपूत ऐण्ड एलाइड कास्ट्स'), पृष्ठ 100

इसलिए यह प्रकट होता है कि राजपूत, गूजर और जाट एक ही जाति के हैं और उनमें विद्यमान अन्तर सामाजिक अधिक और नृवंशीय कम हैं। उनकी संख्या और पूरी आबादी में उनका प्रतिशत इस सम्भावना की ओर संकेत करता है कि उन्होंने छोटे-छोटे दलों में भारत में प्रवेश किया और इसीलिए अपना विशिष्ट शरीर-विन्यास (यदि था, तो) अपने वंशजों को दे सकने में वे विफल रहे।

किन्तु इस धारणा के विरोध में कि वे उन आव्रजकों से सम्बन्ध रखते थे, जो सीथियनों के साथ भारत में घुस आए थे (कुषाणों ने पहली और दूसरी शताब्दियों में भारत में एक साम्राज्य निर्मित किया था), अथवा वे उन हूणों में से थे, जिन्होंने पांचवीं शताब्दी में भारत पर आक्रमण किया था, सबल तर्क उपलब्ध हैं।

जहां तक कुषाणों का सम्बन्ध है, सिन्धु के उस पार काबुल की घाटी में और ट्रान्स-आक्सियाना में उनका घर था। उनके राजाओं ने कश्मीर और उत्तर-पश्चिम भारत पर अपना राज्य स्थापित किया था। लेकिन भारत के किसी भी प्रदेश में उनके बड़ी संख्या में बस जाने का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। वास्तव में, सीथियनों का प्रधान दल तो पश्चिम की ओर, ईरान और उससे भी परे, चला गया था। केवल एक दल (कुषाण) अफगानिस्तान में रह गया था, जहां उसके सरदार गुप्त-राजाओं-द्वारा उनके भारत से निकाले जाने के बाद भी शासन करते रहे।

हूणों अथवा श्वेत एफ्थेलाइटों का भारत पर बड़ा अल्पकालीन आधिपत्य रहा। उनके दो राजाओं, तोरमान और मिहिरगुल, ने भारत पर आक्रमण किए, पर अन्ततः मालवा के राजा यशोधर्मन् और गुप्त-वंश के बालादित्य ने उन्हें बाहर खदेड़ दिया। जब आक्सस नदी-तट पर पारसियों और तुर्कों ने उन्हें करारी मात दी, तब उनकी शक्ति पूरी तरह नष्ट हो गई। यह सन्दिग्ध है कि यदि उनकी जाति के किसी बड़े दल ने पंजाब अथवा राजस्थान के इलाकों पर अधिकार कर लिया होता, तो उन्हें इतनी तेजी से निकाल बाहर कर सकना सम्भव होता।

पंजाब और राजस्थान के प्रदेशों में बसनेवाले लोगों की संघटना इस धारणा की पुष्टि नहीं करती कि कोई विदेशी नृवंशीय दल यहां आकर बस गया था। पंजाब, राजस्थान और पश्चिमी उत्तरप्रदेश की उच्च जातियों की शारीरिक किस्म इतनी एक-सी है कि बड़े पैमाने पर मिलावट की सम्भावना समाप्त हो जाती है। गुर्ये का कहना है कि राजपूतों का श्वेत हूणों से सम्बन्धित होने का अनुमान सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये लम्बी खोपड़ीवाले हैं, जब कि हूण लघु कपालवाली जाति थी।[1]

हूणों के निष्कासन के 600 वर्ष बाद तक की अवधि में कोई गम्भीर घुस-पैठ नहीं हुई। तब, ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी के नेतृत्व में अफगानों और तुर्कों ने भारत में प्रवेश किया। इस हलचल के परिणामस्वरूप भारत में मुस्लिम-राज्य की स्थापना हुई। बारहवीं शताब्दी के अन्त से अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मुसलमान सम्राट् भारत के अधिकांश भाग पर राज करते रहे।

इस्लाम के प्रभाव ने भारतीयों के सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन उपस्थित किए। धर्म, विचार, भाषा, साहित्य, कला, शिल्प, चित्रकला और संगीत को इसने प्रभावित

---

1 जी० एस० गुर्ये, 'कास्ट ऐण्ड क्लास इन इंण्डिया' (नया संस्करण, 1937), पृष्ठ 128,29

किया। भारत की संस्कृति पर इसका प्रभाव गहरा और व्यापक सिद्ध हुआ। लेकिन जहां तक सामाजिक-आर्थिक ढांचे का सम्बन्ध है, उसमें बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ। कबीलों और जातियों की हिन्दू-प्रणाली तथा परिवार और जाति के मूल सम्बन्धों को निश्चित करनेवाला हिन्दू-कानून बहुत थोड़ा बदला। इसके विपरीत, स्वयं मुसलमान हिन्दुत्व से प्रभावित्त हुए। जातियों का विभाजन, विवाह के रीति-रिवाज और उत्तराधिकार के नियम, जो हिन्दुओं में प्रचलित थे, इस्लाम ग्रहण कर लेने के बाद भी चालू रहे।

इन छः सौ वर्षों में भारत-प्रवेश करनेवाले मुसलमानों की संख्या बड़ी नहीं थी। विजेताओं की सेनाओं और उनके शिविर के साथ चलनेवाले लोगों को छोड़ कर बहुत थोड़े-से विद्वान्, कवि, व्यापारी, साहसिक तथा कुछ दण्ड-प्राप्त अफसर और सरदार भारत की ओर मुड़ आए थे। भारत आनेवाले मध्य और पश्चिमी एशिया के मुसलमान नृवंशीय दृष्टि से उत्तर-पश्चिमी भारत के निवासियों से शायद ही भिन्न थे। उनकी संख्या इतनी नहीं थी कि वे देश के जातीय, आर्थिक और सामाजिक जीवन में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन ला पाते।

इस प्रकार, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में आर्यों के देश-परिवर्तन के समय से अठारहवीं शताब्दी तक समाज की नृवंशीय नींव में कोई प्रचण्ड अथवा क्रान्तिकारी संशोधन नहीं हुआ। सांस्कृतिक परम्परा की धारा में बाहर की कितनी ही उपधाराएं आकर मिलीं, लेकिन वह अपनी मूल प्रकृति को खोए बिना लगातार बहती रही।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि समय निश्चल रहा। परिवर्तन अनिवार्य था। हां, भारत में परिवर्तन धीमे और सीमित रूप में अवश्य हुआ। गहरे जल में उसने कठिनाई से ही हलचल पदा की। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक इतिहास के सारे·उलट-फेरों के बीच जीवन की सामाजिक-आर्थिक नींव दृढ़ता से स्थिर रही

भारतीय संस्कृति की निरन्तरता के प्रमाण बहुत-सारे हैं। जैसा कि बाबर ने प्रमाणित किया है, मध्य-युगों में जीवन की एक 'हिन्दुस्तानी प्रणाली' पूरे भारत में विद्यमान थी। भौगोलिक प्रदेशों में इस हिन्दुस्तानी प्रणाली की अंगभूत किस्में पनप रही थीं। लेकिन वे संस्कृति की प्रमुख धारा की ही विविधताएं थीं, अर्थात् हिन्दुस्तानी प्रणाली की ही शाखाएं थीं।

भारत में यदि कमी थी, तो सामाजिक और राजनीतिक एकता की चेतना की। जिन अवधियों में पूरे देश पर एक राजनीतिक प्रणाली का शासन रहा, उस समय भी सामाजिक समुदाय के भाव और एक सामान्य सत्ता के प्रति आज्ञाकारिता की यहां कमी रही। न तो सांस्कृतिक एकरूपता और न ही राजनीतिक प्रभुसत्ता भारत को दलों, समाजों और जातियों में विभाजित करनेवाले अवरोधों को तोड़ने में सफल हो सकी। जो दो संस्थाएं एकीकरण का अटूट विरोध करती रहीं, वे थीं जाति और ग्राम।

4. जाति

जाति और ग्राम की प्रमुख विशेषताएं थीं : सामाजिक अचलता, खण्डीकरण और आत्मनिर्भरता। इनके माध्यम से पृथकतावाद ने इतनी गहरी जड़ें जमा लीं कि राजनीतिक विप्लव, राजवंशों के परिवर्तन, विजेताओं के आगमन और प्राकृतिक विपत्तियां भी इस प्रणाली पर कोई छाप डालने में असमर्थ रहीं।

जाति एक अत्यन्त संश्लिष्ट और अपरिवर्तनीय सामाजिक परिस्थिति है। यद्यपि इस पर बहुत-कुछ लिखा जा चुका है, तथापि इसके कितने ही पक्ष अभी अन्धकार में हैं। इन विशिष्टिताओं का असन्दिग्ध विवेचन कठिन है। इस बारे में जो-कुछ भी कहा जाए, उसे चुनौती दी जा सकती है, क्योंकि वह त्रासद अन्तर्विरोधों से भरी है। पर यह परिस्थिति, जो सभ्यताओं के इतिहास में लगभग अद्वितीय है, अपना अस्तित्व रखती है, और सभी मामलों पर इसके गहरे प्रभाव को समझे बिना तथा इसकी विशिष्ट प्रकृति और घबड़ा देनेवाली शाखा-प्रशाखाओं का ज्ञान प्राप्त किए बिना भारत के अतीत को समझना और उसके भविष्य की कल्पना करना असम्भव है।

जाति के बारे में एक अजीब बात यह है कि इसका अस्तित्व द्वैतात्मक है। एक ओर तो जाति-प्रथा का सैद्धान्तिक स्वरूप है, जिसे हिन्दुओं के धार्मिक विधि-साहित्य, अर्थात् स्मृतियों, धर्मशास्त्रों एवं उनकी टीका-टिप्पणियों में विकसित किया गया है। दूसरी ओर, वर्गों और उपवर्गों का वास्तविक जंजाल है, जिसका तथ्यात्मक विवरण साहित्यिक और अन्य विभिन्न सूत्रों से इकट्ठा किया जा सकता है। लेकिन बड़े आश्चर्य की बात यह है कि इस उलझी हुई और पेंचदार गुत्थी का पूरा स्वरूप उन्नीसवीं शताब्दी में जनगणना का कार्य आरम्भ होने के बाद ही प्रकट हुआ।

जाति एक प्राचीन संस्था है, क्योंकि इसके लगभग सभी अवयव वेदों में मिलते हैं। जाति, कबीला, वर्ग, धन्धा, विश्वास और आचार—इन तत्वों ने मिल कर इसका निर्माण किया है। ऋग्वेद में वर्णित आर्यों के समाज में जातीय चेतना गोरे रंग और बढ़िया ऊंची नाकवाले आर्यों तथा काले रंग और दबी हुई नाकवाले अनार्यों, दासों अथवा दस्युओं के बीच दीख पड़ती है। वेदों में कितने ही आर्य और कुछ अनार्य कबीलों का उल्लेख है, जो बाद के इतिहास में परस्पर मिल कर जातियां बन गए। ब्रह्म यानी पुरोहिती का काम! क्षेत्र अथवा सैनिक शक्तिः; विश अर्थात् उत्पादक और आर्थिक कर्म करनेवाले—इस त्रिविध विभाजन को मान्यता दी गई है। यह विभाजन ईरान के आर्यों में किए गए ऐसे ही विभाजन अथर्वन, रथेस्तर, वस्त्रीय पशुयन्त (पुरोहित, सैनिक और किसान) से मिलता-जुलता है। चौथा वर्ग, अर्थात् शूद्र, ईरान के 'हुइती' हैं। पहले तीनों में आचार का अन्तर था। क्षत्रिय राजकीय यजमान था, जो धर्म-क्रियाओं के माध्यम से दिव्य तत्व से एकरूपता की आकांक्षा रखता था। ब्राह्मण पुरोहित था, जो धर्म-क्रियाओं की पद्धति और उसके निर्दोष निर्वाह में निपुण था। वैश्य राजा का अनुचर था, जो राजकीय उत्सवों में भाग लेता था और भूमि की उपज एवं पशु देकर यज्ञ को पुष्ट करता था।

इन आरम्भिक युगों में ये विभाजन रूढ़ होकर जातियां नहीं बन गए थे। इन चार वर्णों के अतिरिक्त ऋग्वेद में जीविका और काम-धन्धों से सम्बन्धित कितने ही वर्गों का वर्णन है—जैसे, नाई, बढ़ई, वैद्य, लुहार और चर्मकार। इष्ट—आस्था और आचार की भिन्नताओं पर आधारित विभेदों का भी वहां ज़िक्र है। आर्य बर्हिस्मत् (होता) है; दास अव्रत (विधिशून्य), अक्रतु (आचारशून्य) और मृध्रवाच (दुष्ट वाणीवाला) है।

जैसे-जैसे समय बीता, विभाजन रूढ़ होते गए। आरम्भ के युगों में वंशानुक्रम के सिद्धान्त का बहुत थोड़ा महत्व था। ब्राह्मण क्षत्रिय हो सकते थे और क्षत्रिय ब्राह्मण। एक क्षत्रिय राजा के बेटे देवप ने पुरोहित का कर्म अपना लिया था। ऐसे परिवर्तनों के कितने ही उदाहरण बाद के साहित्य में उपलब्ध हैं। ब्राह्मणों के शासक और योद्धा

होने के भी बहुत-से दृष्टान्त हैं। द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य योद्धा थे। मौर्यों के बाद आनेवाले शुंग और कण्व शासक ब्राह्मण थे। सातवाहनों ने अपने बारे में अद्वितीय "ब्राह्मण" तथा "क्षत्रियों के अभिमान और दर्प को चूर करनेवाले" का दावा किया है।

लेकिन ऋग्वेद ने स्वयं जन्म के तथ्य पर बल देकर जाति की अपरिवर्तनीयता के विचार को प्रस्तुत किया। उसमें हर जाति का उद्‌भव आदिपुरुष के एक विशेष अंग से हुआ बताया गया है। जब एक बार सिद्धान्त बन गया कि जाति जन्मना है, तब भारत के सिद्धान्त और व्यवहार पर उसका असर क्रमशः जमता गया और इतिहास के हर अगले युग ने समाज पर विध्वंसक विष-वृक्ष 'उपास' की तरह इसके प्रभाव को देखा।

जाति के बहुगुणन की सफाई के लिए व्यग्र सिद्धान्तवादियों ने एकमात्र तत्त्व जन्म को पकड़ा और उसी के आधार पर तथ्यों को समझाने का प्रयत्न किया। समान जाति के सदस्यों के बीच हुए विवाह से उत्पन्न बच्चा जाति को अग्रसर करता था और उसकी शुद्धता को बनाए रखता था। मिश्रित विवाह से, जिसमें पिता उच्च जाति का होता था और मां निम्न जाति की (अनुलोम विवाह), उत्पन्न बच्चे शायद ही पिता के समाज-स्तर से निम्न माने जाते थे। लेकिन जब एक निम्न जाति का पुरुष उच्च जाति की स्त्री से विवाह (प्रतिलोम) करता था, तब सन्तति का समाज-स्तर माता-पिता में प्रत्येक से नीचा माना जाता था।

चूंकि इस प्रकार के विवाहों में अनगिनत क्रम-परिवर्तन और संयोजन हो सकते थे, इसलिए वे कितनी भी बड़ी संख्या में जातियों और उपजातियों को जन्म दे सकते थे। विधिवेत्ताओं ने सोचा कि जातियां इसी प्रकार उत्पन्न हुईं, लेकिन उन्होंने हर जाति को स्थायी रूप से एक अकेले कार्य अथवा पेशे से बांध देने का प्रयत्न किया। इस प्रकार, समाज का और उसके संयोजक अवयवों का एक अपरिवर्तनीय ढांचा तैयार हो गया। यह सैद्धान्तिक प्रणाली लोगों के मन में रूढ़ हो गई और तथ्य कितने ही दुराग्रही क्यों न हों, उन्हें इसी तन्त्र में ढालने का प्रयत्न किया जाने लगा।

इस सिद्धान्त को मनु और धर्मशास्त्र के अन्य लेखकों ने विस्तार दिया तथा इसका प्रभाव निरन्तर बद्धमूल रहा; यहां तक कि सत्रहवीं शताब्दी में 'जाति-विवेक' और 'शूद्र कमलाकर'-जैसी पुस्तकों में भी जाति-प्रथा के उद्‌भव और विन्यास के विषय में परम्परागत प्रणाली को अपनाया गया।

इन धर्म-लेखों का मत है कि जाति जन्म से निश्चित होती है; क्योंकि उपजातियों और भ्रष्ट जातियों की बहुसंख्या का कारण है उच्च जातीय पुरुष और निम्न जातीय स्त्री के बीच विवाह का प्रचलन; कि हर जाति का अपना स्थिर पेशा है, यद्यपि कुछ परिस्थितियों में, विशेषकर विपत्ति के समय, दूसरा धन्धा अपनाने की अनुमति है; कि जाति ने खाने-पीने की स्वतन्त्रता पर बन्धन लगाए हैं, और यह एक रूढ़ सामाजिक व्यवस्था है, जो समाज के सोपानिक क्रम में जाति अथवा उपजाति की स्थिति और उसके स्तर को निर्दिष्ट करती है।

लेकिन यदि सिद्धान्त को अलग हटा कर तथ्यों पर विचार किया जाए, तो लोगों का दलों और वर्गों में वास्तविक विभाजन धर्म-शास्त्रीय लेखों के वर्णनों की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा हुआ है।

पी० वी० काणे के अनुसार, पवित्र पुस्तकों में उल्लिखित जातियों की संख्या 172

है।[1] लेकिन जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार भारत के प्रत्येक भाषायी प्रदेश में लगभग 200 जातियां और 2,000 उपजातियां हैं और पूरे भारत में 800 से अधिक बड़ी जातियां और 5,000 से अधिक छोटे वर्ग हैं। अब, पवित्र पुस्तकों ने जिस प्रमुख तथ्य की उपेक्षा कर दी है, वह है आवादी के जातीय रचना-क्रम में प्रादेशिक विभिन्नताओं का अस्तित्व। जो अकेली जाति पूरे भारत में समान रूप से पाई जाती है, वह है ब्राह्मण-जाति। राजपूत, जिन्हें विधि-पुस्तकों के क्षत्रिय-वर्ण का प्रतिनिधि माना जा सकता है, पंजाव, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और केन्द्रीय उच्च भूमि तक सीमित हैं। मुट्ठी-भर राजपूत पूर्वी भारत और दक्कन में विखरे हैं। फिर, औद्योगिक, कृषि अथवा व्यापारिक कामों में लगी जातियों के नाम और उनकी स्थितियां विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न हैं। निम्नतम स्तर पर कुछ जातियां सामान्य हैं, पर कुछ एकदम भिन्न हैं।

जो वात और भी महत्वपूर्ण है, वह है, उच्च और निम्न जातियों का वितरण। श्रेष्ठ जातियों (ब्राह्मण और राजपूत) अथवा शुद्ध जातियों (जिनसे श्रेष्ठ जातियां जल ग्रहण कर लें) और अशुद्ध जातियों (अछूत अथवा 'बाह्य जातियों'[2]) का अनुपात, जैसा कि नीचे की तालिका[3] से स्पष्ट है, प्रान्त-प्रान्त में भिन्न है।

	हिन्दू	ब्राह्मण	राजपूत	अन्य
	लाख में	प्रतिशत	प्रतिशत	प्रतिशत
असम . . .	30.6	3.9	0.3	95.8
बंगाल . . .	454.5	6	3	91
वम्बई . . .	178.3	5.6	2.5	92
मध्य-प्रान्त . . .	87	4.1	2.6	93.3
मद्रास . . .	285	4	.05	95.95
पंजाव . . .	9.25	3	4	93
उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त .	385.5	12	8	80
मध्य-भारत . . .	78	12	10.4	77.6
राजपूताना . . .	92	9.8	5.2	85
भारत . . .	1,880	7	3.8	89.2

जहां तक अछूतों का सम्वन्ध है, अंकों से पता चलता है कि सन् 1931 में वे भारत की पूरी आवादी के 14 प्रतिशत और कुल हिन्दुओं के 21 प्रतिशत थे। वम्वई में इनकी प्रतिशत संख्या सवसे कम थी—11 प्रतिशत; और असम में सवसे अधिक—37 प्रतिशत।[4] इसके अतिरिक्त, हर प्रदेश की अपनी विशिष्ट अछूत जातियां थीं, यद्यपि चमार पूरे भारत में विखरे हुए थे।

निस्सन्देह, ये अंक वहुत वाद की तिथि के हैं, क्योंकि अठारहवीं शताब्दी के अंक उपलब्ध नहीं हैं। लेकिन इनसे मोटे रूप में उस शताब्दी के हिन्दू-समाज की स्थिति का

1 पी० वी० काणे, 'हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र', खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 71
2 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1931, खंड 1, भाग 1, पृष्ठ 471
3 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1881, खंड 2 (आवादी के अंक), पृष्ठ 240-41
4 'सेन्सस आफ इण्डिया रिपोर्ट', 1931, खंड 1, भाग 1, पृष्ठ 494

पता लग सकता है। आबादी में स्वाभाविक वृद्धि और ह्रास के साथ सम्पूर्ण संख्याएं बदल जाती हैं। लेकिन जब तक सुस्पष्ट कारण न हों, सम्बन्धित प्रतिशत के बदलने की सम्भावना नहीं होती।

कुछ दूसरी प्रादेशिक विशिष्टताएं भी थीं। जातियों में सामाजिक पूर्वता का क्रम समान नहीं था। दक्षिण में कम्मालन-जाति ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को चुनौती देती थी। बंगाल में कायस्थ शूद्रों में गिने जाते थे, लेकिन बिहार और उत्तरप्रदेश में वे द्विज माने जाते थे। महाराष्ट्र में कायस्थ (प्रभु) स्वयं को क्षत्रियों से उत्पन्न मानते हैं। इस प्रकार के अन्तर दूसरी जातियों में भी पाए जाते हैं। विवाह की निषेध-व्यवस्था से सम्बन्ध रखने-वाली रीतियां और प्रथाएं भी अलग-अलग हैं। कुछ प्रदेशों में विज्ञानेश्वर के 'मिताक्षर' में उल्लिखित नियम प्रचलित हैं, जब कि दूसरों में 'दायभाग' अथवा 'जीमूतवाहन' की मान्यता है; सामाजिक अवरोध और अक्षमताएं देश के सभी भागों में एक-सी नहीं थीं। छूने से अपवित्र होने का विचार जितना दक्षिण में विकसित हुआ, उतना उत्तर में नहीं। दक्षिण में यह माना गया कि अपवित्रता अछूत के शरीर में से फूटती है। इसीलिए उसकी छाया से भी बचा गया। तमिलनाड और मालाबार में तो ठीक दूरियां निश्चित कर दी गईं, जो अशुद्ध जातियों और उच्च जातियों के बीच रखी जाती थीं; कुओं, तालाबों और नदियों तक के प्रयोग में छूने से अपवित्र होने का विचार प्रचलित था। मन्दिर-प्रवेश वर्जित था। देश के अधिकांश भागों में अशुद्ध जातियों के घर अलग होते थे। लेकिन कुछ प्रदेशों में ग्राम और नगरों में हर जाति के लिए एक विशिष्ट भाग निर्दिष्ट कर दिया जाता था।

एक जाति-द्वारा दूसरी जाति के हाथों का पका हुआ भोजन स्वीकार किया जाना एक अन्य प्रादेशिक विषय है। पूर्व-बंगाल, गुजरात और दक्षिण-भारत में कच्चा (घी के बिना पकाया गया) भोजन और पक्का (घी से पकाया गया) भोजन में कोई अन्तर नहीं माना जाता। लेकिन दूसरे प्रदेशों में उच्च जातियों-द्वारा छोटी जातियों के हाथ से बनाया गया पक्का भोजन स्वीकार करना वर्जित नहीं है।

भारत के कुछ भागों में—उदाहरणार्थ, मद्रास में—अब्राह्मण दो वर्गों में विभाजित थे : दक्षिण और वाम। वाम के लिए "जुलूस में घोड़े पर बैठ कर निकलना, विशेष चिह्नों-वाले झंडे लेकर चलना और अपने विवाह-मंडप को बारह स्तम्भों पर आधारित करना वर्जित था।"[1]

प्रादेशिक विभिन्नताओं के रहते हुए भी जाति की कुछ सामान्य विशिष्टताएं हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है, अन्तर्विवाह की प्रथा। जाति सामाजिक वृत्त में उन सीमाओं को निर्धारित करती है, जिनके भीतर ही विवाह सम्मत है और जिनके बाहर निषिद्ध है। लेकिन अधिकांश जातियां अनगिनत उपजातियों में विभक्त हैं। स्पष्टतः हिन्दू-मनीषा अपने ही सामाजिक अण्वीकरण में विशेष आनन्द लेती थी, क्योंकि एक वर्ग को छोटे वर्गों में तोड़ देने के लिए कोई भी बहाना काफी होता था।

उपजातियां कबायली, आर्थिक, राजनीतिक, वर्गीय और प्रादेशिक आधारों पर बना ली जाती थीं। किसी शिल्प में तकनीक का अन्तर अथवा जीविका या निवास-स्थान का अन्तर एक नई उपजाति निर्मित करने के लिए एक विहित कारण बन जाता था।

1 जी० एस० गुर्ये, 'कास्ट ऐण्ड क्लास इन इण्डिया', पृष्ठ 13

वर्णसंकर सन्तानें बहुधा उनकी संख्या को बढ़ाती थीं। प्रथाओं की विशिष्टताएं और आचरण की विचित्रताएं भी विभाजन उत्पन्न करती थीं।

कितने ही विदेशी जाति-प्रथा में सम्मिलित कर लिए गए। शाकद्वीपी ब्राह्मणों को सीथियन जाति से सम्बन्धित माना जाता है। माघ, नागर, कर्हद और हविक ब्राह्मणों का भी मूल शायद विदेशियों में है। द्रविड़-ब्राह्मणों के मूल में भी शायद कोई जातीय तत्व हो। महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मण सिर के आकार, त्वचा और आंखों के रंग के विचार से पंजाब और उत्तरप्रदेश के ब्राह्मणों से भिन्न हैं। मुंडा, संथाल, उड़ांव और अन्य अनार्य आदिवासी अब जातियां बन गए हैं।

कबायली नामों पर आधारित जातियां और उपजातियां भी अनगिनत हैं—जैसे, अहीर, गूजर, जाट, मराठा, भील, डोम, गोंड। करण, कायस्थ और राजपूत अनिवार्यतः राजनीतिक जातियां हैं। पहली दो जातियां छोटे अधिकारियों का काम करती थीं और राजपूत सत्ताधारी थे। वर्गीय विषमताओं ने ऋग्वेदी, अथर्ववेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी, एकनाथी, स्मार्त और वैष्णव ब्राह्मणों को, और लिंगायत, विश्नोई, कबीरपन्थी, सतनामी तथा शाक्त-जैसी जातियों को जन्म दिया। अनेक उपजातियों के मूल में प्रादेशिक विभाजन है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मणों में कनौजिया, सरवरिया, सारस्वत, कोंकणस्थ, देशस्थ, नागर, ओसवाल, श्रीमाली, सोरठिया, राढ़ी और वारेन्द्र वलनाद, वंगी नाडु, कनारा, कम्मा, वैदिका, इत्यादि। वैश्यों और शूद्रों में भी नगर, ग्राम, जिला आदि के नाम पर अनगिनत उपजातियां बन गई हैं।

प्रथाओं की विशिष्टताएं और आचरण अथवा जीविका की विचित्रताएं ही इन जातियों के बनने के लिए उत्तरदायी हैं: पुरानिया अथवा जूथिया, जो अहीर घायों और बसोरों से पैदा हुई सन्तानें हैं; छंगिया चमार, जो पत्तों से बना एक हुक्का पीते हैं; सुवरा, जो धीवरों की एक उपजाति है और सूअरों का काम करती है; और वैतालिया, जो गुजराती कुम्हारों की अवैध सन्तानें हैं।

मुसहर (चूहे खानेवाले) एक निम्न आदिम उपजाति; भुलिया (भुलक्कड़), जुलाहों की एक उपजाति; दुबला (कमजोर), गुजरात के आदिम लोगों का एक वर्ग; कल्लार (चोर), तियान (दक्षिणवाले); और परिया (ढोलवाले)—इन सब उपवर्गों के नाम विभिन्न विशिष्टताओं की ओर संकेत करते हैं।

जाति और उपजाति का दूसरा महत्वपूर्ण उपलक्षण धन्धा है। कुछ नृतत्वशास्त्रियों के अनुसार, भारत का जातीय ढांचा धन्धे पर आधारित है। चारों वैदिक वर्ण कर्म-प्रधान हैं। ब्राह्मण का काम है; उपासना (ब्रह्म) और इससे सम्बन्धित सब कर्म; क्षत्रिय सत्ता (क्षत्र) के प्रयोग में नियुक्त हैं; वैश्य उत्पादक हैं; और शूद्र का कर्म सेवा है।

न चार वर्णों के अतिरिक्त, जीविका-सम्बन्धी वर्ग सुदूरतम अतीत से ही विद्यमान रहे हैं। वे सगोत्र विवाहवादी जातियां और उपजातियां बन गए और इस प्रकार उन्होंने धन्धों को जन्म के आधार पर निश्चित कर दिया। जीविका पर आश्रित जातियां और उपजातियां असंख्य हैं। आश्चर्य की बात यह है कि तकनीक और पद्धति के छोटे-छोटे अन्तरों ने उन्हें और भी छोटे बिखरे हुए दलों में विभाजित कर दिया है और उनके बीच विवाह-सम्बन्ध वर्जित हो गए हैं।

उदाहरण के लिए, चमारों (चमड़े का काम करनेवालों) को लीजिए। उनकी जाति बहुसंख्यक है। उनके कितने ही उपविभाग भी हैं—कुछ प्रादेशिक, और शेष चमड़े

के काम में विशिष्ट शैलियों से सम्बन्धित। बुदलगीर चमड़े के पीपे बनानेवाले हैं, ज़ींगर घोड़े की काठियां बनाते हैं और कटवे चमड़ा काटते हैं। इसी प्रकार, धीवरों (मछियारों) में बंसिये हैं, जो बांस के डंडों से मछली पकड़ते हैं, और बंधइये हैं, जो रस्सी से अपनी बंसी बनाते हैं। माली (बागबानी करनेवाले) फूल उगानेवाले फूल-मालियों, ज़ीरा उगानेवाले ज़ीरा-मालियों और हल्दी उगानेवाले हल्दी-मालियों में बंटे हैं। भुने हुए चने बेचनेवाले (बुरिये), कत्था बनानेवाले (खैर), नमक साफ करनेवाले (लोंहड़), भेड़ पालनेवाले (मेंढे), भैंस पालनेवाले (मस्के), गानेवाले (बैजन्तरी), संपेरे (मंग-गरुडी) आदि की कितनी ही उपजातियां हैं।

लेकिन जीविका की समानता को जाति का एकमात्र आधार मानना गलत होगा, क्योंकि कितनी ही विभिन्न जातियों के धन्धे एक-से हैं और एक ही जाति के लोग विभिन्न धन्धे करते हैं। सामान्यत: जो बात सच है, वह यह कि धन्धे वंशानुगत बन जाते हैं।

जाति-प्रथा की तीसरी विशेषता यह है कि यह एक सोपानिक क्रम में वर्गों और उपवर्गों के स्तर को निर्धारित करती है। इस तरीके से अधिकारों और कर्तव्यों के साथ व्यक्ति की स्थिति निर्दिष्ट होती है। धर्म-पुस्तकों में कल्पित चतुर्वर्णीय विभाजन, वास्तव में, व्यक्तियों और दलों के वर्गीकरण और स्तरीकरण का एक प्रयास है। सिवाय इसके कि सामान्यत: ब्राह्मण उच्चतम जाति और अछूत निम्नतम जाति के रूप में मान्य हैं, भारत के विभिन्न प्रदेशों में बीच की जातियों और उनकी उपजातियों की संख्या तथा उनकी सापेक्ष स्थिति एक-जैसी नहीं है।

जाति न केवल व्यक्ति के समाज-स्तर को निश्चित करती थी, बल्कि उसके धार्मिक विश्वासों और आचरणों को भी प्रभावित करती थी। ब्राह्मण स्मार्तों, शैवों और शाक्तों में तथा दक्षिण-वाम मार्गों पर चलनेवालों में विभक्त थे। क्षत्रियों में भी ऐसे ही वर्गीकरण थे। लेकिन इन मामलों में पारिवारिक परम्परा अथवा व्यक्तिगत झुकाव ही चुनाव का प्रमुख आधार रहता था। अद्विज जातियों में देवता और देवियां (जैसे कि ग्रामदेवता) तथा उत्सव और अनुष्ठान कमोवेश वर्ग-विशेष में विशेषीकृत थे। उपासना में विभिन्न ये विभेद जातियों और उनकी उपजातियों में उपस्थित अन्तर को और भी बढ़ा देते थे। इस प्रकार, जाति और उपजाति के ढांचे में नागरिक और धार्मिक स्तर, जीविका, सामाजिक समागम, विवाह और खानपान के नियम रूढ़ थे। नियम और कानून अंशत: धार्मिक विधि-पुस्तकों से लिए जाते थे तथा अंशत: प्रथा और परम्परा पर आधारित होते थे।

नियमों और जातीय निषेधों को लागू करने के लिए निम्न जातियों में एक स्थायी परिषद् और मुखिया के अधीन एक उपसमिति होती थी। परिवारों के मुखिया अथवा बुजुर्ग और अनुभववाले लोग इसके सदस्य बनते थे। इस परिषद् की एक समिति होती थी, जो इसकी कार्यवाहियों का निदेशन और संचालन करती थी। साधारणत: यह पांच सदस्यों की एक छोटी-सी संस्था होती थी, जिसे 'पंचायत' कहते थे। पंचायत कार्रवाई करने के लिए सदा तैयार रहती थी और बड़ी संस्था की बैठक बात-की-बात में बुलवा सकती थी।

इस समिति का प्रधान मुखिया होता था, जो वंशानुगत अथवा जीवन-भर के लिए चुना हुआ होता था। उसकी उपाधि चौधरी, या प्रधान, या सरपंच होती थी। कभी-कभी वह अपने साथ एक-दो अन्य अधिकारियों—नायब, दीवान, मुख्तार, आदि—को भी रख लेता था। समिति अथवा पंच के दूसरे सदस्य भी या तो वंशानुगत या जीवन-भर के

लिए चुने हुए होते थे। लेकिन अक्सर जब आवश्यकता पड़ती थी, तभी उन्हें चुन लिया जाता था। मुखिया के पद का चिह्न एक पगड़ी होती थी, जो नए चौधरी के सिर पर समारोहपूर्वक बांधी जाती थी।

पंचायत की स्थायी संस्था स्थान-विशेष—गांव, कस्बे अथवा नगर, जिसे जुहार, टाट अथवा चटाई कहते थे—की सगोत्र विवाहवादी उपजाति से सम्बन्ध रखती थी। कभी-कभी दो या अधिक पंचायतें मिल कर उपजातियों के पारस्परिक मामलों पर विचार करती थीं, लेकिन पूरी जाति की कोई समिति अथवा पंचायत नहीं होती थी।

पंचायत का कार्यक्षेत्र सुविस्तृत था। "जिन मामलों पर पंचायत विचार करती है, वे हैं—जाति की सामाजिक प्रथा का भंग किया जाना; नैतिकता-भंग के मामले, जब जातीय नियम तोड़े गए हों; विशेष धार्मिक अपराध; पारिवारिक झगड़े, जैसे कि दाम्पत्य सम्बन्धों की पुनर्स्थापना, विवाह के वचन का भंग अथवा पत्नी की उचित वय हो जाने पर भी उसे पति के यहां न भेजना। कभी-कभी ऐसे मुकदमे भी, जो प्रदेश के कानून के अन्तर्गत आते हैं, चाहे वे दीवानी हों अथवा फौजदारी—जैसे, मार-पीट अथवा ऋण, आदि—वह हाथ में लेती है। व्यापारिक झगड़ों से सम्बन्धित अभियोग तो अक्सर लिए जाते हैं।"[1]

पंचायत के निर्णयों को लागू करने के लिए प्रचलित दण्ड थे—जुर्माना, बिरादरी अथवा ब्राह्मणों के भोज का खर्च, अस्थायी अथवा स्थायी जाति-निष्कासन; कभी-कभी तीर्थाटन, भिक्षाटन अथवा किसी अन्य प्रकार के हेय कर्म का भी दंड दिया जाता था।

उच्च जातियों, विशेषकर ब्राह्मणों और क्षत्रियों, में जातीय प्रशासन का कोई स्थायी यन्त्र नहीं था। प्राचीन समय में राजा वर्णाश्रम-धर्म (जाति और जीवन की अवस्थाओं के कानून) का संरक्षक होता था। मध्य-युगों में हिन्दू राजाओं-द्वारा शासित प्रदेशों में जाति का संरक्षण राज्य का कर्तव्य माना जाता था। इसके बहुत-से दृष्टान्त उपलब्ध हैं—उदाहरणार्थ, मराठा-प्रशासन ने हस्तक्षेप करके जातीय कानून को लागू किया। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि शासन का कार्य-क्षेत्र उच्च जातियों से आगे नहीं बढ़ता था। ऐसे मामलों के संकेत बहुत थोड़े हैं, जब सरकार ने निम्न जातियों-द्वारा नियमों और परम्पराओं को लागू करने अथवा उनके भंग में कोई रुचि दिखाई हो।

तथ्य यह है कि भारत की राजनीति उन दिनों जाति-प्रथा के अधीन काम करती थी। जाति-प्रथा ने समाज को दो वर्गों में बांट दिया था : एक छोटा-सा कुलीनतन्त्र अथवा शासक अल्पसंख्यक वर्ग, जिसमें उच्च जातियां सम्मिलित थीं; और दूसरा, ग्राम जनता अथवा कामगार-वर्ग (टायनबी के शब्दों में 'प्रौलेतेरियत'), जो निम्न जातियों से निर्मित शासितों का अत्यन्त बहुसंख्यक वर्ग था। शक्ति का एकाधिकार और इसी प्रकार ज्ञान का भी एकाधिकार प्रथम वर्ग के ही हाथों में था। ब्राह्मणों को शिक्षित-वर्ग का माना जाता था और शिक्षित व्यक्ति को कानून और न्याय का संरक्षक तथा ऐसे प्रश्नों पर निर्णय देने में समर्थ समझा जाता था, जिनके लिए कानून की धाराओं, कानूनी पद्धति और समुचित दण्डविधान का ज्ञान आवश्यक हो।

---

1 ई० ए० एच० ब्लण्ट, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1911, खंड 15, आगरा और अवध का संयुक्त प्रान्त, भाग 1, रिपोर्ट, पृष्ठ 337

शास्त्री अथवा पण्डित की प्रतिष्ठा ही उसके आदेशों को लागू करने की पर्याप्त गारण्टी थी, क्योंकि जनमत अनिवार्यतः उसका साथ देता था।

न्याय-व्यवस्था (दीवानी लगभग पूरी तरह और फौजदारी अंशतः) ब्राह्मण का विषय था और जहां तक हिन्दू-समाज का सम्बन्ध है, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना तक यही स्थिति कायम रही। एक धर्मतन्त्र की अवस्थिति ने सामान्य जातीय मामलों अथवा व्यक्तिगत अपराधों पर विचार करने के लिए एक प्रतिनिधि अथवा सलाहकार सभा की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। लेकिन धार्मिक मेलों और त्योहारों—जैसे, हरिद्वार, प्रयाग, आदि के महान् स्नान-पर्वों—के अवसर पर जातीय सभाओं के लिए मौका मिलता था। यह भी सम्भावना रहती थी कि बनारस-जैसे प्रसिद्ध धर्म-केन्द्रों के प्रमुख विद्वानों की सम्मति ली जाए।

ब्राह्मणों के कन्धों पर भारी ज़िम्मेदारी थी। वे समाज के आध्यात्मिक और नैतिक हितों के लिए ही उत्तरदायी नहीं थे, बल्कि सामाजिक पद्धति की निरन्तरता और उसकी संगति भी उन्हीं पर निर्भर थी। दुर्भाग्यवश, अपना कर्तव्य ठीक तरह निभाने में वे विफल रहे, यद्यपि दोष व्यक्तियों पर उतना नहीं आता, जितना पद्धति पर आता है।

जाति की सर्वप्रमुख विशिष्टता है, उसकी अनन्यता। हिन्दू सामाजिक पद्धति के सिद्धान्तवादी और पक्षपोषक उसके समर्थन में कुछ भी क्यों न कहें, पर उसने एकता पर उतना ज़ोर नहीं दिया, जितना विच्छेद पर दिया। उसने समाज को वर्गों में तोड़ दिया, जिससे सामाजिक समन्वय में रुकावट पड़ गई। हर अवयव अपनी आणविक अनन्यता को लेकर जीवित रहा। जो सूत्र उन्हें परस्पर एक अटूट सम्पूर्णता में बांध सकते थे वे बहुत थोड़े और कमज़ोर थे।

ब्राह्मण वैदिक धर्म के संरक्षक थे, लेकिन अन्य धर्मों के संरक्षकों के विपरीत, वे स्वयं को ही अपने धर्म का एकमात्र आचरणकर्ता और प्रचारक मानते थे। उसके सिद्धान्तों, नियमों और नीति-शास्त्र के अध्ययन तथा उसके धर्माचारों और अनुष्ठानों के आचरण का दायित्व वे मात्र अपने ही ऊपर मानते थे—अन्य जातियां वैसा करती हैं या नहीं, इसकी चिन्ता उन्हें नहीं थी। उन्होंने धर्म-क्रियाओं और अनुष्ठानों के आचरण और धार्मिक नियमों की शिक्षा का प्रबन्ध-भार जाति पर ही छोड़ दिया। पूजा और संस्कारों को सम्पन्न कराने का पुरोहिती कर्तव्य वही करते थे। ब्राह्मण इतने कट्टरपन्थी थे कि सामाजिक नियमों अथवा उपासना-पद्धति में ज़रा-सा भी हेर-फेर सहन नहीं करते थे। परिस्थितियों एवं जनमत में आया परिवर्तन उनके विश्वासों और आचारों की रूढ़ता पर बहुत कम प्रभाव डाल पाता था। आध्यात्मिक विकास-क्रम के सिद्धान्त का विकास करके और विभिन्न जातियों के लिए अलग-अलग मापदण्ड बना कर वे जनता के दबाव का मुकाबला करते थे। वैदिक अनुष्ठान और यज्ञ ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थे। दूसरी जातियों के लिए पुराणों का ही धर्म काफी था। पहले बौद्ध धर्म और बाद में इस्लाम की चुनौती को सामने पाकर महान् आचार्यों ने प्रेम और भक्ति के दर्शन को विकसित किया। लेकिन उच्च जातियों के लिए भक्ति (प्रेम) रखी गई और निम्न वर्गों के लिए प्रपत्ति (समर्पण)। ब्राह्मण आचार्यों ने व्यक्तिगत देवता राम अथवा कृष्ण की भक्ति पर ज़ोर दिया। अन्य जातियों के सुधारकों और सन्तों ने—उदाहरणार्थ, कबीर, नानक और दादू ने—सिखाया कि मुक्ति एक निर्गुण परमब्रह्म की कृपा चाहने में निहित है। पूर्ववर्ती लोग उपासना और समाज-संगठन के मामलों में रूढ़िवादी थे, और परवर्ती लोग जाति-प्रथा के कठोर आलोचक थे।

इस प्रकार, उच्चतर धर्म और ज्ञान-मार्ग उन उच्च जातियों के एकाधिकार में आ गया था, जिनका काम अध्ययन और अध्यापन था। लेकिन दूसरों को अन्धविश्वास और अज्ञान में ठोकर खाने के लिए छोड़ दिया गया था। नैतिकता और धर्म के मामलों में एक समान मापदंड बनाए रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता था।

इससे भी बुरी बात यह कि हिन्दू-धर्म से अलग होनेवालों की समस्या के सामने ब्राह्मण ने पूरे दिवालियेपन का सबूत दिया। धर्म-परिवर्तन के कारणों की ओर इसने कोई ध्यान नहीं दिया। पतितों और पददलितों के प्रति इसने कोई सहानुभूति प्रकट नहीं की। सच्चे ज्ञान का प्रकाश फैला कर, अथवा जो लोग प्राचीन प्रणालियों को भूल गए थे, उनको शिक्षा देकर, भ्रातृत्व-भाव को मज़बूत करनेवाले किसी आन्दोलन को इसने बढ़ावा नहीं दिया। अपनी इच्छा के विरुद्ध, अपने वश से बाहर की परिस्थितियों से बेबस होकर, अपना धर्म त्यागने पर जो लोग विवश हो गए थे और अब वापस आने को तैयार थे, उन्हें भी इसने पुनः ग्रहण करने से इन्कार कर दिया।

लेकिन क्षत्रियों के बारे में क्या हुआ ? किम्वदन्ती है कि ब्राह्मणों के नेता परशुराम ने इक्कीस बार क्षत्रियों का पूर्ण संहार किया। इस कथा को सिद्ध करने के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु मौर्यों के पतन के बाद, लगता है, प्राचीन क्षत्रिय-परिवार इतिहास में दिनानुदिन कम महत्वपूर्ण हिस्सा लेने लगे। तब, अचानक ही छठी शताब्दी में राजपूतों ने मंच पर प्रवेश किया और थोड़े समय में ही वे पूरे सिन्धु-गंगा के प्रदेश (बंगाल को छोड़ कर) और मध्यवर्ती उच्च भूमि पर छा गए। इस हलचल के बारे में अभी तक कोई सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं दिया जा सका है और यह कहना असम्भव है कि उनका मूल किस हद तक विदेशी और किस हद तक स्वदेशी तत्वों में ढूंढ़ा जाए। जाटों और गूजरों से उनके गहरे सम्बन्ध और उनके साथ उनकी जातीय समानता इस कार्य को ज़रा भी सरल नहीं बना सकी है। . . .

जाति-प्रथा में राजपूत ठीक तरह नहीं बैठ पाते। परम्परागत रूप में वे छत्तीस कुलों अथवा परिवारों में बंटे हैं, जो तीन शाखाओं—सूर्य-वंश, चन्द्र-वंश और अग्नि-कुल—से सम्बन्ध रखते हैं। सारे राजपूतों का एक सगोत्र विवाहवादी वर्ग बनता है। लेकिन अन्य हिन्दू-जातियों के विपरीत, उनके विभाग गोत्रान्तर विवाहवादी हैं और उनमें निम्न स्तर की लड़की से विवाह कर लेने की प्रथा प्रचलित है, जिसके अनुसार लड़की का विवाह उसके माता-पिता की अपेक्षा उच्चतर अथवा समान स्तर के घराने में किया जाना चाहिए। . . .

हिन्दू-कानून के अनुसार क्षत्रिय शासक का यह कर्तव्य है कि वह स्मृतियों के नियमों के अनुसार समाज के संगठन की रक्षा करे। जब भारत पर प्राचीन युग में हिन्दू-सम्राट् और राजा शासन करते थे, तब राजसत्ता का प्रयोग करके जातीय नियमों का पालन कराना सम्भव था। मुसलमानों के द्वारा भारत-विजय के बाद भी स्वतन्त्र हिन्दू-राज्यों और रियासतों को ऐसा करने की क्षमता प्राप्त थी। लेकिन भारत के बड़े भाग पर मुस्लिम-शासन की स्थापना ने जाति-प्रथा को राजनीतिक संरक्षण-कवच से वंचित कर दिया। राजपूत राजा सामन्त अथवा ज़मींदार की स्थिति तक गिर गए और मुसलमान राजाओं को हिन्दू-समाज-पद्धति में कोई रुचि थी नहीं। संरक्षण और निदेशन से रहित होकर, आंधियों और तूफानों के बीच पड़ कर तथा आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रेरणा से प्रेरित होकर यह प्रथा रूढ़ सांचों में ढल जाने पर विवश हो गई।

मुस्लिम-विजय से पूर्व ही समाज की आणविक इकाइयों की निश्चलता और आत्म-निर्भरता लगभग पूरी हो चुकी थी। एकीकरण की शक्तियां कम होते-होते न्यूनतम स्तर तक पहुंच चुकी थीं और प्रादेशिकता, स्थानीयता, भाषावादी पृथकता, जीविका-सम्बन्धी अलगाव, वर्गवाद तथा विच्छेद और बिखराव लानेवाली अन्य सभी शक्तियां प्रभावकारी बन चुकी थीं। अराजकता फैलने, उपजाति को सीमित खुदमुख्तारी मिलने और हज़ारों छोटे-छोटे वर्गों की आत्मनिर्भर इकाइयां बनने के कारण इन इकाइयों को पूरे समाज के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य में बहुत मामूली रुचि रह गई थी। जाति-प्रथा ने इस प्रकार समाज-कल्याण के क्षेत्र को बहुत ही अधिक सीमित कर दिया था और दल तथा स्थान से बाहर के मामलों के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा कर दिया था। विदेशी आक्रमणों से समाज की रक्षा करने और आन्तरिक व्यवस्था को कायम रखने का काम योद्धा जातियों की एक छोटी-सी संख्या तक सीमित हो गया था और एक बड़ी संख्या का इन महत्वपूर्ण मामलों में कोई भाग अथवा भवितव्य नहीं रह गया था।

5. कबीले

जाति-प्रथा में निहित सामाजिक अराजकता को कबीलों के अस्तित्व ने बढ़ावा दिया, लेकिन इन दोनों में भेद करना सरल नहीं है।

जाति एक प्रकार का ऐसा वर्ग है, जिसमें परस्पर-विवाह और साथ खाने-पीने से सम्बन्धित नियमों पर और कुछ हद तक जीविका और समाज-स्तर पर जोर दिया जाता है। दूसरी ओर, कबायली संगठन यद्यपि रक्त-सम्बन्ध और समान पितृ-परम्परा (वास्तविक अथवा काल्पनिक) पर आधारित है, तथापि वह राजनीतिक सक्रियता, झगड़ों, लड़ाइयों, भूमि हथियाने और प्राप्त करने, अपने राज्य और सम्पत्ति की रक्षा करने, आदि से अधिक सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है। कबीला जाति की अपेक्षा प्रदेश से अधिक सम्बद्ध है।

यह कहना बड़ा कठिन है कि आरम्भ में प्रत्येक आर्य-कबीले में चारों वर्ण सम्मिलित थे या नहीं। लेकिन कबीले बाद के युगों में कितनी ही जातियों से मिल कर बनते थे, यह ज्ञात है। उदाहरण के लिए, पंजाब के जाटों में ये उपजातियां हैं: माली, भटियारे, जुलाहे, तेली, चूहड़े, दर्जी, धोबी, तरखान, डोम, राजपूत, कहार, कुम्हार, कलाल, गूजर, लुहार, मल्लाह, मोची, मच्छी और नाई।[1] बम्बई में गूजर कबीले में दर्जी, सोनी, सुनार, चमार, ढेड, कुम्हार और बनिया होते हैं।[2] खानदेश के अहीर अपने उपविभागों में अहीर-ब्राह्मण, अहीर-खास, अहीर-सुनार, अहीर-सुतार, अहीर-लुहार, अहीर-शिम्पी, अहीर-साली, अहीर-गुराव और अहीर-कोली[3] को सम्मिलित करते हैं।

इस प्रकार, कबीले एक अजीब चीज़ हैं। समय-समय पर वे मंच पर प्रकट होते हैं। फिर गायब हो जाते हैं और नए कबीले उनका स्थान ले लेते हैं। वेदों में भरत, पुरु, अनु, यदु, तुर्वस, द्रुह्यु तथा अलिन, पक्थ, भलन, शिव और विषाणीन का ज़िक्र है, पर आज उनका चिह्न भी कठिनाई से ही मिलेगा।

---

1 डी० इबटसन, 'पंजाब कास्ट्स', पृष्ठ 106-7

2 आर० ई० एन्थोवन, 'द ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ग्राफ बाम्बे', खंड 2, पृष्ठ 21

3 वही, खंड 1, पृष्ठ 24

आगे चल कर उनकी संख्या बढ़ गई। बौद्धों की जातक-कथाओं में उत्तर-भारत में सोलह महाजनपदों अथवा कबायली राज्यों का ज़िक्र आया है। लेकिन बाद में उनका पृथक व्यक्तित्व हो गया। पुराणों में अनगिनत विदेशी और भारतीय कबीलों का उल्लेख है। कुछ नाम अभी तक चल रहे हैं, पर अधिकतर लुप्त हो गए हैं। कई को तो जाति-प्रथा में मिला लिया गया है। वास्तव में, कबीलों को जातियों में रूपान्तरित करने की एक निश्चित प्रवृत्ति रही है, क्योंकि जब भी राजनीतिक अवस्थाएं स्थिर हुई और कबायली महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के अवसर कम हुए, कबीलों को जातीय कामों और ज़िम्मेदारियों से लाद दिया गया। इस क्रम में यह कहना सरल नहीं रहता कि किसी वर्ग-विशेष को जाति माना जाए अथवा कबीला।

कबीलों में भी स्तर-भेद हैं। कुछ को उच्च स्तर प्राप्त हैं—जैसे राजपूतों और मराठों को। जाट, गूजर और कितने ही दूसरों का स्थान इनके बाद है। लेकिन इनके बाद भी बहुत-सारे ऐसे लोग हैं, जिन्हें कठिनाई से ही हिन्दुओं की बाह्य जातियों से पृथक् किया जा सकता है। कुछ कबीले संख्या में इतने अधिक हैं और भौगोलिक दृष्टि से इतने बिखरे हुए हैं कि समान नामों के होते हुए भी उनके विभाग, कुल और घराने, एक-दूसरे से अलग हो गए हैं।

कबीलों और कुलों ने भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। ये विभिन्न प्रदेशों में बस गए और इन्होंने अपनी पृथक् रियासतें संघटित कर लीं। इनमें से कुछ राज्य बन गए और कभी-कभी तो साम्राज्य तक में परिवर्तित हो गए। लेकिन ये राजनीतिक संघटन बड़े और छोटे सरदारों के ढीले-ढाले समुच्चय-मात्र थे और आन्तरिक विघटन से निरन्तर आतंकित रहते थे। प्रभुत्व-सम्पन्न वर्ग एवं अधीनस्थ वर्ग के बीच सामुदायिक जीवन की भावना बहुत ही कम थी। प्रत्येक अपने निजी हितों के प्रति सतर्क रहता था और अपने पृथकतावाद को समाज-हित में लीन कर देने का कोई प्रयत्न नहीं करता था।

अठारहवीं शताब्दी में जयपुर के कछवाहे, जोधपुर के राठौर और उदयपुर के सीसोदिया, ये तीन प्रधान राजपूत-वंश इस बात के विशेष उदाहरण हैं। इनके आपसी ईर्ष्या-द्वेष और अत्यन्त अदूरदर्शितापूर्ण विरोध इतने उग्र थे कि राजस्थान में शान्ति और सम्मानपूर्ण अवस्था पैदा करने के लिए एक हो जाने के स्थान पर इन्होंने मुगलों के अधीन रहना और मराठों को कर देना अधिक अच्छा समझा। यद्यपि इन्हें हिन्दू-भारत के दुर्द्धर्ष योद्धा माना जाता था, तथापि राजपूतों ने अपने स्वामी दिल्ली के सम्राट् को प्रसन्न करने के लिए जाटों और मराठों को कुचलने में एक-दूसरे से बढ़-चढ़ कर हाथ दिखाए।

जाटों ने औरंगज़ेब के समय में दुआब के उत्तरी भाग में ज़ोर पकड़ा। उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने साम्राज्य की बढ़ती हुई कमज़ोरी का लाभ उठाया और भरतपुर को केन्द्र बना कर अपना राज्य स्थापित कर लिया। औरंगज़ेब उनके खतरे के प्रति सचेत था और उसने उनके विद्रोह को दबाने के लिए राजा विशुन सिंह कछवाहा को नियुक्त किया था। फर्रुखसियर के राजत्वकाल में जयसिंह सवाई ने चूड़ामन के विरुद्ध युद्ध किया था और वह जाटों को थोड़ी-बहुत अधीनता में ले आया था। जब अहमद शाह अब्दाली भारत को जीतने के लिए आया, तब मराठों ने अफगानों की बाढ़ को रोकने के लिए एक सेना भेजी। जब तक मराठा-सेना जाट-राज्य के पड़ोस में रही, तब तक भरतपुर के जाट राजा सूरजमल ने उनके साथ मित्रता दिखाई, पर जैसे ही सेना ने यमुना पार की,

उसने पक्ष-परिवर्तन कर लिया। अहमद शाह अब्दाली के साथ उसने सन्धि कर ली और घमंडी मराठों का विरोध किया। दुआब के जाटों की विपत्तियों और विजयों में पंजाब में घने बसे उनके जातीय भाइयों ने तनिक भी रुचि नहीं दिखाई।

जैसे अवसर मराठों को प्राप्त हुए, वैसे किसी भी अन्य वर्ग को नहीं हुए। वे एक ठोस जाति थे। भूगोल उनके पक्ष में था और बहमनी अथवा मुगल-शासकों की पहुंच से उनकी रक्षा करता था। उनकी एक भाषा थी और सजातीय आबादी थी। राजपूताने के राजपूत वर्तमान आबादी के केवल छः प्रतिशत हैं और दुआब के जाट वहां की कुल जनसंख्या के साढ़े-आठ प्रतिशत हैं। उनके विपरीत, मराठों की वर्तमान संख्या महाराष्ट्र की जनता की एक-तिहाई है और वे पूरे प्रान्त में दूर-दूर तक बिखरे हुए हैं। इस बात की पूरी सम्भावना है कि अतीत में भी उनकी आबादी का अनुपात यही था। उनके धार्मिक सुधारकों ने उनमें नैतिक उत्साह भरा था और शिवाजी की श्रेष्ठतम सैनिक और राजनीतिक प्रतिभा ने उन्हें एक राज्य के रूप में संगठित कर दिया था। लेकिन ये लाभ व्यर्थ हो गए, क्योंकि मराठों के लक्ष्य बहुत संकुचित रहे। स्वराज की उनकी परिभाषा में एक संगठित पूर्ण भारत की कल्पना नहीं थी, क्योंकि उनके स्वराज की सीमाओं से बाहर जो भी था, उसे वे विदेशी प्रदेश मानते थे और अपने मुल्कगीरी-अभियानों के लिए उचित लक्ष्य समझते थे। इस प्रकार, सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने के लिए जब वे मुगल-साम्राज्य से टक्कर ले रहे थे, तब उन्होंने उत्तर की हिन्दू जातियों, जाटों, राजपूतों, बुन्देलों, बंगालियों, उड़ियों, आदि को भी अपना विरोधी बना लिया।

जाति और कबीले ने वर्ग और वर्ग के बीच तथा पूरे सामाजिक ढांचे में दुर्लंघ्य दीवारें खड़ी कर दी थीं। ये सहयोग का विरोध करती और एकता को रोकती थीं।

मध्य-युगीन इंग्लैण्ड में भी चार वर्णों की प्रथा थी: सामन्त, पुरोहित, स्वतन्त्र असामी और कामगार। लेकिन वे अलंघ्य खाइयों-द्वारा एक-दूसरे से पृथक् नहीं कर दिए गए थे। सामन्त और उच्चतर पुरोहित तो एक ही वर्ग के थे। एक ही परिवार के सदस्य सामन्त और पुरोहित, दोनों होते थे। स्वतन्त्र असामी सम्पत्ति मिलने पर कुलीनता तक उठ सकते थे और विरोधी परिस्थितियों में कामगार की स्थिति तक गिर सकते थे। फ्रांस में यह वर्गीकरण कम लचीला था, पर भारत की जाति-प्रथा-जैसा बिल्कुल नहीं था।

इंग्लैण्ड में भी, प्राचीन ब्रिटनों के अतिरिक्त, कितने ही कबीले—ऐंगल, सैक्सन जूट, डेन और नार्मन—आकर बस गए थे। लेकिन सन् 1066 में नार्मन विजय के शीघ्र बाद ही एक जाति बन कर परस्पर घुल-मिल गए और दो शताब्दी के बाद उनके पृथक् अस्तित्व का कोई चिह्न बाकी न बचा। फ्रांस, इटली, स्पेन, जर्मनी और अन्य यूरोपीय देशों में भी कबीले इसी प्रकार घुल-मिल कर एक हो गए थे।

लेकिन भारत में यह हुआ कि जिन खोलों में छोटे-छोटे वर्ग बन्द किए गए थे, वे अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक और उसके बाद भी ज्यों-के-त्यों सुरक्षित रहे। इनकी इस रूढ़ता के कितने ही कारण थे। इनमें प्रधान है—भारतीय अर्थ-व्यवस्था की जड़ता। पूर्व-पूंजीवाद-युग की निर्वाह-योग्य कृषि, अयन्त्रीकृत घरेलू उद्योग, ग्राम की आत्म-निर्भरता और मामूली व्यापारिक सक्रियता—ये इस अर्थ-व्यवस्था के प्रधान लक्षण थे। जब तक ये रहे, समाज में परिवर्तन लाने की चेतना कमजोर बनी रही और जब

तक प्राचीन सामाजिक-आर्थिक ढांचा बना रहा, सामाजिक एकता की ओर प्रगति न हो सकी।

जाति और कबीले सिर्फ हिन्दू-समाज के ही विभाजक तत्व नहीं हैं। भारतीय मुसलमानों पर भी वे लगभग समान रूप से लागू होते हैं। यद्यपि रिस्ले के अनुसार, "इस्लाम एक ज्वालामुखी की तरह की शक्ति है, जलाने और एकरूप करनेवाली एक ताकत है, जो अनुकूल परिस्थितियों में एक राष्ट्र का निर्माण भी कर सकती है। कबीलों की एक पूरी शृंखला को पिघला कर वह एकरस कर देती है और उनके आन्तरिक ढांचे को एक-सा रूप दे देती है, जिससे पहले की प्रथाओं का अस्तित्व भी उनमें नहीं ढूंढ़ा जा सकता।"[1] फिर भी, यह एक सचाई है कि किताबों का इस्लाम व्यवहार के इस्लाम से बहुत भिन्न था। पैगम्बर की शिक्षाओं और मध्य-युगीन भारत के मुसलमानों की प्रथाओं और संस्थाओं के बीच हिन्दू-धर्मशास्त्रों और व्यवहारबद्ध जाति-प्रथा की अपेक्षा कम चौड़ी खाई वर्तमान नहीं थी। इबटसन ने कहा है कि "लोग (मुसलमान) सामाजिक और कबायली प्रथाओं से किन्हीं भी धार्मिक नियमों की अपेक्षा कहीं अधिक बंधे हैं।"

पंजाब में मुसलमान बहुसंख्या में थे। वे अधिकतर धर्म-परिवर्तन करके हिन्दू से मुसलमान बने थे। लेकिन इबटसन के अनुसार, "हिन्दू-धर्म त्याग कर इस्लाम ग्रहण कर लेने से आवश्यक नहीं कि उस पर (जातीय प्रथा पर) न्यूनतम भी प्रभाव पड़ा हो।"[2] वह आगे लिखता है: "मुसलमान राजपूत, गूजर अथवा जाट, सामाजिक, कबायली, राजनीतिक और प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए ठीक उतना ही राजपूत, गूजर या जाट है, जितना कि उसका हिन्दू भाई। उसके सामाजिक रिवाज अपरिवर्तित हैं। उसके कबायली बन्धन ढीले नहीं पड़े हैं तथा विवाह और उत्तराधिकार के नियम ज्यों-के-त्यों हैं।"

आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त की जनगणना-रिपोर्ट में ब्लण्ट लिखता है कि सैयदों, शेखों, मुगलों और पठानों को छोड़ कर "शेष सिद्धान्ततः हिन्दुओं से धर्म-परिवर्तित हैं और विवाह तथा पंचायतों से सम्बन्धित प्रथाओं को उन्होंने कमोबेश सुरक्षित रखा है। ये प्रथाएं उन जातियों की अंगभूत हैं, जिनसे वे पहले सम्बन्ध रखते थे। सारे-के-सारे मुसलमान राजपूत कठोरतापूर्वक सगोत्र विवाहवादी हैं और कभी-कभी निम्न स्तर की लड़की से विवाह कर लेने की राजपूत-प्रथा को भी उन्होंने बनाए रखा है। पेशेवर वर्गों की पंचायतें हैं और वे उतनी ही शक्तिशाली हैं, जितनी कि उनके हिन्दू भाइयों की पंचायतें। बंजारों, कुम्हारों, जुलाहों, बेहनों, कुजगारों अथवा कासगारों (मुसलमान कुम्हारों), मुकेरियों, तवायफ़ों, शेखों, मेहतरों (भंगियों), हलवाइयों, कुंजड़ों, मनिहारों, चूड़ीहारों, नानबाइयों, कलंदरों, घोबरों, कनमैलियों और दूसरों के बीच ठीक यही होता है।[3]

पी० सी० टैलेण्ट्स ने बिहार और उड़ीसा की मुस्लिम जातियों की एक सूची

---

1 एच० रिस्ले, 'द पीपुल आफ इण्डिया', 1908 का संस्करण, पृष्ठ 208

2 डी० इबसटन, 'पंजाब कास्ट्स', पृष्ठ 13

3 ई० ए० एच० ब्लण्ट, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1911, खंड 15, आगरा-अवध के संयुक्त प्रान्त, भाग 1, रिपोर्ट, पृष्ठ 358

प्रस्तुत की है।[1] इसमें धुनिया, जुलाहा, कुंजड़ा, पठान, सैयद और शेख नाम भी सम्मिलित हैं। एन्थोवेन ने गुजरात के बारे में कहा है कि मोमना कुनबियों और मोलेसलामों ने धर्म के रूप में इस्लाम को अपनाया था और सामाजिक ढांचे के रूप में हिन्दुत्व को।[2] सिन्ध के बारे में वह कहता है : "सैद्धान्तिक रूप में मुसलमान होने के नाते सब उपजातियां बराबर हैं और उनमें विवाह-सम्बन्ध खुले रूप में हो सकते हैं, लेकिन व्यवहार में विभिन्न वर्गों की सामाजिक स्थिति को बहुत महत्व दिया जाता है और विवाह-सम्बन्ध कबीले की सीमाओं अथवा समान सामाजिक स्तर के कबीलों के सदस्यों तक सीमित रहता है।[3]

रिचर्ड बर्न ने हिन्दू-जातिप्रथा की सभी विशेषताएं मुसलमानों में पाई हैं—जैसे, सगोत्र विवाह-प्रथा, पेशे का विशेषीकरण, पूर्वता के नियम और सामाजिक प्रतिबन्ध। जे० एच० हटन ने भारत-सरकार के इस निर्णय पर खेद प्रकट किया है कि जाति का नाम तभी लिखा जाए, जब वह स्वेच्छया बताई जाए। उसने संकेत किया है कि कुछ मुसलमान-वर्गों (जातियों) में जातिप्रथा से ग्रहण की गई कार्यात्मक और सामाजिक विशेषताएं स्पष्टतः दीखती हैं, इसीलिए उनका उल्लेख जाति नाम देकर किया गया है। वह आगे लिखता है : "हिन्दू-जातियों के आधार पर बने मुसलमान-वर्गों में अन्तर्वर्गीय विवाहों पर रोक लगना बहुत स्वाभाविक है।"[4]

सन् 1931 से पहले की सभी जनगणना-रिपोर्टें मुसलमान जातियों की लम्बी सूचियां प्रस्तुत करती हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अठारहवीं शताब्दी के मुसलमान भारतीय हिन्दू-समाज-पद्धति का ही अनुसरण करते थे। लेकिन एक मूलभूत अन्तर विद्यमान था। पवित्र नीतिशास्त्र से व्यवहार में कितनी ही दूरी क्यों न पड़ गई हो, किन्तु जाति-प्रथा को तात्विक दृष्टि से शास्त्र का अनुमोदन प्राप्त था। पवित्र आज्ञाओं और वास्तविक व्यवहार के बीच कोई मूलभूत अन्तर नहीं था।

दूसरी ओर, मुसलमानों में जातियों की उपस्थिति इस्लामी सिद्धान्तों के स्पष्टतः विरुद्ध थी। धार्मिक दृष्टिकोण से जाति इस्लाम-विरोधी है और जब किसी सच्चे मुसलमान की अन्तरात्मा जागती, वह उन बन्धनों को अनिवार्यतः तोड़ डालता। लेकिन अठारहवीं शताब्दी में ऐसी जाग्रति की बात सोची भी नहीं जा सकती थी।

मुस्लिम कबीलावाद ने हिन्दुओं से कहीं अधिक उन्हें ही क्षति पहुंचाई। पठान और बलूच कबीले, उनके अनगिनत वंश और परिवार पश्चिमी इलाके में सिन्धु के दोनों ओर इकट्ठे बस गए थे। हिन्दू कबीलों ने धर्म-परिवर्तन के बाद भी अपने संघटन और अनन्यता को कायम रखा था। मुसलमान राजपूत, जाट और गूजर ऐसे ही लोग थे। सैयद अरबों के वंशज होने का दावा करते हैं और मुगल मध्य-एशियायी कबीलों के। लोदी-वंश के शासन-काल में पन्द्रहवीं शताब्दी में कितने ही अफगान भारत में आकर बस

---

1 पी० सी० टेलेण्ट्स, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1921, खण्ड 7, बिहार और उड़ीसा, रिपोर्ट, पृष्ठ 247-48

2 आर० ई० एन्थोवन, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1901, खंड 9, बम्बई, भाग 1, रिपोर्ट, पृष्ठ 177

3 वही, पृष्ठ 204

4 जे० एच० हटन, 'सेन्सस आफ इण्डिया', 1931, रिपोर्ट, पृष्ठ 430

गए थे। इनमें सूर, जो मुगलों को बाहर निकाल देने में लगभग सफल हो गए थे और रुहेले, जिन्होंने अठारहवीं सदी में बहुत महत्व प्राप्त कर लिया था, उल्लेखनीय हैं। एक प्राचीन और दुर्द्धर्ष कबीला मेवों का था, जो दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम में बसे थे।

मुसलमानों में सैयदों को विशेष सम्मान और महत्व दिया जाता था। किसी सैयद को चोट पहुंचाना, यहां तक कि उसे गाली देना भी, पाप था। औरंगजेब के अनुसार, "उच्च कोटि के सैयदों के प्रति सच्चा प्रेम हमारे धर्म का एक अंग है। इससे भी बढ़ कर वह अध्यात्म-ज्ञान का सार-तत्व है। इस कबीले के प्रति शत्रुता नरक की अग्नि में प्रवेश पाने और खुदा के क्रोध को जगाने का कारण है।"[1]

मुगल और पठान लड़ाकू-वर्ग थे। मुगल शासकों के विश्वासपात्र थे। उन्हें सैनिक और नागरिक ज़िम्मेदारियां सौंपी जाती थीं। पर पठानों की साम्राज्यभक्ति में सन्देह किया जाता था। वे अक्सर बिगड़ उठते थे और सत्ता का विरोध कर बैठते थे।

अच्छे वर्ग के हिन्दू धर्म-परिवर्तन के बाद नौ-मुसलमान कहलाते थे और उन्हें शेख का दर्जा दिया जाता था। वे अपने मूल वर्ग, जाति, नाम, पेशे और रिवाजों से चिपके रहते थे। भारत में पैदा हुए मुसलमानों को, चाहे वे नौ-मुसलमान हों अथवा बहुत पहले स्थानान्तरित लोगों के वंशज हों, विशेष सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था। सम्राट् अपनी कृपाएं और उपाधियां विदेशियों को प्रदान करते थे, जो अपने को श्रेष्ठतर समझते थे। रो और फ्रायर ने बड़प्पन की इस भावना को अनुभव किया था और लिखा था कि वे (मुगल) "अपने को श्वेत कहलाने में गर्व मानते थे और काले भारतीयों पर नाक-भौं सिकोड़ते थे।"[2]

मुसलमान भी हिन्दुओं की ही तरह दो वर्गों को मान्यता देते थे। जो उच्च वर्ग के थे और राज्य की कारवाइयों में भाग लेने के आकांक्षी थे, वे शरीफ (श्रेष्ठ) कहलाते थे। दूसरे लोग, जो अधिकतर निम्न हिन्दू-जातियों से मुसलमान बने थे, रधील (नीच) कहलाते थे।

इस प्रकार, मुसलमान भी प्रादेशिक, कबायली, वंशीय, वर्गीय और जातीय विभेदों में उलझे हुए थे। तूरानी ईरानियों के विरोधी थे। अफगान उन मुगलों के शत्रु थे, जिन्होंने उनसे दिल्ली का साम्राज्य छीन लिया था। हिन्दुस्तानी मुसलमान विलायतियों (ईरान, ट्रांस-आक्सियाना के देशों से आए हुए लोगों) के घमंड और आत्मश्लाघा से चिढ़ते थे। शिया पहले तीन खलीफाओं की भर्त्सना करते थे, पर सुन्नी उन्हें मुसलमानों के न्यायनिष्ठ नेता (खुल्फ-ए-रशीदीं) मानते थे। सुन्नी शियाओं को नास्तिक (रफीज़ी) समझते थे।

मुसलमानों में अनगिनत पेशेवर जातियां भी थीं—उदाहरणस्वरूप, जुलाहे, कसाब, भिश्ती, भंगी (लालबेगी), आदि।

समाज में वैसी ही विघटनात्मक प्रवृत्तियां और राजनीतिक मामलों में वैसे ही उच्च-कुलतन्त्रीय एकाधिकारवादी स्वार्थ मुसलमानों में भी वर्तमान थे, जैसे कि हिन्दुओं में थे।

जाति और कबीले भारत में सामाजिक जीवन का आधार प्रस्तुत करते हैं। इन

---

1 'अहकामे-आलमगीरी', संख्या 32, मूल पाठ, पृष्ठ 36, अनूदित ग्रन्थ, पृष्ठ 88

2 सर टामस रो तथा डा० जान फ्रायर, 'ट्रैवेल्स इन इण्डिया इन द सेवेण्टीन्थ सेन्चुरी' (लन्दन, 1873), पृष्ठ 447

दोनों में ही रक्त-सम्बन्ध का सिद्धान्त निहित है। लेकिन रक्त-सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य तत्व भी हैं, जो मानवीय वर्ग-जीवन का आधार बनते हैं। इनमें प्रदेश महत्वपूर्ण है। यह स्थान की सन्निकटता अथवा पड़ोसीपन का सिद्धान्त है। भूमि मानव की कुछ मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करती है और इसके उपयोग के बीच कुछ सम्बन्ध पनप उठते हैं, जो वर्ग-जीवन के तत्व बन जाते हैं।

जाति और कबीले अनिवार्यतः अप्रादेशिक हैं। लेकिन भारत में उनकी बहुसंख्या, निकट-स्वायत्तता और आन्तरिक ठोसपन ऐसे तत्व हैं, जो उन्हें विशाल इकाइयों में संगठित होने से रोकते हैं। इसलिए एक संघटित हिन्दू-समाज की चेतना कभी विकसित नहीं हुई। एक ही प्रदेश में रहनेवाले और एक ही भाषा बोलनेवाले लोगों में भी प्रादेशिक समाज की चेतना पैदा न हो पाई। बंगाली, पंजाबी, आन्ध्र, तमिल अथवा गुजराती राष्ट्रीयता कभी नहीं पनपी। मराठों की बाढ़ इसका एक अपवाद लग सकती है, लेकिन वास्तव में यह वैसी थी नहीं, क्योंकि क्रान्तिकारी सामाजिक शक्तियों-द्वारा जो थोड़ी-बहुत एकता पैदा की गई थी, उसे समाप्त करके ब्राह्मण पेशवाओं के शासन-काल में परम्परानिष्ठता ने फिर से पैर जमा लिए थे।

राष्ट्रवाद के निषेधात्मक और सकारात्मक, दोनों पक्ष हैं। कुछ समान विशेषता-वाले लोगों को वह अपने में शामिल करता है, पर अन्य सबको निकाल फेंकता है। शिवाजी-द्वारा रचे गए राजनीतिक ढांचे में, जिसे उनके उत्तराधिकारियों ने भी ग्रहण किया, राष्ट्रीय और नैतिक सूत्रों में बंधे, अपनी मराठा इकाई, उसके कल्याण और उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए समर्पित एक अनन्य मराठा-जाति का विचार कभी भी प्रमुख नहीं बन सका।

जाति-प्रथा ने अधिक विस्तृत सामाजिक वर्गों अथवा पेशों अथवा दलों के सही भाईचारे को कभी नहीं पनपने दिया। ब्राह्मणों, क्षत्रियों अथवा अन्य जातियों ने अखिल भारतीय अथवा प्रादेशिक आधार पर कभी भी सहयोग नहीं किया और न ही कृषि व्यापार अथवा उद्योग-सम्बन्धी प्रयासों ने समान पेशों के संघों को जन्म दिया। विभिन्न स्थानों के वैष्णवों, शैवों अथवा शाक्तों ने अन्य स्थानों में रहनेवाले समान वर्गों के अस्तित्व के प्रति बहुत ही कम उत्कण्ठा दिखाई। नानक, कबीर, चैतन्य, रामदास और दूसरों-द्वारा चलाए गए आन्दोलन भी दृष्टिकोण में समुदायवादी होने के बावजूद पृथकतावादी ही रहे।

कबीलों ने भी मिल कर काम करने के प्रति बहुत थोड़ी रुचि प्रदर्शित की। सिन्ध, पंजाब, राजस्थान और उत्तरप्रदेश—इन सब जगहों के जाट अपनी अलग-अलग खिचड़ी पकाते रहे। ऐसा ही पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मध्य-भारत के राजपूतों ने किया। कम उन्नत कबीलों में कोई लगाव नहीं था। अफगान, पठान, बलूच और अन्य एक ही धर्म के अनुयायी थे, फिर भी उनका कोई समान राजनीतिक लक्ष्य अथवा संगठन नहीं था।

इस प्रकार, न तो सब हिन्दुओं ने और न ही सब मुसलमानों ने मिल कर एक अकेले समाज का निर्माण किया। उस समय की अवस्थाओं में उनके लिए यह सम्भव ही नहीं था कि वे धार्मिक मतभेदों से ऊपर उठ कर एक प्रादेशिक समुदाय के रूप में संगठित होते। इन बहुगर्भित अवस्थाओं में निवार्य संघटनात्मक एकता के तत्व बहुत ही कम थे और ये लगातार विविधताओं की ओट संकेत करते रहे।

6. ग्राम

जाति एक सामाजिक-धार्मिक संस्था थी, लेकिन बहुत-सारी आर्थिक मंशाएं भी उसमें निहित थीं। यदि सामाजिक-धार्मिक दृष्टि से समाज छिन्न रूप से जुड़ी जातियों का एक समूह था, तो राजनीतिक-आर्थिक पक्ष में वह उन गांवों का एक पुंज था, जो उसकी आर्थिक और प्रादेशिक इकाइयां थे। जो स्थिति आरम्भिक मध्य-युगीन यूरोप में अंग्रेजी मेनर अथवा फ्रांसीसी सिग्नियूरी की थी, वही अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में ग्राम की रही। लेकिन भारतीय ग्राम अपने उद्‌भव, कार्य और संघटन में अपने यूरोपीय प्रतिरूप से भिन्न था। यूरोपीय मेनर एक सार्वदेशिक युद्ध और हिंसा की चुनौती का सामना करने के लिए अस्तित्व में आया था। गांव एक जीवन-पद्धति, वर्णाश्रम-धर्म, को लागू करने के प्रयास में निर्मित हुआ था। पर वास्तविकता मूल धारणा से बहुत दूर पड़ गई, यह कहना अन्तर्निहित कल्पना को नजरअन्दाज करने के लिए उपयुक्त तर्क नहीं है। इस तथ्य से भी इसका खण्डन नहीं होता कि अठारहवीं शताब्दी की अराजक परिस्थितियों में गांवों ने दीवारों, बुर्जियों और मीनारों से घिरे किलाबन्द गढ़ों का रूप धारण कर लिया था। यूरोप का गांव एक द्वैतात्मक संगठन था। वह मालिक और गुलाम, लार्ड और कामगार की एक सम्बद्धता था। आर्थिक आधार और सैनिक ढांचा, दोनों ही उसके युद्धपरक उद्देश्य की घोषणा करते थे।

जहां तक भारतीय ग्राम का सम्बन्ध है, धरती और मालिक से बंधे कामगार अथवा गुलाम का वहां कोई स्थान नहीं था। न ही भारतीय ग्राम लड़ाइयों में कोई सीधा भाग लेते थे। युद्ध छोटे-बड़े राजाओं और उस जाति का काम था, जिसका धन्धा ही लड़ना था। "ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से पहले युद्ध के निरन्तर कशाघातों से जितना भारत पीड़ित रहा, उतना यद्यपि अन्य कोई देश नहीं रहा, तथापि भारत के लोग कभी भी सैनिक जाति नहीं बने।"[1] ये विचार हेनरी मैन ने प्रकट किए हैं। भारतीय गांव की प्रधान चिन्ता थी—धरतीमाता को पोसना, जिससे वह मानव-जाति के पोषण के लिए पर्याप्त अन्न दे सके। इस पवित्र कार्य में सभी जातियों को सहयोग देना चाहिए। ब्राह्मण को अपनी पूजा, भविष्यवाणी और धार्मिक अनुष्ठानों तथा उत्सवों के संचालन-द्वारा; क्षत्रिय को सुरक्षा और संरक्षण-द्वारा; किसान को अपने श्रम-द्वारा; और कारीगर को अपनी सेवा-द्वारा। धरती की उपज में से प्रत्येक को उसका पारिश्रमिक मिलना चाहिए। प्रत्येक को इस सामान्य उद्देश्य के प्रति अपना कार्य अर्पित करना चाहिए और फसल में से अपने अंशदान के मूल्य के अनुसार हिस्सा लेना चाहिए।

जो मुसलमान गांवों में बस गए थे, वे भी उसी रंग में रंग गए। हिन्दू-संघटन की प्रतिभा उनके मन पर हावी थी। धर्म, उपासना, उपवास और त्योहारों में तो मुसलमान भिन्न थे, पर उन्हें मनाने के तरीकों में हिन्दुओं की बहुत-सी विशेषताएं उन्होंने ग्रहण कर ली थीं। गांव के सामान्य मेलों और उत्सवों में दोनों ही मिल कर भाग लेते थे। एक अथवा दूसरे सम्प्रदाय के लिए जो त्योहार पराए थे, उनमें भी दोनों हिस्सा लेते थे।

उस समय की अवस्थाओं में ग्राम-पद्धति एक ऐसी आन्तरिक संयोजना प्राप्त कर चुकी थी, जो उसे स्थिरता और सुरक्षा प्रदान करती थी और जो प्रत्येक को उसकी

1 हेनरी मैन, 'विलेज कम्युनिटीज इन द ईस्ट एण्ड वेस्ट' (लन्दन, 1887), पृष्ठ 124

स्थिति के अनुकूल कर्तव्यों में नियुक्त करती थी। लेकिन इसके साथ ही वह सामाजिक अवस्थाओं को पूरी तरह जड़ीभूत भी करती थी। समाज का स्तरीकरण शाश्वत बना दिया गया था। व्यक्ति जन्म से अपने वर्ग के समाज-स्तर से बंधा था और अपनी अवस्था में परिवर्तन लाने का उसे कोई अवसर प्राप्त नहीं था। गांव दृढ़ विभागों में बंटा था। एक छोटी-सी अल्पसंख्या को ही वह जीवन की सुविधाएं, प्रतिष्ठा और आराम प्रदान करता था और विशाल बहुसंख्या कठोर श्रम, क्रूर शोषण और अनैतिक अपमान का दण्ड भुगतती थी।

7. गांव और कस्बा

गांव आर्थिक यन्त्र की धुरी था। कृषि, उद्योग और व्यापार, सब उसी के चारों ओर घूमते थे। इस दृष्टि से भारत उस मध्य-युगीन यूरोप से भिन्न था, जहां का आर्थिक जीवन दो खण्डों में विभाजित था, अर्थात् कृषि गांव का काम था और व्यापार एवं उद्योग कस्बे का। भारत में नगर थे तो, पर वे मात्र परोपजीवी थे। कुछ राजनीतिक सत्ता के गढ़ थे; कुछ धर्म के केन्द्र थे; कुछ नदियां अथवा सड़कों के संगम पर स्थित थे; लेकिन उनमें से बहुत कम ऐसे थे, जिनकी सम्पन्नता का अथवा आबादी का कारण कोई स्वतन्त्र उद्योग अथवा वाणिज्य था। बर्नियर ने शासक की उपेक्षा के फलस्वरूप नगरों को उजड़ते देखा था। उदाहरण के लिए, लाहौर उजाड़ हालत में था, क्योंकि वहां का शासक दिल्ली अथवा आगरा में रहता था। उसने देखा कि दिल्ली अथवा आगरा की अधिकांश आबादी सेना की उपस्थिति पर निर्भर करती थी।[1] वास्तव में, दिल्ली के निवासी शाही सेना के अंग थे। उनके मामूली उद्योगों का अधिकतर भाग प्रभुत्वसम्पन्न और अल्पसंख्यक राजनीतिक सामन्तों, सम्पन्न कुलीनों तथा उनके सेवकों की जरूरतों को पूरा करने में व्यस्त रहता था। नगर कारीगर-परिवारों की अथवा बाजार में मोल-भाव करनेवाले व्यापारियों की जोशीली भीड़ और उनकी हलचलों से व्यस्त नहीं रहते थे। वहां नागरिक सभाएं नहीं थीं, जो उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करनेवाले लार्ड अथवा बिशप को चुनौती दे सकतीं। अठारहवीं शताब्दी के भारतीय गांव और उसी शताब्दी के अंग्रेजी गांव में कोई तुलना नहीं थी, क्योंकि इंग्लैण्ड में कस्बों के बाहर की आबादी का एक बड़ा भाग खेती से नहीं, बल्कि पूर्णतः अथवा अंशतः औद्योगिक कामों से अपनी जीविका चलाता था।"[2]

भारतीय गांव में कृषि प्रमुख थी और जो जातियां मूल रूप में दूसरे धन्धे करती थीं, वे भी गौण कर्म के रूप में कृषि को अपनाती थीं।

8. गांव : सामाजिक जीवन का केन्द्र

भारतीय गांव समाज की सक्रियता का केन्द्रबिन्दु था। वह ग्रामीण को घर प्रदान करता था, जहां वह रहता, विवाह करता और बच्चे पैदा करता था। वह उसके देवताओं, ग्राम-देवताओं और कुल-देवताओं तथा उनके मन्दिरों का स्थान था। वह उसकी जीविका

---

1 एफ० बर्नियर, 'ट्रैवेल्स इन द मुगल एम्पायर' (कान्सटेबल ऐण्ड स्मिथ, 1934 का संस्करण), पृष्ठ 384, 282

2 फोल एण्ड पोस्टगेट, 'द कामन पीपुल', पृष्ठ 123-24

सम्बन्धी हलचलों का रंगमंच था। वह उसे भूमि प्रदान करता था, जिस पर वह खाने-कपड़े और घर की अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए फसल उगाता था। वह उसके सांस्कृतिक और साम्प्रदायिक जीवन का भी केन्द्र था।

गांव में घर मूल रूप में तो आश्रय के लिए ही बनाए जाते थे, लेकिन प्रदेश-प्रदेश में बहुत अधिक भिन्नता रखनेवाली जलवायुगत अवस्थाएं उसकी संरचना का स्वरूप निर्धारित करती थीं। प्रमुख अन्तर छत डालने में था : छप्पर अथवा खपरैल पड़ी ढालू छतें अथवा लकड़ी की कड़ियों पर सधी चपटी छतें। गारे की दीवारें और कुटा हुआ कच्चा फर्श सर्वसामान्य था। लेकिन धनी ज़मींदारों, उच्च वर्ग के सदस्यों, किसानों, कारीगरों और अशुद्ध धन्धा करनेवाली जातियों, आदि के समाज-स्तर के अनुसार घर कितने ही प्रकार के होते थे। ज़मींदार के घर के सिवाय दूसरे घर पतली घुमावदार गलियों के दोनों ओर घिच-पिच करके इकट्ठे बने होते थे। मनुष्य और पशु एकदम पास-पास रहते थे और स्वास्थ्यजनक अवस्थाओं की पूरी उपेक्षा की जाती थी।

एक गांव की आबादी में सामान्यतः कामगार अथवा श्रमिक जातियां, उच्च जातियां और अधिकारी होते थे। श्रमिक जातियों में किसान और कारीगर सम्मिलित थे। कारीगरों में या तो साफ धन्धे करनेवाले लोग थे, या अछूत। उच्च जातियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय (ज़मींदार-वर्ग) और वैश्य (वे लोग, जो व्यापार, महाजनी, आदि में लगे होते थे) शामिल थे। इसी प्रकार, गांव के मुसलमान भी हिन्दू उच्च जातियों के समानान्तर उच्च वर्ग (शरीफ) अथवा नीचे धन्धों में लगे नीच वर्ग (रज़ील) से सम्बन्ध रखते थे।

जातियों की संख्या निश्चित नहीं थी। पर औसत आकार के गांवों में पन्द्रह से बीस तक जातियां रहती थीं। गांव का ठीक-ठीक कार्य-संचालन इन्हीं के परस्पर-सहयोग पर निर्भर करता था, क्योंकि ये ग्राम-रूपी शरीर के अंग थे।

9. ग्राम के कार्य

ग्राम का सहयोगी संगठन मुख्यतः तीन प्रकार के कामों में नियुक्त होता था : (1) सामाजिक-धार्मिक तथा सांस्कृतिक, (2) आर्थिक, और (3) प्रशासनिक तथा राजनीतिक।

(1) सांस्कृतिक

सामाजिक-धार्मिक और सांस्कृतिक कार्य का अर्थ था, जाति के आन्तरिक मामलों का प्रबन्ध, जिसमें सहभोज, विवाह तथा सदस्यों के परस्पर-सम्बन्धों के नियमन से जुड़े प्रश्न सम्मिलित थे। अन्तर्जातीय मामले, सामान्य ग्रामीण त्योहार और अनुष्ठान मनाना, शिक्षा, मनोरंजन और खेल-कूद भी इसके क्षेत्राधिकार में आते थे। इस कार्य के उचित निर्वाह के लिए जातीय संस्था थी, जाति-पंचायत।

(2) आर्थिक

(क) कृषि : जहां तक आर्थिक कार्यों का सम्बन्ध है, ग्राम एक आत्मनिर्भर इकाई था। इसका प्रधान उत्पादन-कार्य था, कृषि। कला और कारीगरी गौण कार्य थे। व्यापार, महाजनी, आदि कार्य विभिन्न प्रकार की फसलें उगाने, उनके वितरण एवं उपभोग का प्रबन्ध करने के प्रधान कार्य में सहायक थे। गांवों में जीवन-स्तर बहुत नीचा था और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था गुज़ारे के स्तर से ऊपर कठिनाई से ही पहुंच पाती थी।

गांव की आवश्यकताओं से अधिक जितनी भी पैदावार होती थी, उसे विभिन्न माध्यम—जमींदार, बिचौलिये और राज्य—खींच लेते थे। कृषि को सुधारने के उद्देश्य से उसी में वापस लगा देने के लिए बहुत थोड़ा बच रहता था। पूर्व-पूंजीवादी और पूर्व-यन्त्रवादी ग्रामीण पद्धति शताब्दियों से क्या, हजारों वर्षों से असंशोधित और अपरिवर्तित चली आ रही थी। गांव अनिवार्यतः निवासगृहों के एक झुंड से सम्बद्ध खेतों के एक समूह का नाम था। इसमें उन लोगों के दल बसे होते थे, जिनमें किसी-न-किसी प्रकार का परस्पर-सम्बन्ध और मिल कर काम करने का कोई सूत्र होता था।

गांव की भूमि या तो खेती-योग्य होती थी अथवा बंजर। खेती-योग्य भूमि अकेले किसानों-द्वारा जोते जानेवाले खेतों में बंटी होती थी। यूरोप की तरह यहां खेत मेड़ों-द्वारा चिह्नित नहीं होते थे। पानी की नालियों और दूसरे अप्रकट चिह्नों से ही खेतों का अलग-अलग पता लगता था। जैसा कि पंजाब प्रान्त के परगना बादशाहपुर में 1680-81 वर्ष की जजिया वसूली[1] के अंकों से प्रकट है, हर किसान के खेत अलग और विभिन्न आकार के होते थे। परगने की आबादी 855 थी। इनमें से 320, जो दरिद्र और असमर्थ थे, जजिये की अदायगी से छूटे हुए थे। शेष 535 में, जिनकी कुल अदायगी 2,950 रुपये वार्षिक थी, 88 प्रथम श्रेणी के थे और 1,100 रुपये देते थे; 145 मध्यम श्रेणी के थे और 904 रुपये 4 आने देते थे। शेष 302 निम्नतम सामाजिक स्तर के थे और 943 रुपये 12 आने अदा करते थे।

बंजर भूमि पशु चराने और लकड़ी काटने के काम आती थी और उस पर पूरे गांव का अधिकार होता था। इस विभाजन के अतिरिक्त, कुछ भूमि घरों, तालाबों, कुओं, कब्रिस्तानों, झाड़ियों, पशुओं के बाड़ों और सामुदायिक कामों के लिए छोड़ दी जाती थी।

जमीन के उपयोग का बोझ मुख्यतः किसानों के कन्धों पर था। हर किसान अपने परिवार और आश्रितों के साथ अपने अकेले खेत पर काम करता था और अपने आदिम युगीन हल से खेतों को जोतता था। नदी, नहर, कुआं, तालाब अथवा जलकुण्ड, पानी के जो भी साधन उपलब्ध थे, उनसे वह उनकी सिंचाई करता था; निराई करता था; चिड़ियों और पशुओं और कीड़ों से फसलों की रक्षा करता था और भूसा उड़ाने के लिए फसलों को खलिहान में इकट्ठा करता था।

औजार आदिम युगीन होने, फसलों के लिए खाद कम उपलब्ध होने, बीजों के चुनिंदा न होने, धीमे चलनेवाले बैलों की श्रम-शक्ति क्षीण होने और सिंचाई की सुविधाओं के सीमित होने के कारण किसानों की कार्रवाइयां अवरुद्ध रहती थीं। इन सब असमर्थताओं के बावजूद वह उतना पैदा कर लेता था, जितना उस जमाने में भारत आनेवाले विदेशियों को अनोखी उपलब्धि प्रतीत होता था। वह वर्ष में दो और कभी-कभी तीन तक फसलें उगा लेता था। अठारहवीं शताब्दी की कृषि-क्रान्ति से पहले यूरोप में अपनाए जानेवाले तरीकों की तुलना में वह पिछड़ा हुआ नहीं था।

समाज की सीमित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वह पर्याप्त पैदा कर लेता था। अन्न, सब्जी, भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए कुछ मसाले, कपड़े के लिए रुई

---

1 'खुलस्तुस्सियाक' (मुस्लिम-विश्वविद्यालय, अलीगढ़, की लिटन लाइब्रेरी में हस्त-लिखित पुस्तक), फोलियो 38-39

और पटसन, कपड़े रंगने के लिए नील और मंजीठ-जैसे वानस्पतिक रंग, चबाने के लिए पान, शरबत तथा नशे की चीजों और मद्य आदि की मांग को पूरा करने के लिए ताड़ी, अफीम, भांग और तम्बाकू वह पैदा करता था। नगद रुपये पाने के लिए वह नील, गन्ना, सरसों, रुई और अलसी उगाता था।

विस्तृत बंजर ज़मीनों और जंगलों के रूप में उसे उन पशुओं के लिए लगभग असीम चरागाह प्राप्त थे, जो कृषि-कार्यों में उसके काम आते थे तथा जो दूध, मक्खन और चमड़े के प्रचुर स्रोत थे। उसके पास खाने को काफी था। आज की पश्चिमी अवस्थाओं की तुलना में उसका जीवन-स्तर नीचा ज़रूर था, पर अंग्रेज़ी शासन-काल के अपने वंशजों के मुकाबले उसकी अवस्था सुविधापूर्ण और बढ़िया थी। अठारहवीं शताब्दी में चूंकि भूमि प्रचुर माला में उपलब्ध थी, इसलिए घटिया धरती जोतने की कोई आवश्यकता नहीं थी। भारत की आबादी अपेक्षाकृत कम थी—दस और चौदह करोड़ के बीच। मनुष्य का वास्तविक मूल्य कहीं ऊंचा था और अधिक अच्छा जीवन बिताने के अवसर उसके लिए काफी थे।

मध्य-युगीन भारतीय कृषि की कुछ अनोखी विशेषताएं थीं। उत्पादन के साधनों में दो विशेष रूप से महत्वपूर्ण थे : भूमि और श्रम। जहां तक भूमि का सम्बन्ध है, वह इतनी बहुतायत में थी कि उसके लिए कोई प्रतियोगिता नहीं थी। गणना करके यह मालूम किया गया है कि भारत में ऐसे प्रदेश थे, जहां आज की अपेक्षा केवल आधी भूमि पर ही लोगों ने अधिकार किया था। अन्य क्षेत्रों में दो-तिहाई से तीन-चौथाई तक भूमि लोगों के कब्ज़े में थी। ऐसा कोई प्रदेश नहीं था, जहां किसी भी जगह भूमि पर दबाव चरम सीमा तक पहुंचा हो। यदि कोई व्यक्ति भूमि चाहता, तो जंगल साफ करता और खेती के लिए उस पर अधिकार जमा लेता।

मुगल-साम्राज्य का सर्वाधिक केन्द्रीय भाग था, आगरा से ढाका तक का गंगा और यमुना का तटवर्ती प्रदेश। लेकिन इस सम्पूर्ण विशाल घाटी में जंगलों की बहुतायत थी। मथुरा उस समय तक प्रसिद्ध बरसाना जंगल के बीच अवस्थित था और अकबर वहां शेरों का शिकार किया करता था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अवध बहु-संख्यक जंगलों की एक पट्टी बना रहा। इलाहाबाद से बनारस और जौनपुर तक का कर्षित क्षेत्र आज के मुकाबले में एक-चौथाई था और घाघरा के किनारे यह परिमाण सातवें या आठवें हिस्से के लगभग था। कारा में जंगली हाथी घूमा करते थे। आज़मगढ़, गाज़ीपुर, गोरखपुर और बस्ती के अधिकांश भाग में खेती नहीं होती थी और हाथी तथा गैंडे-जैसे वन्य पशु इन जिलों में भरे हुए थे। बिहार में आज कर्षित भूमि कुल क्षेत्र का दो-तिहाई है, लेकिन अठारहवीं शताब्दी में पांचवें हिस्से से अधिक पर फसल नहीं उगाई जाती थी। उत्तर-बिहार में तिरहुत, चम्पारन, मुज़फ्फरपुर और दरभंगा जंगलों से ढके थे। पश्चिम-बंगाल में घनी आबादी थी, पर पूर्व-बंगाल दलदलों और उजाड़ क्षेत्रों से भरा था।

मुगलों के अधीन कर्षित क्षेत्र में कुछ वृद्धि हुई, विशेषकर गंगा की घाटी में। दिल्ली, आगरा, अयोध्या, प्रयाग, जौनपुर, बनारस, पटना, राजमहल, बर्दवान, विक्रमपुर और टिपरा-जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में आबादी और खेती, दोनों बढ़ीं। पर उन्नीसवीं शताब्दी की अवस्थाओं की तुलना में आबादी क्षीण थी और बंजर तथा अनजुते क्षेत्र का अनुपात बहुत बड़ा था।

इन अवस्थाओं का स्वाभाविक परिणाम यह था कि कृषि-योग्य भूमि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी और भूमि को "अब तक सामान्यतः कोई मूल्य प्रदान नहीं किया गया था।"[1] भूमि की कीमत नगण्य थी। सन् 1807 में सर टामस मनरो लिखता है : "इससे अधिक साफ बात और कुछ नहीं है कि भारत में, मालाबार-तट के अतिरिक्त, भूमि-सम्पत्ति कभी अस्तित्व में नहीं रही।"[2] पंजाब में "अंग्रेजों की विजय से पहले भूमि की बिक्री अज्ञात थी।"[3] सर जान स्ट्रेची ने लिखा है : "जब कि हमारी नीति निजी भूमि-सम्पत्ति की वृद्धि को प्रोत्साहित करती रही है, पहले की सरकारें ऐसी सम्पत्ति के अस्तित्व को कठिनाई से ही मान्यता देती थीं।"[4] एलफिन्सटन संकेत करता है : "व्यवहारतः प्रश्न यह नहीं है कि सम्पत्ति किसमें निहित है, बल्कि यह है कि उपज का कितना अनुपात किस पक्ष की तरफ वाजिब है।"[5] गोंडा-सर्वेक्षण-रिपोर्ट में बेनेट कहता है : "अभी तक चाहे व्यक्तिगत हो या सामुदायिक, निजी सम्पत्ति का यहां कोई चिह्न नहीं है।"[6] सर जार्ज केम्पबेल के उद्धरण से भी यही पता लगता है : "हम यह बात प्रायः भूल जाते हैं कि चल सम्पत्ति की तरह एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुंचनेवाली, पूरी तरह अधिकृत, हस्तान्तरणीय एवं बिक्री-योग्य वस्तु के रूप में भूमि-सम्पत्ति यहां एक प्राचीन संस्था नहीं है, बल्कि एक आधुनिक विशिष्टता है।"[7] एक लम्बे वाद-विवाद के बाद बेडेन-पावेल ने अन्तिम बात यह कही है : "स्वामित्व धरती में नहीं, उपज के हिस्सों में, कृषि-कार्यों में अथवा राजस्व की अदायगी में है।"

प्रचुरता के ही कारण भूमि अन्य सम्पत्तियों की तरह नहीं बन सकी। वह कठिनाई से ही बेची जाती थी और यही कारण है कि इन युगों में भूमि को गिरवी रखने, उसे बेचने और हस्तान्तरित करने के बारे में इतना कम सुना जाता है। दक्कन में अठारहवीं शताब्दी के विक्रय-पत्रों की शब्दावली इस प्रकार है कि स्वामी ने खरीदार से प्रार्थना की कि वह उसकी भूमि ले ले, आदि। फलतः उसके स्वामित्व के प्रश्न का निर्णय करना अत्यन्त कठिन हो गया है। वास्तव में, कब्जा करना और इस्तेमाल करना सम्पत्ति के केवल इन्हीं दो लक्षणों से लोगों का असल परिचय था। इनसे वे अधिकार उद्भूत होते थे, जो वंशानुगत थे और हिन्दू-कानून के अनुसार उत्तराधिकार में प्राप्त किए जाते थे। लेकिन इनके साथ कुछ शर्तें लगी थीं। एक किसान और उसके वंशज धरती के एक टुकड़े अथवा टुकड़ों को तब तक अपने अधिकार में रख और उसका फलोपभोग कर सकते थे, जब तक उसकी उपज का देय अंश वे राज्य को अदा करते रहते थे। उन्हें बेदखल करने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता था। लेकिन यदि वे खेत जोतने में उदासीनता दिखाते थे, तो उन्हें बलात् हटाया जा सकता था।

---

1 'बंगाल रेवेन्यू कन्सलटेशन', 20 जून, 1808 (सर्वश्री काक्स ऐण्ड टकर की रिपोर्ट, पैरा 67)

2 मनरो का पत्र, दिनांक 15 अगस्त, 1807, पैरा 2

3 एस० एस० थार्नटन, 'मुसलमान्स ऐण्ड मनी-लेण्डर्स इन द पंजाब', पृष्ठ 66

4 सर जान स्ट्रेची, 'इण्डिया' (1880 का संस्करण), पृष्ठ 80

5 एलफिन्सटन, 'हिस्टरी आफ इण्डिया' (1916), पृष्ठ 80

6 डब्ल्यू० सी० बेनेट, 'सेट्लमेण्ट रिपोर्ट आफ गोंडा (अवध)', 1878, पृष्ठ 48-49

7 बेडेन-पावेल, 'लैण्ड सिस्टम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया,' 1882, खण्ड 1, पृष्ठ 219

इस प्रकार, वास्तविक सम्पत्ति की भारतीय परिभाषा एकदम अनोखी और समकालीन यूरोप की मान्यताओं से पूर्णतः भिन्न थी। अठारहवीं शताब्दी में यूरोपीय समाज ने अपने सामन्ती लक्षणों को त्याग दिया था और चरमवाद, अनन्य स्वामित्व तथा व्यक्तिवाद की प्रवृत्तियों को ग्रहण कर लिया था। उसमें स्वाभाविक, अपरिहार्य, अविच्छेद्य, नित्य-जैसे लगभग पवित्र अधिकार निहित हो गए थे और उन्हें स्वतन्त्रता, व्यक्तित्व, सम्पन्नता और संस्कृति का आधार समझा जाने लगा था। "न्यायपालिका ने स्वामित्व के अनिश्चित तत्व को विशिष्ट अधिकारों, सुविधाओं, शक्तियों और उन्मुक्तियों के रूप में निर्दिष्ट कर दिया था तथा इन्हें विशिष्ट व्यक्तियों में निहित करके विशिष्ट तरीकों से मान्य बना दिया था।" संक्षेप में, भूमि के चरम स्वामित्व का विचार अंग्रेजों से पहले के युग में भारत के लिए पराया था।

दूसरा तत्व, अर्थात् श्रम, कम मात्रा में उपलब्ध था। इसलिए इसका महत्व और मूल्य अधिक था। राजा लोग कृषि-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए उत्सुक रहते थे और अपने सूबेदारों तथा अन्य अधिकारियों को समय-समय पर निदेश देते रहते थे कि किसान का हित उनका प्राथमिक कर्तव्य है। असह्य क्रूरताओं और अत्याचारों के विरुद्ध किसान के पास सबसे प्रभावशाली हथियार यही था कि वह असहयोग कर दे, गांव छोड़ दे, और यदि आवश्यकता पड़े, तो जंगल साफ करके नई बस्ती बसाने के लिए पड़ोस के वनों में आश्रय ले ले।

इन अवस्थाओं में पश्चिमी ढंग की गुलामी अथवा कामगारी कठिनाई से ही सम्भव थी। लेकिन विच्छेद का यह चरम निदान प्रायः प्रयोग में नहीं लाया जा सकता था। भारतीय किसान धैर्यवान् और सहनशील था, इसलिए ऐसे बहुत-से कष्टों और अन्यायों को वह चुपचाप सह लेता था, जिनसे बचा जा सकता था।

(ख) ग्रामोद्योग : गांव के निवासियों का प्रधान धन्धा खेती था। इससे उनकी प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी हो जाती थीं। लेकिन कृषि-कार्य शिल्पकारों की सेवाओं के बिना नहीं चलाए जा सकते थे और कुछ अन्य आवश्यकताओं का भी पूरा किया जाना जरूरी था। इस प्रकार, हर गांव कितनी ही कलाओं और कारीगरियों का घर था। लेकिन उस समय ग्रामोद्योग के मूल सिद्धान्त आज से बहुत भिन्न थे। उसका बाजार व्यवहारतः गांव तक ही सीमित था। अधिकतर स्थानीय प्रयोग के लिए ही वस्तुएं बनाई जाती थीं। अधिकांश सूत और कपड़ा गांव के लोगों के लिए ही काता और बुना जाता था, तेल निकाला जाता था और शक्कर बनाई जाती थी। कारीगर लोग—जुलाहे, लुहार, बढ़ई, कुम्हार, चमार और अन्य—गांव की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही काम करते थे। उनके अधिकतर उत्पादन का मूल्य वस्तु के बदले नगद कीमत के रूप में नहीं, बल्कि प्रथानुकूल जिन्स के रूप में चुकाया जाता था। कारीगर को फसल कटने के समय उपज का एक निश्चित हिस्सा दे दिया जाता था। अधिकांश कारीगरों के पास अपनी छोटी-छोटी जमीनें होती थीं, जो किसानों से मिले अंश की अभाव-पूर्ति कर देती थीं। ऐसी अर्थ-व्यवस्था में मांग और सम्भरण, हानि और लाभ तथा उत्पादन के मूल्य से बंधी कीमतों के नियम कठिनाई से ही लागू होते थे।

(ग) व्यापार : गांव के भीतर और बाहर थोड़ा व्यापार भी चलता था। गल्ला-व्यापारी की एक दुकान होती थी, और वह एक प्रकार का महाजन भी होता था। सप्ताह में एक निश्चित दिन किसी बड़े गांव में हाट लगती थी, जहां साधारणतया असाध्य

वस्तुएं खरीदी जा सकती थीं। निकट और दूर से व्यापारी इस हाट में आते थे और मुख्य सड़क के दोनों ओर अपनी चीजें फैला लेते थे। कुछ प्रमुख ग्रामीण-केन्द्रों में पशु-मेले लगते थे और वे गाय, बैल तथा सांड खरीदने-बेचने के अवसर प्रदान करते थे।

जिसे अपना लगान नगद चुकाना होता था, वह किसान अपनी अतिरिक्त उपज को स्थानीय गल्ला-व्यापारी के पास अथवा पड़ोस के बाजार में ले जाने को बाध्य था। इस सौदे में उसकी अनिवार्य आवश्यकता दूसरे पक्ष का हाथ ऊपर कर देती थी। इस प्रकार, गांव की उपज का एक छोटा-सा भाग बाहर निकल कर उन नागरिक क्षेत्रों में पहुंच जाता था, जहां उसकी मांग होती थी। लेकिन यह कमोवेश एकतरफा कार्रवाई ही थी। राजस्व के रूप में निकलनेवाले धन के बदले में कुछ नहीं मिलता था और इस प्रकार ग्रामीण पक्ष को प्रतिदान-शून्य निर्यात की हानि उठानी पड़ती थी।

एक ओर ग्राम की आत्मनिर्भरता और दूसरी ओर नगरों का औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ापन व्यापार के विकास में गतिरोध पैदा करनेवाले तत्व थे।

गांव बाहर से बहुत कम चीजें मंगाता था और जो चीजें उसे बाहर भेजनी पड़ती थीं, वे प्रायः भारी-भरकम और कम मूल्य की होती थीं। इसलिए लम्बी दूरी का अन्तर्देशीय व्यापार कभी भी विशेष व्यापक नहीं रहा। लेकिन वस्तुओं का कुछ संचरण प्रान्त से प्रान्त में अवश्य होता था—उदाहरणार्थ, बंगाल सूत, गेहूं, शक्कर, अफीम और नमक मंगाता था और अपना रेशम तथा चावल भारत के विभिन्न भागों को भेजता था। गुजरात अन्न मंगाता था और नगद कमाई की फसलें बाहर भेजता था। पूर्वी-पश्चिमी तटीय प्रदेश, चावल, शक्कर तथा मक्खन मंगाते थे और नमक तथा मिर्च बेचते थे। दुआब, बयाना और सरखेज से नील इकट्ठा किया जाता था और बन्दरगाहों को भेज दिया जाता था।

कुल मिला कर देश के आकार और उसकी आबादी की तुलना में माल का आवागमन पर्याप्त नहीं था। इसके बहुत-से कारण थे: यातायात-साधनों की खराबी; स्थलीय यातायात का कठिन और महंगा होना; क्षोभजनक अन्तर्देशीय प्रथाओं की अधिकता; अठारहवीं शताब्दी की अराजक राजनीतिक अवस्थाएं; व्यापार में खतरा और ग्रामीण आबादी का निम्न स्तर। पक्की सड़कें थीं नहीं और आवागमन भारवाही पशुओं के ही द्वारा होता था।[1]

(2) ग्राम-प्रशासन

गांव का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य था, प्रशासन। इसके दो पक्ष थे: आन्तरिक और बाह्य। ग्राम-संस्था शान्ति और सुरक्षा कायम रखती थी और पुलिस, मजिस्ट्रेट तथा न्यायपालिका के कर्तव्य पूरे करती थी। इस दृष्टि से यह एक स्वायत्त इकाई थी और इसके लिए ग्राम-पंचायत उसका साधन थी।

ग्राम-पंचायत जाति-पंचायत से पृथक् थी और मध्य-युगों में उसकी परम्पराएं उत्तर में यदि पूरी तरह नष्ट नहीं हो गई थीं, तो धुंधली अवश्य पड़ गई थीं। दूसरी ओर, दक्कन और सुदूर दक्षिण में ग्राम-पंचायतें अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक विद्यमान रहीं, यद्यपि उस समय तक उनकी प्राचीन शक्ति लुप्त हो चुकी थी। उनका प्रधान

1 गार्डन के 'रेवेन्यू मैन्युअल' के अनुसार, दक्कन में बैलगाड़ी अंग्रेजों-द्वारा सन 1835 में चालू की गई

कार्य न्यायिक था। अधिकांश दीवानी मामले और छोटे फौजदारी मुकदमे न्याय के लिए उनके सामने पेश होते थे। हिसाब-किताब, इकरारनामे अथवा ऋण, आदि सभी प्रकार के समझौतों से पैदा होनेवाले अभियोग; व्यक्तिगत अथवा वास्तविक सम्पत्ति से सम्बन्धित मुकदमे; सीमाओं अथवा पानी के बंटवारे-विषयक झगड़े; कब्जा कर लेने अथवा परम्परागत अधिकार से प्रेरित भूमि-सम्बन्धी दावे; जातियों के बीच के झगड़े; स्थापित प्रथाओं के उल्लंघन; विवाह-वचनों के उल्लंघन; गोद-सम्बन्धी नियमों की उपेक्षा; तथा उपहार, दान अथवा उत्तराधिकार से प्राप्त उपाधियों से सम्बन्धित संघर्ष—ये सब महाराष्ट्र में उन्हीं के सामने पेश किए जाते थे।

कुछ स्थानों पर पंचायत ग्रामीण जनता-द्वारा समय-समय पर चुनी जानेवाली एक स्थायी संस्था थी। दूसरे स्थानों पर अवसर पैदा होने पर ही अस्थायी तौर पर उसे चुन लिया जाता था। वादी और प्रतिवादी-पक्ष कुछ व्यक्तियों (दो से बीस तक) का नाम ले देते थे और स्थानीय सरकार के अधिकारी कार्यवाही का निरीक्षण करने के लिए एक पंच नियुक्त कर देते थे। पैसे के लेन-देनवाले मामलों में सुप्रसिद्ध बनियों को सहायता के लिए बुलाया जाता था और धार्मिक झगड़ों में शास्त्री पंचायत में सम्मिलित होते थे। कठिन मुकदमों में, जब कानूनी गुत्थियां पड़ जाती थीं, पूरी पंचायत ही विद्वान् शास्त्रियों से निर्मित की जाती थी।

गांव का पटेल अथवा मुकद्दम वह व्यक्ति होता था, जिस पर पंचायत का बुलाना निर्भर करता था। पाटिन्जर के अनुसार, "जब कोई झगड़ा पैदा होता था, तब पटेल उचित बीच-बचाव-द्वारा उसका निर्णय करने का प्रयत्न करता था। यदि वह इसमें विफल रहता था और सम्बद्ध पक्ष पंचायत की मांग करते थे, तब वह पंचायत बुलाए जाने की अनुमति दे देता था। जब तक वह अन्य दृष्टियों से बहुत महत्व का व्यक्ति नहीं होता था, तब तक सदस्यों के नाम स्वयं नहीं तय कर सकता था। लेकिन जिसकी गवाही की आवश्यकता हो, उसे उपस्थित होने की आज्ञा वह दे सकता था।"[1] लेकिन पटेल की शक्ति पंचायत को बुलाने तक ही सीमित थी। वह निर्णय में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। यदि सम्बन्धित पक्ष मध्यस्थता अथवा अपने मित्रों-द्वारा फैसला कराने के लिए तैयार हो जाते थे, तब भी वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता था।

पंचायत की सदस्यता किसानों-समेत सबके लिए खुली थी। लेकिन प्रवृत्ति यह थी कि उन लोगों को चुना जाए, जो जीवन से सम्यक् रूप से परिचित हों और जो मानव-प्रकृति के अनुभव पर आधारित ऊंचा ज्ञान रखते हों।

सम्बन्धित पक्षों को यह अधिकार था कि वे सदस्यों को चुनौती दें और उनको बदल देने की मांग करें। गवाहों की उपस्थिति अनिवार्य थी—अनुपस्थित होने पर उन्हें जुर्माना भरना पड़ता था। पंचायत के सदस्यों के लिए कोई शुल्क नियत नहीं था, लेकिन पक्षों से आशा की जाती थी कि वे खर्च देंगे। वादी को यह वचन देना पड़ता था कि पंचायत बुलाने के लिए स्थानीय अधिकारी को वह एक राशि देगा, लेकिन इसका कोई मापदण्ड नियत नहीं था।

एतद्सम्बन्धी पद्धति बहुत सरल थी। वादी और उसके बाद प्रतिवादी झगड़े के

1 पाटिन्जर, 'सेलेक्शन आफ पेपर्स फ्राम द रिकार्ड्स ऐट द ईस्ट इण्डिया हाउस', खंड 4, पृष्ठ 288

बारे में अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करते थे। फिर, गवाह बुलाए जाते थे और यदि आवश्यकता पड़ती थी, तो वे शपथ लेते थे। यदि किसी स्थान पर स्पष्टीकरण की ज़रूरत पड़ती थी, तो गांव के पटवारी को स्थिति स्पष्ट करने के लिए कहा जाता था। पंचायत का निर्णय उचित विचार-विमर्श के बाद ही दिया जाता था। अभियोग में जीतनेवाले को ही साधारणतया डिगरी लागू करने का भार सौंपा जाता था। यदि वह विफल रहता, तो स्थानीय कर्मचारियों की सहायता ले सकता था। वकीलों का कोई रिवाज नहीं था। वादी-प्रतिवादी के बीच समझौते के तथा निर्णय-पत्र अथवा आदेश-पत्र के सिवाय कार्यवाहियों का कोई लिखित विवरण नहीं रखा जाता था।

पीड़ित पक्ष को उच्चतर अधिकारी के पास—पटेल से (सब-डिवीजन) के शिकदार अथवा परगने (ज़िला) के मामलातदार के पास—अपील ले जाने का अधिकार था। यदि वे अपील के औचित्य से सन्तुष्ट होते, तो झगड़े का निर्णय करने के लिए दूसरी पंचायत नियुक्त कर देते थे। जब कभी आदेश अथवा दण्ड भ्रष्टाचार अथवा सदस्यों के दुर्व्यवहार से प्रेरित होता था अथवा उसमें न्याय अथवा प्रथा की कोई गम्भीर उपेक्षा निहित रहती थी, तब एक नई पंचायत का आदेश दे दिया जाता था।

हर गांव एक स्वशासी इकाई था, जो संकेन्द्रित संस्थाओं के एक सोपानिक क्रम के माध्यम से सर्वोच्च केन्द्रीय सत्ता से जुड़ा रहता था। गांव वह नींव था, जिस पर राज्य का पूरा ढांचा आश्रित था। वह धन देता था, जिस पर सरकार की सक्रियता निर्भर करती थी। राज्य को राजस्व की मांग उसके प्रमुख संभर्ता गांव के सम्पर्क में लाती थी।

भूमि-राजस्व का संगठन मध्य-युगीन सरकारों के राजनीतिक निर्माण में, स्वभावतः ही, सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, क्योंकि इस संस्था की मजबूती और कुशलता पर ही राज्य का जीवन और उसकी शक्ति निर्भर थी।

भारत के विभिन्न भागों में भूमि-राजस्व की पद्धति में भारी विषमता थी, लेकिन यह विषमता सामान्य मूलभूत योजना को प्रभावित नहीं करती थी। प्रमुख अन्तर किसान और राज्य के बीच वर्तमान बिचौलियों से सम्बन्धित था।

मोटे रूप में दो प्रकार के गांव थे : उत्तर के और दक्षिण के। उत्तर की किस्म में, जो सिन्धु-गंगा के मैदान में पाई जाती थी, गांव की उपज के तीन प्रधान हिस्सेदार थे : उत्पादक, बिचौलिये (ज़मींदार और जागीरदार) तथा राज्य। दक्षिणी किस्म, अथवा केन्द्रीय पठार, दक्कन और तटीय प्रदेशों, के गांवों में उपज मुख्यतः दो पक्षों में बांटी जाती थी : किसान और राज्य। इस बात की पूरी सम्भावना है कि यह विभाजन मुस्लिम-विजय का परिणाम था।

लेकिन इन दोनों प्रकार के ग्रामों में दो तरह के लोग रहते थे। वे, जो राजस्व देते थे, और वे, जो नहीं देते थे। दूसरे वर्ग में वे लोग थे, जो गांव की आवश्यकताओं को पूरा करते थे : (1) दान लेनेवाले—पुजारी, विद्वान्, ज्योतिषी, तथा मस्जिदों, मन्दिरों और मकबरों के सेवक; (2) विधवाएं और पेन्शन पानेवाले; (3) गांव के सेवक—हरकारे, चौकीदार, फसल के रक्षक, भिश्ती, सीमा के रखवाले; (4) गांव के कारीगर और सेवक—कुम्हार, ठठेरे, चमार, बढ़ई, धोबी, नाई, दुकानदार, नर्तकियां, मेहतर, आदि; (5) भूमिहीन श्रमिक और दरिद्र लोग, जैसे कि फकीर और भिक्षुक। दक्षिणी ग्रामों में सेवक और कारीगर बाराबलूता (अन्न में हिस्सा लेनेवाले बारह वर्ग) कहलाते थे।

राजस्व अदा करनेवाले लोगों में ब्राह्मण से अछूत तक विभिन्न जातियों के काश्तकार तथा वहां न रहनेवाले किसान—जिनका घर एक गांव में, लेकिन खेती के लिए ठेके पर ली हुई ज़मीन दूसरे गांव में होती थी—सम्मिलित थे। फिर इनमें ज़मींदार भी हो सकते थे—वे छोटे ज़मींदार, जो अपनी ज़मीनें स्वयं जोतते थे, और वे बड़े ज़मींदार, जो अपने खेत असामियों से जुतवाते थे। यह वर्ग उत्तर के ग्रामों में सामान्य था, पर दक्षिण में अपवाद-रूप में था। इन्हें उत्तर में ज़मींदार, गुजरात में गिरासिया, कोंकण में खोट और बरार में मालगुज़ार कहा जाता था।

इन दो वर्गों के अतिरिक्त, ग्राम और राज्य के कुछ अधिकारी भी गांवों में रहते थे।

इन सबमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था धरती को जोतनेवाला वह किसान, जिसके श्रम और पसीने से यह विशाल समाज-यन्त्र गतिशील रहता था। एटलस की तरह, वह राज्य के असह्य भार को अपनी पीठ पर ढोता था। समस्या यही थी कि सदा बढ़ते रहनेवाले इस बोझ को ढोने के लिए उसे तत्पर कैसे रखा जाए।

आज के युग में अनुशासन और व्यवस्था कायम करने के लिए अन्तिम उपाय के रूप में ही शक्ति का प्रयोग किया जाता है। उस युग की अवस्थाओं में शक्ति-प्रयोग सरकार का सामान्य शस्त्र था। अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए आन्तरिक शान्ति-भंग करनेवालों और उद्धत लोगों के विरुद्ध निरन्तर सतर्कता शासक के लिए बहुत आवश्यक थी। सतर्कता उन लालची पड़ोसियों के विरुद्ध भी जरूरी थी, जो उसकी दुर्बलताओं और कठिनाइयों का लाभ उठाने के लिए सदा तैयार रहते थे। शक्ति और सम्मान सत्ता के परिचायक थे। चमचमाते शस्त्रों और आतंक पैदा करनेवाली साज-सज्जा से युक्त सेना का काम ही शक्ति-प्रदर्शन था। और, सम्मान उन सार्वजनिक कार्यों से बढ़ सकता था, जिनसे शान-शौकत, प्रचुरता, वैभव और शक्ति टपकती हो।

युद्ध और शान्ति के इन स्तम्भों का ठोस आधार था, गांव का किसान।

दाता (ग्रामीण) और प्रापक (राज्य), दोनों के ही लिए स्थिति गुत्थियों से भरी थी। सरकार की कठिनाइयां दुहरी थीं: (1) किसान से अधिकतम धन कैसे खींचा जाए, (2) सैकड़ों-हज़ारों झोंपड़ों और विशाल महाद्वीप में बिखरे गांवों में रहनेवाले एक-एक किसान से आय की नन्हीं-नन्हीं बूंदों को कैसे इकट्ठा किया जाए।

आदिम कालीन तरीकों से काम करनेवाला किसान इतना कठोर श्रम करने पर विवश था, जिसका प्रतिफल बहुत ही नगण्य था। अपनी उपज से उसे कृषि के निश्चित देय तथा सरकार के कर चुकाने पड़ते थे। जो बचता था, वही उसके कष्टों का पारिश्रमिक था। हिसाब लगाने पर पता चला है कि कुल उपज का पच्चीस प्रतिशत भाग खेती के व्यय में और पांच से पन्द्रह प्रतिशत तक निर्दिष्ट देनदारियों में चला जाता था और किसान एवं उसके परिवार के वर्ष-भर के भरण-पोषण के लिए तथा राज्य की मांग को पूरा करने के लिए साठ प्रतिशत बच रहता था। किसान की उपज की अल्प मात्रा को ध्यान में रखते हुए उसका कौन-सा अंश सरकार को अर्पित किया जाता है, यह बात भारी महत्त्व रखती थी।

स्थिति का सबसे अधिक उत्तेजक पक्ष यह था कि गरीब करदाता जो धन देता था, उसके प्रयोग के बारे में पूरी तरह अंधेरे में रहता था। अदायगी के औचित्य के विषय में जो बात उसे ज्ञात थी, वह थी प्रथा, परम्परा और एक रहस्यमय विश्वास कि उसका

देय उसके जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का आश्वासन है। वास्तव में, उसकी अनगिनत पीढ़ियां अपनी इस उपज में से राजा का हिस्सा देने की अभ्यस्त हो गई थीं। ऋषियों ने उसे विश्वास दिलाया था कि राजा "प्रजा की सम्पन्नता के लिए उपज का अंश उसी प्रकार ले लेता है, जैसे सूर्य हज़ार-गुना करके धरती को लौटा देने के लिए उसका जल सोख लेता है।"[1] अबुल फज़ल, जो समाज के चार भागों में से एक किसान को मानता है, लिखता है: "उनके श्रम से जीवन-बेल में परिपूर्णता आती है, और उनके कार्य से शक्ति और सुख निःसृत होता है।" उसके विचार में, सरकार का वही "प्रतिनिधि श्रेष्ठ है, जो किसान की रक्षा करता है, प्रजा की देखभाल करता है, देश का विकास करता है और राजस्व को बढ़ाता है।"[2]

इन भावनाओं की उच्चता के बावजूद तथ्य यह है कि अठारहवीं शताब्दी में भारतीय किसान का जीवन दरिद्र, घिनौना, कष्टप्रद और अनिश्चित था।

राज्य और ग्राम के बीच लुका-छिपी का एक खेल निरन्तर चलता रहता था। एक ओर सदा वृद्धिशील मांगें थीं और दूसरी ओर अनवरत टाल-मटोल। राज्य चाहता था कि इतना आर्थिक कर वसूल कर लिया जाए कि किसान के पास मात्र गुज़ारे-लायक ही बच सके। औरंगज़ेब के आदेश इस प्रकार थे, "जो भी व्यक्ति अपने खेत जोतता है, उसके लिए उतना छोड़ दिया जाए, जितना अगली फसल कटने के समय तक उसके और उसके परिवार के भरण-पोषण तथा बीजों के लिए आवश्यक हो। बाकी सब भूमि-कर है, जो सरकारी खज़ाने में चला जाएगा।"[3]

यह नीति आत्मघाती थी, क्योंकि यह उस मुर्गी को ही मार डालनेवाली थी, जो सोने के अण्डे देती थी। उपज को बढ़ाने अथवा कृषि के तरीकों को सुधारने के लिए यह कोई प्रोत्साहन बाकी नहीं छोड़ती थी।

वार्षिक व्यय की राशि को जानते हुए सरकार की समस्या यह रहती थी कि उसके लिए आवश्यक पर्याप्त राजस्व-राशि कैसे जुटाई जाए। एक निर्दिष्ट, स्थिर और कमोबेश न घटने-बढ़नेवाली राशि ही अभीष्ट थी। भूमि-कर ही वह प्रधान स्रोत था, जिससे वह पूरी होती थी। भूमि की उपज में हिस्सा लेने के राज्य के अधिकार पर कोई उंगली नहीं उठाता था। राज्य का अंश कितना हो, यह समय-समय पर और शायद शासक के अनुसार बदल जाता था। हिन्दू-धर्मशास्त्रों के अनुसार, राज्य को बारहवां अथवा आठवां और संकट के समय चौथाई अंश तक लेने क अधिकार था। लेकिन साधारण दर छठा भाग प्रतीत होती है। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी इसी की पुष्टि की है। तेरहवीं शताब्दी में अलाउद्दीन खिलजी ने उपज का आधा भाग तक उगाहा है। शेरशाह ने इसे कम करके प्रति बीघा औसत उपज का एक-तिहाई कर दिया था। अकबर ने शेरशाह की ही दरों का अनुसरण किया। लेकिन औरंगज़ेब के समय में इसे बढ़ा कर फिर आधा कर दिया गया और मुगल-साम्राज्य के अन्त तक यही दर लागू रही।

उस ज़माने में यह जानना आवश्यक था कि कुल उपज क्या है, ताकि उसका निर्दिष्ट

1 कालिदास, 'रघुवंश', सर्ग 1, 18

2 'आइने-अकबरी' (ब्लाचमैन-द्वारा अनूदित), कलकत्ता, 1927, पृष्ठ 4 और 7

3 'इण्डिया, इट्स ऐडमिनिस्ट्रेशन ऐण्ड प्रोग्रेस' (तीसरा संस्करण) पृष्ठ 126, सर जान स्ट्रेची-द्वारा उद्धृत। फर्मिगर की 'फिफ्थ रिपोर्ट' के पृष्ठ 38 पर भी उद्धृत

प्रतिशत सरकारी कोष में अनिवार्यत: जमा हो सके। इस समस्या के तर्कसम्मत उत्तर में य बातें सम्मिलित थीं : (1) हर किसान के खेतों की अलग-अलग नपाई, (2) धरती और फसल के स्वरूप का ध्यान रखते हुए क्षेत्र की हर इकाई (बीघा) की उपज का औसत अनुमान, (3) प्रति बीघा की हर फसल के कुछ वर्षों के औसत मूल्य के आधार पर उपज के मूल्य का निर्धारण, (4) बोए हुए क्षेत्रों की विषमताओं के लिए तथा प्रतिकूल प्राकृतिक अवस्थाओं अथवा संकटों के लिए आवश्यक छूट देते हुए इन दरों और गणनाओं के आधार पर हर किसान से प्रति वर्ष लगान की वसूली।

सार-रूप में यही तरीका था, जिसे अकबर ने सिन्धु-गंगा के मैदानों और केन्द्रीय उच्च भूमि के हिस्सों में फैले अपने साम्राज्य के कितने ही प्रान्तों में लागू किया। बाद में जीते गए बंगाल को इस पद्धति से बाहर रखा गया और दक्कन भी इससे बाहर रहा, क्योंकि वह साम्राज्य में नहीं था। अकबर के तरीके के अनुसार, भूमि-कर का अनुमान लगाने के मापदण्ड कुछ ऐसे थे, जो सरकार और किसान, दोनों के अनिश्चय को कम कर देते थे और दोनों के हिस्सों की गणना के लिए एक स्थायी नगद आधार प्रस्तुत करते थे। ये इस तरह बनाए गए थे कि इनसे कीमतों के मौसमी उतार-चढ़ाव तथा अन्न को समतुल्य नगदी में परिवर्तित करने में होनेवाला कष्टकर विलम्ब नहीं हो पाता था। मूल्यांकन की पद्धति और इसके अनुसार तैयार किए गए मांग के चिट्ठे सभी ज़मीनों पर लागू होते थे। खालसा अथवा बादशाह की संरक्षित ज़मीनें, जो सरकारी अधिकारियों-द्वारा सीधे प्रशासित होती थीं, और वे सार्वजनिक ज़मीनें, जो जागीर अथवा नगद के रूप में दान और अनुदान-भोगियों को उपहार तथा वेतन बांटने के लिए धन-राशि जुटाती थी, इसमें शामिल नहीं थीं। इन दूसरी प्रकार की ज़मीनों का प्रबन्ध निजी कारिन्दों-द्वारा किया जाता था।

भूमि-कर के अनुमान और संग्रह के लिए एक विशद संगठन तैयार किया गया था। राजस्व-मन्त्रालय के अधीन उच्चतम स्तर पर दो दीवान थे : दीवाने-खालसा, जो शाही ज़मीनों का प्रबन्धक था, और दीवाने-तान, जो जागीरी ज़मीनों की देखभाल करता था। दीवान के अधीन प्रादेशिक अथवा प्रान्तीय दीवान होते थे, जिनसे संलग्न कर्मचारी तीन विभागों में बंटे होते थे : एक राजस्व का निर्धारण करनेवाला, दूसरा संग्रह करनेवाला और तीसरा राज्य-कोष से सम्बन्धित। प्रान्त सरकारों में विभक्त थे, जो छोटे अधिकारियों के अधीन थीं। एक सरकार में कितने ही परगने होते थे, जिनमें से प्रत्येक के कानूनगो, चौधरी और कारकुन नामक अधिकारी होते थे। एक परगने में सम्मिलित गांवों के ऊपर एक मुकद्दम होता था, जो राजस्व इकट्ठा करता था, और एक पटवारी होता था, जो उसका ब्यौरा रखता था।

गांवों की उत्तर की किस्म में मुकद्दम अथवा ग्राम-प्रमुख, जो स्वयं एक किसान होता था, सरकार और ग्राम के बीच मध्यस्थ का काम करता था। वह किसानों से राजस्व इकट्ठा करने और ग्राम पर लगी मांग की अदायगी के लिए उत्तरदायी होता था। उसका पद वंशानुगत होता था और वह अपनी सेवाओं के बदले में संग्रह का ढाई प्रतिशत पाने का अधिकारी था।

जागीरी ज़मीनों में, यदि जागीर बड़ी होती थी, तो जागीरदार का कारिन्दा भूमि-कर संग्रह करता था, अन्यथा जागीरदार किसी किसान को नियुक्त कर देता था।

जागीरदारों के अतिरिक्त ज़मींदार थे, जो भूमि पर वंशानुगत अधिकार भोगते थे। कुछ स्थानों पर ज़मींदार एक अकेला व्यक्ति होता था और दूसरे स्थानों पर एक दल, जिसका प्रतिनिधित्व एक प्रबन्धक करता था। ज़मींदारों में प्राचीन घरानों के वंशज भी थे, जो कभी स्वतन्त्र और प्रभुसत्ताधारी थे, लेकिन अब विजेता के स्वामित्व को स्वीकार करने के लिए विवश कर दिए गए थे। उनसे सम्बन्धित भूमि-कर, वास्तव में, विशेष समझौते-द्वारा निश्चित एक भेंट होता था। लेकिन कितने ही ज़मींदार ऐसे थे, जिनका कर गांव के अन्य किसानों की तरह ही निर्दिष्ट होता था।

दक्षिण की किस्म में, जहां ज़मींदारों का अस्तित्व नहीं था और जागीरदार एक महत्त्वशून्य स्थिति रखते थे, अवस्था में मामूली-सा अन्तर था। महाराष्ट्र में मलिक अम्बर (1605 से 1626) ने भूमि-कर-प्रशासन में जुती हुई ज़मीनों को नापने, ज़मीनों के वर्गीकरण और उपज के एक-तिहाई को सरकारी भाग नियत करने की पद्धति लागू की थी। उसने जागीरों को 'ख़ालसा' और 'इनाम' में बांट दिया था। इनाम से प्राप्त कर दान और सेवा (वतन) के पारिश्रमिक के लिए प्रयुक्त होता था। पटेल और कुलकर्णी ग्रामीण राजस्व का प्रबन्ध करते थे।

शिवाजी ने इस पद्धति में काफी सुधार किए। लेकिन भूमि-कर को उसने उपज के चालीस प्रतिशत तक बढ़ा दिया—साथ ही, कई चुंगियां भी माफ कर दीं। अगला कदम तीसरे पेशवा बालाजी बाजीराव (1740–61) ने उठाया था। उसने नया सर्वेक्षण तथा फसल एवं धरती का नया वर्गीकरण कराया था और नई दरें निश्चित की थीं। उसका प्रबन्ध कमाल (मानक) कहा जाता है।

मराठा-प्रणाली में दो प्रकार के किसान थे : मिरासदार और उपारी। प्रथम का भूमि पर वंशानुगत अधिकार था। ये अधिकार हिन्दू-कानून के अनुसार उत्तराधिकार में प्राप्त किए जाते थे और ऋण अथवा राजस्व न देने की दशा में भी इन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता था। सरकार की मांग सदा-सर्वदा के लिए निश्चित थी। लेकिन चुंगियां लग जाने के कारण छूट निरर्थक बन गई थी।

उपारी सरकार के ऐच्छिक आसामी थे और वर्ष के अन्त में उनके समझौते को समाप्त किया जा सकता था।

मराठा ग्राम-अधिकारी—पटेल, कुलकर्णी, चौगुले (पटेल का सहायक) और महार अथवा गांव का चौकीदार—उत्तर के ग्राम-अधिकारियों के समकक्ष स्थान रखते थे। लेकिन उत्तर के मुकद्दम के प्रतिकूल पटेल का सम्मान और उसकी सत्ता अधिक थी। वह गांव का प्रमुख अधिकारी और सरकार का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था, जो ग्राम-समाज में विशेष सम्मान का उपभोग करता था। वह खेती की देखरेख करता था और उपज के स्तर को कायम रखने तथा बंजर ज़मीनों को खेती-योग्य बनाने के लिए उत्तरदायी था। पुलिस और मजिस्ट्रेट के भी कर्तव्य उसे निभाने पड़ते थे। वह शान्ति स्थापित करता था और अपराध का दमन करता था। गांव की सुरक्षा के समय वह नेतृत्व ग्रहण करता था। उसे सरकारी अफसरों का स्वागत तथा ग्रामीण त्योहारों, मेलों और मनोरंजनों का भी आयोजन करना पड़ता था।

दक्षिण-पूर्वी प्रदेशों—तेलुगु और तमिल-प्रदेशों—के भी गांव समान आधारों पर संगठित किए जाते थे। उनमें से अधिकतर में असामियों की तीन श्रेणियां होती थीं : (1) किसान (वेल्लन वगाई), जो पृथक रूप में अपनी ज़मीनों के स्वामी थे, उन्हें जोतते थे

और सरकारी कर (मेलावरम्) अदा करते थे, (2) सेवा का पट्टा रखनेवाले (भोग, वृत्ति, काणि), जो या तो बलूतेदार अर्थात् ग्राम-सेवक थे, या सैनिक, धार्मिक, शैक्षणिक अथवा अन्य प्रकार की सेवाओं के बदले में भूमि पाते थे, और (3) भिक्षार्थ दी हुई भूमि-वाले (ब्रह्मदेय, देवदान, शालिभोग), अर्थात् ब्राह्मण, धार्मिक संस्थाएं, आदि।

ज़मींदारी (मिरासी) ग्रामों की भी पट्टियां थीं, लेकिन अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पोलीगर और ज़मींदार-जैसे प्रमुखों की कुछ विशाल रियासतों के अतिरिक्त उनका पतन हो चुका था।"[1]

इन ग्रामों में खेतिहर कुछ तो स्वामी किसान थे, जो अपनी ज़मीनें बेच सकते और उपहार में दे सकते थे, कुछ छोटे किसान (उलकूडि) थे, और शेष सामयिक खेतिहर (पारकूडि) थे, जिनका सहभागी भूमिदारों की सम्पत्ति में कोई हिस्सा नहीं होता था।

अठारहवीं शताब्दी में इन दक्षिणी ग्रामों का संगठन देश के अन्य भागों की तुलना में बहुत कम भिन्न था। वंशानुगत ग्रामसेवक, जिनमें सैनिक और कारीगर, दोनों शामिल थे; गांव के अधिकारी, जिनमें पटेल, नट्टमकार, मनियाकरण, नायडू, रेड्डी, पेड्डाकापू, आदि नामों से प्रसिद्ध ग्राम-प्रमुख होते थे; और गांव का हिसाब-किताब रखनेवाला कारनम—इन सबसे ग्राम-संस्था का निर्माण होता था। इनके कर्तव्य वही थे, जो उत्तर में उनके प्रतिरूप अधिकारियों के थे। सेवक और कारीगर अन्न की उपज (मेरा अथवा स्वतन्त्रम्) में से अपना अंश प्राप्त करते थे और अधिकारियों को करमुक्त अथवा इनाम भूमियां मिली होती थीं तथा ग्रामीणों-द्वारा दिया गया धन भी उन्हें वेतन के रूप में मिलता था।

उपज को तीन भागों में बांटा जाता था—सेवकों और कारीगरों का भाग, जो लगभग पांच प्रतिशत होता था, और सरकार का तथा किसान का हिस्सा, जो शेष का आधा-आधा भाग होता था।

अकबर की ज़ाब्ती प्रणाली और इसी के सामानान्तर मराठों की कमाल-प्रणाली अठारहवीं शताब्दी में तेजी से अस्त-व्यस्त हो गई। इस प्रणाली का वास्तविक गुण इस तथ्य में निहित था कि इसने किसान को व्यक्तिगत रूप से राज्याधिकारियों के सीधे सम्पर्क में ला दिया, मनमाने तौर पर घुस आनेवाले बिचौलियों की अनियमितता को सीमित किया और सरकार-द्वारा निर्दिष्ट तरीकों और सूचियों का अनुसरण करने के लिए उन्हें विवश किया, चुंगियों को समाप्त किया, दरों में स्थिरता पैदा की, किसानों के भार को हल्का किया तथा फसलों के विस्तार और उनमें सुधार के लिए अवसर पैदा किए।

लेकिन यह व्यवस्था बहुत महंगी थी और तभी काम दे सकती थी, जब केन्द्र में अविच्छिन्न सतर्कता हो और भूमि-राजस्व के कर्मचारियों में ईमानदारी और कुशलता हो। दुर्भाग्यवश, अठारहवीं शताब्दी के मुगल-सम्राट् निर्धन थे, उनके खज़ाने खाली पड़े थे और उनके अधिकारियों के वेतन सदा बकाया रहते थे। गद्दी पर बैठनेवाले सम्राट् असमर्थ, सुस्त और निकम्मे तथा सेवक राजद्रोही, स्वार्थी और अयोग्य थे।

अतः, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इन अवस्थाओं में प्रशासन टूट कर बिखर गया। अकबर का लक्ष्य था कि हर किसान के साथ भूमि-कर के बारे में एक पृथक् समझौता (पट्टा और कबूलियात) किया जाए और रसीदें कई लोगों को इकट्ठी दे दी जाएं। लेकिन

---

1 बेडेन-पावेल, 'लैंड सिस्टम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया', 1892, खण्ड 3, पृष्ठ 133-38

अठारहवीं शताब्दी में गांव और राज्य के बीच का यह सम्बन्ध टूट गया, यद्यपि गांव एक सहयोगी इकाई के रूप में बना रहा। राज्य ने समूचे गांव के साथ व्यवहार करना और ग्रामपति के साथ समझौता करके व्यक्तिगत करों के संग्रह को उस पर छोड़ना शुरू कर दिया। इस प्रकार, ग्रामों की आत्मनिर्भरता और उनकी पृथकता निश्चित हो गई और एक राजनीतिक संगठन में ग्रामों को परस्पर बांधनेवाले सूत्र दुर्बल पड़ गए।

दूसरी भयंकर बात जो पनपी, वह थी, ज़मींदारी-प्रथा का विकास। अकबर ने ठीक ही इससे असन्तोष प्रकट किया था। लेकिन उसके उत्तराधिकारियों के अधीन यह प्रथा विषाक्त पौधों की तरह धरती को ढंकती और उसकी सांसों को अवरुद्ध करती हुई फैली। कितने ही कारणों ने इसे बढ़ावा देने का षड्यन्त्र रचा। इनमें प्रधान था, जागीरों का अपरिमित विस्तार। जैसे-जैसे जागीरें बढ़ीं, उनका मूल्य घटता गया। उन पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखने में असमर्थ जागीरदारों ने भी ज़मींदार नियुक्त कर दिए, जो अत्याचारपूर्ण तरीकों से राजस्व वसूल करते थे। वे एक निर्दिष्ट राशि जागीरदार को देते थे और शेष अपने पास रख लेते थे। अब अन्य बिचौलिये और उनके ज़मींदार तथा अधिकारी तक गांववालों के वंशानुगत स्वामी बन बैठे। इस प्रकार, ताल्लुकेदारों और ज़मींदारों का एक वर्ग बन गया, जिसने स्वामित्व के अधिकारों को हथिया लिया और जो लगभग प्रभुसत्तात्मक सुविधाओं का दावा करने लगा। उदाहरण के लिए, ताल्लुकेदारी भूमियों का उत्तराधिकार उन नियमों से प्रशासित होने लगा, जो साधारण व्यक्तियों पर नहीं, राजाओं पर लागू होते थे, ताकि स्वामी की मृत्यु के बाद जायदाद उत्तराधिकारियों में बांटी न जा सके, जैसा कि हिन्दू और मुस्लिम उत्तराधिकार-नियमों के अनुसार होना चाहिए था। इन झूठे कपटपूर्ण प्रयासों ने केन्द्रीय सत्ता को आघात पहुंचाया और अराजकता को बढ़ावा दिया।

तीसरा अध्याय

भारत की राजनीतिक प्रणालियां

1. राज्य-व्यवस्था

यह सत्य है कि पूरे मध्य-काल में भारत का राज्याध्यक्ष मुसलमान ही रहा, परन्तु राज्य-व्यवस्था इस्लामी नहीं रही। राज्य ने न तो अपने संरचनात्मक सिद्धान्तों में और न ही अपनी बुनियादी मान्यताओं, उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों में इस्लामी धर्म-ग्रन्थों 'कुरान', 'हदीस' अथवा सुन्नी विधिशास्त्र के चारों सम्प्रदायों-द्वारा वर्णित नियमों में दिए गए निदेशों का पालन किया। भारत की मध्य-कालीन राज्य-व्यवस्था को धर्मतान्त्रिक कहना भूल है, क्योंकि उसमें मुस्लिम धर्मवेत्ताओं के निदेशन के अनुसार काम नहीं होता था। शासक के व्यक्तिगत धर्म का उसकी सरकारी नीतियों के साथ कोई सम्बन्ध न था।

तेरहवीं शताब्दी से ही भारत के प्रायः प्रत्येक मुसलमान बादशाह ने 'शरीयत' के निदेशानुसार शासन-कार्य चलाने की असम्भवता का संकेत करते हुए उक्त रीति से राज-काज चलाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। भारत के मुगल-पूर्व बादशाहों में अल्तमश, बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक ऐसे व्यक्ति रहे, जिन्होंने भारत में मुस्लिम विधि-व्यवस्था लागू करने के औचित्य पर सन्देह प्रकट किया। आश्चर्य की बात है कि उनका प्रतिनिधित्व करनेवाला व्यक्ति एक उलमा—इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी—था। अपनी पुस्तक 'फतवाए जहांदारी' में, जिसमें राजनीति के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, उसने कहा है, "सच्चे धर्म का अर्थ है, पैगम्बर के चरण-चिह्नों पर चलना ... परन्तु इसके विपरीत, शाही शासन केवल खुसरो परवेज़ और ईरान के महान् बादशाहों की नीतियों का अनुगमन करके ही चलाया जा सकता है।" उसने स्वीकार किया कि "पैगम्बर मुहम्मद की परम्पराओं (सुन्नत) तथा जीवन-यापन के उनके ढंग और ईरानी बादशाहों के तौर-तरीकों तथा जीवन-यापन के ढंग के बीच पूर्ण असंगति और विरोध है।" उसने यह उल्लेख अवश्य किया है कि 'शरीयत'—परमात्मा के आदेश—का पालन राज्य के मामलों में केवल अपवादतुल्य अवसरों पर किया जा सकता है। मुहम्मद 'शरा' को इसलिए लागू कर सके कि वह परमात्मा से प्रत्यक्षतः प्रेरित थे और पहले चार खलीफा ऐसा करने में इसलिए समर्थ हो गए कि वे पैगम्बर के साथी थे। परन्तु उनके उत्तराधिकारियों के सामने ऐसे दो विकल्प आ उपस्थित हुए, जिनके बीच समझौता हो ही नहीं सकता था। वे विकल्प थे—पैगम्बर की परम्पराएं और ईरानी बादशाहों की नीति। वास्तविक स्थिति यह है कि "पैगम्बरी धर्म-विषयक परिपूर्णता की द्योतक है और बादशाहत सांसारिक ऐश्वर्य की परिपूर्णता की। ये दोनों परिपूर्णताएं प्रतिकूल तथा परस्पर-विरोधी हैं और उनका संगम सम्भावना की सीमा से परे है।"[1]

---

1. देखिए, 'फतवाए जहांदारी', 'मिडीवल इण्डिया क्वार्टरली' के खण्ड 3, अंक 1 और 2, जुलाई-अक्तूबर 1957, में प्रोफेसर हबीब और डा० अफसर बेगम-द्वारा किया गया अनुवाद, पृष्ठ 55

किसी उलमा ने अल्तमश के पास जाकर कहा था कि हिन्दू 'अहलेकिताब' नहीं हैं और इसीलिए उन्हें 'धिम्मियों' की भांति इस्लाम के संरक्षण में नहीं लिया जा सकता, अतः, उन्हें इस्लाम ग्रहण करने के लिए कहा जाना चाहिए और उनके ऐसा न करने पर उन्हें तलवार के घाट उतार देना चाहिए। अल्तमश ने इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपने वज़ीर का उत्तर जानना चाहा। वज़ीर ने कहा कि इस प्रार्थना को कार्य-रूप देना असम्भव है। जहां तक वलवन का सम्बन्ध है, इतिहासकार निज़ामुद्दीन ने कहा है, "वह (धर्म-विषयक मामलों की अपेक्षा) राज्य-विषयक मामलों को तरजीह देता था।"[1] वरनी का कथन है, "दण्ड देने और शाही अधिकार का प्रयोग करने में वह परमात्मा का भय छोड़ कर काम चलाता था और जिस बात को शासन के लिए हितकर समझता था, चाहे वह 'शरा' के अनुकूल हो या नहीं, उसे कार्य-रूप दे दिया करता था।"[2] काज़ी मुगीसुद्दीन के साथ हुआ अलाउद्दीन का वाद-विवाद प्रसिद्ध ही है। काज़ी से विदा होते समय उसने कहा था, "मैं जिस बात को शासन के लिए हितकर और समय की आवश्यकता समझता हूं, उसी के लिए आदेश देता हूं। मैं नहीं जानता कि कयामत के दिन वह सर्वेश्वर मेरे साथ क्या सलूक करेगा।"

मुहम्मद तुगलक के बारे में शेख अब्दुल हक ने ज़ोर देकर कहा है कि "उसने प्राधिकार को तर्क के आश्रित कर दिया था और सुनी जानेवाली बात को युक्ति-संगति के अधीन।" यहां 'प्राधिकार' का प्रयोग 'कुरान' और 'हदीस' के लिए और 'सुनी जानेवाली बात' का प्रयोग 'फिकः' के लिए किया गया है। वरनी ने शिकायत-भरे स्वर में कहा है, "उसकी (मुहम्मद तुगलक की) राजधानी से पैगम्बरी और सल्तनती, दोनों तरह के आदेश जारी किए जाते थे और उसने (अपने व्यक्तित्व में) बादशाह तथा पैगम्बर, दोनों के ओहदों को एकाकार कर लिया था।"

प्रोफेसर हबीब ने निष्कर्ष-स्वरूप कहा है, "यह सच है कि मुसलमान बादशाह, जिनमें से अधिकतर विदेशी वंशज थे, कोई छः-सात सौ साल तक भारत के राज-सिंहासनों पर बैठे, पर वे इसीलिए ऐसा कर पाए कि उनके राज्याभिषेक का अर्थ 'मुस्लिम शासन' का राज्याभिषेक नहीं था। यदि ऐसा न होता, तो उनका शासन एक पीढ़ी तक भी न चल पाता।"[3]

मुगल बादशाहों में से बाबर को बहुत थोड़े समय तक हुकूमत करने के कारण, और हुमायूं को बहुत अधिक कठिनाइयों में फंसे रहने के कारण प्रशासनिक बातों की ओर ध्यान देने का अवसर कम ही मिला। अकबर ने एक ऐसी राज्य-नीति का समारम्भ किया, जो इस्लाम के आदेशों पर आश्रित नहीं थी। सभी धर्मों के प्रति उसकी समदृष्टि थी और धर्म के आधार पर अपने प्रजाजनों में किसी प्रकार का भेदभाव न करना वह अपना कर्तव्य समझता था। गैर-मुसलमानों के लिए उसने उच्चतम पद सुलभ किए। उसने हिन्दू राजकुमारियों के साथ विवाह किए और

---

1. निज़ामुद्दीन अहमद, 'तबाकते अकबरी' (बी० दे-द्वारा सम्पादित मूल पाठ) खण्ड 1, पृष्ठ 82

2. ज़िआ बरनी, 'तारीखे फिरोज़शाही' (मूल पाठ)

3. देखिए, ऊपर उद्धृत 'मिडीवल इण्डिया क्वार्टरली', पृष्ठ 5

उन्हें अपना धर्म बनाए रखने तथा राजमहल में हिन्दू रीति-रिवाजों का पालन करने की छूट दी। उनके पुत्र मुगल राज-सिंहासन के उत्तराधिकारी बने। जिन बातों के सम्बन्ध में मुजतहिदों (मुस्लिम धर्माचार्यों) में मतभेद सम्भव हो, उन पर अन्तिम निर्णय देने का प्राधिकार स्वयं ग्रहण करके अकबर ने उलमाओं का हस्तक्षेप समाप्त कर दिया। अनेक सामाजिक तथा अन्य बातों में उसने अपने गैर-मुस्लिम प्रजाजन की भावनाओं तथा परम्पराओं के प्रति आदर-भाव व्यक्त किया। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसके द्वारा किया गया जज़िये का अन्त। अबुल फज़ल ने कहा है, "बादशाहत खुदा ही की देन है···और इस ऊंचे और शानदार रुतबे पर पहुंच कर जो व्यक्ति विश्व-शान्ति (सहिष्णुता) का समारम्भ नहीं करता और सभी दर्जों के मनुष्यों तथा सभी प्रकार के धर्मों के प्रति कृपादृष्टि और आदर-भाव नहीं रखता—ऐसा नहीं कि किसी के प्रति अपनी मां का व्यवहार करे और दूसरों के प्रति सौतेली मां का—तो वह उस ऊंचे और शानदार रुतबे के काबिल नहीं है।"[1] उसने आगे चल कर यह भी कहा है, "वर्मगत अन्तरों के कारण उसे संरक्षण के अपने कर्तव्य से विरत नहीं होना चाहिए और सभी वर्गों के मनुष्यों का सहारा बनना चाहिए, ताकि खुदा का वह प्रतिबिम्ब ज्योति की वर्षा कर सके।"[2] "अतः" इब्न हसन के शब्दों में, "इस्लामी विधि-व्यवस्था और 'हदीस', दोनों ही शासन-संहिता नहीं बने रह सके।"[3]

जहांगीर अपने पिता के शौर्य-सांचे में तो नहीं ढला था, फिर भी वह इन्हीं सिद्धान्तों की मूल भावना के अनुसार काम करता रहा। शाहजहां ने अपने प्रारम्भिक वर्षों में एक भिन्न पथ अपनाया और वह धर्मान्धता की कुछ बुरी-से-बुरी बातों को फिर चालू कर बैठा, पर बाद के वर्षों में वह कोमल-चित्त हो गया और उसका मूर्ति-ध्वंसक उत्साह फीका पड़ गया।

दुर्भाग्यवश औरंगज़ेब ने अकबर की नीति को उलट दिया, पर इच्छा करने पर भी वह 'शरा' (तलवारी कानून) की सर्वोच्चता स्थापित करने में सफल न हो सका। उसके चालीस वर्षों के मिथ्यानिदेशित प्रयत्नों का अन्त पूर्ण विफलता में हुआ। अन्तिम दिनों में निराशा और खेद ने उसकी आत्मा पर अधिकार कर लिया और उसने अपने मस्तिष्क में उथल-पुथल मचाती विनाश की पूर्वकल्पनाओं के साथ प्राण त्यागे। उसके पश्चात्, उसके उत्तराधिकारियों ने वह घातक मार्ग छोड़ दिया, पर उस समय तक साम्राज्य के विशाल भवन को असाध्य क्षति पहुंच चुकी थी।

भारत के मुसलमान बादशाहों और सुल्तानों ने इस्लाम की राज्य-विषयक धारणाओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया। इस्लामी सिद्धान्त के अनुसार सभी मुसलमान मिल कर एक अविभक्त समाज (मिल्लत) बनाते हैं और उस समाज के लिए एक ही मुसलमान सरदार आवश्यक है। दिव्य विधि-व्यवस्था पर आधारित एक सार्वभौम समाज और एक सार्वभौम राज्य इस्लामी राजनीति का सार रहा है।

---

1. अबुल फजल, 'अकबरनामा' (बीवरिज-द्वारा अनूदित), खण्ड 2 (कलकत्ता, 1912) पृष्ठ 421

2. वही, पृष्ठ 680

3. इब्न हसन, 'द सेण्ट्रल स्ट्रक्चर आफ द मुगल एम्पायर', पृष्ठ 61

उसके अन्तर्गत निर्वाचित राज्याध्यक्ष की आवश्यकता थी, जिसे 'अमीरुलमोमिनीन, या 'खलीफा' कहते थे। इस उच्च पद के लिए चुने जानेवाले व्यक्ति को कुछ शर्तें पूरी करनी होती थीं और चुने जाने पर उसे कुछ विशेषाधिकार मिलते थे। उसके काम थे—धर्म की रक्षा करना और पवित्र विधि-व्यवस्था के अनुरूप मुस्लिम साम्राज्य के सांसारिक मामलों का प्रशासन करना।

समय के बहाव के साथ-साथ इस धारणा की प्रभावोत्पादकता क्रमशः समाप्त हो गई। उमय्यद खलीफाओं ने उक्त निर्वाच्य पद को वंशानुगत बना दिया। अब्बासिदों के समय में खलीफा की नाममात्र की प्रभुसत्ता तो मानी जाती रही, पर प्रान्तों के शासकों ने उल्लेखनीय रूप से स्वतन्त्र रियासतें कायम कर लीं। सन् 1258 में मंगोलों-द्वारा अब्बासिदों के उच्छेदन के उपरान्त खलीफा के प्रति दिखावटी निष्ठा का भी अन्त हो गया।

इस प्रकार इस्लाम—समाज, राज्य और विधि-व्यवस्था की सार्वभौमिकता के अपने मूलभूत सिद्धान्तों के बावजूद—अमान्य ठहराया गया। जिन शासकों ने अपने को अपने-अपने प्रदेशों का सम्राट् बना लिया, वे वस्तुतः उन लोगों के रीति-रिवाजों तथा प्रथा-परम्पराओं पर आधारित विशिष्टताओं के ही संरक्षक बने, जिन पर वे अपने अधिकार का प्रयोग करते थे।

कुछ प्रारम्भिक भारतीय शासक खलीफा के प्रति नाममात्र का आदर-भाव व्यक्त करते रहे, पर तेरहवीं शताब्दी के मध्य के बाद, जबकि खिलाफत का प्रधान स्थल बगदाद मंगोलों के हाथ में आ गया और खलीफा को मिस्र में जाकर शरण लेनी पड़ी, तब इस्लामी समाज-रूपी धुरी की कील निकल गई और परिणामतः इस्लामी राजतन्त्र भी विलीन हो गया।

बाबर-द्वारा भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किए जाने के समय खिलाफत उथमन के घराने में पहुंच चुकी थी। चगताई तुर्क होने के नाते बाबर के हृदय में अनातोलवी तुर्क के दावों के प्रति कोई आस्था न थी। उधर सफावियों ने ईरान को एक शिया-साम्राज्य में परिणत कर दिया था, सुन्नी खिलाफत के दावों को अस्वीकार कर दिया था और लगभग दिव्य आदर-भाव के वे दावेदार बन बैठे थे! यह स्थिति सचमुच चित्ताकर्षक थी।[1] मध्य-एशिया से आने और मातृ-पक्ष में चंगेज़ खां का वंशज होने के कारण बाबर को एक ओर ईरान का उदाहरण और दूसरी ओर मंगोलों की बादशाही परम्पराएं प्राप्त थीं। उन्हीं के प्रभाव में मुगल बादशाही व्यवस्था का विकास हुआ।

अपने पद के स्वरूप के सम्बन्ध में मुगल बादशाहों की धारणा ईरानी और गैर-इस्लामी थी। बादशाह अपने-आपको न तो मुस्लिम समाज का निर्वाचित मुखिया समझता था और न वफादारों के खलीफा का प्रतिनिधि और आश्रित; वह तो अपने को परमात्मा का प्रतिबिम्ब (जिल्लेअल्लाह) मानता था। इसकी व्याख्या करते हुए अबुल फजल ने लिखा है, "राजसत्ता परमात्मा की ओर से आनेवाली रोशनी है······आधुनिक शब्दावली में इस प्रकाश को 'फर्रेइजीदी' (दिव्य ज्योति)

1. देखिए, ई० जी० ब्राउन, 'हिस्टरी आफ परशियन लिटरेचर इन माडर्न टाइम्स', 1924, पृष्ठ 494; तथा लेवी, 'द सोशल स्ट्रक्चर आफ इस्लाम', पृष्ठ 373

कहते हैं और प्राचीन काल में इसे 'कियान खुरा' (भव्य प्रभामण्डल) कहा जाता था। परमात्मा किसी दूसरे व्यक्ति की मध्यस्थता के बिना यह प्रकाश बादशाहों को प्रदान करता है और इसके सामने आने पर मनुष्य विनीत भाव से नतमस्तक हो जाते हैं।"[1]

जहांगीर मानता था कि "प्रभुसत्ता और विश्वशासन के काम ऐसे नहीं होते, जो कुछ दूषित बुद्धिवाले व्यक्तियों के निरर्थक प्रयासों के आधार पर चलाए जा सकें। वे काम तो सर्वस्रष्टा परमात्मा कृपापूर्वक उन व्यक्तियों को सौंप देता है, जिन्हें वह इस गरिमामय तथा उच्च दायित्व के निर्वाह-योग्य समझता है।"[2]

औरंगज़ेब अपने-आपको परमात्मा का प्रतिबिम्ब, अपने समय का खलीफा तथा 'पृथ्वी पर परमात्मा का वकील' मानता था और 'आलमगीर जिन्दापीर' के नाम से विख्यात था।

ये उपाधियां तथा उपनाम ईरान तथा बाइज़ेंटियम के प्राचीन शासकों ('किसरा' और 'कैसर') के दावों तथा हिन्दू-सम्राटों की उपाधियों का स्मरण दिलाते हैं, पर वे खिलाफत अथवा सुल्तानी की उन इस्लामी मान्यताओं के साथ बिल्कुल मेल नहीं खाते, जहां उक्त पद निर्वाचन के आधार पर 'मिल्लत' (समाज) द्वारा दिए जाते थे। पुश्तैनी पादशाह-जैसे किसी व्यक्ति का अस्तित्व मुस्लिम विधि-व्यवस्था में नहीं है।

मध्य-कालीन भारतीय राज्य-व्यवस्था की तुलना मध्य-कालीन यूरोप की सामन्ती राज्य-व्यवस्था के साथ की गई है। वस्तुतः इन दोनों में बहुत कम समानता है। यूरोपीय राज्य-व्यवस्था, वास्तव में, एक विशेष प्रकार की सैनिक भू-पट्टेदारी पर आधारित कुलीनतन्त्री संरचना थी। सामन्ती सरदारों में वंशगत भू-सम्पत्तिधारियों की ऐसी श्रृंखला बन गई थी, जिसके ऊपरी सिरे पर बादशाह था और निचले सिरे पर 'नाइट' (Knight)। इसके विपरीत, मुगलों का कुलीनतन्त्र एक ऐसा अधिकारतन्त्र था, जो पूर्णतः सम्राट् की सदाशयता पर आधारित था। उन कुलीनों का यहां की धरती के साथ सहज सम्बन्ध न था; वे लोग वंशानुगत भूस्वामी नहीं थे। इस देश में सम्पत्ति के आधार पर नहीं, मुख्यतः जन्म के आधार पर पदों पर नियुक्तियां की जाती थीं। यहां की शासन-व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र न थी; उसे तो नगदी अथवा भूराजस्व के हिस्से के रूप में रकमें शाही खज़ाने से ही प्राप्त होती थीं। इन हिस्सों में प्रायः फेर-बदल हो जाता था और कुलीनों की सम्पत्ति उनकी मृत्यु होने पर शासन-द्वारा ज़ब्त की जा सकती थी। उक्त पद पुश्तैनी नहीं थे, यद्यपि बाद में पुश्तैनी नियुक्तियों की प्रवृत्ति हो गई थी। यहां का कुलीनतन्त्र सामन्ती कुलीनतन्त्र होने की अपेक्षा एक स्वल्पतन्त्रीय वर्ग ही अधिक था।

गम्भीर अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि मध्य-कालीन भारत की राज्य-व्यवस्था में सीमित शक्तियों और व्यापक उत्तरदायित्वों का विचित्र संगम था। यदि उसकी सीमाओं पर ध्यान दिया जाए, तो उसे आधुनिक अर्थों में प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य-व्यवस्था कहना कठिन हो जाता है। आधुनिक प्रभुसत्ता अपने-आपको

---

1. अबुल फज़ल, 'आईने अकबरी' (प्रो० ब्लोचमन-द्वारा अनूदित), खण्ड 1 (कलकत्ता, 1927), पृष्ठ 3

2. 'तुज़ुके जहांगीरी' (रोजर-कृत अनुवाद), खण्ड 1, पृष्ठ 51

तीन अंगों—विधानांग, कार्यांग और न्यायांग—के माध्यम से अभिव्यक्त करती है। सर्वोच्च सत्ता के कार्य हैं—कानून बनाना और उनका परिपालन कराना तथा न्याय करना।

मध्य-कालीन भारतीय राज्य-व्यवस्था को कानून बनाने का प्राधिकार प्राप्त नहीं था। जहां तक मुसलमानों का सम्बन्ध था; यह अधिकार उनके अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद साहब के साथ ही समाप्त हो गया, जिनके माध्यम से परमात्मा ने अपनी इच्छाएं और आदेश सदा-सर्वदा के लिए व्यक्त कर दिए थे। दिव्य कानून में जोड़-तोड़ या फेर-बदल की आवश्यकता नहीं होती। लोगों की नित्यप्रति की आवश्यकताओं में उसका प्रयोग-उपयोग राज्याध्यक्ष का काम न होकर उलमाओं का काम है। वे ही कानून प्रस्तुत करते हैं और जीवन की परिवर्तनशील स्थितियों तथा परिस्थितियों के अनुरूप उनकी व्याख्या करते हैं।

हिन्दुओं को भी किसी विधि-निर्माण की आवश्यकता न थी। जीवन के सभी पक्षों का नियन्त्रण करने के लिए उन्हें अपनी प्राचीन विधि-संहिताएं प्राप्त थीं। और मित्र मिश्र तथा रघुनन्दन-जैसे विद्वानों ने उनके ऐसे भाष्य प्रस्तुत कर दिए थे, जो राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र रह कर न्याय-कार्य करने में हिन्दू न्यायाधीशों (शास्त्रियों) का मार्गदर्शन करते थे।

इस्लामी विधि-व्यवस्था (फिक:) में उन दिव्य नियमों की जानकारी सन्निहित थी, जिनका सम्बन्ध मनुष्यों के काम के साथ था और जिनमें बताया गया था कि कौन-से काम अवश्य करणीय हैं और कौन-से काम निषिद्ध; क्या काम उचित अथवा प्रस्तावित हैं, क्या अनुचित अथवा अनुमोदित और किन कामों के लिए छूट-मात्र दी गई है। यह व्यवस्था 'कुरान' और 'हदीस' में से उद्भूत है। इस प्रकार, स्पष्ट है कि मुस्लिम विधि-व्यवस्था अत्यन्त व्यापक है और उसमें व्यक्ति तथा समाज के जीवन से सम्बन्धित सभी बातों—व्यक्तिगत और निजी तथा सार्वजनिक (दीवानी, फौजदारी और संवैधानिक बातों-सहित)—का समावेश है। मनुष्य के पूर्णतः व्यक्तिगत और निजी मामलों में उसके विश्वास, श्रद्धा तथा पूजन-विधि का समावेश है, जिसे 'इबादत' की संज्ञा दी गई है। मुस्लिम विधि-संहिता में उन बातों के सम्बन्ध में बहुत ही कड़े नियम निर्धारित हैं। दीवानी विधि-व्यवस्था के अन्तर्गत मामलों का विवेचन दो मुख्य शीर्षों में किया गया है: (1) विवाह, और (2) सम्पत्ति। इनमें से पहले शीर्ष के अन्तर्गत सगोत्रता और पात्रता, विधवा-विवाह तथा विवाह-विच्छेद के प्रश्न आते हैं और दूसरे के अन्तर्गत उत्तराधिकार, क्रय-विक्रय, ब्याज और भाड़े के। सार्वजनिक कानूनों का सम्बन्ध राजनीतिक मामलों—खिलाफत और शासन, गैर-मुस्लिम प्रजाजन के साथ मुस्लिम सरकार के सम्बन्धों, मुसलमानों के प्रति सरकार के कर्तव्यों और अपराध तथा दण्ड-व्यवस्था—से है।

जहां तक 'इबादत' का सम्बन्ध है, 'शरा' के नियमों का पालन करना प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य है। उनमें से कुछ, विशेषतः रहस्यवादियों (सूफियों) ने उन नियमों को यन्त्रतुल्य तथा औपचारिक माना और इसीलिए उन्होंने, उनकी वैधता को अस्वीकार किए बिना भी, उन्हें रहस्य-पद्धति-द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए किए जानेवाले सन्धान का आश्रित बना दिया। भारत में उलमाओं और सूफियों

में बराबर दो वर्ग बने रहे हैं। उनमें से एक शरीयत पर जोर देता और उससे हटने को निन्द्य कार्य ठहराता रहा है और दूसरे का विचार रहा है कि वैधत्व के प्रति आग्रहशील बने रहने की अपेक्षा रहस्य-साधना अधिक श्रेयस्कर है। औरंगजेब और दाराशिकोह इन दो प्रतिस्पर्धी वर्गों के उत्कृष्ट प्रतिनिधि रहे हैं।

जहां तक विवाह और सम्पत्ति से सम्बन्धित कानूनों की बात है, उनका आम तौर से पालन तो किया जाता था, पर उनमें से प्रत्येक के क्षेत्र में गहरे अतिक्रमण होते रहते थे। मुसलमानों ने हिन्दुओं की बहुत-सी वैवाहिक प्रथाएं अपना ली थीं और वे ऐसी अनेक बातों—उदाहरणतः विवाह के लिए पात्रता-निर्धारण करते समय रक्त-सम्बन्ध की मात्रा निर्धारित करने, जाति और श्रेणी विभाजनों के आधार पर सगोत्र अथवा बहिर्गोत्र विवाह की सीमाएं निर्धारित करने, विवाह-विषयक इकरार से सम्बद्ध प्रथाओं के पालन से सम्बन्धित बातों—का पालन करने लगे थे, जो इस्लामी विधि-व्यवस्था के प्रतिकूल थीं। भारत के अनेक भागों में उत्तराधिकार-विषयक कानूनों का स्थान प्रथा (उर्फ) ने ले लिया था। विधवा-विवाह और विवाह-विच्छेद, हिन्दुओं की ही भांति, बुरी नजर से देखे जाते थे।"[1]

मुसलमानों और हिन्दुओं के बीच विवाह-सम्बन्ध बहुत कम होते थे, पर शासक परिवारों में इस प्रकार होनेवाले विवाहों को पर्याप्त मान्यता प्राप्त थी। मुगल बादशाह इस नीति पर चलनेवाले पहले व्यक्ति न थे। उनसे बहुत पहले कश्मीर में हिन्दू-मुस्लिम विवाह हो चुके थे। ज़ैनुल आबेदीन (1420-70) ने जम्मू के राजा मानकदेव की दो पुत्रियों से विवाह किया था।"[2] मानकदेव की एक पुत्री का विवाह मुस्लिम गक्खर-सरदार, राजा जसरथ, के साथ हुआ था।"[3]

दक्कन के बहमनी शासकों ने हिन्दू-परिवारों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया। ताजउद्दीन फिरोज (1397-1422) ने विजयनगर के देवराय और खेरला के नरसिंह राव की पुत्रियों के साथ विवाह किया।"[4] नौवें बहमनी शासक, अहमद शाह वली, ने सोनखेड़ के राजा की पुत्री से विवाह किया। बीजापुर के सुल्तान यूसुफ आदिलशाह (देहान्त सन् 1510) ने एक ब्राह्मण मुकुन्द राव की बहन को पत्नी बनाया और वही उसकी प्रधान रानी बनी। बिदर के अमीर बारिद (देहान्त सन् 1359) ने भी ऐसा ही किया।"[5]

---

1. देखिए, सी० एल० टुप्पर, 'पंजाब कस्टमरी लाज़'; आर० बर्न, 'सेंसस आफ इण्डिया', 1901, खण्ड 16, भाग 1, पृष्ठ 92 और आगे

2. देखिए, जोनराज-कृत 'राजतरंगिणी' (जे० सी० दत्त-द्वारा अनूदित), पृष्ठ 86; श्रीवर-कृत 'ज़ैन राजतरंगिणी' (जे० सी० दत्त-द्वारा अनूदित), पृष्ठ 194

3. 'द इण्डियन एंटिक्वेरी', खण्ड 36, 1907, पृष्ठ 8

4. एच० के० शेरवानी, 'द बहमनीज़ आफ द डेक्कन' (1953 का संस्करण), पृष्ठ 144 और आगे

5. एम० जी० रानडे, 'द राइज़ आफ मराठा पावर', पृष्ठ 31; जान ब्रिग्स, 'हिस्टरी आफ द राइज़ आफ द मोहेमडन पावर इन इण्डिया', खण्ड 3, (कलकत्ता, 1910), पृष्ठ 495-6

अकबर, जहांगीर, फर्रुखसियर, सुलेमान शिकोह और सिपिहर शिकोह ने हिन्दू राजकुमारियों को पत्नी बनाया। कच्छ के हिन्दू शाही घरानों ने मुसलमानों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित किए।[1]"

इसके विपरीत, हिन्दू जातिगत बाधाओं में इतने अधिक ग्रस्त थे कि वे मुस्लिम महिलाओं को अपने महल के अन्तःपुर में स्थान न दे सके। फिर भी, हिन्दुओं और मुसलमानों के विवाह अविदित नहीं हैं। राजौरी, लद्दाख और बालतिस्तान में जहांगीर को इन दोनों जातियों के पारस्परिक विवाह-सम्बन्धों का पता चला था।"[2] पेशवा बाजीराव प्रथम का मस्तानी के साथ प्रणय-सम्बन्ध विख्यात है। वह एक नर्तकी थी, जो पेशवा की स्थायी सहचरी बनी और "बाजीराव के अभियानों में बराबर उसके साथ रही तथा रकाब-से-रकाब मिला कर उसके साथ घुड़सवारी करती रही।"[3] सन् 1734 में उसने पेशवा के पुत्र शमशेर बहादुर को जन्म दिया, जिसका लालन-पालन एक मुसलमान के तौर पर हुआ, क्योंकि ब्राह्मणों ने उसे हिन्दू-समाज में संरक्षण देने से इन्कार कर दिया। सन् 1753 में शमशेर बहादुर राघोबा के साथ उत्तर में गया और कुम्भेर तथा दिल्ली के आगे होनेवाली लड़ाइयों में उसने भाग लिया। सन् 1755 में उसने विद्रोही सरदार तुलाजी अंगरिया के विरुद्ध अभियान का संचालन किया। सन् 1761 में वह पानीपत में मारा गया। उसका पुत्र अली बहादुर जागीर का उत्तराधिकारी बना। सन् 1787 में जब महादजी सिन्धिया को हार खानी पड़ी, तब उसकी सहायता के लिए पेशवा के घराने के प्रतिनिधि-रूप में अली बहादुर के नायकत्व में दक्षिण से सेनाएं भेजी गईं। अली बहादुर को, सिन्धिया को बीच में लाए बिना, राजपूतों के साथ बातचीत करने की गुप्त हिदायतें दी गई थीं।

यहां यह उल्लेख करना रोचक होगा कि बहुत-से परिवारों की दो, अर्थात हिन्दू और मुस्लिम, शाखाएं थीं और वे कई पीढ़ियों तक अपना वह परिवारजन्य सम्बन्ध बनाए रहे।

'रिबा' अर्थात् ब्याज देने-लेने पर रोक लगानेवाले धर्मादेश के सम्बन्ध में भी ऐसी ही शिथिलता रही। उसे कार्य-रूप दिया जाना असम्भव जान पड़ा। कुछ धर्मप्राण मुसलमानों ने तो ब्याज लेना स्वीकार नहीं किया, दुर्बल आचारवाले लोग धर्म तथा धन के बीच सौदा कर दिखाने के लिए चतुराईपूर्ण हथकण्डों से काम लेते रहे।

मुस्लिम फौजदारी विधि-व्यवस्था को कार्य-रूप देना तो बहुत ही कठिन था। अपराध सिद्ध करने के लिए जो शर्तें रखी गई थीं, वे अनेक मामलों में ऐसी थीं, जिनकी पूर्ति सम्भव ही न थी। मिसाल के तौर पर, बलात्कार के अपराध में सजा देने के लिए चार गवाहों की साक्षी आवश्यक थी। दण्ड बहुत ही निर्ममतापूर्ण थे——चोरी के लिए अंग-भंग कर देना, व्यभिचार के लिए पत्थरों अथवा कोड़ों की मार और

1. यदुनाथ सरकार, 'हिस्टरी आफ औरंगज़ेब', खण्ड 2, पृष्ठ 163, पाद-टिप्पणी
2. 'तुज़ुके जहांगीरी' (रोजर-कृत अनुवाद), खण्ड 2, पृष्ठ 181
3. 'तारीखे मुहम्मद शाही', जी० एस० सरदेसाई-द्वारा 'न्यू हिस्टरी आफ द मराठाज़' के खण्ड 2 में पृष्ठ 178 पर उद्धृत

धर्मविमुखता के लिए मृत्युदण्ड । आश्चर्य की बात यह है कि हत्या को समाज के प्रति अपराध न मान कर स्वयं उस व्यक्ति तथा उसके परिवार के प्रति किया गया बुरा काम माना जाता था। अतः, उक्त अपराध का तथ्य-निर्धारण तो न्यायाधीश कर देता था, पर उसके दण्ड-निर्धारण का कार्य क्षतिग्रस्त व्यक्ति के सम्बन्धियों की इच्छा पर छोड़ दिया गया था । वे चाहते, तो हत्यारे को प्राणदण्ड दिला सकते थे अथवा उस खून के बदले धन ले सकते थे।

भारत में यह अनुभव किया गया कि कानून की शर्तें पूरी करना कठिन है। अतः, फौजदारी प्रशासन का बहुत-सा काम काज़ी के हाथ से निकल कर सरकारी अधिकारियों के हाथ में चला गया।

सरकार की संरचना और उसके कामों की व्याख्या करनेवाले नियमों को भारत में कोई मान्यता प्राप्त न थी। विधिवेत्ताओं और व्यवहार-प्रधान राजमर्मज्ञों ने यह मान लिया था कि 'शरीयत' विधि-व्यवस्था भारतीय परिस्थितियों के लिए उपयुक्त नहीं है और कर अथवा भूराजस्व लगाने अथवा सरकारी सेवाओं तथा सेना के गठन-जैसे मामलों में पुनीतचरित्र खलीफाओं की परम्पराओं का पालन करना सम्भव नहीं है।

प्रारम्भिक खलीफ़ाओं-द्वारा स्थापित मुस्लिम पद्धति के अन्तर्गत राज्य के राजस्व के प्रधान स्रोत दो भागों में विभक्त थे। मुसलमानों को 'ज़कात' (धर्म-दान-कर) और 'खराज' (भूमि-कर) देने पड़ते थे और सरकारी संरक्षण प्राप्त करनेवाले गैर-मुसलमानों को 'जज़िया' और 'खराज' देने होते थे।

भारत में सरकारी तौर पर 'ज़कात' प्रायः नहीं इकट्ठा किया गया और इसीलिए सरकारी राजस्व की दृष्टि से इसका अस्तित्व नहीं के बराबर रहा। भूराजस्व राज्य के सभी प्रजाजनों पर समान रूप से लागू था और उसका भार भी सब पर समान था। हां, उसके निर्धारण और वसूली के लिए भारत में अपनाए जानेवाले तरीके खिलाफत के मातहत आनेवाली ज़मीन के लिए अपनाए गए तरीकों से स्वभावतः भिन्न थे। भारतीय पद्धति मूलतः हिन्दू थी, जिसमें भारत में प्राप्त अनुभव के आधार पर संशोधन कर लिए गए थे।

'जज़िया' कभी-कभी लगाया गया। मुगलों से पहले के समय में फिरोज़ तुगलक और सिकन्दर लोदी ने यह कर लगाया। सन् 1569 से 1763 तक यह हटा रहा। औरंगज़ेब ने 14-वीं और 15-वीं शताब्दी की पुरानी प्रथाएं फिर आरम्भ कर दीं। परन्तु उसने यह अनुभव नहीं किया कि 'जज़िया' केवल कानून के नाते ही नहीं, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के नाते भी बुरा था।

औरंगज़ेब-द्वारा 'जज़िया' का लगाया जाना कानून के नाते बुरा था, क्योंकि ऐसा करना भारत में मुस्लिम परम्पराओं के प्रतिकूल था और इसने उन परिस्थितियों का भी प्रतिवाद किया, जिनमें इसे लगाया जाना चाहिए था। मुस्लिम विधि-व्यवस्था के अनुसार, यह दो दलों के बीच होनेवाले इकरार के कर-भार की अदायगी है और इसी शर्त पर चुकाया जाता है कि दोनों पक्ष इकरार की शर्तें पूरी कर दें। प्रस्तुत प्रसंग में एक ओर था मुसलमानों का नायक और दूसरी ओर गैर-मुसलमान प्रजा। 'जज़िया' के लिए 'कुरान' का अनुमोदन प्राप्त है, जिसमें कहा गया है कि मुसलमानों का कर्तव्य है "उन लोगों से युद्ध करना, जो परमात्मा को नहीं

मानते······सच्चे धर्म को नहीं अपनाते और जिनके अपने धर्मशास्त्र हैं, बशर्ते कि वे दासता में रहते हुए व्यक्तिगत रूप से 'जज़िया' न चुकाएं।"[1]

पैगम्बर और उनके एकदम बाद के उत्तराधिकारियों अर्थात् चारों पुनीत-चरित्र खलीफाओं ने यहूदियों, ईसाइयों और आगे चल कर पारसियों के साथ करार किए और कुरान के आदेश को कार्य-रूप दिया। इस विषय में इन्हीं पूर्वोदाहरणों ने मुस्लिम विधि-व्यवस्था को आधार प्रदान किया।

विधि-व्यवस्था यह है कि जो गैर-मुसलमान मुस्लिम-शासन को स्वीकार कर लेते हैं, वे 'धिम्मी' हैं। 'धिम्मी' शब्द का अर्थ है एक इकरार, जिसके प्रति आस्थावान रहना मुसलमान स्वीकार कर लेता है और जिसका उल्लंघन उसे 'धम्म' (निन्दा) का पात्र बना देता है।" इस इकरार से गैर-मुसलमानों को ऐसे कुछ अधिकार मिल जाते हैं, जिनकी रक्षा करना मुस्लिम राज्य का कर्तव्य हो जाता है। इन अधिकारों में जान और माल की रक्षा और एक अनिश्चित 'अमान' (गारंटी) शामिल है। इसके बदले में 'धिम्मी' उस संरक्षण के मूल्य के रूप में 'जज़िया' अदा करने और मुसलमानों के हितों को हानि पहुंचानेवाले काम से बचने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेता है। इस इकरार में धिम्मियों को लड़ाई में भाग लेने से छूट भी दे दी जाती है। जज़िये की रकम बदलती रहती थी, पर अन्त में यह निश्चित कर दिया गया कि इस कर के रूप में 'धिम्मी' की अदा कर सकने की क्षमता को देखते हुए बारह, चौबीस और अड़तालीस 'दिरहम' तक वसूल कर लिए जाएं। लड़ने में असमर्थ व्यक्तियों को कर नहीं देना पड़ता था। इस प्रकार, बूढ़ों, स्त्रियों और बच्चों को इससे छूट मिल गई थी। मुहम्मद बिन कासिम ने इस वर्ग में ब्राह्मणों को भी शामिल किया था, पर फिरोज़ तुगलक ने उन्हें इस वर्ग से अलग कर दिया।

मुहम्मद ने यहूदियों के साथ जो समझौता किया था, उसमें यहूदियों की ओर से युद्ध-व्यय में अंशदान देने की ही व्यवस्था थी, उन्हें युद्ध के समय सेना में शामिल नहीं होने दिया जाता था। उसने ऐसे ही फरमान अरब देश के विभिन्न भागों के धर्म-शास्त्रियों के नाम जारी कर दिए। 'जज़िया' की अदायगी के बदले में नजरां के ईसाइयों को यह भरोसा दिलाया गया था कि "उनकी जान, माल, ज़मीन, धर्म, उपस्थित-अनुपस्थित, उनके परिवारों, उनके गिरजाघरों और उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति की रक्षा की जाएगी। किसी पादरी को अपना पादरी-जीवन छोड़ने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। उन्हें किसी प्रकार दुखी या अपमानित नहीं किया जाएगा।"[2]

अबू बक्र और उमर ने ईराक और सीरिया के ईसाइयों के साथ ऐसे ही समझौते किए। ऐसे मामलों के प्रमाण मिलते हैं, जब खलीफा ने इसलिए जज़िया माफ कर दिया और धन लौटा दिया कि वह 'धिम्मियों' की रक्षा की गारंटी नहीं दे सकता था। ऐसी भी कुछ स्थितियां रही हैं, जब 'धिम्मियों' को इस कारण इस अदायगी से छूट दे दी गई कि उनके लिए लड़ाइयों में भाग लेना आवश्यक हो गया।"[3]

बाद के धर्मन्यायवेत्ता 'जज़िया' लगाने में निहित मूल भावना से अलग

---

1. शरा, 9–29
2. अबू यसुफ, 'किताबल खराज', पृष्ठ 72-73
3. बलाधुरी, 'फुतूहल बुलदां'

हट गए और उन्होंने इस सम्बन्ध में विस्तृत नियम बना लिए । उन नियमों को बारह शीर्षों के अन्तर्गत रखा गया, जिनमें से छ: के अन्तर्गत की गई व्यवस्थाएं अनिवार्य थीं; अत: उनमें से किसी के भी उल्लंघन से करार खण्डित हो जाता था। बाकी छ: शीर्षों में उन कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को स्थान दिया गया था, जिन्हें वांछनीय माना गया था । इस दूसरे वर्ग में ऐसे नियम शामिल थे, जिनका सम्बन्ध 'धिम्मियों' द्वारा विशेष प्रकार के कपड़े पहने जाने, घुड़सवारी करने, गिरजाघर की घंटियां ज़ोर-ज़ोर से बजाने और मुस्लिम कब्रिस्तान में मुर्दे दफनाने के साथ था। आगे चल कर इनमें और अनेक दुखदायक बातें जोड़ दी गईं। मिसाल के तौर पर, नए धर्म-स्थान बनाने अथवा पुराने स्थानों की मरम्मत पर रोक लगा दी गई और यह आवश्यक कर दिया गया कि 'जज़िया' व्यक्तिगत रूप से और पूर्ण विनम्रतापूर्वक अदा किया जाए । इन असहनीय मांगों के समर्थन के लिए उमर का फरमान जारी किया गया, पर उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लोगों को सन्देह है।"[1]

औरंगज़ेब ने जो कदम उठाया, वह उस प्रच्छन्न समझौते का उल्लंघन था, जो अकबर के समय से चला आ रहा था। कानूनी तौर पर यह कदम इसलिए अवैध था कि उसने हिन्दुओं से 'जज़िया' भी लिया और उन्हें अपने मुस्लिम और हिन्दू शत्रुओं—मध्य-एशिया, अफगानिस्तान और दक्कन के मुसलमानों तथा हिन्दू मराठों—के साथ लड़वाया भी।

अर्थशास्त्र की दृष्टि से भी 'जज़िया' उपयुक्त नहीं था, क्योंकि इसका सबसे अधिक भार उन्हीं पर पड़ता था, जिनमें इसे सहन करने की क्षमता सबसे कम थी। 52 रुपये वार्षिक से कम मूल्य की सम्पत्ति रखनेवाले व्यक्तियों के निर्धनतम वर्ग को प्रति वर्ष 3 रुपये 2 आने देने पड़ते थे; 52 रुपये से 2,500 रुपये तक कमानेवालों अर्थात् मध्यम वर्गवालों को 6 रुपये 4 आने प्रति वर्ष देने पड़ते थे; परन्तु 2,500 रुपये से अधिक आयवाले व्यक्तियों को प्रति वर्ष केवल 12 रुपये 8 आने देने पड़ते थे। यह बात उचित वित्त-व्यवस्था के सभी सिद्धान्तों के प्रतिकूल थी।

राजनीति की दृष्टि से भी यह ठीक नहीं था। इससे निर्धनों के साथ निर्दयता का व्यवहार होता था और अमीरों पर कम बोझ पड़ता था । इन निर्धनों में वे ग्रामवासी होते थे, जिनके लिए 'जज़िया' उन बहुत-से करों में से एक था, जो उन्हें हर हाल में अदा करने ही होते थे। उसका संग्रह अन्य देनदारियों के साथ किया जाता था। हिन्दू 'मुकद्दम' और ज़मींदार इसे हिन्दू असामियों से वसूल करके शाही अधिकारियों को सौंप देते थे। इस प्रकार इसकी अदायगी विपत्तिजनक होकर भी अपमानजनक नहीं होती थी। दूसरी ओर, यद्यपि 'जज़िया' शहरों में आर्थिक दृष्टि से इतना अधिक असुविधाजनक तो न था, परन्तु इसके साथ हीनता की छाप सहज रूप से लगी थी और कभी-कभी इसके कारण विद्वेषपूर्ण धर्मान्धों की ओर से अपमान भी सहने पड़ जाते थे। इसने उच्च वर्ग में विक्षोभ और गहरी निराशा का भाव उत्पन्न कर दिया।

मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच विभेद करनेवाले अन्य कर भी इतने ही अनुचित और गैर-कानूनी थे। हिन्दू और मुसलमान व्यापारियों में भेद करनेवाले व्यापार-विषयक कर और शुल्क इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

1. देखिए, मजीद खादुरी, 'वार ऐण्ड पीस इन द ला आफ इस्लाम', पृष्ठ 194

2. न्याय-प्रशासन

सरकार की न्याय-विषयक गतिविधि बहुत ही सीमित थी। गैर-मुसलमानों पर इसका प्रभाव बहुत ही सीमित क्षेत्र में पड़ता था। औरंगज़ेब ने अनुभव किया कि "गैर-मुस्लिम प्रजाजन अर्थात् 'ज़िम्मियों' पर इस्लाम के कानून लागू नहीं होते; उनके मामले उनके अपने धर्म-सिद्धान्तों के ही आधार पर नियन्त्रित किए जाने चाहिए।"[1] हिन्दू केवल फौजदारी के मामलों में काज़ियों के सामने पेश होते थे। परन्तु जहां तक अपराध का सम्बन्ध था, न्यायाधीशों का काम केवल सम्बद्ध व्यक्ति को अपराधी घोषित करना था, उसे दिए जानेवाले दण्ड का निर्णय मुद्दई की इच्छा पर निर्भर होता था। इसके अलावा, उन बहुत-से हिन्दुओं और मुसलमानों को, जो गांवों में रहते थे, गांव में ही किए जानेवाले उस इन्साफ से सन्तुष्ट रहना पड़ता था, जहां काज़ी सरकारी तौर पर नियुक्त अधिकारी नहीं होते थे।

उस समय की न्याय-व्यवस्था यूरोप अथवा आज के भारत की परिचित व्यवस्था से सर्वथा भिन्न थी। अदालतों की कोई ऐसी क्रमबद्ध शृंखला नहीं थी, जिनके क्रमबद्ध क्षेत्राधिकार हों। प्रत्येक काज़ी की अदालत में पहले-पहल मुकदमा भी पेश हो सकता था और वहीं उसकी अपील भी दायर की जा सकती थी। सच तो यह है कि उस समय सही अर्थ में अपीली क्षेत्राधिकार से लोग परिचित ही नहीं थे, यद्यपि मूल अदालत से भिन्न दूसरी अदालत में मुकदमा चलाया जा सकता था। न्यायाधीश को जांच-पड़ताल करने का भी अधिकार था और सज़ा देने का भी। प्रत्येक काज़ी, छोटे या बड़े, सभी तरह के दीवानी और फौजदारी मामलों की सुनवाई कर सकता था और उस पर अपराध या सम्पत्ति के क्षेत्राधिकार का कोई बन्धन न था। उसके सामने धार्मिक विधि-व्यवस्था और सामान्य विधि-व्यवस्था, दोनों के ही मामले आते थे।

न्यायिक अधिकारियों का प्रशासन शहरों और बड़े-बड़े नगरों—साम्राज्य की राजधानी, प्रान्तों के मुख्य नगरों, सरकारों (ज़िलों) और परगनों—तक सीमित था। साम्राज्य के प्रधान काज़ी (काज़ी-उल-कुज़ात) और प्रान्तीय काज़ियों की नियुक्ति स्वयं बादशाह करता था। सरकारों और परगनों के काज़ी शाही सनद के अधीन नियुक्त किए जाते थे तथा प्रधान काज़ी का विभाग उनके नाम नियुक्तिपत्र जारी करता था। एक बार नियुक्त हो जाने पर काज़ी का प्रायः तबादला नहीं होता था और इस प्रकार उसका वह पद जीवन-भर बना रहता था। उन्हें पारिश्रमिक के तौर पर साधारणतः मुफ्त ज़मीनें दे दी जाती थीं।

इस कार्य-पद्धति की उल्लेखनीय बात यह थी कि नियुक्तियां करने के अतिरिक्त, सरकार का न्याय-प्रशासन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। यद्यपि बादशाह न्याय का मूल स्रोत माना जाता था और वह तथा उसके प्रान्तीय प्रतिनिधि शिकायतें सुनना और अन्याय का दमन करना अपना कर्तव्य मानते थे, तथापि उस समय कार्यपालिका तथा न्यायपालिका में पूर्ण पार्थक्य ही दृष्टिगोचर होता है।

ऐसी परिस्थितियों में प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति सबसे अधिक प्रत्यक्ष रूप से कार्यकारी बातों में ही होती थी। यह स्वाभाविक भी था। परन्तु प्रभुसत्ता के चारों

---

1. देखिए, 'फ़तवाए आलमगीरी', एम० बी० अहमद-द्वारा 'ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस इन मिडीवल इण्डिया' (1940 का संस्करण) के पृष्ठ 101 पर उद्धृत

ओर अराजकता की छाया विद्यमान रहती है। एशियायी देशों में यह छाया गहरी रही है और सदा ही क्षितिज पर फैल जाने का प्रयास करती रही है। किंचित्-सा सहारा पाकर वह पूरे देश में फैल कर सर्वत्र अपना तमोराज्य फैलाने का उपक्रम करती रही है। ऐसी स्थिति में सतर्कता, तत्परता, निर्णय-सामर्थ्य, कार्यगत स्थिरता, आदि गुणों की आवश्यकता थी। कार्यपालिका को सशक्त बना कर ही इन आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव थी। शासन की स्थिरता—नहीं, उसके अस्तित्व—को सदैव खतरा बना रहता था। तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में तुर्की शासन के आरम्भ से लेकर लोदी-सुल्तानों के पराभव तक भारत पर पांच वंशों ने शासन किया, जिनमें से प्रत्येक का शासन-काल औसतन साठ वर्ष रहा। इस अवधि में उद्वेग-आतंक के बड़े-बड़े अन्तराल—मंगोल अभिशाप और तैमूर के विद्युत्-तुल्य आक्रमण—सामने आए।

अतः, यह आवश्यक हो गया कि कार्यपालिका को पूरी शक्तियां प्रदान की जाएं और अधिक-से-अधिक साधन सुलभ किए जाएं। परन्तु मानव-मस्तिष्क केवल उपयोगितामूलक औचित्यों से सन्तुष्ट नहीं होता; कार्यपालिका की सत्ता को उचित ठहराने के लिए नैतिक कारणों की खोज की गई। एक बात यह भी है कि प्रचुर शक्ति का प्रदर्शन सदा ही अत्यन्त प्रभावशाली होता है। उससे आतंक तथा आदर-भाव का उदय होता है। अतः, अनिवार्य रूप से राजतन्त्र को एक दिव्य आभा से आलोकित कर दिया गया। यह आवश्यक हो गया कि सत्ताधारी व्यक्ति लक्ष्य-सिद्धि की भावना से अनुप्राणित हो, ताकि उस सत्ताधारी के प्रजाजन अपने भीतर के पशुत्व के दमन और वफादारी के भावों की रक्षा के लिए अभीष्ट प्रेरणा ग्रहण कर सकें।

सत्ता के गुण-धर्म अपनी व्याप्ति तथा सीमाओं में सत्ताधारी के व्यक्तिगत पक्ष पर ही ज़ोर देते थे। उस शक्ति का वहन करनेवाला व्यक्ति दिव्यता-सम्पन्न माना जाता था। वह शक्ति राजनीतिक अधिकार की बाह्य प्रतीक और राज्य की प्रभुसत्ता तथा ताकत की मूर्त अभिव्यक्ति थी। सत्ताधारी अपने प्रजाजन की निष्ठा का आधार और अपने सैन्य-संगठन का प्रधान केन्द्र-बिन्दु था। सेनाओं के नायक, सरकारी अधिकारी, कुलीन, विद्वान्, कलाकार और कवि, सभी उस सत्ताधारी के व्यक्तित्व की डोर से बंधे थे और उसकी अनुकम्पा के अधीन थे।

देश के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में नरेश अथवा सम्राट् और उसके राज-दरबार का योगदान अधिक महत्वपूर्ण था। दुर्भाग्यवश, सम्राट् के व्यक्तित्व के उन्नयन ने चाटुकारिता को बढ़ावा दिया और विचार तथा कार्यगत स्वाधीनता का दमन कर दिया। दरबार की साज-सज्जा और वहां प्रचलित आचार-व्यवहार किसी मन्दिर तथा वहां होनेवाले पूजन-आराधना से विशेष भिन्न नहीं था। सम्राट् को रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठाया जाता था, जिसके ऊपर गोटे-किनारी से कढ़ा-सजा रेशमी वितान तना होता था। वह सिंहासन एक ऐसे मंच पर रखा जाता था, जो दरबारियों, अभ्यर्थियों और कृपाकांक्षियों की भीड़ से कहीं ऊंचा हो। आज्ञाकारिता और चाटुकारिता का वातावरण सब ओर व्याप्त रहता था। इस प्रकार के दरबार स्वयं देखनेवाले बर्नियर ने उस अवसर का वर्णन किया है, जब सम्राट्-रूपी भव्य व्यक्ति के होंठों से निकलनेवाले प्रत्येक शब्द के प्रति साधुवाद प्रकट करते हुए दरबारी अपने हाथ आकाश की ओर

उठा-उठा कर 'वल्लाह-वल्लाह' चिल्ला उठते थे। चाटुकारिता की यह प्रवृत्ति समाज में इतना अधिक घर कर गई थी कि चिकित्सा के लिए बर्नियर से प्रार्थना करते समय सामन्त उसे युग का अरस्तू, हिप्पोक्रेटीज़ और एविसेन तक कह बैठते थे।

इस प्रकार, मध्य-कालीन भारतीय शासक शक्ति का साकार स्वरूप माना जाने लगा। शक्ति में सेना और राजस्व का सन्निवेश तर्कसंगत था ही। यही दोनों तत्व कार्यकारी प्राधिकार के अनिवार्य अंग थे। उनके अतिरिक्त कुछ शोभावर्द्धक तत्व भी थे, अर्थात् शक्ति की नग्नता छिपानेवाले कुछ आडम्बर भी थे। मेलों और मनोविनोदों, धर्म और दानशीलता, साहित्य और विज्ञान तथा ललित कलाओं और कला-कौशल को प्रोत्साहन इसी के कुछ उदाहरण हैं।

मध्य-कालीन शासन-व्यवस्था ने व्यापार और उद्योग तथा लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में बहुत दिलचस्पी दिखाई। हां, मुसलमानों पर इस्लामी धर्म-व्यवस्था-द्वारा निर्धारित विधि-निषेध लागू करना मुसलमान शासक का धर्म रहा।

सम्राट् के चारों ओर शान-शौकत का तो प्राचुर्य था, परन्तु उसका कार्यक्षेत्र बहुत ही सीमित था। उसके प्राधिकार में कोई भागीदार न था। अतः सम्राट् सबसे अलग-थलग ही बना रहता था। बहुत अधिक व्यक्ति उसके वैभव में रुचि नहीं ले पाते थे और उसके अनुगामियों को एक सूत्र में बांधनेवाले बन्धन कभी अत्यन्त सुदृढ़ नहीं रहे। सम्राट् विद्वेषी प्रतिद्वन्द्वियों से घिरा रहता था। वे लोग उसके निकटतम सम्बन्धियों और संगी-साथियों में से होते थे। बादशाही और बन्धुता पृथक् बातें बन गई थीं। ऐसी स्थितियों में केवल असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही अपनी सत्ता-महत्ता बनाए रख सकते थे। चरित्र अथवा मेधा की दृष्टि से दुर्बल शासक शीघ्र ही पराभूत हो जाते थे। बादशाही पुश्तैनी थी, किन्तु वंशानुक्रम के आधार पर ही प्रतिभा प्रमाणित कर दिखाने का कोई उपाय न होने के कारण प्रत्येक सम्राट् को सिंहासन पाने के लिए अपनी शक्ति-सामर्थ्य सिद्ध करनी होती थी। इससे राज्य में अस्थिरता आ जाती थी और उत्तराधिकार-विषयक युद्धों तथा राज-वंशों के द्रुत परिवर्तन के कारण उपस्थित हो जाते थे।

सरकार और प्रशासन

मुगल प्रशासन-व्यवस्था का विकास तीन तत्वों के आधार पर हुआ था। इनमें से दो विदेशी थे और एक देशी। विदेशी तत्व मुगल शासकों ने अपनी मातृभूमि अर्थात् मध्य-एशिया से ग्रहण किए थे, जहां मंगोलों की यायावरीय सभ्यता और ईरान की निष्क्रियता-प्रधान सभ्यता का मेल हुआ था। मुगलों ने ये दोनों धाराएं ग्रहण कीं। शासन और उसके अध्यक्ष की स्थिति से सम्बन्धित उनके विचार ईरान से उद्भूत थे। उनकी संस्कृति—भाषा, साहित्य, दर्शन और बौद्धिक तथा सौन्दर्य-बोधात्मक दृष्टिकोण—पर भी ईरान का प्रभाव अधिक था। परन्तु अपने सैनिक-संगठन में उन्होंने उसी प्रकार मंगोलों की परम्पराओं का पालन किया, जैसा कि उन्होंने अपनी सेवाओं के संवर्गों की रचना करते समय किया था।

भारत ने उनकी भू राजस्व-व्यवस्था और वित्तीय व्यवस्था के लिए आधार प्रदान किया।

मुगल सरकार का आधार सेना थी। बादशाह उसका प्रधान सेनापति था और उसके मन्त्री सेना के अधिकारी थे। सभी सेवाएं सैनिक थीं, क्योंकि सैनिक और असैनिक कर्मचारियों में कोई भेद नहीं रखा गया था। सभी अधिकारी एक ही एकीकृत सैनिक संवर्ग के थे। शाही मुख्यालय—चाहे वह राजधानी में हो अथवा अभियान की स्थिति में—'उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात् 'उच्च शिविर' कहलाता था।

पूरी व्यवस्था मंगोलों के ढंग पर की गई थी। मंगोलों की सेना दशमिक पद्धति पर विभक्त थी। उसमें सबसे छोटा ओहदा दस अश्वारोहियों के नायक का था और उससे ऊपर सौ अश्वारोहियों, एक हज़ार, दस हज़ार और एक लाख अश्वारोहियों के नायकों का था। मंगोल यायावर थे। इसीलिए वे कृषि-भूमियों से बंधे न रहे। उनके मवेशी—भेड़-बकरियां और घोड़े—ही उनकी सम्पत्ति थे और उनकी चरागाहों तक ही उनका क्षेत्राधिकार था। अधिकारी और अनुचर उसी पर निर्वाह करते थे, परन्तु वे आक्रमणों से प्राप्त होनेवाली उपलब्धियों से अपने साधन बढ़ा भी लिया करते थे।

भारत में परिस्थितियां इससे भिन्न थीं। अतः यहां सेना की उस यायावरीय धारणा का उस कृषिमूलक अर्थ-व्यवस्था के साथ समंजन करना आवश्यक हो गया, जो यहां प्रचलित थी। सेना मंगोलों के ही नमूने पर दशमिक कमानों के आधार पर संगठित की गई, जिन्हें 'मनसब' कहा गया। इन्हें तैंतीस वर्गों में विभक्त किया गया। ये वर्ग कुलीनों के लिए दस से लेकर पांच हज़ार तक के थे। शहज़ादों के लिए इनसे उच्चतर वर्ग भी थे। मनसबदार का वेतन इतना रखा जाता था कि वह अपने व्यक्तिगत अमले का खर्च पूरा कर सके, अपने अधीन सैनिकों का वेतन चुका सके और यातायात-प्रबन्ध कर सके। यह वेतन या तो सरकारी खज़ाने से नकद दे दिया जाता था अथवा उसके बदले जागीरों से मिलनेवाले राजस्व का अंश निर्धारित कर दिया जाता था।

साम्राज्य की अधिकतर सेना जुटाने का भार मनसबदारों पर था। प्रत्येक मनसबदार इतने सैनिक भर्ती करने और बनाए रखने के लिए उत्तरदायी था, जितने उसके लिए निर्धारित थे। ऐसी दशा में स्वाभाविक ही था कि मनसबदार अश्वारोहियों का चुनाव करते समय जातीय भावनाओं से प्रभावित हो। उदाहरण के लिए, मुगल अधिकारी मुगलों में से ही अपने अनुगामी चुनना पसन्द करते थे, ईरानी ईरानियों की ही सैनिक टुकड़ियां बनाते थे और पठान मनसबदार पठान टुकड़ियों को ही अपने झण्डे के नीचे एकत्र किया करते थे। किसी हद तक मिली-जुली भर्ती भी की जाती थी।

सैनिकों के लिए यह अनिवार्य नहीं था कि वे उस मनसब के साथ लगी जागीरों के असामी हों। उनमें से बहुत-से लोग नगरों के निवासी होते थे और सिन्धु नदी के पार से भी ऐसे बहुत-से लोग आकर भर्ती हो जाते थे, जिन्हें शामिल करना सदा ही पसन्द किया जाता था। युद्ध की व्यूह-रचना में प्रत्येक वर्ग अपने कबीले के सरदार के ही झण्डे के नीचे एकत्र होता था।

इस प्रकार संगठित सेना की बुराइयां स्पष्ट हैं। उसमें एकता की स्थापना नहीं हो पाती थी और वह किसी एक व्यक्ति की इच्छा और आदेश के अन्तर्गत काम करनेवाले संगठित समूह की भांति काम नहीं कर पाती थी। वह तो मूलतः धन-

लोलुपों और सैनिक जातियों के लोगों अथवा ऐसी जातियों अथवा परिवारों की ही फौज होती थी, जो केवल इसलिए हथियार ग्रहण करते थे कि इस प्रकार उन्हें नौकरी और लूट-मार करने के अवसर सुलभ हो जाते थे। वे लोग किन्हीं उच्च सिद्धान्तों से प्रेरित नहीं होते थे। उनका शक्ति-साहस नेता पर ही निर्भर रहता था।

मुगल सेना सामन्ती आधार पर संगठित नहीं थी। उसके सेनानायक वे पुश्तैनी भूस्वामी नहीं थे, जिनके अधीन उनके सामन्त और अनुचर ज़मीनों के मालिक होते और सेवा करते थे। वे तो व्यक्तिगत योग्यता अथवा बादशाह अथवा किसी ऊंचे अधिकारी की सिफारिश के आधार पर ही नियुक्त किए जाते थे और ऐसा करते समय पारिवारिक परम्पराओं को ही मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता था। उन्हें केवल नगदी के रूप में अथवा भूराजस्व के अंश-रूप में सरकार से अपना वेतन प्राप्त करने का अधिकार था। अतः जब तक मुगल सरकार अपना शक्ति-शौर्य बनाए रही, तब तक एक पुश्तैनी भू-सम्पत्तिधारी कुलीनतन्त्र का विकास न हो सका।

जो एकमात्र पुश्तैनी कुलीन-वर्ग विद्यमान था, उसमें हिन्दुओं की बहुतायत थी। उसमें वे ज़मींदार शामिल थे, जो प्राचीन हिन्दू राज-परिवारों के वंशज थे। उन्होंने विजेता के सम्मुख घुटने टेक दिए थे, उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर ली थी और उसे राज-कर चुकाने की शर्त स्वीकार करके अपनी जागीरें कायम रखी थीं। वे तो नगदी के इस सूत्र से ही राज्य के साथ जुड़े थे, अन्यथा उसके विभव-पराभव में उनकी कोई रुचि न थी।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में उत्तरप्रदेश में ज़मींदारियों के विभाजन से हिन्दू ज़मींदारों की यह बहुतायत स्पष्ट हो जाती है। इन आंकड़ों से पता चलता है कि साम्राज्य के मध्य में स्थित प्रदेश बहुत हद तक राजपूत ज़मींदारों के हाथ में था। सोलहवीं शताब्दी में सम्पूर्ण ज़िले उन्हीं के नियन्त्रण में थे, परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते उनके स्थान प्रधान बने रहने पर भी जाटों, गूजरों, अहीरों, मुसलमानों और अन्य जातिवालों ने भी जागीरें प्राप्त कर ली थीं।[1]

यह अचम्भे की बात है कि उपर्युक्त अवधि के आरम्भ में भी मुसलमान ज़मींदारों की संख्या कम थी और उक्त अवधि के अन्त में भी। जिन गिने-चुने मुस्लिम परिवारों ने ज़मीनें प्राप्त कर ली थीं, वे या तो मुगल-पूर्व हुकूमत के अधिकारियों के वंशज थे अथवा ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति थे, जिन्होंने बलपूर्वक ज़मीनें हथिया ली थीं। बाबर के साथ आनेवाले मुगल सेनानायकों में से कोई भी इस देश में नहीं बसा। परन्तु जैसे-जैसे समय बीता और बादशाही नियन्त्रण में कमी आई, वैसे-वैसे पद पुश्तैनी बनते गए और जागीरदारों के तबादले कम होने लगे। 18-वीं शताब्दी में अकस्मात् ऐसे बहुत-से भूमिधारियों का उदय हो गया, जो उन ज़मीनों पर स्वामित्व का दावा करने लगे। पुराने ज़मींदारों ने अपनी जागीरें बढ़ा लीं, किसानों अथवा इजारेदारों ने अपने को स्थायी रूप से राजस्व-प्राधिकर्ता बना लिया और जागीरदार अपने-अपने निर्धारित अंशों पर जम कर बैठ गए।

---

1. देखिए, इलियट और बीम्स-द्वारा लिखित 'मेम्वायर्स आन द हिस्टरी, फोकलोर ऐण्ड डिस्ट्रिब्यूशन आफ रेसेज़ आफ नार्थ-वेस्टर्न प्राविन्सेज़,' खण्ड 2, 1596 और 1844 के वर्षों से सम्बन्धित नक्शे, पृष्ठ 202-3

बंगाल की दीवानी जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंपी गई, उस समय की उस प्रान्त की स्थिति एक बार फिर हिन्दू ज़मींदारों की बहुलता प्रकट करती है। यह निष्कर्ष निकालना उचित ही है कि पश्चिमी पंजाब के अतिरिक्त पूरे भारत में भूमि-विषयक श्रेष्ठाधिकार हिन्दुओं के ही हाथ में थे।

मुगल कुलीनतन्त्र तो मूलतः वेतनभोगी अधिकारियों की एक श्रृंखला-मात्र थे। भारत में इंगलैण्ड-जैसी सामन्ती ताल्लुकेदारी नहीं थी। पुश्तैनी कुलीनतन्त्र के अभाव ने सरकार को शक्ति के स्थायी और दृढ़ताजनक आधार से ही वंचित कर दिया। न तो जनता के पास चंचल-चित्त और उद्धत सम्राट् के अत्याचार से बचने का कोई साधन था और न सम्राट् के पास मुसीबत के दिनों के लिए कोई निश्चित सहायता अथवा सुदृढ़ सहारा। शासन की नाव पतवार-विहीन थी—आंधियों और तूफानों के अधीन।

4. जनता

साम्राज्य के प्रजाजन दो वर्गों में विभक्त थे। उच्च वर्ग, जिसमें शासक भी सम्मिलित थे, मुसलमानों और हिन्दुओं की श्रेष्ठतर जातियों से बना था। सैयद, मुगल, ईरानी, पठान या अफगान और शेख मुसलमानों के उच्च वर्ग में आते थे और राजपूत, ब्राह्मण, खत्री तथा कायस्थ हिन्दुओं के उच्च वर्ग में। शासक-वर्ग की सैनिकेतर शाखा में सैयद और ब्राह्मण थे। मुगल सरकार एक ऐसी उच्च वर्गीय सरकार थी, जिसके दो स्तम्भ थे—सेना और सेवाएं। इन दोनों पर उच्च वर्गों की सैनिक शाखा—मुगल, ईरानी, पठान और राजपूत—का एकाधिकार था। साम्राज्य के मनसबदारों की सूची के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है। 'मासिरुल-उमरा' में अकबर के शासन-काल से लेकर शाह आलम के समय तक के ऊंचे ओहदे के मनसबदारों की सूची दी हुई है। इस सूची में 636 मुस्लिम अधिकारी हैं और 87 हिन्दू। मुसलमानों में मुगलों और पठानों की संख्या बहुत अधिक (570) है। सैयद कम (33) हैं और शेख उनसे भी कम (25)। इसी प्रकार, हिन्दुओं में लगभग आधे दर्जन व्यक्तियों को छोड़ कर सभी महाराष्ट्र, बुन्देलखण्ड, मध्यदेश और राजपूताने के राजपूत हैं। स्पष्ट है कि मुगल बादशाहों ने पहले से ही यह समझ लिया था कि उन्हें सेना में केवल युद्ध-प्रिय जातियों को ही नियुक्त करने की नीति अपनानी चाहिए और यही वह नीति है, जो भारत में अंग्रेजों के सैन्य संगठन की आधारशिला बनी।

सैयदों को अदालती विभाग में नियुक्त किया गया था, क्योंकि वे एक ऐसे वर्ग के थे, जिसका व्यवसाय ही अध्ययन-अध्यापन था। इसी प्रकार, इन्साफ करने के काम में काज़ियों की सहायता के लिए ब्राह्मण नियुक्त किए गए थे। भूराजस्व और वित्त-विभागों ने कायस्थों को प्रश्रय दिया, जो हिन्दुओं के शिक्षित वर्गों में सम्मिलित थे।

अन्य हिन्दू तथा मुस्लिम जातियां, जो आबादी का बहुत बड़ा भाग थीं, ऐसे व्यवसायों—कृषि, उद्योग और व्यापार—में लगी थीं, जो उच्चतर वर्गों के लिए अनुपयुक्त समझे जाते थे। वे तो, वास्तव में, राज्य के विशेषाधिकारहीन प्रजाजन थे, जिनका प्रशासन में कोई भाग या दखल न था। स्वभावतः ही, सरकारी

मामलों में उनकी कोई रुचि न थी और सरकार की लाभ-हानि के प्रति भी उनमें उपेक्षा-भाव ही था।

स्पष्टतः हिन्दू-समाज-व्यवस्था में निहित भावना ने साम्राज्य के पूरे कार्य-व्यापार पर व्यापक प्रभाव डाला था, क्योंकि जाति की भावना ने मुसलमानों में भी गहरी जड़ें जमा ली थीं और वह साम्राज्य के प्रशासनतन्त्र का आधार बन बैठी थी। हिन्दू-व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रियों को समाज-व्यवस्था का पोषक-संरक्षक माना जाता था और यह स्थिति यहां तक पहुंच गई कि वे अपने को अन्य जातियों के स्तर-निर्धारण अथवा स्तर-परिवर्तन के भी अधिकारी मानने लगे। ऐसे बहुत-से अवसर आए, जब पंजाब की पर्वतीय रियासतों के राजपूत नरेशों और महाराष्ट्र के नरेशों ने व्यक्तियों और वर्गों के स्तर उठा या गिरा दिए। ब्राह्मण धर्माचार्य थे, सामाजिक संरचना के संरक्षक नहीं। उनके कामों में से एक था, उन मराठा सरदारों अथवा अन्य व्यक्तियों के लिए उपयुक्त वंशावलियों की खोज करना, जो अपने-आपको राजपूतों का वंशज बताना चाहते थे।

मुग़ल बादशाह उन क्षत्रिय नरेशों के समान थे, जिनका कर्तव्य सामाजिक अनुशासन बनाए रखना था। अबुल फजल के कथनानुसार, समाज के चार वर्ग थे—योद्धा, व्यापारी तथा कारीगर, विद्वान, और किसान। "अतः सम्राट् का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इनमें से प्रत्येक को यथास्थान बनाए रखे और अपनी व्यक्तिगत योग्यता तथा दूसरों के प्रति आदर-भाव-द्वारा इस विश्व को फूलने-फलने दे। जिस प्रकार राजनीति-रूपी विराट् पुरुष मनुष्यों के उपर्युक्त चार वर्गों की सहायता से अपना सन्तुलन बनाए रखता है, उसी प्रकार बादशाह के अन्तिम स्वरूप में भी ऐसे ही चारों तत्वों (कुलीनों, राजस्व-अधिकारियों, बुद्धिजीवियों अथवा प्रशंसकों, और कर्मचारियों) का समवास होता है।"[1]

अबुल फजल ने जिन चार वर्गों का उल्लेख किया, उनमें से योद्धा राज्य के मूलाधार थे। महत्त्व की दृष्टि से विद्वानों का स्थान उनके बाद था। इस वर्ग में विद्वान्, विधिवेत्ता, धर्मशास्त्रवेत्ता, अध्यापक, लेखक और कवि शामिल थे। उनका पोषण सरकार का कर्तव्य था। शासक अपनी राज-सभाओं को ज्ञान के केन्द्र-स्थल बनाने में गर्व अनुभव करते थे। कलाओं और विज्ञानों के संरक्षक कहलाना उन्हें प्रिय था और वे ऐसे लोगों को मान्यता तथा पुरस्कार देने के लिए आतुर रहते थे, जो कविता, धर्म-दर्शन, इतिहास, साहित्य अथवा विज्ञान के क्षेत्र में विख्यात हो जाते थे। इस संरक्षण का अधिकांश, स्वभावतः ही, मुसलमान उलमाओं को प्राप्त होता था, परन्तु हिन्दुओं की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। प्रत्येक बादशाह के दरबार में विख्यात संस्कृत-विद्वान् और हिन्दी-कवि होते थे, जो सम्राट् के कृपापात्र थे। हिन्दू ज्योतिषियों और विधिवेत्ताओं की मांग तो बराबर बनी रहती थी।

शिक्षित-वर्ग के लोगों की संख्या अधिक न होने के कारण उसका प्रभाव बहुत अधिक था। मध्य-कालीन यूरोप के पादरियों की भांति उलमा, पण्डितों और मुस्लिम तथा हिन्दू-पुरोहितों का बहुत आदर-सत्कार होता था, परन्तु अपने पश्चिमी प्रतिरूपों की भांति उनका कोई व्यवस्थित संगठन नहीं था। इस्लाम अथवा हिन्दुत्व

---

1 ('आईने-अकबरी' ब्लोचमन-द्वारा अनूदित, दूसरा संस्करण), खण्ड 1, पृष्ठ 4

में कोई एक सुदृढ़ धर्म-व्यवस्था स्थापित न हो सकी और इनमें से किसी ने भी किसी ऐसे सर्वोच्च धार्मिक प्राधिकार की आवश्यकता अनुभव नहीं की, जिसके फ़ैसले विवादग्रस्त मामलों में अन्तिम माने जा सकें। । धर्मोपदेश और विधि-निषेध लिखित रूप में उपलब्ध थे और जिस व्यक्ति को भी अरबी की पर्याप्त जानकारी थी, वह उनके निर्वचन के योग्य मान लिया जाता था। वे ग्रन्थ इतने व्यापक थे कि उनसे समाज और व्यक्ति के जीवन के सभी पक्षों का समुचित मार्ग-दर्शन सम्भव हो जाता था।

हिन्दुओं में स्थिति इससे बहुत भिन्न न थी। केवल मुसलमानों ने ही धार्मिक विधानों के अध्ययन से किसी व्यक्ति को नहीं रोक रखा था, हिन्दुओं में भी केवल ब्राह्मणों को ही धर्मशास्त्रों के निर्वचन का अधिकार था। फिर भी, व्यवहारतः निर्वचन का यह कार्य मुसलमानों में उस विद्यानिपुण-वर्ग तक ही सीमित था, जिसमें अधिकतर सैयद थे। ब्राह्मणों में थोड़े ही लोगों ने अपने को अध्ययन-अध्यापन में लगाया था; उनमें से अधिकतर लोग अन्य व्यवसाय—कृषि, व्यापार और सेवा—में लगे थे।

उलमा अथवा धर्म-विधिवेत्ता दो प्रकार से अपना प्रभाव डालते थे। क़ाज़ियों और मुफ्तियों के रूप में उनका सम्बन्ध इन्साफ करने से था और कानूनी मामलों में उनके फ़ैसले उदाहरण बन जाते थे। क़ाज़ी जितना अधिक विद्वान् होता था, उसका आदर उतना ही अधिक किया जाता था। इतना ही नहीं, वे तो जनसाधारण और शहज़ादों के पथ-प्रदर्शक और परामर्शदाता भी थे। धर्मोपदेश अथवा शिक्षा प्रदान करने के उनके दो तरीके थे, या तो मस्ज़िदों में धर्मासनों पर से दिए गए धर्मोपदेशों-द्वारा अथवा शासकों के सभा-भवनों में विशेष श्रोताओं के सम्मुख दिए गए प्रवचनों-द्वारा। स्कूलों में बालकों को पढ़ाने तथा पुस्तकें लिखने का काम भी उन्हीं के सुपुर्द था और ये दोनों ही काम प्रचार के शक्तिशाली माध्यम हैं। मध्य-काल में ज्ञान और शिक्षा धर्मशास्त्र से ओतप्रोत थे और धार्मिक नियम-सिद्धान्तों के प्रवर्तकों के रूप में अध्यापकों और लेखकों को अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

उलमाओं से सम्बन्धित रहस्यवादी योगी—सूफ़ी और दरवेश—थे। उलमाओं में से अनेक व्यक्ति पवित्र, पारलौकिक और त्याग-तपस्यापूर्ण जीवन बिताते थे, परन्तु अन्य लोग व्यवहार-कुशल, अहंकारी विद्वान् तथा तर्क-वितर्करत विधिवेत्ता थे, जिन्हें मुख्यतः अपनी ही प्रगति में रुचि थी। बलबन ने उन्हें 'उलमाए-ज़ाहिरी' (बाह्याडम्बरवादी विद्याधर) कह कर उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान-सम्पन्न उन व्यक्तियों से भिन्न किया था, जो 'उलमाए-बातिनी' की संज्ञा से विभूषित थे। जिन धर्मप्राण व्यक्तियों ने विश्व का परित्याग कर दिया था और ध्यान-धारणा तथा आध्यात्मिक अनुशासन का मार्ग अपना लिया था, उनमें ऐसे बहुत-से लोग थे, जो प्रकाण्ड पण्डित थे; पर सूफ़ियों के समूह में अधिकतर ऐसे ही धूर्तों और स्वेच्छाचारियों ने प्रश्रय प्राप्त कर लिया था, जिन्होंने अपने को कपटावरण में छिपा रखा था। विशेष-कर अठारहवीं शताब्दी में तो इस देश में सच्चे आदमी बहुत ही कम थे, जबकि ढोंगी-पाखण्डियों की संख्या बहुत अधिक थी। सच तो यह है कि वास्तविक रहस्यवाद का ह्रास नैतिक गाम्भीर्य के क्षेत्र में होनेवाले उस सामान्य शैथिल्य का एक प्रधान लक्षण था, जो अठारहवीं शताब्दी में व्याप्त था।

इन सूफियों की अनेक गुरु-परम्पराएं (सिलसिले)—चिश्तिया, सुहरावर्दिया, नक्शबंदिया, कादिरिया, आदि—थीं। प्रत्येक उच्च वर्गीय मुसलमान उनमें से किसी एक परम्परा में शामिल होना, अपनी बस्ती में स्थित उस परम्परा के सर्वोच्च व्यक्ति के प्रति निष्ठा की शपथ लेना और धार्मिक बातों तथा अपने जीवन के सामान्य कार्य-कलाप के सम्बन्ध में भी उसका परामर्श प्राप्त करना कर्तव्य समझता था।

हिन्दू-समाज में भी ऐसी ही परिस्थितियां थीं। ब्राह्मण पण्डित, संन्यासियों की गुरु-परम्पराओं के प्रधान और धार्मिक सम्प्रदाय हिन्दू-समाज में वही काम करते थे, जो मुस्लिम समाज में उलमा और धार्मिक अध्यक्षों-द्वारा किया जाता था।

दुर्भाग्यवश, ये दोनों वर्ग एक-दूसरे से लगभग पूरी तरह अलग थे। धर्म, भाषा, रीति-रिवाजों और सामान्य परिस्थितियों ने उनके पारस्परिक सम्पर्क में बाधा डाली। उनके दो न्यारे संसार थे। वे ऐसी मानसिक प्राचीरों-द्वारा विभक्त थे, जिन्हें लांघा नहीं जा सकता था। कभी-कभी किसी ज़ैनुल आबेदीन, किसी अकबर अथवा किसी दारा शिकोह ने उन दीवारों को तोड़ डालने का प्रयास भले ही किया हो, कभी-कभी किसी मुस्लिम दरवेश और हिन्दू योगी ने एक साथ बैठ कर विचारों का आदान-प्रदान भले ही कर लिया हो, पर सामान्यतः इन दोनों जातियों के याजकीय वर्गों के बीच की खाई गहरी ही बनी रही।

उदाहरण के लिए, संस्कृत-भाषा सीखने और संस्कृत-साहित्य, विज्ञान और दर्शन का अध्ययन करनेवाले मुसलमानों की संख्या बहुत ही कम थी। यद्यपि फिरोज तुगलक के समय से ही लगातार, और मुगल बादशाहों-द्वारा विशेष क्रमबद्ध रीति से, फारसी-अनुवादों के माध्यम से मुसलमानों को संस्कृत-ग्रन्थों से परिचित कराने के प्रयास किए जाते रहे, तथापि मुसलमान लेखकों की पुस्तकों से संस्कृत-ग्रन्थों का परिचय प्रायः प्रकट नहीं होता। अनेक हिन्दुओं ने फारसी की जानकारी और कुछ लेखकों ने अरबी की जानकारी अवश्य प्राप्त की, परन्तु समग्र रूप से पण्डित अपने-आपको इनसे अलग ही बनाए रहे और संस्कृत में लिखी गई उनकी पुस्तकों में फारसी और अरबी-साहित्यों की लगभग पूरी तरह उपेक्षा की गई।

दोनों जातियों की उच्चतर जनता के बीच एक ऐसी खाई थी, जिसे पाटना कठिन प्रतीत होता था। यह बड़े अचरज की बात है कि केवल घमण्ड के कारण दोनों ओर के विद्वान् दूसरे पक्ष की चिन्तन-राशि के प्रति उदासीनता दिखाते रहे। इस के दुष्परिणाम आगे चल कर प्रकट हुए।

उलमा और पण्डितों के संकीर्ण दायरों से बाहर लोगों में मुक्त रूप से आदान-प्रदान होता था। हिन्दुओं में भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तकों और मुसलमानों में विद्वानों तथा सूफियों के एक वर्ग ने नियम-भेद, सिद्धान्तों और कर्मकाण्ड-विषयक भेदों से ऊपर उठ कर आध्यात्मिक जीवन के लिए एक सामान्य आधार खोजने का प्रयास किया। उन्होंने उन संकीर्ण-हृदय व्यक्तियों के दर्प और पार्थक्य-भावना से ऊपर उठने की इच्छा व्यक्त की, जो सदाचार के क्षेत्र में असहिष्णु एकाधिकारी बन बैठे थे। उन लोगों ने मनुष्यों में प्रेम, भाईचारे और सदाशयता की स्थापना का प्रयास किया।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि सहिष्णुता के इन लक्ष्य-समर्पित सन्देश वाहकों में से अधिकतर ब्राह्मणेतर जातियों के थे। कबीर जुलाहा थे; नानक वेदीखत्री; रैदास चमार; धन्ना जाट; सेना नाई; सुन्दरदास बनिया; मलूकदास खत्री; वीरभान, बाबालाल और प्रेमनाथ खत्री; धरणीदास कायस्थ; जगजीवनदास ठाकुर और बुल्ला साहब कुनबी। महाराष्ट्र में नामदेव दर्जी, ज्ञानेश्वर जातिबहिष्कृत ब्राह्मण, चोखा मेला माहर और तुकाराम शूद्र थे। दक्षिण में वेमन किसान थे और तिरुवल्लुवर परिया। बंगाल में यद्यपि चैतन्य का जन्म एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था, तथापि उनके शिष्यों में हिन्दू-समाज के निम्नतर वर्ग के व्यक्ति और मुसलमान अधिक थे।

मुसलमानों में भी ऐसे व्यक्ति और व्यक्ति-समूह थे, जो हिन्दू-दर्शन और धर्म की जानकारी प्राप्त करना चाहते थे। मानव-सुलभ दया-भाव से उनका हृदय ओतप्रोत था और वे अपने पवित्र आचरण, प्रेम-भाव, निःस्वार्थ सेवा और पारलौकिकता के आधार पर लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते थे। जन्म और सम्पत्तिगत अन्तरों पर आधारित पूर्वाग्रहों से मुक्त होने और निर्धन तथा दलित लोगों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होने के कारण सभी वर्गों और स्तरों के लोग उनकी ओर खिंच आते थे। ऐसे लोगों में चिश्तिया-गुरु परम्परा के सदस्य सबसे प्रधान थे। भारत में इस गुरु-परम्परा के प्रवर्तक मुईनुद्दीन चिश्ती पृथ्वीराज चौहान के शासन-काल में यहां आए और अजमेर में बस गए। जब उत्तर-भारत तुर्कों के अधिकार में आ गया और दिल्ली उनकी राजधानी हो गई, तब चिश्तियों का प्रधान केन्द्र दिल्ली ले आया गया। इस गुरु-परम्परा में कुछ बहुत ही उल्लेखनीय व्यक्ति—कुतुबुद्दीन बख्तियारकाकी, निज़ामुद्दीन औलिया, बाबा फरीद शकरगंज और शेख सलीम चिश्ती—सामने आए।

वे लोग हिन्दू योगियों के साथ धार्मिक परिचर्चा करते थे और उनके दृष्टिकोण के प्रति प्रशंसा-भाव व्यक्त करते थे। इसी सम्पर्क के फलस्वरूप हिन्दू-योग की अनेक विशेषताएं इस्लामी 'ज़िक्र' का अंग बन गई। इस सम्प्रदाय का हिन्दुओं के प्रति क्या दृष्टिकोण था, यह निज़ामुद्दीन के उस कथन से स्पष्ट हो जाता है, जो उसने कुछ लोगों को मूर्ति-पूजन करते हुए देख कर कहा था। उसने कहा था: "प्रत्येक राष्ट्र का अपना ही रास्ता है, अपना ही धर्म और अपना ही मक्का।" अपने शिष्य नासिरुद्दीन चिराग-ए-दिल्ली को उसने परामर्श दिया था: "लोगों के बीच रहते हुए, उनके अत्याचारों तथा प्रहारों को सहन करते हुए, उनके प्रति नम्रता, उदारता और दयालुता का व्यवहार करो।" प्रोफेसर हबीब ने इस ओर संकेत किया है कि "गैर-मुसलमानों का धर्म-परिवर्तन करना चिश्ती-सिलसिले के काम का कोई अंग न था।"[1]

भारत में अठारहवीं शताब्दी के धर्मवेत्ताओं में सबसे अधिक विद्वान् माने जानेवाले व्यक्ति शाह वली उल्ला ने यह विचार व्यक्त किया कि "सभी का धर्म एक है, अन्तर तो केवल विधि-निषेधों के सम्बन्ध में है।"[2]

---

1. 'द इस्लामिक कल्चर', अप्रैल 1946, पृष्ठ 940

2. शाह वली उल्ला, 'हुज्जत अल्लाहुल बालिगाह', अबू मुहम्मद अब्दुल हक़ हक्कानीकृत उर्दू-अनुवाद, पृष्ठ 182

दूसरा वर्ग कादिरिया गुरु-परम्परा का था। इस परम्परा के प्रवर्तक अब्दुल कादिरुल जिलानी थे, जो बारहवीं शताब्दी में बगदाद में रहते थे। उनकी मान्यताएं, विधियां, प्रथाएं, आदि अन्य गुरु-परम्पराओं से भिन्न थीं। उनके कुछ अनुयायी उन्हें खुदा मानते थे। भारत में इस परम्परा का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी में हुआ और इसके सबसे विख्यात गुरु मियां मीर (मीरनजी) थे, जिन्होंने दारा शिकोह को अपना शिष्य बनाया।

व्यवस्थित मण्डलियों के अतिरिक्त ऐसे बहुत-से स्वतन्त्र व्यक्ति भी थे, जिनका व्यवहार अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुतापूर्ण, हां नहीं, कि मैत्रीपूर्ण तक था। ऐसे लोगों में शेख नूरुद्दीन ऋषि, अबुल फजल, फैजी, मुहीबुल्ला इलाहाबादी, मजहर जान जानां और अन्य अनेक व्यक्ति थे।

मुस्लिम शासन-काल में प्रेम और श्रद्धा पर आधारित धर्म की जो धारा वेगवती हुई, उसके कारण अनेक सुधारमूलक सम्प्रदायों की स्थापना हुई। ऐसा जान पड़ता है, मानो ऊर्जा का अवरुद्ध स्रोत फूट पड़ा हो। मानव-आकांक्षाओं को प्रवाह मिला और उनकी चेतना-शक्ति में वृद्धि हुई। आरम्भ में इस प्रवृत्ति का वेग धर्म में दिखाई दिया, जो रहस्यवाद के साथ एकाकार हो गया, पर आगे चल कर यह धारा राजनीतिक कगारों के बीच भी छलछलाने लगी। इस ऊर्जा का धार्मिक और नैतिक तत्व अठारहवीं शताब्दी में हल्का पड़ गया और इसका प्रयोग अधिकतर सांसारिक गौरव की प्राप्ति में ही किया जाने लगा, यद्यपि आध्यात्मिक जीवन के प्रति मौखिक प्रशंसा-भाव व्यक्त किए जाते रहे। उन दिनों की यह एक रोचक वस्तुस्थिति है कि दिव्य और पार्थिव प्रेम के बीच का अन्तर मिट गया था, त्याग-तपस्यामूलक अभ्यास और ऐन्द्रिक भोग-विलास सहचर बन गए थे और उच्चतम दर्शन का बखान निकृष्टतम अन्धविश्वासों के साथ रह कर भी किया जा सकता था।

दो सौ वर्ष से भी अधिक समय तक एक विचित्र जोश और उत्साह लोगों को स्पन्दित करता रहा और यह स्पन्दन मुगल-साम्राज्य की आश्चर्यजनक उपलब्धियों का एक महत्वपूर्ण साधन रहा। धीरे-धीरे इसका वेग मन्द पड़ गया और समवेत जीवन के नए विचार जगाने अथवा एक नए ढंग की समाज-व्यवस्था को जन्म देने में यह असमर्थ हो गया।

यूरोप में सुधारवादी आन्दोलन ने राज्य की सर्वोच्चता और गणतान्त्रिक समाज के विचारों को जन्म दिया; भारत में भक्ति-आन्दोलन राजनीतिक दृष्टि से निष्फल बना रहा। उससे व्यक्ति को दृढ़तर जीवन के लिए प्रेरणा अवश्य मिली, पर समग्र रूप से समाज जहां-का-तहां बना रहा। मुगल-साम्राज्य की संगठनकारी शक्ति समाप्त होते ही समाज विशृंखल हो गया। । परिणामतः समाज-रूपी उस अस्त-व्यस्त, उद्विग्न और आन्तरिक संघर्ष से जर्जर पिण्ड को पश्चिम की चुनौती का सामना करना पड़ा।

मध्य-काल में भारत के लोगों में सामाजिक संगठन की दृष्टि से विशेष प्रगति नहीं दिखाई दी। समवेत जीवन के किसी भी महत्वपूर्ण सामाजिक पहलू में कोई उच्चता सम्भव न हो पाई। धर्म में छोटे-छोटे सम्प्रदायों और मण्डलियों के रूप में विभाजन बना रहा। यहां तक कि प्रादेशिक स्तर पर भी किसी धर्म-विशेष के

अनुयायियों में एकता की वास्तविक और प्रभावपूर्ण चेतना न तो हिन्दुओं ने जगाई और न मुसलमानों ने। सामाजिक स्तर पर, भाईचारे की सीमा थी : उपजाति और कबीला। मुगल और पठान, तूरानी और ईरानी एक साथ मिलने के सचेतन प्रयास के बिना अलग-अलग ही रहे। हिन्दुओं की दशा इससे अच्छी न थी, वस्तुत: वह तो और भी बुरी थी। दोनों के मामले में गांव अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से एक आत्मनिर्भर इकाई की भांति था और शेष समाज के साथ उसका सम्बन्ध बहुत ही कच्चे धागों से जुड़ा था।

गांववालों के राजनीतिक स्वार्थ बहुत ही सीमित थे। गांववाले राज्य को एक ऐसी दूरस्थ, वस्तुतः पराई और निस्सन्देह क्रूर, वास्तविकता के रूप में ग्रहण करते थे, जिससे बचा नहीं जा सकता था। उन्हें उसे सहन तो करना होता था, परन्तु वे उसके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते थे। उसकी शक्ति एक दोहरी तलवार के समान थी, जो बना भी सकती थी और मिटा भी सकती थी। राज्य की कमज़ोरी उनके लिए सुअवसर-तुल्य थी। राज्य एक ऐसी काल्पनिक वस्तु के समान था, जिस तक उनकी पहुंच सम्भव न थी। यदि सम्राट् न्यायप्रिय, उदार और संवेदनशील होता था, तो शासक के व्यक्तित्व के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता का भाव उदित हो जाता था, अन्यथा वे यह समझ कर उसे सहन करते रहते थे कि वह परमात्मा-द्वारा दिया गया उनके पापों का दण्ड है।

राजनीतिक दृष्टि से भारतीय साम्राज्य न्यूनाधिक स्वतन्त्र इकाइयों के पुंज ही थे। जनता के साथ साम्राज्य के प्रकट सम्बन्ध सूक्ष्म थे, क्योंकि उसके कार्य तथा क्रिया-कलाप बहुत ही सीमित थे। जब तक कोई ज़ोरदार शासक बागडोर सम्भाले रहा, तब तक वह जनता को एक सूत्र में बांधने और ऐसी सुव्यवस्थित परिस्थितियां उत्पन्न करने में सफल होता रहा, जिनसे लाभ उठा कर लोगों ने शीघ्र ही एक समुज्ज्वल सभ्यता का ढांचा निर्मित कर लिया। राजकीय मामलों में पथ-प्रदर्शन कर सकने-वाले महान् व्यक्तित्व के अभाव में वह ढांचा उतनी ही तेज़ी के साथ ढील-ढाल भी हो गया।

5. शासक-वर्गों की असफलता

अठारहवीं शताब्दी में मुगल-साम्राज्य का पतन और विनाश हुआ। उनके उत्तरा-धिकारी के रूप में बहुत-से प्रतियोगी सामने आए। पहले वर्ग में प्रान्तों के मुसलमान सूबेदार थे। इनमें अधिक महत्त्वपूर्ण थे—निज़ाम, जिसका दक्कन के छः सूबों पर शासन था; बंगाल का नवाब, जिसके शासित प्रदेश में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के प्रान्त शामिल थे; और अवध का नवाब, जिसका क्षेत्र-विस्तार निचले दोआब और गंगा नदी के उत्तर के तराई प्रदेश तक था।

इसके उपरान्त हिन्दू सरदारों—राजपूतों, जाटों और मराठों—का स्थान था। इस मंच पर सिखों का उदय सबसे बाद में हुआ और यह बात सन्देहजनक है कि वे दिल्ली से समस्त भारत पर शासन करने के आकांक्षी थे। उनके अतिरिक्त पास-पड़ोस के वे सरदार भी थे, जिनके वंश अतीत काल में शासन करते रहे थे। अठारहवीं शताब्दी में नादिर शाह अथवा अहमद शाह अब्दाली मुगल-सिंहासन के सम्भाव्य आकांक्षी थे। जिस बात की कोई पूर्व-कल्पना भी न कर सकता था, परन्तु

जो वास्तव में घटित होकर रही, वह यह थी कि इस मंच पर एक ऐसी विदेशी जाति का उदय हो गया, जिसकी मातृभूमि भारत से हज़ारों मील दूरस्थ और विशाल समुद्रों के कारण पृथक् थी, परन्तु जो इस दौड़ में दूसरे प्रतियोगियों के साथ प्रविष्ट हुई, इसमें विजयी हुई और मुगलों के साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी बनी।

मुगलसाम्राज्य अपनी अखण्डता की रक्षा करने में असमर्थ क्यों रहा, उत्तराधिकार के मामले में भारतीय सरदार पराजित क्यों हुए, भारत के पड़ौसी भूवासियों ने अपने पूर्व-पुरुषों की भांति लूटपाट के उस अवसर का उपयोग क्यों नहीं किया, इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है, क्योंकि केवल तभी ब्रिटेन की विजय का मूल कारण समझ पाना सम्भव है।

यह एक स्वतःसिद्ध तथ्य है कि शासकों की योग्यता-अयोग्यता का साम्राज्यों के उदय-अस्त के साथ परोक्ष सम्बन्ध होता है। जब तक शासक-तत्व अपनी उत्कृष्टता बनाए रखते हैं, राज्य-रूपी संरचना स्वस्थ और ओजपूर्ण बनी रहती है; परन्तु उस उत्कृष्टता के अभाव में राज्य में भी क्षीणता, रुग्णता और अवसान आ जाता है। उत्कृष्टता ही राज्य-मर्मज्ञता है। "तत्वतः इसका अर्थ है, चुनौतियों का सामना करने और उन पर विजय पाने की क्षमता। इसका अर्थ है, अपने देश-काल की शक्तियों के यथार्थ आकलन और उनके ऐसे चातुर्यपूर्ण उपयोग की शक्ति, जिससे अपनी नीति की सफलता में उसे सहायक बनाया जा सके।" किसी शासन का स्वरूप चाहे जो हो—एक राजतन्त्र हो, या स्वल्पतन्त्र हो, अथवा जनतन्त्र हो—प्रत्येक शासन का आधारभूत तथ्य यही है कि वह ऐसी राजनीतिक शक्तियों के सूक्ष्म संतुलन पर आधारित होता है, जिनका झुकाव भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर होता है। जनतन्त्रों में सरकार का आधार व्यापक हो जाता है और इसीलिए वे समस्याएं भी बहुत बढ़ जाती हैं, जिनके भीतर उसका संतुलन बिगड़ नहीं पाता। जनतान्त्रिक राज्य बहुत ही जटिल तन्त्र होता है, जिसके संयोजक तत्व उसकी सम्पूर्ण रचना में गुंथे होते हैं। वे बोझों और दबावों को विस्तृत भाग में बिखरा देते हैं और इस प्रकार राज्य की स्थिरता बनाए रखने में सहायक होते हैं। जनतन्त्र ने अपने राजनीतिक उलट-फेरों पर विजय पाने का शान्तिपूर्ण उपाय खोज निकाला है और इसीलिए ऐसी शासन-व्यवस्था में सरकार बदलने पर प्रायः हिंसा, रक्तपात अथवा अस्त-व्यस्तता का भय नहीं रहता।

मध्य-कालीन भारत में जिस प्रकार के राजतन्त्री राज्य थे, उनमें इस प्रकार के स्थिरतामूलक और आघात-सहनशील उपायों का अभाव था। वे अपने प्रजाजन की अत्यल्प संख्या के समर्थन पर आधारित होते थे, और इसीलिए उनका शासन अस्थिर और अरक्षित होता था। स्थिति इतनी भयानक थी कि शासक की केवल बहुत ही उत्कृष्ट गुण-सम्पन्नता के आधार पर ही शासन की सुरक्षा निश्चित हो सकती थी। यह ऐसी शर्त थी, जो आसानी से पूरी नहीं हो पाती थी। राजोचित गुण का अभीष्ट स्तर निर्धारित करने के लिए वंशानुक्रम को आधार बनाने का मध्य-कालीन ढंग अनेक बार अविश्वसनीय सिद्ध हो चुका था, परन्तु अभीष्ट प्रतिभा को ढूंढ़ निकालने का कोई और शान्तिपूर्ण उपाय सुलभ न था।

यह विश्वास कि उत्कृष्टता जन्मजात होती है, इतना बद्धमूल हो गया था कि सिंहासन पर बैठे व्यक्ति के लिए उपयुक्त वंशावली खोज निकालने के लिए दन्त-

कथाओं का सहारा ले लिया जाता था। मुगल बादशाहों को यह गर्व था कि वे दो विश्व-विजेताओं—चंगेज़ और तैमूर—के वंशज थे। शिवाजी को एक ऐसी वंशावली प्राप्त थी, जिसने उसे सूर्य-वंश के सिसोदियों के साथ जोड़ दिया था। जाट यदुवंश के श्रीकृष्ण के वंशज होने का दावा करते थे। बहमनी-सुल्तानों ने अपना सम्बन्ध महानतम ईरानी वंश—अर्थात् बहमन से इसफंदियार तक—से जोड़ लिया था। यह सिद्धान्त बार-बार मिथ्या सिद्ध हो चुका था, फिर भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया।

उत्तराधिकारियों के चयन में यह धारणा बराबर अपना प्रभाव डालती रही, यद्यपि शक्ति के हस्तान्तरण का निर्मम तर्क अस्वीकार न किया जा सका। शहज़ादों की प्रतिद्वन्द्विता इसी तर्कसंगति की अभिव्यक्ति थी। परन्तु इसी प्रतिद्वन्द्विता ने उत्तराधिकार-विषयक उन युद्धों को जन्म दिया, जिन्होंने समय-समय पर राज्य की नींवें हिला दीं और अन्ततोगत्वा उसे विनष्ट ही कर दिया।

किसी शासन के भाग्य-निर्धारण में मुख्य भूमिका उससे सम्बद्ध शहज़ादे की उत्कृष्टता अथवा दूसरे शब्दों में उसकी शासन-क्षमता की थी। महत्त्व की दृष्टि से इससे अगला स्थान इस बात को प्राप्त था कि वह शहज़ादा समाज के उन तत्त्वों से किस प्रकार का समर्थन ग्रहण कर पाता था, जो राजनीति में भाग लेते थे। ऊपर बताया जा चुका है कि मुगल-शासन उच्च जातीय शासन था, अर्थात् उन उच्चतर जातियों का शासन था, जिनमें योद्धा भी थे और विद्वान् भी। पर वे दोनों मिल कर भी राज्य-रूपी प्रासाद को बहुत ही हल्का आधार प्रदान कर पाते थे। उन दिनों ऐसे लोगों की संख्या क्या थी, यह अनुमान लगाना कठिन है। आज उनकी संख्या कुल आबादी के लगभग दस प्रतिशत के बराबर है, परन्तु यह संख्या भ्रामक है, क्योंकि इसमें ऐसे बहुत-से लोग भी शामिल कर लिए गए हैं, जिनका शासन से कोई सरोकार नहीं। अठारहवीं शताब्दी के ऐसे भूस्वामियों की संख्या के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, जिनसे राज सेवा की आशा की जाती थी, परन्तु शर्मा-द्वारा की गई गणना"[1] के अनुसार, सन् 1690 में औरंगजेब के शासन-काल में 14,556 मनसबदार थे। प्रशासनिक सेवाओं का उच्चतर संवर्ग उन्हीं के द्वारा निर्मित था। उनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी थे, जिनकी गणना मनसबदारों की सूची में तो नहीं की गई थी, परन्तु जो अधीनस्थ कार्यालयों में अथवा असैनिक पदों (काज़ी, आदि) पर रह कर सरकारी सेवा करते थे। वे सभी सरकार से संरक्षित भूस्वामी थे। उनके अतिरिक्त ऐसे बहुत-से पुश्तैनी हिन्दू ज़मींदार थे, जिनका सरकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं था। ये सभी तथ्य इस निष्कर्ष की ओर इंगित करते हैं कि मुगल सम्राट् बहुत अधिक सक्रिय सहायता का भरोसा नहीं रख सकते थे और उनके आश्रितों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं थी। यहां तक कि रूस के ज़ारों के अधीन रहनेवाले आश्रितों की संख्या अधिक जान पड़ती है, क्योंकि स्टालिन के अनुसार, उनके पीछे भू-सम्पत्तिधारी कुलीनतन्त्र के लगभग एक लाख तीस हज़ार व्यक्ति थे। बर्नियर"[2] के अनुसार, दिल्ली में जन-सामान्य की तुलना में श्रेष्ठतर व्यक्तियों का अनुपात दस में दो से तीन तक था, जबकि उसी समय पेरिस में यह अनुपात सात से आठ तक था।

---

1. एस० आर० शर्मा, 'द रेलिजस पालिसी ऑफ द मुगल एम्परर्स', पृष्ठ 131-32
2. एफ० बर्नियर, पूर्वोद्धृत 'ट्रैवेल्स', पृष्ठ 282

कोई राज्य कितने समय तक विद्यमान रहेगा, इसका निर्णय उसकी संरचना के अतिरिक्त उसकी कार्यविधि पर भी निर्भर करता है। ठीक नीतियां अपनाने से राज्य मज़बूत हुआ और गलत मार्ग अपनाने से कमज़ोर।

मुगलों में कई पीढ़ियों तक असामान्य रूप से योग्य व्यक्ति शासन-भार सम्भाले रहे। मुगल-साम्राज्य के संस्थापक बाबर में सैनिक, राजनयिक और साहित्यकार के गुणों का अद्‌भुत संगम था। हूमायूं अपने पिता से भिन्न होने पर भी उदारमना, योग्य और बुद्धिमान था। अकबर में तो बहुत ही उच्चकोटि की प्रतिभा साकार हुई थी—वह एक तेजस्वी व्यवस्थापक, दूरदर्शी राजनयिक, दक्ष सेनानायक और सत्य का सच्चा तथा निर्भीक सन्धानी था। सुख-चैन और भोग-विलास का प्रेमी होने पर भी जहांगीर में इतनी क्षमता थी कि वह अपने महान् पिता-द्वारा संस्थापित तन्त्र को गतिशील बनाए रख सकता। शाहजहां चंचलचित्त और अस्थिरमति तो था, पर उसमें गुण परखने, सुयोग्य व्यक्तियों का चयन करने और संयत आचार के पथ पर चलने की क्षमता थी। व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से वह सदाचार का अवतार था। वह एकमात्र सम्राट् था, जो सुरा, सुन्दरी और संगीत के बन्धनों से मुक्त था। उसने संयमपूर्ण जीवन बिताया और अपने धार्मिक कर्तव्यों के परिपालन में वह नियमित तथा एकनिष्ठ बना रहा। जहां तक शासन-कार्य का सम्बन्ध है, वह असामान्य उद्यम के साथ अपने काम पूरे करता था। उसे सजग तथा सूक्ष्मभेदिनी प्रज्ञा प्राप्त थी और शासन-विषयक मामलों में वह बराबर कड़ी निगरानी रखता था। अपने निश्चय में वह अडिग था और बाधाएं केवल उसके संकल्प को पुष्टतर ही कर पाती थीं।

परन्तु औरंगजेब की नीतियां गलत रहीं और वह उस विशाल प्रासाद का विध्वंस सिद्ध हुआ, जिसे बाबर, अकबर और शाहजहां ने बनाया था। उसकी बहुत ज़बर्दस्त भूलें दो थीं—(1) उसने राज्य के संयोजक तत्त्वों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। सरकारी वित्त-व्यवस्था के प्रति उसके उपेक्षा-भाव का कुप्रभाव राजस्व और व्यय, दोनों पर पड़ा। सनिकों का वेतन चुकाने के लिए उसे ऋण लेना पड़ा। सरकारी खज़ाने में कमी आ जाने से प्रशासन की स्थायी क्षति हुई। (2) उसने अपने उच्च-वर्गीय हिन्दू प्रजाजनों को नाराज़ कर लिया, जो साम्राज्य के अवलम्ब थे।

राजस्व के स्रोतों में भूमि का स्थान प्रधान था। भूमि दो क्षेत्रों में बंटी थी। भूमि के कुछ भाग पर तो सरकार का प्रत्यक्ष प्रशासन था। ऐसी भूमि को 'खालसा' (संरक्षित) कहा जाता था। 'खालसा' भूमि का राजस्व शाही अधिकारी इकट्ठा करते थे और यह रकम मुख्यतः बादशाह और उसके दरबार से सम्बन्धित कामों पर ही खर्च की जाती थी। दूसरे भाग अर्थात् 'जागीर' भूमि से प्राप्त रकम में से मनसबदारों के वेतन और भत्ते चुकाए जाते थे। खज़ाने से प्रत्यक्षतः नगद भुगतान किए जाने के बदले इन अधिकारियों के लिए 'जागीर' भूमि के राजस्व का अंश निर्धारित कर दिया जाता था।

अपने शासन के उन्नीसवें वर्ष में अकबर ने सारी भूमि को 'खालसा' बना दिया था। ऐसा करने में उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य यह था कि सभी ज़मीनों के प्रशासन का काम स्वयं साम्राज्य-द्वारा हो और मनसबदारों के वेतन-सहित सभी सरकारी खर्च राजस्व-विभाग-द्वारा संगृहीत समेकित निधियों में से दिए जाएं। यह एक

मौलिक सूझ थी। यदि इसका पालन बराबर किया जाता, तो कदाचित् भारत के इतिहास का सम्पूर्ण रूप ही परिवर्तित हो गया होता। दुर्भाग्यवश, परम्परा और तात्कालिक सुविधा की भावनाओं की विजय हुई और अकबर का शासन-काल समाप्त होते-होते 'खालसा' भूमि कुल भूमि के एक-चौथाई भाग के बराबर रह गई।

अपव्यय की दृष्टि से जहांगीर बहुत ही लापरवाह था और उसने 'खालसा' भूमि को और भी कम करके कुल भूमि के बीसवें भाग के बराबर कर दिया। शाहजहां ने इन ज़मीनों को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न किया और धीरे-धीरे 'खालसा' ज़मीन को बढ़ा कर कुल ज़मीन के सातवें भाग के बराबर कर दिया। औरंगज़ेब एक निकृष्ट दाय का उत्तराधिकारी बना, परन्तु 'खालसा' भूमि को बढ़ा कर कुल भूमि के पांचवें भाग के बराबर करने में वह सफल हुआ। उसका लक्ष्य यह था कि पूरे साम्राज्य से प्राप्त होनेवाले कुल 80 करोड़ रुपये से अधिक के राजस्व में से 4 करोड़ रुपये 'खालसा' भूमि से प्राप्त हों। 3.33 करोड़ रुपये उसने इस प्रकार इकट्ठे भी कर लिए।

यह कोई बुरी बात न थी, पर उसके द्वारा उठाए गए अन्य कदम पूर्णतः अविवेकपूर्ण थे। भू-राजस्व का निर्धारित अंश उसने कुल उपज के एक-तिहाई भाग से बढ़ा कर आधे के बराबर कर दिया और इस प्रकार किसान पर पड़नेवाला भार बहुत बढ़ गया। दूसरे, उसने जज़िया लगा दिया, जो गरीबों के लिए सचमुच बहुत ही दुखदायी था। इन करों का परिणाम यह हुआ कि किसान के पास केवल जीने-भर का साधन शेष रह गया; ऐसी कोई बचत सम्भव न रही, जिसे वह अपनी खेती के विकास या विस्तार में लगा सकता।

जहां तक 'जागीर' ज़मीनों का सम्बन्ध था, राजस्व इतना घटा दिया गया कि जागीरों के प्रति कोई आकर्षण ही शेष न रहा और जागीरदारों को अपनी जागीरें लगान पर किसानों को सौंप देने के लिए विवश होना पड़ा। राजस्व-संग्रह के इस दोषपूर्ण तरीके का दुष्परिणाम गांवों पर भी पड़ा और सरकार पर भी। काश्तकारों का दमन हुआ और सरकारी राजस्व का दुरुपयोग।

हिन्दू राजस्व-संग्राहकों के स्थान पर मुस्लिम अधिकारी रखने का प्रयास करके औरंगज़ेब ने एक और भयंकर भूल की, क्योंकि अपने धर्म के प्रति मुसलमानों में जो उत्साह था, उससे राजस्व-विषयक मामलों में उनकी जानकारी और अनुभव की कमी की क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती थी। उक्त नीति को बदल देने से न तो ईमानदारी-विषयक सरकार की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और न ही हिन्दू अधिकारियों की घबराहट दूर हो पाई, जिनमें से केवल आधों को उनके स्थान पर फिर से नियुक्त कर दिया गया।

एक ओर इन उपायों ने सरकार की आय पर प्रभाव डाला और दूसरी ओर दक्कन के शियाओं तथा महाराष्ट्र के हिन्दुओं की धार्मिक असहिष्णुता से प्रेरित दक्कन की ओर विस्तार करने की नीति ने साम्राज्य के संसाधनों को निरर्थक खर्च में डाल दिया। सत्ताईस वर्ष तक बादशाह ने लगातार एक विशाल सेना को उन महंगे अभियानों में लगाए रखा, जिनका अन्त पूर्ण विफलता में हुआ। मराठा-युद्ध के अनेक परिणाम सामने आए। साम्राज्य की प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। साहसी मराठा अश्वारोही मुगलों के बड़े-बड़े अचल और विलास-निमग्न शिविरों को देख कर उनकी हंसी उड़ाते थे, उनके चारों ओर चक्कर लगाते थे, उनकी रसद-व्यवस्था समाप्त कर देते थे और मुगल प्रदेशों में राज-कर लगा देते थे।

दक्कन से प्राप्त होनेवाला राजस्व, जो 18 करोड़ रुपये प्रति वर्ष था, समाप्त हो गया और इससे राजकोष को गहरी क्षति पहुंची। बादशाह के पूर्वाधिकारियों ने जो माल-खज़ाना जुटाया था, वह समाप्त हो गया। उसके देहान्त के समय खज़ाने में 12 करोड़ रुपये की नगण्य रकम शेष थी।

औरंगज़ेब की पक्षपातपूर्ण धार्मिक नीति के लिए उसकी निन्दा की जाती है। यह उचित ही है, क्योंकि वह नीति राजनीतिक दृष्टि से अविवेकपूर्ण थी और धार्मिक दृष्टि से अनुचित। इसने बहुत क्षति पहुंचाई। धार्मिक कट्टरता ने हिन्दू और मुसलमान उच्च वर्गों के बीच की खाई और चौड़ी कर दी; वे घाव भी हरे कर दिए, जिन्हें ठीक करने का प्रयास अकबर की नीति ने किया था; और हिन्दुओं को यह अनुभव करा दिया कि वे एक घटिया स्तर के नागरिक हैं। उक्त नीति ने उस लोकप्रिय आन्दोलन में भी बाधा डाली, जिसे कबीर और दादू ने दोनों धर्मों के बीच मेल-मिलाप पैदा करने के लिए चलाया था। परन्तु यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण है कि इसके कारण मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध किसी आम आन्दोलन को बढ़ावा मिला, अथवा यह कि इसने मुस्लिम शासन के विरुद्ध बगावतों को प्रेरणा दी। इसने तो केवल इतना किया कि विद्रोह करनेवालों के राजनीतिक उद्देश्यों के पक्ष में प्रचार करने के लिए एक मूल्यवान कारण प्रस्तुत कर दिया और असन्तोष की दहकती हुई आग में घृताहुति डाल दी।

किसी आम हिन्दू-बगावत का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था, क्योंकि हिन्दू किसी पृथक् बहुसंख्यक दल के रूप में नहीं थे और न ही वे किसी एक निकाय के रूप में संगठित-व्यवस्थित थे। एक बात यह भी हुई कि औरंगज़ेब की नीति उसके देहान्त के साथ ही व्यवहारतः समाप्त हो गई, यद्यपि उसके बाद भी उसकी कटु स्मृतियां और प्रतिरोध-भावनाएं बनी रहीं।

उस समय होनेवाली बगावतों का विश्लेषण करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। हिन्दुओं के एक वाममार्गी सम्प्रदाय 'सतनामियों' का, कुछ मामूली निजी बातों पर, सन् 1672 में नारनौल में साम्राज्य के अधिकारियों के साथ झगड़ा हो गया। उन्होंने पुलिस और सेना की अधीनता अस्वीकार कर दी, नगर पर कब्ज़ा कर लिया और वहां अपनी सरकार स्थापित कर ली। उनकी यह विजय अल्पायु ही रही। औरंगज़ेब ने रदनदाज़ खां के नायकत्व में एक बहुत बड़ी सेना और विष्णु सिंह कछवाहा के नायकत्व में एक राजपूत-सेना उनके विरुद्ध भेजी। हिन्दू और मुस्लिम मुगल इतिहासकारों—ईश्वरदास नागर, मुस्तैद खान और खफी खां—ने यह नहीं माना है कि वे हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे। हिन्दू इतिहासकार के अनुसार "सतनामी बहुत ही गन्दे और दुष्ट हैं। अपने नियमाचारों में वे हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच का भेद नहीं करते और सूअर तथा दूसरे गन्दे जानवरों का भक्षण करते हैं। यदि उनके सामने खाने के लिए कुत्ते का मांस भी रख दिया जाता है, तो वे उसके प्रति कोई विरुचि व्यक्त नहीं करते। पाप और दुराचार में उन्हें कोई बुराई नहीं दिखाई देती।"[1]

ऊपरी दोआब में जाट ज़मींदारों-द्वारा किए गए विद्रोह को किसी भी प्रकार धार्मिक विद्रोह नहीं माना जा सकता। केन्द्रीय शासक और पुश्तैनी भूस्वामियों

1. यदुनाथ सरकार-द्वारा 'हिस्टरी ऑफ औरंगज़ेब', खण्ड 3, में पृष्ठ 296-97 पर उद्धृत

(ज़मींदारों) के आपसी सम्बन्ध कुछ स्थायी झगड़े की तरह के थे। मध्य-काल के इतिहास ऐसी कहानियों से भरे पड़े हैं, जब अनिच्छुक सरदारों ने दबाव के बिना सरकारी देनदारियां चुकाने से इन्कार कर दिया। प्रारम्भिक प्रतिरोध, खुली बगावत—यदि अवसर अनुकूल हों, तो—शाही सेनाओं का आगे बढ़ना और दमन, यह तो मानो एक सामान्य प्रक्रिया बन गई थी। प्रत्येक सरदार, चाहे वह कितना ही मामूली क्यों न हो, शक्ति की दृष्टि से कम होकर भी ओहदे में सर्वोच्च शासक के समान ही था, और अपनी जागीर बढ़ाने और यदि सुयोग सुलभ हो, तो स्वयं राजा बन बैठने के लिए सदा तैयार रहता था।

6. जाट

दक्कन में औरंगज़ेब की अनुपस्थिति को महत्वाकांक्षी और उद्यमी जाट ज़मींदारों ने एक ऐसा सुअवसर समझा, जिसका उपयोग वे अपने लाभ के लिए कर सकते थे। इस दिशा में उनके प्रारम्भिक प्रयास विफल हो चुके थे। इसके उपरान्त राजाराम ने दो राजपूत-वंशों के बीच के झगड़े से लाभ उठा कर अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए उनमें से एक का समर्थन प्राप्त कर लिया। परन्तु वह एक दलीय संघर्ष में मारा गया और उस मुगल सेना ने इस विद्रोह का दमन कर दिया, जिसमें अम्बर के राजा विष्णु सिंह कछवाहा ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया।

राजाराम के छोटे भाई चूड़ामन ने औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् होनेवाले उत्तराधिकार-युद्ध में अन्ततः जीतनेवाले पक्ष का साथ दिया और वह मनसबदार बन बैठा। बहादुर शाह के पुत्रों के बीच होनेवाले दूसरे उत्तराधिकार-युद्ध और उसके परिणामस्वरूप होनेवाली अव्यवस्था में चूड़ामन ने अपनी स्थिति सुधार ली और वह ऐसे शुल्क तथा कर सख्ती के साथ वसूल करने लगा, जिनका प्रतिरोध स्वाभाविक था। बादशाही दरबार में गुटबन्दी होने के कारण उसके विरुद्ध कोई कड़ी कार्रवाई न की जा सकी, पर उसके अपने पुत्रों के बीच होनेवाले झगड़ों ने उसके जीवन को इतना कटु बना दिया कि उसने विषपान करके आत्महत्या कर ली।

चूड़ामन का उत्तराधिकारी उसका भतीजा पद्म सिंह था, जिसने अपने पूर्वाधिकारियों के उपद्रवपूर्ण कार्यकलाप का अन्त कर दिया और एक व्यवस्थित रियासत की नींव डाली, जिसमें मुगल-दरबार का सामान्य आडम्बर विद्यमान था। "उसने अपने दरबार में पर्याप्त शान-शौकत रखी। उन अनेक मुसलमान अधिकारियों ने, जिन्हें उसने नियुक्त कर लिया था, उसके दरबार में अभीष्ट निखार और शान का संचार कर दिया और वहां रह कर वे दरबारी जीवन के आदर्श पुरुषों तथा असंस्कृत कबायलियों को शिष्टाचार की शिक्षा देनेवाले अध्यापकों का रूप ग्रहण कर बैठे।"[1] उसने अपने पुत्र को "एक उच्च वर्णजात मुस्लिम कुलीन" की भांति शिक्षित किया। उसके पोते "बहादुर सिंह ने अरबी में 'शराहे जामी' तक अध्ययन किया"।[2]

जाट-राज का उसके बाद का इतिहास अठारहवीं शताब्दी में मुगल-साम्राज्य के शहज़ादों और कुलीनों के बीच होनेवाले झगड़ों तथा षड्यन्त्रों की कष्टकथा से

---

1. के० आर० कानूनगो, 'हिस्टरी ऑफ द जाट्स', पृष्ठ 63
2. 'इमादुस सआदत' (नवलकिशोर-संस्करण), पृष्ठ 56

भिन्न नहीं है। उन्होंने अपने हिन्दू और मुसलमान समसामयिकों के प्रति न तो विशेष विवेक का ही प्रदर्शन किया और न दूरदर्शिता का, और इस बात का किंचित् प्रमाण उपलब्ध नहीं है कि अपने तात्कालिक पारिवारिक हित से आगे बढ़ कर उन्होंने हिन्दू-समाज के हित-साधन में सहायक होने के निश्चित उद्देश्य का कहीं पालन किया। कछवाहों और राठौड़ों के बीच होनेवाली लड़ाई में उन्होंने कछवाहों का साथ दिया और ऐसा करते समय वे जाटों के विरुद्ध किए जानेवाले उन अभियानों को भुला बैठे, जिनका नायकत्व कछवाहा-नरेश विष्णु सिंह और सवाई जय सिंह ने किया था। उन्होंने रोहिल्लों के विरुद्ध साम्राज्यवादियों की, दिल्ली के सम्राट् के विरुद्ध अवध के नवाब की, मराठों के विरुद्ध सम्राट् की, तथा अब्दाली के विरुद्ध मराठों की सहायता की और उन घड़ियों में भी वे ठहरने और देखने का खेल खेलते रहे, जब मथुरा और वृन्दावन नगरों पर तलवारें चमक रही थीं, आग बरस रही थी। उन्होंने साम्राज्य की शक्ति की रक्षा करने की योजना बनाई, उसकी प्रतिष्ठा बचाने की नहीं। पानीपत की लड़ाई के समय उन्होंने पहले तो मराठों को शंकास्पद मित्रता सुलभ की, पर बाद में विश्वासघात की आशंका से उन्हें अहमद शाह अब्दाली का सामना करने के लिए अकेला छोड़ दिया।

इन अविवेकपूर्ण चालबाजियों से इस मान्यता का समर्थन नहीं हो पाता कि जाट हिन्दू-धर्म के संरक्षक थे और औरंगज़ेब की धार्मिक नीति के प्रति धर्म-भावना से वे क्रोधाभिभूत हो उठे थे।

7. मराठे

साम्राज्य के उत्तराधिकार के दावेदारों में मराठों की स्थिति, परिस्थितियों की दृष्टि से, सबसे अधिक अनुकूल थी। प्रकृति ने उन्हें एक ऐसा ठोस प्रदेश प्रदान कर दिया था, जहां प्रवेश पाना सुगम न था। पठार और समुद्र-तट के बीच मेरुदण्ड की भांति बढ़ती हुई पश्चिमी घाट की निम्न पर्वतमाला, पश्चिमी दक्कन की उच्च समभूमियों और कोंकण के तटप्रदेश ने मिल कर मराठों की इस मातृभूमि का निर्माण किया। दूर-दूर तक फैला हुआ अरब-सागर इसके तटवर्ती प्रदेश का प्रक्षालन करता है। उसने इस भूमि पर अभूतपूर्व वरदानों—मूसलधार वर्षा और अन्तरमहाद्वीपीय व्यापार—की वर्षा की है। 'घाट' ने ऐसे सुरक्षा-स्थल सुलभ किए हैं, जहां शत्रु अश्वारोहियों की पदचाप से मुक्ति सम्भव है। वहां की चट्टानें उन भयानक दुर्गों की रचना में सहायक रही हैं, जिन्होंने शत्रु-द्वारा पीछा किए जाने से मराठों की रक्षा की और आस-पास के समतल इलाकों पर छा जाने में उन्हें सुविधा-सहायता पहुंचाई। उच्च समभूमि के बीच-बीच में घाटियां हैं, जिनमें से पूर्व दिशा की ओर नदियां बहती हैं। घाटियों की मिट्टी उपजाऊ है; इस प्रदेश की बाकी भूमि केवल मोटे और घटिया अनाजों—ज्वार और बाजरे—की खेती के लिए ही उपयुक्त है।

समुद्र-तट, पहाड़ियों और उच्च भूमियों के इस प्रदेश में मराठे कठोर और मित-व्ययी जीवन बिताते थे। उनका परिवेश उन लोगों में स्वाधीनता, उद्यम और पुष्ट आत्मनिर्भरता के भाव जगाने में समर्थ रहा है। उत्तर तथा दक्षिण-भारत में धन की जो अत्यधिक विषमताएं विद्यमान रही हैं, उनसे यह प्रदेश मुक्त रहा और खेतिहर भूमिपतियों का एक बड़ा वर्ग मराठा-समाज का मेरुदण्ड था। जातिगत भेदभाव,

भारत के अन्य भागों की भांति, वहां भी विद्यमान था, पर तीन ब्राह्मण-वर्गों के पारस्परिक विद्वेष, मराठों की सुदृढ़ स्थिति और जनता में सुधार-आन्दोलन की लोकप्रियता ने जातिगत विभेद को उग्र नहीं होने दिया। एक ही सामान्य भाषा—मराठी—ने वहां के लोगों की इच्छाओं-उमंगों को एक सांस्कृतिक संगति तथा ऐक्य-भावना प्रदान की।

अहमदनगर और बीजापुर के सुल्तानों के उदार शासन में मराठों को सम्पन्न होने और फूलने-फलने के प्रचुर अवसर प्राप्त हुए। बहुत-से मराठा-परिवारों ने छोटे-छोटे सरदारी क्षेत्र बना लिए, अनेक ने सुल्तानों के अधीन नियुक्तियां करा लीं और कुछ ने विश्वास तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद प्राप्त कर लिए। सत्रहवीं शताब्दी में दक्कन की सल्तनतों की उत्तराधिकार-प्रतियोगिताओं ने मराठा सरदारों की महत्त्वाकांक्षाओं को बल प्रदान किया। इस वातावरण में धर्मोत्साह ने बिजली की-सी सक्रियता उत्पन्न की और नियति मानो आग्रहपूर्वक कुछ संकेत करने लगी।

उपयुक्त समय पर उन लोगों के बीच एक ऐसे महान् नेता का आविर्भाव हुआ, जिसमें राजमर्मज्ञ और योद्धा के उच्चतम गुण विद्यमान थे। शिवाजी ने इन लोगों को राजनीतिक व्यवस्था के सूत्र में बांधा, जो देवगिरि के यादवों के समय से लेकर उस समय तक अपने किसी निजी राजतन्त्र से अपरिचित थे और जो साढ़े तीन सौ वर्षों से भी अधिक समय तक उन नरेशों के अधीन रहे थे, जिनके वंशों का सम्बन्ध उत्तर के साथ था। इन छिन्न-भिन्न तत्त्वों के बीच एक राज्य की सृष्टि, वास्तव में, एक अद्भुत उपलब्धि थी। उसे स्थायी सिद्धान्तों पर आधारित-निर्मित प्रशासनिक तन्त्र प्रदान करना भी इससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं था।

शिवाजी की प्रतिभा एक त्रिविध कार्य की पूर्ति के रूप में प्रकट हुई—एक ऐसी सैन्य शक्ति की सृष्टि, जो दक्कन के सुल्तानों की दासता का अन्त करने, एक ही राज्य की छत्रछाया में मराठों का संगठन करने और शासन की एक प्रबुद्ध तथा स्थिर पद्धति का संगठन करने में समर्थ थी। भारतीय सरकारों की कमजोरी उनकी वित्त-व्यवस्था में रही है, पर शिवाजी ने अपने अधिकारियों की परिलब्धियां निर्धारित करने और अपने सभी प्रतिष्ठानों में अदायगी करते समय अपनाए जानेवाले तरीके के निर्धारण में इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखा कि अपव्यय से बचा जाए। यहां तक कि उनके सैनिक अभियानों का भी पोषण उनकी सामरिक विजयों-द्वारा होता था। जागीर-व्यवस्था का उन्होंने डट कर विरोध किया। उनकी सेवाएं योग्य व्यक्तियों के लिए सदैव सुलभ थीं। ब्राह्मण, प्रभु (कायस्थ) और मराठे, सबको सेवा के समान अवसर प्राप्त थे, यहां तक कि मुसलमानों को भी ऊंचे ओहदों पर रख लिया गया था।

शिवाजी की नीति के चरम लक्ष्यों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना कठिन है। कुछ मराठा इतिहासकारों की मान्यता है कि शिवाजी 'हिन्दूपद पादशाही' अर्थात् मुगल-साम्राज्य के स्थान पर हिन्दू-राज की स्थापना करना चाहते थे। परन्तु सम्पूर्ण मराठा-इतिहास में 'स्वराज' को 'मुल्कगीरी' से, अर्थात् मराठों के नियमित-व्यवस्थित शासन के अन्तर्गत आनेवाली भूमि को 'स्वराज' के बाहर अवस्थित ज़मीन से, जो "उनके अश्वारोहियों की सुखद-स्वच्छन्द आखेट-भूमि", होने के अलावा जो मराठों-द्वारा लगाए जानेवाले करों का एक उपयुक्त स्रोत थी, स्पष्टतः अलग माना गया है। इस

सम्बन्ध में यदुनाथ सरकार का कथन है : "शिवाजी की विदेश-नीति और कुरान-अनुमोदित सम्राट् की विदेश-नीति की समता इतनी पूर्ण है कि कृष्णजी आनन्द नामक दरबारी-द्वारा लिखे गए शिवाजी के इतिहास और आधिकारिक रूप से फारसी में लिखे गए बीजापुर के इतिहास में एक नियमित राजनीतिक उद्देश्य-सिद्धि के नाते पड़ोसी प्रदेशों पर किए गए हमलों का वर्णन करते समय बिल्कुल एक ही शब्द 'मुल्कगीरी' का प्रयोग किया गया है···शिवाजी ने (उनके बाद पेशवाओं ने भी) सभी पड़ोसी हिन्दू और मुस्लिम राज्यों में 'मुल्कगीरी' जारी रखी और धनवान हिन्दुओं को भी उतनी ही निर्दयता के साथ लूटा-खसोटा, जितनी नृशंसता मुसलमानों के साथ बरती गई।"[1]

शिवाजी का उदय एक ऐसे समय में हुआ था, जब धार्मिकता की एक लहर अपने पूरे वेग पर थी; पर इस आन्दोलन में कोई उत्कट देशभक्ति न थी। तुकाराम और अन्य मराठा सन्त संकीर्ण-हृदय कट्टरपन्थी न थे और उनका 'भक्ति' धर्म भी एकान्तिक नहीं था। वस्तुतः वे तो हिन्दुत्व और इस्लाम के अनुयायियों को निकट लाना चाहते थे। वे हिन्दुत्व की मूर्तिपूजा, अन्धविश्वास, जाति-भावना, तीर्थ-यात्राओं, आदि का भी विरोध करते थे और इस्लाम की असहिष्णुता का भी। शिवाजी उन सन्तों को अपना गुरु मानते थे; इसीलिए उन्होंने 'जियो और जीने दो' की नीति का पालन किया। उन्होंने मुस्लिम सन्तों, इस्लामी धर्म-ग्रन्थ तथा मस्जिदों के प्रति आदर-भाव व्यक्त किया। इस बात का कोई विवरण प्राप्त नहीं है कि उन्होंने इस्लामी रीति-रिवाजों अथवा धर्म-कार्यों में कोई बाधा डाली या मुसलमानों के साथ हिन्दुओं से भिन्न स्तर का बर्ताव किया।

परन्तु शिवाजी हिन्दू धार्मिक स्वतन्त्रता के अग्रणी पोषक थे। उन्होंने 'जज़िया' लगाने पर औरंगज़ेब को चुनौती दी और औरंगज़ेब के साथ इसलिए युद्ध किया कि इस्लाम की राजनीतिक श्रेष्ठता का दावा उन्हें स्वीकार्य न था और न ही उन्हें हिन्दुओं के लिए निकृष्टता की वह स्थिति मान्य थी, जो औरंगज़ेब बलपूर्वक उन्हें देना चाहता था। सहनशीलता, न्याय और समानता की जो भावनाएं उनके अपने शासन की मूलमन्त्र थीं, उन्हीं का परिपालन वह मुगल-साम्राज्य में भी होते देखना चाहते थे।

अपेक्षाकृत अल्प आयु में ही शिवाजी का देहान्त हो गया। उस समय वह केवल 53 वर्ष के थे। उनकी मृत्यु अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी, क्योंकि उस समय तक वह नवोदित राज्य अपनी जड़ें भी पूरी तरह नहीं जमा पाया था। वह सत्ता के हस्तान्तरण का कोई शान्तिपूर्ण तरीका विकसित नहीं कर पाया था। उस राज्य को 'राष्ट्र-राज्य' अथवा 'राष्ट्र-निधि' की अपेक्षा स्वयं शासक का परिवार-पोषक ही अधिक समझा जाता था। शिवाजी के देहान्त से पहले ही इस संगठनात्मक अपरिपक्वता के लक्षण दिखाई देने लगे थे। अन्तिम वर्षों में राज्य के दाय के सम्बन्ध में उठनेवाले विवाद ने उनका जीवन कटु बना दिया था। उनके सबसे बड़े पुत्र सम्भाजी ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और वह मुगलों से जा मिला। उनके मन्त्रिमण्डल में एकता न थी; दोनों शक्तिशाली मन्त्री—'पेशवा' और 'सचिव'—"प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे के साथ कलह-रत थे।"

---

1. यदुनाथ सरकार, 'शिवाजी ऐण्ड हिज टाइम्स' (पांचवां संस्करण), पृष्ठ 372-73

जब अन्ततोगत्वा सम्भाजी का अपने पिता के प्रति मित्र-भाव हुआ और वह सिंहासन पर बैठा, तब उसने उन मन्त्रियों तथा अधिकारियों से बदला लिया, जिनके बारे में उसे अपने प्रति शत्रु-भाव रखने का सन्देह था। अपनी सौतेली मां सोयराबाई, सचिव अन्नाजी दत्तो तथा अन्य अनेक व्यक्तियों को उसने मौत के घाट उतार दिया। ब्राह्मण मन्त्रियों के विरुद्ध तो उसने वंश-वैर ही आरम्भ कर दिया। उसकी निर्दयता, हिंसा और दुराचार ने उसके कुछ प्रमुख ब्राह्मणों को उसे समाप्त कर देने की योजना बनाने के लिए विवश कर दिया।[1] परिणामतः उसके साथ विश्वासघात किया गया। एक मुगल सेनानायक ने उसे पकड़ लिया और औरंगज़ेब के आदेशानुसार, उसके पिता के देहान्त के नौ वर्ष पश्चात्, उसका सिर धड़ से अलग कर दिया गया।

इसके उपरान्त बीस वर्ष की वह अवधि आई, जिसमें मराठों तथा औरंगज़ेब की सेनाओं के बीच शौर्यपूर्ण संघर्ष हुआ। मराठा सेनानायकों की वीरता, निर्भीकता और बुद्धिमत्तापूर्ण चालबाज़ियों ने मुगल सम्राट् को शिथिल कर दिया। वह कार्य-विरत होकर औरंगाबाद चला गया, जहां उसने सर्वथा निराश व्यक्ति के रूप में प्राण-त्याग किया। युद्ध में मराठों की विजय तो हो गई, पर उन्हें उसका मूल्य बहुत अधिक चुकाना पड़ा।

इस संघर्ष के परिणामस्वरूप केन्द्र-विमुख शक्तियों को बल मिला। शिवाजी ने एकान्तिक राज्य की स्थापना-द्वारा मराठा सरदारों तथा जनता पर जो एकता अरोपित की थी, उसका अन्त हो गया। जिन मराठा सरदारों को मुगलों के विरुद्ध लुक-छिप कर युद्ध करने पड़ते थे, वे अपने ही विवेक तथा इच्छा पर निर्भर रहने के इतने अधिक अभ्यासी हो गए कि उन युद्धों के बाद भी वे स्वतन्त्र रूप से काम करने की अपनी आदत से बच न सके। समय बीतने के साथ-साथ केन्द्रीय सत्ता के प्रति उनकी वफादारी में कमी आने लगी और अन्ततोगत्वा उन्होंने अपने-आपको अपने-अपने प्रदेशों के स्वतन्त्र शासक बना लिया। वे खुद को पेशवा के समकक्ष समझने लगे और उसके आदेशों के प्रति आदर-भाव दिखाने में हिचकने लगे। जिन बातों में उन्हें पेशवा के फैसले पसन्द नहीं होते थे, उनमें तो वे उनकी आज्ञा का उल्लंघन तक करने को तैयार थे।

इससे भी बुरा परिणाम यह सामने आया कि वह नैतिक उन्माद, 'महाराष्ट्र-धर्म' की अग्रता का वह उत्साह, जो शिवाजी ने उनके हृदय में भरा था, समाप्त हो गया। उनका जो उत्साह बीस वर्ष से अधिक समय तक उन्हें मुगल-साम्राज्य की शक्ति के विरोध-पथ पर अग्रसर करता रहा था, उसका स्थान धरती और धन के लोभ ने ले लिया। नेकी और आज़ादी के लक्ष्य की ओर कोई पचास वर्ष तक बढ़ते रहने के बाद मराठे मुगल तौर-तरीकों के तुच्छ अनुकर्ता-मात्र बन गए। युद्ध ने उनके आचार भ्रष्ट कर दिए, आदर्शवाद का अन्त कर दिया। वे भी दिल्ली-दरबार के भोग-विलास और शान-शौकत के लिए लालायित होने लगे। उनके मूल सद्गुणों—मितव्ययिता, सरलता और कर्तव्यपरायणता—का धीरे-धीरे लोप होने लगा। किसी महान् ध्येय के लिए जीने और उसी के लिए मरने की उमंग का स्थान अहंकार और आत्म-वृद्धि ने ले लिया।

शिवाजी ने जिन अस्वास्थ्यप्रद राजनीतिक प्रवृत्तियों को रोक रखा था, वे अब प्रकट

---

1. यदुनाथ सरकार-द्वारा 'द हाउस ऑफ शिवाजी' (1940 का संस्करण) में पृष्ठ 203-4 पर उद्धृत एफ मार्टिन के 'संस्मरण'

होने लगीं। नरेश के सिंहासन और पेशवा की गद्दी के उत्तराधिकार के लिए होनेवाले विवाद मराठा-राजनीति के विष-मूल बन गए। सम्भाजी का विरोध उसके सौतेले भाई राजाराम ने किया था। शाहू के यथास्थापन का विरोध राजाराम की विधवा पत्नी ताराबाई ने किया। शाहू पुत्रविहीन था। उसके उत्तराधिकार के प्रश्न पर प्रमुख अधिकारियों के बीच संघर्ष हुआ। जब राजा शक्तिहीन हो गया और पेशवा ने सत्ता हथिया ली, तब पेशवा की मृत्यु पर भी ऐसे ही विवाद उठ खड़े हुए।

पेशवा की शक्ति-वृद्धि ने आन्तरिक ईर्ष्या-द्वेष पैदा कर दिए। एक ओर राजा और दूसरी ओर मराठा सरदार अपनी महत्ता के इस क्षय से क्षुब्ध हो उठे और त्रिपक्षीय षड्यन्त्र राजकीय मामलों को बराबर नष्ट-भ्रष्ट करते रहे। जब राघोजी भोंसले ने बंगाल पर हमला किया, तब वहां के नवाब अली वर्दी खां ने भोंसले के विरुद्ध पेशवा का समर्थन प्राप्त किया और उसे खदेड़ दिया (1743)। दामाजी गायकवाड़ और दाभाडे ने ताराबाई के समर्थन में पेशवा के प्रदेश में लूट-खसोट की। चौथे पेशवा माधवराव और उसके चाचा रघुनाथ राव एक गृह-युद्ध में उलझे, जिसमें होल्कर और भोंसले तथा दक्कन के शासक निज़ाम अली ने चाचा का पक्ष लिया (1761)। पांचवें पेशवा का प्राणान्त रघुनाथ राव-द्वारा भड़काई गई हिंसा के कारण हुआ (1773)। जब महादजी सिन्धिया उत्तर में बारह वर्ष तक लड़ाइयां लड़ने के बाद पूना पहुंचा, तब वहां बहुत अधिक घबराहट मच गई और पूना के राजनीतिज्ञ, जिनका नेता सिन्धिया से घृणा करनेवाला नाना फड़णवीस था, इतने भयभीत हो गए कि उन्होंने कार्नवालिस से मैसूर से लौटती बम्बई-रेजिमेण्ट उन्हें उधार दे देने के लिए प्रार्थना की (1792)। वर्ष-भर दोनों पक्ष एक-दूसरे के विरुद्ध कपट का सहारा लेते रहे और नाना, सिन्धिया का पराभव सम्भव करने के लिए, होल्कर तथा अन्य व्यक्तियों के साथ मिल कर षड्यन्त्र करता रहा। अन्त में, सिन्धिया और होल्कर के बीच प्रत्यक्ष युद्ध छिड़ गया और होल्कर को लाखेरी नामक स्थान पर सर्वथा पराजित कर दिया गया (1793)। महादजी के उत्तराधिकारी दौलत राव ने तो बाजीराव के कहने पर छलपूर्वक नाना को बन्दी तक बना डाला और केन्द्रीय सरकार की राजधानी, पूना, को लूटने के लिए वह अग्रसर हो गया (1798)। नाना, होल्कर और सिन्धिया के झगड़ों ने राज्य की आधार-शिलाएं हिला दीं। रघुनाथ राव और बाजीराव द्वितीय की प्रत्यक्ष मूर्खता मराठों के संघर्ष-रूपी दुर्ग में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया-रूपी एक साहसी घोड़ा घुसा लाई। लड़ाइयां हुईं। मराठा सरदार और मन्त्रियों ने आत्मघातक और परस्पर-विनाशकारी संघर्षों में भाग लिया। इससे अंग्रेज़ों को लाभ होना स्वाभाविक ही था; सन् 1802 तक उन्होंने पेशवा को मराठा-स्वाधीनता के समाप्ति-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश कर दिया। शीघ्र ही अन्य सरदारों की धर-पकड़ और समाप्ति का काम पूरा किया गया और सन् 1818 तक मराठा-प्रभुसत्ता का स्वप्न सर्वथा तिरोहित हो गया।

औरंगज़ेब के साथ होनेवाले संघर्ष के कारण अनिवार्यतः किए गए प्रशासनिक परिवर्तनों ने उस सुदृढ़ ढांचे की शक्ति सोख ली थी, जिसका निर्माण उस राज्य के संस्थापक शिवाजी ने किया था। मिसाल के तौर पर, जागीरदारी-प्रथा फिर से आरम्भ कर दी गई। नियमित रूप से राजस्व-संग्रह सम्भव न था और अधिकारियों को वेतन देने का एकमात्र तरीका था, भू-राजस्व में से उनका अंश निर्धारित कर देना। औरंगज़ेब के विरुद्ध होनेवाले युद्ध में सेना में सीमातीत वृद्धि हो गई थी। उसका खर्च पूरा करने के लिए पड़ोसी प्रदेशों

से कड़ी वसूली की नीति अमल में लाई गई। प्रतिवर्ष आठ महीने तक उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में लूट बटोरने के लिए अभियान चलाए जाते थे, पर लूट की उस रकम का अधिकांश स्वयं लोलुप सेनानायक रख लेते थे और लूट अथवा राजस्व की बहुत ही कम रकम पूना-स्थित खज़ाने तक पहुंच पाती थी। पेशवा सदा ही ऋणग्रस्त थे और धन की याचना करते रहते थे।

बाजीराव प्रथम (1720-40) एक शूरवीर पेशवा और महान् सैनिक था। उसने निज़ाम के विरुद्ध कर्नाटक तक, और उत्तर में अभियानों का संचालन किया। उनसे उसे ख्याति मिली और उसके अधीनस्थ प्रदेश का विस्तार भी हुआ, पर वह ऋणग्रस्त हो गया। "उसकी सेनाओं के वेतन बकाया रह गए, साहूकारों ने, जिनका वह पहले से ही व्यक्तिगत रूप से कई लाख रुपये का कर्ज़दार था, और ऋण देने से इन्कार कर दिया और वह अपने शिविर में होनेवाले उन अनवरत विद्रोहों तथा उपद्रवों के प्रति खेद-परिताप प्रकट करता रहा, जिनके कारण उसे बहुत चिन्तित और दुखी होना पड़ा।"[1] पेशवा ने लिखा था, "लेनदारों से घिरा मैं नरक-कुण्ड में पड़ा हूं, 'साहूकारों' तथा 'सिल्लीदारों' को शान्त करने के लिए उनके चरणों पर पड़ा हूं। इस प्रकार नतमस्तक होता हूं कि मुझे अपने माथे से उनके चरणों की त्वचा का स्पर्श करना पड़ता है।"[2]

बाजीराव प्रथम के उत्तराधिकारी बालाजी राव ने सन् 1740 और 1760 के बीच कुल मिला कर 1 करोड़ 50 लाख रुपये का उधार लिया, जिस पर उसे 12 से 18 प्रतिशत तक ब्याज देना पड़ा। यद्यपि उसने सन् 1751-52 में 3 करोड़ 65 लाख रुपये की रकम—अधिकतम संगृहीत राशि—राजस्व के रूप में वसूल की, तथापि उसके उत्तराधिकारी माधव राव के सिंहासनारोहण के समय राज्य पर काफी कर्ज बाकी था। बालाजी ने अपने मित्र नाना फड़णवीस के नाम लिखे एक पत्र में अपनी आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला है। उसने अनुतापपूर्ण शब्दों में कहा है कि वैसे तो सोने की एक धारा उत्तर से और दूसरी दक्षिण से महाराष्ट्र में वही चली आ रही है, पर "इससे हमारी प्यास बराबर बढ़ रही है।" कारण, "जब वह (सोने की धारा) पूना के शुष्क प्रदेशों में प्रविष्ट होगी, तब मैं समझता हूं कि यहां, अपने निर्दिष्ट तक, पहुंचने से पहले ही विलीन हो जाएगी।"[3] पानीपत की लड़ाई के कारण खज़ाने में बहुत कमी हो गई। माधव राव ने राज्य के संसाधनों का प्रयोग बहुत ही सावधानी के साथ करने का प्रयास किया, "पर खज़ाना खाली हो गया।" नाना फड़णवीस बहुत ही कंजूस था और अपने लिए बहुत अधिक धन बटोर लेने पर भी उसने सेना को भूखा मार दिया; यहां तक कि "जब उसका शव अन्तिम संस्कार के लिए ले जाया जा रहा था, तब ड्यूटी पर तैनात अरब रक्षक अपने वेतन की बकाया रकम की मांग करते हुए कतार बना कर खड़े हो गए।"

माधव राव (1761-72) के उपरान्त सिन्धियाओं की शक्ति ने पेशवा के शासन को फीका कर दिया, परन्तु सिन्धियाओं ने भी अपनी आमदनी-खर्च में पेशवाओं-जैसी लापरवाही दिखाई। उन्होंने बड़ी-बड़ी सेनाएं रख लीं, मुगल-साम्राज्य के मामलों में वे दखल देने लगे और सामन्ती छल-प्रपंचों में शामिल होकर ऐसे किसी भी व्यक्ति के

1. ग्रांट डफ, 'हिस्टरी ऑफ द मराठाज' (1921 का संस्करण), खण्ड 1, पृष्ठ 390
2. वही, पाद-टिप्पणी
3. जी० एस० सरदेसाई, 'न्यू हिस्टरी ऑफ द मराठाज', खण्ड 2, पृष्ठ 242

हाथ अपनी सेवाएं वेचने लग, जो उनकी मांगें पूरी करने का वचन देता था। ये वचन दे तो सरलता से दिए जाते थे, पर उनकी पूर्ति के लिए सदा ही सैनिक अभियानों की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार, समस्त संगृहीत राज-कर और उप-कर की रकमें खर्च हो जाती थीं और प्रशासन येन-केन-प्रकारेण जीवित-भर रह पाता था।

महादजी सिन्धिया के प्रतिनिधि-द्वारा सन् 1785 में नाना फड़णवीस के नाम लिखे गए इन शब्दों से यह बात स्पष्ट हो जाती है : "सभी प्राप्त रकमें (उसके अधीनस्थ प्रान्तों से प्राप्त) पैदल सेना और तोपखाने पर ही खर्च की जाती थीं और सेना का मराठा अंग, अश्वारोही सेना भूखी मर रही थी और बहुत अधिक संख्या में सेना को छोड़ कर जा रही थी। साहूकारों से बड़ी-बड़ी रकमें उधार ली गई थीं। लगभग सभी साहूकारों—मराठे, गुजराती और रंगदों—से रुपया लिया गया था।"[1] लालसोट की लड़ाई (1787) के बाद सिन्धिया ने फिर नाना से सहायता के लिए आग्रह किया। उसने कहा : "धन की कमी से मैं असहाय बना हूं। नाना को चाहिए कि वह मेरे लिए कम-से-कम दस लाख रुपये सुलभ कर दें। मेरे संसाधन समाप्त हो चुके हैं; अतः मैं हिन्दुस्तान में और अधिक नहीं रह सकता।"[2]

सन् 1793 में कार्नवालिस ने लिखा था : "उसकी (महादजी सिन्धिया की उत्तर से) अनुपस्थिति में उसके राजस्व में इतनी तेजी के साथ कमी हुई है कि वह उसकी सेना के रख-रखाव के लिए सर्वथा अपर्याप्त हो गया है और एम० डे० बोन के अधीनस्थ सैन्य-दलों की अदायगी करने के विचार से कुछ विशेष व्यवस्था करने के लिए उसे उस अधिकारी का तबादला जैदाद नामक एक ज़िले में करना पड़ा है, जिसमें से प्रतिवर्ष अनुमानतः सत्ताईस लाख रुपये एकत्र होते हैं; उसकी सत्ता और सुरक्षा की दृष्टि से यह कदम इतना भयानक है कि अन्य साधनों के नितान्त अभाव में ही उसे यह कदम उठाना पड़ा होगा।"[3]

महादजी सिन्धिया लड़ाई में यूरोपीय प्रशिक्षण-प्राप्त सेनाओं की उत्कृष्टता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने यूरोपीय नमूने पर ही एक सेना तैयार करने का निश्चय किया। पलटनों की भर्ती करने तथा उन्हें प्रशिक्षण देने के लिए उसने कई फ्रांसीसी अधिकारी नियुक्त किए। ये पलटनें महंगी थीं और महादजी केवल अपनी अन्य पलटनों को भूखा मार कर ही इन्हें नियमित रूप से वेतन दे सकता था। विदेशी सैनिकों की वफादारी कभी भी निश्चित नहीं थी और अन्ततः वे बागी सिद्ध भी हुए। प्रशिक्षण की कमी के कारण भारतीय अधिकारी उनका स्थान नहीं ले सकते थे और वित्त-व्यवस्था अव्यवस्थित होने के कारण खर्च पूरे नहीं किए जा सकते थे।

मराठों की विदेश-नीति भूल-भरी थी। उसके कारण सरकार पर ऐसे बोझ आ पड़े थे, जिन्हें वह उठा नहीं सकती थी। शिवाजी के समय की 'मुल्कगीरी' में औचित्य की किंचित् छाया विद्यमान थी, क्योंकि उसे दमन और धर्मान्धता के विरुद्ध प्रतिक्रिया माना जा सकता था। जब तक अस्तित्व-रक्षा के लिए औरंगजेब के साथ युद्ध जारी रहा, इसका औचित्य भी बना रहा। परन्तु पेशवाओं के समय में तो उसने विशुद्ध अक्षेपण का रूप ग्रहण

1. 'हिस्टॉरिकल पेपर्स रिलेटिंग टु महादजी सिन्धिया' (1937), पृष्ठ 887-9

2. वही, पृष्ठ 704-5

3. 'पूना रेजिडेंसी कारेस्पाण्डेन्स', खण्ड 1 (यदुनाथ सरकार-द्वारा सम्पादित), पृष्ठ 390

कर लिया। अपने आक्रमणों में वे शत्रु और मित्र का भेद नहीं करते थे। वे तो सभी से राज-कर लेते थे और ऐसा करते समय न तो अपने सहधर्मियों को छूट देते थे और न मुगल कुलीनों के उस हिन्दुस्तानी दल को, जिसने राजपूतों और जाटों के साथ घनिष्ठता स्थापित कर ली थी। इस प्रकार, अपने शुल्कों और लूट-खसोट से उन्होंने राजपूतों, जाटों और बुन्देलों को अपना शत्रु बना लिया और उनके अत्याचारों ने बंगाल तथा गंगा की घाटी में आतंक फैला दिया। स्वयं अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर मराठों की कार्य-प्रणाली में लूट-पाट के अतिरिक्त और कुछ न था।

जिन इलाकों पर मराठे विजय पा लेते थे, वहां भी वह राज्यनीतिज्ञ-सुलभ बुद्धिमत्ता का व्यवहार नहीं करते थे। वे खेतिहरों का दमन करते थे और उन लोगों से रुपया ऐंठने के लिए कड़े कदम उठाते थे। "अन्य हिन्दू-राज्यों ने अपने द्वारा विजित प्रदेश की दशा सुधारने में गर्व का अनुभव किया। उन्होंने वहां मन्दिर, कुएं, नहरें, सड़कें और सार्वजनिक उपयोग के अन्य स्थान बनवाए। मराठों ने ऐसा कोई काम नहीं किया। उनके 'मुल्क-गीरी' हमलों ने विजित प्रदेश के उद्योगों तथा धन-वैभव को नष्ट करके केवल सोने के अण्डे देनेवाली मुर्गी को मार डालने का ही काम किया।"[1] राजवाड़े ने स्वीकार किया है कि "विजित प्रदेशों में लोगों के मस्तिष्क पर विजय पाने में पेशवा असफल रहा। वहां ऐसी संस्थाएं स्थापित नहीं की गईं, जिनसे विजित लोगों के सम्मुख मराठा-आदर्शों पर प्रकाश पड़ता और मराठों की लक्ष्य-सिद्धि के लिए उनका समवेत समर्थन प्राप्त हो पाता। अपनी नई विजयों में मराठे कन्नड़ियों, आन्ध्रों, गुजरातियों, सिखों, बुन्देलों, पूर्वियों और रंगदों के लिए अपरिचित ही बने रहे और इसीलिए किसी बाहरी शत्रु का भय उपस्थित होने पर वे इन लोगों की सहायता का कभी भरोसा न कर सके। पानीपत-अभियान में मराठों ने इस पुरानी कहावत में निहित सत्य को अनुभव कर लिया कि बैठने के अतिरिक्त संगीनों का उपयोग और किसी भी काम के लिए किया जा सकता है।"

मराठा नेताओं की असफलता बहुत बड़ा अभिशाप बनी। उसने विदेशियों के लिए द्वार खोल दिया और अपना दुर्ग दीर्घकालीन आधिपत्य के लिए उनके हवाले कर दिया।

8. सिख

सिख-समाज की संरचना एक ऐसा सामाजिक व्यापार रही है, जिसकी कुछ निजी विशिष्टताएं परिलक्षित होती हैं। सिख-मत के संस्थापक गुरु नानक उस समय हुए, जब भक्ति-आन्दोलन पूरे वेग पर था। रामानन्द, कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, चैतन्य तथा अन्य महानुभाव सक्रिय रूप से मानव के प्रति प्रेम और परमात्मा के प्रति श्रद्धा पर आधारित धर्म का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने एक ही परमात्मा की आराधना, गुरु के प्रति आदर-भाव और सामूहिक उपासना पर ज़ोर दिया। उन्होंने मूर्तिपरायणता और जातिगत भेदभाव की निन्दा की तथा हिन्दुत्व और इस्लाम के अन्तर को दूर करने का प्रयत्न किया। उन्होंने सभी मनुष्यों की समानता का उपदेश दिया और सद्भाव तथा पारस्परिक जानकारी को प्रोत्साहन दिया।

---

1. 'कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया', खण्ड 4 (भारतीय संस्करण), पृष्ठ 414-15
2. 'राजवाड़ेज राइटिंग्स' (साहित्य-अकादेमी का 1958 का संस्करण), पृष्ठ 189-90

गुरु नानक भी इन विचारों में भागीदार बने और उन्होंने इनके प्रचार सभी वर्गों के लोगों में किए। उनके सरल और सहज उपदेशों, पवित्र और लक्ष्यनिष्ठ जीवन, ईमानदारी और सचाई ने असंख्य व्यक्तियों को उनका शिष्य बनने के लिए आकृष्ट किया। उन लोगों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। उनमें से कुछ लोग ऊंचे स्तर के भी थे, पर अधिकतर लोग सामान्य स्तरों के थे। गुरु नानक ने उन्हें इसी संसार में रह कर परमात्मा के प्रति समर्पण-भावना रखते हुए जीने और काम करने का उपदेश दिया।

गुरु नानक का आसन गुरु अंगद और उनके उत्तराधिकारियों को प्राप्त हुआ। उनमें से अनेक व्यक्ति बहुत ही उल्लेखनीय थे। उन्होंने नानक के सन्देश का प्रचार किया और उनके धर्मानुयायियों के समूह को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। इस प्रकार, एक विशिष्ट धार्मिक समाज के रूप में सिखों का संगठन हुआ। इसीलिए अन्य सन्तों के अनुयायी तो हिन्दू-समाज के ढांचे में ही सीमित रहे, परन्तु सिखों ने एक विशिष्ट व्यक्तित्व पा लिया।

यह सच है कि उन्होंने हिन्दू-धर्मादेश और विधि-व्यवस्था की अनेक विशेषताएं स्वीकार कर ली थीं, फिर भी हिन्दू-देवी-देवताओं, हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों, जाति-पांति की हीन व्यवस्था और समाज में ब्राह्मणों की भ्रामकता को स्वीकार न करके सिखों ने अपने समवेत जीवन की स्वाधीनता पर बल दिया। इस वस्तुस्थिति में जिन तीन गुरुओं ने विशेष योगदान किया, वे थे: गुरु अर्जुन, गुरु हरगोविन्द और गुरु गोविन्द सिंह। इनमें से प्रत्येक ने अपने धर्मानुयायियों का कायाकल्प कर दिखाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। यह प्रक्रिया अन्तिम गुरु तक आते-आते पूरी हो गई, जिसने सिखों (शिष्यों) को 'दल खालसा' (चुने हुए लोगों का समूह) का स्वरूप प्रदान कर दिया।

एक रहस्यप्रधान पुरुषार्थी सम्प्रदाय के योद्धाओं के एक सैनिक समाज में परिवर्तन की यह प्रक्रिया धीमी होकर भी अनिवार्य थी। बाबर और उसके प्रथम दो उत्तराधिकारी धार्मिक विषयों में उदार थे। अकबर का जिज्ञासु-अशान्त मस्तिष्क धर्म के क्षेत्र में नए विचारों और नई अनुभूतियों के सन्धान में ही आनन्दित होता था और वह समझता था कि लोगों के व्यवसायों में होनेवाला उद्वेलन स्वास्थ्य का चिह्न है। स्वभावतः ही, उसने सिख-मत के प्रचार में कोई बाधा न डाली। परन्तु सिखों पर परिवर्तन की छाया पड़ती जा रही थी और अकबर के उत्तराधिकारी उतने उदारमना न थे। जहांगीर ने गुरु अर्जुन को इस सन्देह पर बन्दी बना लिया कि वह शहज़ादा खुर्रम के समर्थक थे। गुरु अर्जुन के पुत्र गुरु हरगोविन्द भी जहांगीर के कोपभाजन बने और पंजाब में उन्हें अधिकारियों के साथ संघर्ष करना पड़ा। उनके नेतृत्व में सिख संख्या की दृष्टि से बढ़ गए और "साम्राज्य के भीतर ही एक ऐसा पृथक् राज्य" बना बैठे, जिसकी अपनी वित्त-व्यवस्था और सेना थी।

गुरु गोविन्द सिंह का मन्त्रिमण्डल उस समय विद्यमान था, जब औरंगज़ेब का शासन था। सिखों के प्रति किए गए अत्याचार और गुरु तेगबहादुर का बलिदान उनके मन में खटक रहा था। उनके अनुयायी पहले ही एक ऐसी नई भूमि पर पैर जमा चुके थे, जिसमें धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण था। औरंगज़ेब की नीतियों और उसके द्वारा उठाए गए कदमों ने उन्हें ऐसे भयानक पथ पर निश्चयपूर्वक बढ़ने के लिए कृतसंकल्प कर दिया। इसके परिणामस्वरूप होनेवाले जीवन और

मृत्यु के बीच के संघर्ष में सिखों का कायाकल्प अनिवार्य था। गुरु गोविन्द सिंह ने गुरु नानक-द्वारा सिखाए गए धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति एक नया उत्साह उत्पन्न करके और निष्ठावान व्यक्तियों के उस संगठन के लक्षणों और विशेषताओं की स्पष्ट व्याख्या करके सिखों को उस संघर्ष के लिए तैयार किया। इस प्रकार, एक रहस्यप्रधान धर्म-व्यवस्था ने खालसा-रूपी सैनिक धर्म-व्यवस्था का रूप ग्रहण किया। गुरु गोविन्द सिंह ने इस बिरादरी में कुछ नई और रोचक बातों का भी समावेश किया। उन्होंने गुरु का पद समाप्त कर दिया और ऐलान किया कि भविष्य में ग्रन्थ साहब को ही गुरु माना जाएगा और जहां भी पांच सिख एकत्र होंगे, वहीं गुरु की आत्मा विद्यमान रहेगी। इन 'पांच' का चुनाव सभी सिखों-द्वारा किया जाना था। इस प्रकार, 'पूरे 'पन्थ' को ही इस ढंग से संगठित कर दिया गया कि वह उनका पथ-प्रदर्शक और गुरु बन गया।

दुर्भाग्यवश, ये विचार फलीभूत न हो सके। गुरु गोविन्द सिंह और औरंगज़ेब का देहान्त हो जाने पर गृह-युद्ध, आक्रमण और अराजकता का युग आरम्भ हो गया और पंजाब एक भयंकर उथल-पुथल में ग्रस्त हो गया। सिखों को भी इसमें शामिल होना पड़ा। शाही सत्ता शीघ्रता से शिथिल पड़ने लगी और नादिर शाह तथा अहमद शाह अब्दाली के हमलों ने इस सम्पन्न प्रान्त को अव्यवस्थित और विनाश का क्रीड़ास्थल बना दिया। उस समय सिख ही ऐसे एकमात्र व्यवस्थित समुदाय के रूप में विद्यमान थे, जिसने उस विनष्ट प्रदेश में संगति की छाया बनाए रखी। इसीलिए आक्रमण की बाढ़ उतरते ही राजनीतिक खाई पाटने के लिए वे आगे बढ़ आए।

यह अवश्य है कि इस अवधि के संघर्षों में खालसा की अखण्डता भी अखण्ड न रह सकी। इसका विशेष कारण यह था कि उन्हें एक बनाए रखनेवाला कोई असाधारण नेता नहीं था। सिख बारह वर्गों (मिस्लों) में बंटे थे, जिनमें से प्रत्येक वर्ग अपना ही अस्तित्व बनाए रखने में संघर्परत था। वर्ग-विशेष के संकीर्णतामूलक हितों की रक्षा के स्वभाव ने उन्हें पारस्परिक संघर्षों में लगा दिया। नानक और गोविन्द सिंह ने इनमें धार्मिक निष्ठा और आध्यात्मिक अभ्युदय की जो भावना भरी थी, सिख-बिरादरी के प्रति त्याग और सेवा की जो भावना भरी थी, वह शक्ति और आत्म-वृद्धि की आकांक्षा से परिपूरित हो गई। धर्म-व्यवस्था अधम राजनीतिक भार के नीचे दब गई।

उसी समय सिख-समाज में एक अन्य महान् नेता का उदय हुआ, पर सिखों की प्रवृत्ति में परिवर्तन आ चुका था और राजनीतिक शक्ति की आकांक्षा धार्मिक सदाचार पर अधिकार पा चुकी थी। महाराजा रणजीत सिंह को नेता के उत्कृष्टतम गुण प्राप्त थे। वह निर्भय और दक्षतापूर्ण सेनानायक, महान् व्यवस्थापक, सुयोग्य प्रशासक और चतुर राजनीतिज्ञ था। अपने उद्देश्यों की सिद्धि में वह निर्मम तो था, पर अत्याचारी नहीं। उसमें उदारता, दया और आतिथ्य-भाव था। वह अपने समय तथा अपने वर्ग की कमज़ोरियों में आबद्ध था। हृदय से धर्मपरायण न होने पर भी वह धर्माध्यक्षों के प्रति न केवल आदरपूर्ण, बल्कि विनयपूर्ण भी था।

रणजीत सिंह एक छोटे-से संघ का सरदार था, पर अपने पराक्रम से उसने सतलुज की दाईं ओर की सभी सिख-मिस्लों को अपने अधीन कर लिया और फिर युद्ध अथवा कूटनीति-द्वारा उसने विशाल प्रदेश अपने अधिकार में कर लिया, जिसमें

सिन्ध से परे पेशावर, मुल्तान, कश्मीर, कांगड़ा और पड़ोसी पहाड़ी राज्य तथा सीमा-प्रान्त के कवाइली इलाके शामिल थे।

व्यवस्थापक के नाते रणजीत सिंह की मुख्य उपलब्धि थी, सेना का आमूल रूप-परिवर्तन। उसने एक अनियमित अश्व-सेना के नायक के रूप में कार्यारम्भ किया था। परन्तु धीरे-धीरे उसने एक ऐसी सेना का संगठन कर लिया, जिसमें यूरोपीय नमूने पर तैयार की गई एक पैदल-सेना थी, सुसज्जित तोपखाना था और एक नियमित अश्व-सेना थी। युद्ध की वह सर्वाधिक शक्तिशाली व्यवस्था थी, और किसी भी एशियाई शत्रु की अपेक्षा श्रेष्ठतर थी।

अपनी सेना संगठित करते समय रणजीत सिंह ने यह तथ्य भुला दिया कि सेना राज्य का एक साधन-मात्र होती है और जब वह स्वामिनी बन जाती है, तब राज्य संकट में पड़ जाता है। अपने असैनिक प्रशासन की ओर उसने विशेष ध्यान नहीं दिया। उसकी वित्त-व्यवस्था मामूली थी और दीवानी तथा फौजदारी न्याय-प्रशासन का भार सरदारों पर छोड़ दिया गया था।

रणजीत सिंह को यह श्रेय अवश्य प्राप्त है कि उसने अपने समय में पंजाब में फैली अस्त-व्यस्तता में से एक सुसंगठित सरकार का ढांचा खड़ा कर दिखाया, पर दुर्भाग्यवश यह ढांचा कमज़ोर नींवों पर बना। उसका राज्य धार्मिक सिख-राज्य नहीं माना जा सकता था। वह सिख-बिरादरी की स्वेच्छापूर्वक की गई साझेदारी भी नहीं थी, क्योंकि सतलुज-पार की सिख-मिस्लों को बलपूर्वक इकट्ठा किया गया था और सतलुज के इस पार के वर्गों ने उसके अधीन होना अस्वीकार करके वस्तुतः अंग्रेज़ों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। परिणामतः जिन सिखों ने अपने-आपको उसके हाथ में छोड़ दिया था, उनकी भी वफादारी पूर्णतः हार्दिक नहीं थी।

रणजीत सिंह ने सभी धार्मिक तत्वों को अपने लाभ के लिए इकट्ठा करने का प्रयास किया। उसके अधीन हिन्दू, मुसलमान और सिख अधिकारियों को अधिकतम उत्तरदायित्वपूर्ण पद प्राप्त थे और वह धर्मगत भेदभाव रखे बिना सब पर भरोसा करता था। परन्तु यह सत्य होने पर भी कि वे लोग व्यक्तिगत रूप से पूरी वफादारी और उत्साह के साथ उसकी सेवा करते थे, वे राज्य के साथ स्नेह के किसी बन्धन से नहीं बंधे थे। सेना में, जो उनकी शक्ति का मूलाधार थी, साधारण पदों पर भी और अधिकारियों में भी हिन्दू, मुसलमान और सिख थे। उसके यूरोपीय सेनानायकों और हिन्दू, मुसलमान तथा सिख सेनानायकों और कप्तानों ने लड़ाइयों में बड़ा जौहर दिखाया। परन्तु वे सब स्वयं महाराजा रणजीत सिंह के लिए लड़े—धर्म, जाति अथवा देश के लिए नहीं।

रणजीत सिंह का वंश पंजाब पर अनेक वर्षों तक शासन कर सकता था, पर दुर्भाग्यवश उसके पुत्र-पौत्रों में ऐसा कोई न था, जिसने जन्मना उसके गुण ग्रहण किए हों। भारत में अंग्रेज़-शासन की स्थापना के कारण राजनीतिक परिस्थितियों में भी आमूल परिवर्तन हो गया था। स्वयं रणजीत सिंह के समय में अंग्रेज़ पंजाब के चारों ओर एक सैनिक प्राचीर खड़ी कर रहे थे। उन्होंने उसे सतलुज के पार बढ़ने से रोक दिया था, सिन्ध पर कब्ज़ा कर लिया था और अफगानिस्तान की ओर वे अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे। उस समय रूस तेज़ी के साथ भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रवेश-द्वारों

की ओर बढ़ रहा था; अतः, रूस के साथ अंग्रेज़ों की प्रतिद्वन्द्विता से पंजाब के उस स्वतन्त्र राज्य में भी उसी प्रकार की कठिनाइयां पैदा होना अनिवार्य था, जैसी इसी कारण आगे चल कर अफगानिस्तान में पैदा हुईं। इस स्थिति में यह सन्देहास्पद ही है कि रणजीत सिंह के उत्तराधिकारी बहुत समय तक स्वाधीनता का उपभोग कर पाते। संघर्ष अनिवार्य था और वैविध्यपूर्ण प्रजाजन वाले एक स्वेच्छाचारी शासक तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं में बंधे देश-प्रेम से ओतप्रोत लोगों के समर्थन पर आधारित एक शक्तिशाली आधुनिक सरकार के बीच होनेवाले उस युद्ध का परिणाम एक ही हो सकता था।

पंजाब के इस सिंह का देहान्त होने पर अंग्रेज़ों और सिखों के बीच होनेवाली लड़ाइयों में यह तथ्य भलीभांति प्रकट हो गया। देखते-ही-देखते उसके राज्य का वह विशाल प्रासाद टूट कर गिर पड़ा और धूल में मिल गया। कुछ लड़ाइयां लड़ी गईं, जिनमें से कुछ अनिर्णीत रहीं, परन्तु उस संगठन ने सुदृढ़ प्रतिरोध की कोई शक्ति व्यक्त नहीं की। इनमें शौर्य की कमी न थी—उस पक्ष के सैनिकों ने शूर वीरों की भांति युद्ध किए; बात तो यह थी कि सैन्य अधिकारी अर्थ-लोलुप और भ्रष्ट थे। वे तुच्छ ईर्ष्या-द्वेष, निकृष्ट स्वार्थ और विश्वासघातपूर्ण भावनाओं से ग्रस्त थे। इसीलिए वह भव्य सेना खण्ड-खण्ड होकर विनष्ट हो गई।

सिख-राजतन्त्र की इस कथा से अनेक उपयोगी शिक्षाएं प्राप्त होती हैं। पहली बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि भारत में कभी भी सुयोग्य नेताओं—चरित्र-सम्पन्न और सुयोग्य व्यक्तियों—की कमी नहीं रही; और दूसरी बात यह कि क्षमता और श्रेष्ठता का एकाधिकार किसी एक ही समाज अथवा वर्ग को प्राप्त नहीं होता। रणजीत सिंह के दरबार को जिन प्रकाश-पुंजों ने आलोकित किया, वे विश्व के किसी भी भाग में किसी भी सरकार को अपनी आभा से आलोकित कर सकते थे। उनमें वे लोग भी थे, जो समाज के निम्न वर्गों से उद्भूत थे, और वे भी, जिनका जन्म उच्च वर्गों में हुआ था—उनमें ब्राह्मण, राजपूत और जाट, खत्री, गूजर और मुसलमान; दुकानदारों, खिदमतगारों, व्यापारियों और नौकर-चाकरों के पुत्र भी शामिल थे और धनी तथा राज-परिवारों के बच्चे भी।

मराठों और मुगलों की भांति सिखों का भी पराभव योग्य तथा ऊर्जस्वी व्यक्तियों के अभाव के कारण नहीं, अपितु उस भावना के अभाव के कारण हुआ, जो व्यक्ति की योग्यता तथा ऊर्जा को पूरे समाज की सेवा तथा मंगल-कामना पर आश्रित कर देती है और इस प्रकार मनुष्य के पृथकता तथा क्षणभंगुरतामूलक तत्त्वों को सार्वभौमिकता एवं शाश्वतता प्रदान कर देती है। इसी दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्ति भी विफल रहे।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक आते-आते भारत तेज़ी के साथ भयंकर गतिरोध की ओर अग्रसर हो रहा था। जिस मुगल-साम्राज्य ने दो सौ वर्ष तक भारत के राजकुमारों और प्रजाजन को एकीय राजनीतिक पद्धति की डोर से बांधे रखा था, वह आन्तरिक विध्वंस और उत्तर-पश्चिम से होनेवाले हमलों की दोहरी शक्तियों का शिकार हो चुका था। केन्द्रीय सत्ता के ह्रास के साथ-साथ केवल राजनीतिक शक्ति ही विलीन नहीं हुई और दलबन्दी ने ही अपना कुटिल मस्तक ऊपर नहीं उठाया, बल्कि आचरण तथा व्यवहार में भी सामान्य गिरावट आ गई। समाज

और राजनिष्ठा में कमी आ गई। अहंकार और धन तथा शक्तिलिप्सा ने समवेत जीवन की नींवें खोखली कर दीं। अविलम्ब व्यक्तिगत लाभ की इच्छा ने लोगों को अन्धा बना दिया। बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता ने उनका इतना अधिक परित्याग कर दिया कि वे न तो अपनी नीतियों के तात्कालिक परिणामों का ही पूर्वानुमान लगा पाते थे और न सच्चे मित्रों तथा शत्रुओं को पहचान पाते थे। जान पड़ता था कि नियति ही उन्हें आत्म-विनाश की ओर खींचे लिए जा रही थी।

मुगल-शासन के अन्त से सभी वर्गों की क्षति हुई। अधिकारियों तथा लगान-ठेकेदारों के दमन ने किसानों को कुचल डाला। संरक्षकों के आर्थिक कठिनाइयों में ग्रस्त हो जाने के कारण कारीगरों को हानि पहुंची। पंजाब में, जहां से होकर व्यापारिक कारवां जाया करते थे, अस्त-व्यस्तता की स्थिति उत्पन्न हो जाने के परिणामस्वरूप स्थल-मार्गों से विदेशों के साथ होनेवाले व्यापार में बाधा उत्पन्न हो जाने तथा भारत तक आनेवाली समुद्री जलधाराओं पर उन यूरोपीय शक्तियों का आधिपत्य हो जाने के कारण, जिनके समुद्री बेड़े सर्वोपरिता के लिए प्रतिनिधित्व कर रहे थे और माल के लाने-ले जाने के विधिसम्मत व्यवसाय के प्रति लूट और बटमारी में भाग लेने लगे थे, कारीगरों तथा व्यापारियों, दोनों को क्षति पहुंची। विदेशी व्यापार व्यापारियों के हाथ से निकल गया और गृह-युद्ध तथा कुलीन-वर्ग की निर्धनता ने देश के आन्तरिक व्यापार में बाधा उत्पन्न कर दी।

चौथा अध्याय

अठारहवीं शताब्दी में आर्थिक परिस्थितियां

मध्य-काल के अन्त में यूरोपीय अर्थ-व्यवस्था की उल्लेखनीय विशेषता थी : वाणिज्य का विस्तार। नगरों में उद्योग का विकास हुआ और इससे व्यापार को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार, एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जिसने आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया। वह मध्य-वर्ग था। वह न तो सामन्ती कुलीनों का वर्ग था और न खेतिहर श्रमिकों का। इस वर्ग के उदय ने सामन्ती यूरोप का रूप ही बदल दिया और उन शक्तियों को गतिशील बना दिया, जिनकी परिणति राष्ट्रीय राज्यों के विकास में हुई। यही कारण था कि नगरों में पले मध्य-वित्त-वर्ग के माध्यम से यूरोप की सामाजिक क्रान्ति पूरी हुई।

कस्बे : उनका व्यापार और उद्योग

दूसरी ओर, भारत में परिस्थितियां भिन्न थीं। यद्यपि आत्मनिर्भरता और आजीविकामूलक कृषि से युक्त भारत की ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था की अनेक बातें मध्य-कालीन यूरोप की कृषि-व्यवस्था से मिलती-जुलती थीं, फिर भी भारत के कस्बों एवं नगरों तथा उनके कला-कौशल और वाणिज्य की संरचना का यूरोप की नगरीय व्यवस्था के साथ नाममात्र का भी साम्य न था। भारत में कस्बों की कमी न थी, पर उनमें ऐसे कस्बे थोड़े ही थे, जिनका अस्तित्व केवल उद्योग अथवा व्यापार पर निर्भर था। आवादी बढ़ने के साथ-साथ वहां उद्योग और व्यापार का विकास हुआ, पर इस बात में वे यूरोपीय नगरों से भिन्न थे कि उनके नागरिक जीवन पर आर्थिक मामलों का प्रभुत्व न था। भारतीय वणिक्-वर्ग यूरोप के मध्य-वर्ग से—प्रकृति, कार्यों तथा उद्देश्यों, सभी के नाते—पूर्णतः भिन्न था। औद्योगिक विकास अथवा राजनीतिक बातों पर इसका वैसा प्रभाव न था, जैसा अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिम में मध्य-वित्त-वर्ग का था। इसीलिए भारत में न तो औद्योगिक क्रान्ति हुई और न एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रीय राज्य का ही विकास हो पाया। यहां वणिक्-वर्ग ने एक उद्यम तथा पुनरुत्थानशील औद्योगिक वर्ग को भी जन्म नहीं दिया।

अनुमान लगाया गया है कि अकबर-द्वारा शासित प्रदेश में 120 नगर और 3,200 कस्बे थे। आगरा की आबादी अनुमानतः पांच-छः लाख थी। यह आबादी तत्कालीन लन्दन की आवादी से अधिक थी। इस दृष्टि से दिल्ली का मुकाबला पेरिस के साथ किया जा सकता था। अहमदाबाद लन्दन के लगभग बराबर था। लाहौर का स्थान यूरोप के किसी भी नगर के बाद का नहीं था और पटना की आवादी लगभग दो लाख थी। पर इतनी अधिक आवादी के बावजूद, ये नगर अपने मुकाबले के यूरोपीय नगरों की बराबरी नहीं कर सकते थे, क्योंकि इनमें वैसे स्वतन्त्र संस्थान विद्यमान नहीं थे जिनकी स्थापना यूरोपीय नगरों और कस्बों में व्यापारी-समाजों ने कर ली थी। अठारहवीं शताब्दी में लड़ाइयों हमलों

और अन्य आपदाओं ने विध्वंस मचा दिया और उत्तर में लाहौर, दिल्ली, आगरा, मथुरा, आदि नगर और दक्षिण में देश के विस्तृत भूभाग तवाह हो गए। भारत के समुद्र-तटवर्ती भागों में यूरोपीय व्यापारियों के उदय ने कुछ सीमा तक उक्त विनाश की क्षतिपूर्ति कर दी। वे सोने-चांदी के वदले में भारतीय वस्तुएं खरीदते थे और इस प्रकार उद्योग को वढ़ावा देते थे।

उच्चतर वर्गों की आवश्यकता-पूर्ति करनेवाले भारतीय कला-कौशल केवल नगरों तक ही सीमित न थे। कुलीनोपयोगी वस्तु-उद्योगों में नगरों और गांवों, दोनों ने ही प्रवीणता प्राप्त की थी। कारीगरों के विशिष्ट समूह उत्पादन के विशिष्ट अंगों का कार्यभार सम्भालते थे और विशेषज्ञ मिल-जुल कर विक्री-योग्य वस्तुएं तैयार करते थे। मिसाल के तौर पर, सूती कपड़े के उत्पादन में रूई धुननेवालों, कातनेवालों, बुननेवालों, रंगनेवालों, विरंजकों, छापनेवालों, आदि के स्वतन्त्र समूह थे। औद्योगिक विशेषज्ञता का एक और प्रकार था, विशेष गांवों तथा कस्बों में कुछ विशेष उद्योगों का केन्द्रीकरण। अलग-अलग धातुओं का काम करनेवाले कारीगर नगर के अलग-अलग भागों में वसे थे; वढ़ई, जौहरी, लोहार, तेली, आदि अपनी-अपनी वस्तियों में रहते थे। उदाहरणत: कुछ गांवों में मोटा सूती कपड़ा तयार होता था, दूसरों में मलमल और कुछ में पगड़ियां तैयार की जाती थीं। कामदार कपड़ा (कीमख्वाव), रेशमी कपड़ा, सोने-चांदी के तारों (गोट-किनारी) से वना कपड़ा विभिन्न स्थानों पर विशेष रूप से वनाया जाता था।

विशेषज्ञता से प्रवीणता में वृद्धि होती है। इसीलिए अपनी कारीगरी की प्रवीणता की दृष्टि से भारत के कारीगरों ने उस समय के संसार में अपना अद्वितीय स्थान वना लिया था। उद्योग-विषयक संगठन और प्रविधियों की दृष्टि से भी भारत पश्चिम की तुलना में कहीं आगे था। भारतीय उद्योग-द्वारा निर्मित वस्तुएं केवल एशियायी-अफ्रीकी देशों की आवश्यकता-पूर्ति नहीं करती थीं, अपितु यूरोपीय मण्डियों में भी उनकी वहुत मांग थी। वे वस्तुएं समुद्र तथा स्थल-मार्गों से पश्चिमी देशों में पहुंचती थीं।

पूर्वी वस्तुओं के आपूर्तिकर्ता भारतीय व्यापारी ईरान की खाड़ी और लाल सागर के समस्त वन्दरगाहों में प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित थे। वे कन्धार, कावुल, वलख, वुखारा, काशगर, आदि में, अफगानिस्तान और मध्य-एशिया में, ईरान में शीराज, इस्फहान, रे तथा मेशेद में और रूस में वाकू, अस्त्राखान, निजनी नोवगोरोद, आदि में भी पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे। रूस के पीटर महान् के कथनानुसार, "भारत का वाणिज्य विश्व का वाणिज्य है और······जो व्यक्ति एकान्तत: उसका नियन्त्रण कर सकता है, वही यूरोप का तानाशाह है।"[1]

भारतीय वस्तुएं पूर्व-एशियायी देशों — वर्मा, मलाया, इंडोनेशिया, चीन, जापान, आदि — में भी जा पहुंची थीं। कोरोमण्डल-तट और वंगाल इन वस्तुओं के आपूर्ति-केन्द्र थे।

औद्योगिक संरचना

भारतीय उद्योग से दो भिन्न-भिन्न प्रकार की मांगें पूरी करने की अपेक्षा की जाती

1. हैमिल्टन, 'प्राब्लेम्स ऑफ द मिड्ल-ईस्ट' (लन्दन, 1909), पृष्ठ 62

थी। इनमें से एक उन आम लोगों की आवश्यकताओं से सम्बद्ध थी, जिनमें से अधिकतर गांवों में रहते थे और दूसरी का सम्बन्ध समाज के उच्चतर वर्गों से था।

जो उद्योग ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के लिए निर्मित वस्तुएं सुलभ करते थे, उनकी संरचना पुराने ढंग की थी। कारीगर वर्ष के कुछ महीनों में खेती करते थे, क्योंकि उनके उत्पादनों की मांग समग्रतः इतनी अधिक नहीं थी कि वे पूरे वर्ष उस उद्योग में लगे रह सकें। गांवों में वस्तु-विनिमय प्रथा-द्वारा नियन्त्रित होता था और कारीगरों की मज़दूरी, जो खेत से सम्बद्ध प्रत्येक किसान का अंश वहां की उपज में से निर्धारित करके चुकाई जाती थी, पुरानी प्रथा के आधार पर निश्चित की जाती थी—मांग और आपूर्ति की मण्डी-विषयक शक्तियों के आधार पर नहीं।

ऊंचे वर्गों—सामान्यतः भद्रों और धनी व्यापारियों—की मांग में विलास की वस्तुओं का समावेश था। इसकी मात्रा काफी थी। धनी व्यक्तियों ने, संख्या में अपेक्षाकृत कम होने पर भी, विलास की वस्तुओं की काफी मांग पैदा कर दी थी, क्योंकि उन्हें जीवन की अच्छी वस्तुएं प्रिय थीं और वे उपयोग तथा प्रदर्शन, दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट रीति से बनी महंगी वस्तुएं प्राप्त करना चाहते थे। ऐसी वस्तुओं की मांग देश के बाहर भी थी और उनका उल्लेखनीय परिमाणों में निर्यात किया जाता था।

बहुत बढ़िया किस्म की विलास की वस्तुएं बनानेवाले उत्पादक या तो अपने घरों में ही काम करते थे, या कस्बों में स्थित सरकारी कारखानों में। गांव के कुछ कारीगर भी, जिन्होंने अपने कार्य-विशेष में दक्षता प्राप्त कर ली थी, अपने-अपने गांव में रह कर भी उन वस्तुओं की मांग की पूर्ति किसी हद तक करते रहते थे।

यहां के कारीगरों का संगठन यूरोप के श्रमिक-संघों (गिल्डों)-जितना मज़बूत नहीं था। गुजरात वह एकमात्र इलाका है, जहां सुव्यवस्थित शिल्प-संघ विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है। आमतौर पर, पुराने कारीगर उस व्यवसाय में आनेवाले नए कारीगरों को प्रशिक्षण दिया करते थे। शिल्प पुश्तैनी व्यवसाय होता था और कारीगर किसी विशेष जाति का सदस्य होता था। अतः, श्रमिक-संघ जाति की सत्ता का अतिक्रमण नहीं कर पाता था। वस्तुतः उक्त व्यापार से सम्बन्धित सभी मामले उस जाति की पंचायत और चौधरी के सामने रख दिए जाते थे। इस प्रकार, यूरोपीय श्रमिक-संघों के प्रशासनात्मक कार्य भारत में जाति-द्वारा पूरे किए जाते थे।

मध्य-कालीन यूरोप की उद्योग-व्यवस्था का एक अन्य पहलू, अर्थात् कार्यशाला से अलग रह कर काम करने का तरीका, भारत में भी प्रचलित हुआ। चूंकि अधिकतर कारीगर निर्धन थे, इसलिए उन्हें उन व्यापारियों के लिए काम करना पड़ता था, जो उन्हें या तो, दलालों की मार्फत पेशगी धन दे देते थे, या गुमाश्तों के माध्यम से उनके साथ लेन-देन किया करते थे। कारीगरों को औज़ारों तथा कच्चे माल के लिए धन दिया जाता था और तैयार वस्तुओं के बदले पेशगी मज़दूरी दे दी जाती थी। जब तक पूर्व-निर्धारित परिमाण में वस्तुएं तैयार नहीं हो जाती थीं और उन पर व्यापारी की मुहर नहीं लग जाती थी, तब तक कारीगर को व्यापारी के लिए काम करना ही पड़ता था। आमतौर पर बिचौलिया तैयार वस्तुओं को इकट्ठा करके मण्डी में बेचने के लिए लाता था। कभी-कभी कुलीन लोग कारीगरों के साथ स्वयं सौदे कर लेते थे। इससे उन्हें गरीब कारीगरों के साथ सख्ती करने के मौके मिल जाते थे।

वे सरकारी कारखाने सबसे सुव्यवस्थित थे, जो सल्तनतों की राजधानियों में

थे। बर्नियर[1] ने ऐसे बड़े-बड़े कमरों का वर्णन किया है, जिनमें विभिन्न कारीगर काम करते थे। वे 'मालिकों' और 'दारोगाओं' की देख-रेख तथा नियन्त्रण में रह कर काम करते थे। कारखाने उन शासकों—नरेशों और प्रान्तपतियों—के प्रत्यक्ष संरक्षण में चलते थे, जो वहां के काम में गहरी दिलचस्पी लेते थे। वे विशेष पुरस्कार देकर प्रतिभाशाली कारीगरों को प्रोत्साहित करते थे और तैयार की जानेवाली वस्तुओं की किस्म सुधारने में भी सहायता देते थे।

उत्पादन-कार्य समग्रतः छोटी-छोटी इकाइयों—कुछ कारीगरों के परिवारों—के रूप में होता था। उनकी आय साधारण होती थी और पूरा काम व्यापारियों से पेशगी रकम मिलने या संरक्षकों की सदाशयता पर ही निर्भर करता था। उद्योग में लगी पूंजी कम थी और उसे वह समवेत स्वरूप नहीं मिल पाया था, जो यूरोप में मिल गया था। इसके अलावा, प्रत्येक व्यवसाय एक ऐसी जाति पर आधारित था, जो एक अगतिशील समुदाय के रूप में थी। इसने एक व्यापार अथवा शिल्प से दूसरे में श्रमिकों का स्थानान्तरण और विभिन्न व्यवसायों के बीच का पारस्परिक सहयोग यदि सर्वथा असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य बना दिया।

भारतीय गांव आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर इकाइयां थे। गांव की जनता की आवश्यकताएं गिनी-चुनी थीं और वे प्रायः गांव के भीतर ही पूरी भी हो जाती थीं। बाकी बची फसल भू-राजस्व के रूप में नरेश को मिल जाती थी और किसान के पास, सरकारी मांग पूरी करने के बाद, ऐसा अधिक कुछ शेष नहीं रह पाता था जिससे वह नागरिक उद्योगों-द्वारा बनी वस्तुएं खरीद सके। ऐसी परिस्थितियों में गांव और नगर के बीच होनेवाले विनिमय की धारा क्षीण ही रहती थी। पूंजी के अभाव, जातिगत बन्धनों की सुदृढ़ता और गांव तथा शहर के बीच होनेवाले व्यापार की नगण्यता ने यहां व्यापार तथा साहूकारी के काम में लगे परम्परागत व्यापारी-वर्गों को यूरोपीय ढंग के सुदृढ़-सुव्यवस्थित मध्यम-वर्ग का रूप ग्रहण करने से रोके रखा।

गांव की सरल तथा स्वावलम्बमूलक अर्थ-व्यवस्था और लोगों के वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण ने एक-दूसरे पर प्रभाव डाला और वे दोनों परस्पर प्रभावित भी हुए। लोगों की धर्मप्रधान प्रवृत्ति ने भौतिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य-भावना ही उत्पन्न की। ऐन्द्रिक इच्छाओं की तुष्टि की ओर बढ़ना पाप और उनका दमन पुण्य समझा जाता था। सम्पत्ति मानो एक जंजाल थी। कम-से-कम अस्थिर और नाशवान तो वह थी ही और इसी नाते वह बुद्धिमान व्यक्तियों का प्राप्य नहीं बन सकती थी। नरेश और सामन्त सम्पत्ति तथा शक्ति के प्रदर्शन से आत्मतुष्टि भले कर लें, और उनका ऐसा करना उचित भले माना जाए, पर श्रेष्ठतर मानव तो वे अशोक तथा औरंगज़ेब के पथ पर चल कर ही बन सकते थे। बाकी सभी मनुष्यों के लिए त्याग और वैराग्य ही वास्तविक जीवन-लक्ष्य थे। इस प्रकार का नैतिक वातावरण पूंजी-संग्रह के अनुकूल नहीं था और न ही संयुक्त परिवार-प्रथा तथा हिन्दुओं और मुसलमानों के उत्तराधिकार-विषयक कानून परिवारों में बहुत समय तक धन कायम रखने में सहायक होते थे। कुलीन व्यक्तियों के देहान्त पर उनकी सम्पत्ति राजा-द्वारा हथियाए जाने की प्रथा ने

1. एफ० बर्नियर, 'ट्रैवेल्स इन द मुगल एम्पायर' (कान्स्टेबल-संस्करण, वी० ए० स्मिथ-द्वारा संशोधित) आक्सफोर्ड, 1934, पृष्ठ 258-59

उन लोगों में एक पुश्तैनी धनी-वर्ग का जन्म नहीं होने दिया। अर्थ-विज्ञान की ओर भारतीय विद्वानों ने ध्यान ही नहीं दिया।

जिन व्यापारियों, साहूकारों और रुपया उधार देनेवालों ने भारतीय वणिक्-समाज का निर्माण किया और जिन्हें उस समय का एक प्रकार का मध्यम-वर्ग समझा जा सकता है, उन्होंने धन तो बहुत कमाया, पर अपनी पूंजी का निवेश विनिर्माणिक उद्योगों की स्थापना तथा विकास के लिए नहीं किया। उन्होंने उस धन का उपयोग शासक-समाज के सदस्यों को बहुत अधिक व्याज पर ऋण देने और कारीगरों को उनके द्वारा बनाई तथा सुलभ की जानेवाली वस्तुओं की अग्रिम रकम अदा करने में ही किया। उन लोगों में उद्यम की उस भावना का अभाव था, जो यूरोपीय उद्योग का प्रधान शक्ति-स्रोत थी। इसके अलावा, समवेत संघ और श्रमिक-निकाय बना कर काम करनेवाले यूरोपीय व्यापारियों से भिन्न, भारतीय व्यापारी व्यक्तिगत अथवा पारिवारिक रूप से पृथक्तः व्यापार करते थे।

भारतीय उद्योग यद्यपि पूर्व-पूंजीवादी स्तर का ही बना रहा और भारत में औद्योगिक मध्यम-वर्ग का भी विकास नहीं हुआ, तथापि विनिर्मित वस्तुओं के वैविध्य और उत्पादन-विधियों के नाते उस समय भारत समकालीन यूरोप की तुलना में औद्योगिक दृष्टि से कहीं आगे था। भारत की मध्य-कालीन अर्थ-व्यवस्था के इतिहासकार मोरलैण्ड ने भी, जिसका झुकाव भारत की उपलब्धियों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन की ओर नहीं हो सकता था, यह स्वीकार किया कि "मेरी समझ से तो यह बात अब भी निर्विवाद है कि उद्योग के क्षेत्र में भारत, आज की तुलना में, उस समय पश्चिमी यूरोप से कहीं आगे था।"[1]

भारतीय उद्योग और संस्कृति की महानता तथा मौलिकता के सम्बन्ध में पाइरार्ड का साक्ष्य स्थायी रूप से महत्त्वपूर्ण है। उसका कथन है: "संक्षेप में, मैं एक ओर सोने, चांदी, लोहे, इस्पात, तांबे तथा अन्य धातुओं, और दूसरी ओर हीरे-जवाहरात, कीमती लकड़ी तथा अन्य मूल्यवान एवं दुर्लभ पदार्थों से विनिर्मित वस्तुओं की विविधता का पूरा वर्णन कभी नहीं कर सकता। बात यह है कि वे सब बहुत चालाक हैं और किसी भी बात में पश्चिम के लोगों के ऋणी नहीं हैं, क्योंकि उन्हें उससे अधिक प्रखर मेधा प्राप्त है, जो हम लोगों में प्रायः पाई जाती है और उनके हाथ भी हमारी भांति निपुण हैं; किसी भी काम को वे एक बार देख अथवा सुन कर सीख जाते हैं। वह, वास्तव में, चालाक और शिल्प-प्रवीण जाति है। हां, वे लोग न तो दूसरों को धोखा देने के अभ्यासी हैं, न स्वयं सरलता से धोखे में आते हैं। उनके द्वारा बनी सभी वस्तुओं की एक सामान्य विशेषता यह है कि वे कला की दृष्टि से उत्कृष्ट भी होती हैं और सस्ती भी। मैंने चतुर व्यक्तियों में उतनी तहज़ीब-तमीज़ और कहीं नहीं देखी, जितनी इन भारतवासियों में दृष्टिगत होती है। इनमें वैसी बर्बर अथवा असंस्कृत कोई बात नहीं है, जैसी हम प्रायः इन लोगों में समझा करते हैं। यह सत्य है कि ये लोग पुर्तगालियों के तौर-तरीके अपनाने को तैयार नहीं हैं, फिर भी उनके वस्तु-निर्माण तथा कारीगरी के सम्बन्ध में जानने के लिए अविलम्ब तत्पर हो जाते हैं, क्योंकि ये सभी जानकारी पाने के बहुत ही आकांक्षी तथा जिज्ञासु हैं। वस्तुतः पुर्तगालियों ने इन्हें जो-कुछ दिया है, उससे

1. डब्ल्यू० एच० मोरलैण्ड, 'इण्डिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर', पृष्ठ 155-56

कहीं अधिक उन्होंने इन भारतीयों से पाया है और गोआ पहुंचनेवाले पुर्तगाली उस समय तक अनाड़ी ही बने रहते हैं, जब तक इण्डीज़ के लोगों के गुण-स्वभाव को आत्मसात् नहीं कर लेते। अतः, यह समझ लिया जाना चाहिए कि खम्भात, सूरत और सिन्ध नदी तथा महान् मुगल के देश में स्थित अन्य स्थान समस्त इण्डीज़ में सर्वश्रेष्ठ तथा उर्वरतम हैं और पालन-पोषण करनेवाली मां के समान हैं, जो बाकी सबके लिए यातायात तथा वाणिज्य की सुविधा सुलभ करते हैं। बंगाल की सल्तनत की भी यही स्थिति है, जहां उनके तौर-तरीके तथा रीति-रिवाज समान हैं। वहां के लोग—स्त्रियां तथा पुरुष, दोनों ही—अन्य स्थानों के मुकाबले अधिक संस्कृत हैं; वे देश भारत के सभी जहाज़ों के विपणन-स्थल हैं और वहां का रहन-सहन अन्य किसी भी जगह से बेहतर है।"[1]

भारतीय कारीगरों की दक्षता के सम्बन्ध में उसने कहा है: "विश्व की और किसी भी जाति के लोगों को मोतियों तथा हीरे-जवाहरात की इतनी अधिक जानकारी नहीं है: और स्वयं गोआ में उत्कृष्ट शिल्पों में लगे स्वर्णकारों, मणिकारों तथा अन्य शिल्पकारों में से सभी खम्भात के बनिये और ब्राह्मण हैं, जिनकी अपनी बस्तियां और दुकानें हैं।"[2]

उत्पादन

उत्पादन अनेक प्रकार की वस्तुओं का होता था, जिनमें मूल कृषि-उत्पादनों से लेकर बढ़िया सूती और रेशमी वस्त्र, लोहे और इस्पात, पीतल और तांबे, सोने और चांदी की बनी वस्तुओं और अनेक आकार के जहाज़ों तक का समावेश था। खाद्यान्न सबसे महत्त्वपूर्ण कृषिजन्य वस्तु थे, जिनकी खेती लगभग प्रत्येक गांव में वहां की अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए की जाती थी। अन्य कृषिजन्य वस्तुएं थीं: कपास, गन्ना, तम्बाकू पोस्ता और नील। बंगाल और उड़ीसा तथा सिन्ध के लोगों के भोजन में मछली का स्थान महत्त्पूर्ण था और अनेक यात्रियों ने यह उल्लेख किया है कि जहाज़ों में भोजन सुलभ करने के लिए मछलियों को सुखा कर उनमें नमक लगाया जाता था। मछली का तेल सिन्ध में तैयार किया जाता था और मछली की खाद का प्रयोग पश्चिमी भारत में प्रचलित था। भारत मोतियों का भी ज़बर्दस्त व्यापारी था और मोती-माहीगीरी का काम दक्षिण में भलीभांति जम चुका था। खनन-उद्योग का अधिक विकास नहीं हो पाया था और खनिज-उत्पादन की मात्रा कम थी, पर लोहा छोटे पैमाने पर जगह-जगह पाया जाता था और देश का प्रत्येक भाग अपनी ज़रूरत के लायक लोहा पैदा कर लेता था। भारत में बनी तलवारें सम्पूर्ण पश्चिम-एशिया में बहुत मूल्यवान मानी जाती थीं। धातुओं के अतिरिक्त, भारतीय खनिज पदार्थों में हीरे, नमक और शोरे का समावेश था।

विनिर्माणक उद्योगों में सूती वस्त्र-उद्योग का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण था। वैसे तो यह उद्योग देश-भर में फैला था, पर सूती वस्त्र के प्रधान उत्पादन-केन्द्र ढाका, बनारस,

---

1. 'द वाएज ऑफ एफ० पाइरार्ड ऑफ लेवल टु द ईस्ट इण्डीज़', खण्ड 2, भाग 1 (हक्ल्युत सोसाइटी), पृष्ठ 248-49

2. वही, पृष्ठ 250

आगरा, मुल्तान, बुरहानपुर, लाहौर, अहमदाबाद, पटना, बड़ौदा और सूरत थे। अन्य वस्त्र-उद्योगों में रेशमी कपड़ा, सिन्दूरी रंग के ऊनी कपड़े तथा बंगाल में तैयार किए जानेवाले टाट तथा बोरियों का समावेश था। चीनी, वनस्पति तेल, विरंजक पदार्थ, अफीम और धातु के बर्तन बनाने का काम भलीभांति प्रतिष्ठित हो चुका था। कुटीर-शिल्पों में जौहरियों और रजतकारों के काम का उल्लेख किया जा सकता है।

देश का भीतरी व्यापार और विदेशी व्यापार अधिकतर जल-मार्गों-द्वारा ही होता था, अतः, इस देश में नौकाओं और जहाज़ों की मांग बहुत अधिक थी। बन्दरगाहों तक आनेवाले व्यापारी जहाज़ और देश की नदियों में तैरनेवाली नौकाएं देश में ही बनाई जाती थीं। नौका-निर्माण का काम ढाका, इलाहाबाद, लाहौर, थट्टा, मछलीपट्टम, पुलीकट, कालीकट, सूरत, बसई और गोआ में बहुत ज़ोरों पर होता था। उस समय देश में नौका-निर्माण सम्बन्धी कार्य-व्यापार कितने ज़ोरों पर था, इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उस समय 40,000 नौकाएं सिन्धु नदी में तैरती थीं; 40,000 से 50,000 तक नावों का एक समूह बंगाल में विद्यमान था; 180 नौकाएं आगरा और सतगांव के बीच सक्रिय थीं; दो मस्तूलवाले 100 जहाज़ों का बेड़ा मलाबार में विद्यमान था और इन सबके अतिरिक्त देश की बन्दरगाहों में अनगिनत जलयान मौजूद थे। खम्भात और गोआ के बीच समुद्र में आने-जानेवाले तीन-चार सौ जहाज़ों का एक बेड़ा था, और 250 जहाज़ों का बेड़ा गोआ से दक्षिण तक आता-जाता था और बंगाल तथा उड़ीसा के पूर्वी समुद्र-तट पर असंख्य जहाज़ आया-जाया करते थे। बालकृष्ण का अनुमान है कि प्रति वर्ष भारतीय बन्दरगाहों में आने या यहां से जानेवाले कुल जहाज़ों का वज़न अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में 3 लाख 45 हज़ार टन था, जिसमें से 85 हज़ार टन के जहाज़ विदेशी व्यापार में लगे थे और शेष समुद्र-तटीय यातायात में।[1]

जहाज़-निर्माण-कला में भारत यूरोपीय जातियों से बहुत आगे था। जहाज़-निर्माता के नाते भारतीयों की दक्षता के सम्बन्ध में लिखते हुए पार्किन्सन ने कहा है : "जहाज़-निर्माण में कदाचित् उन्होंने अंग्रेज़ों से जो-कुछ सीखा, उससे बहुत अधिक उन्हें सिखाया।"[2] जहाज़-निर्माण के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे : गोआ, बसई, सूरत, मछलीपट्टम, सतगांव, ढाका और चटगांव। उन दिनों जहाज़ों का मानक आकार 300 से 500 टन तक होता था, यद्यपि डेढ़ हज़ार टन के जहाज़ भी अविदित नहीं थे। पुर्तगालियों ने रेहमी नामक जिस गोघा जलयान पर कब्ज़ा किया था, उसका टन-भार डेढ़ हज़ार था।[3]

विदेशी व्यापार

भारत में उत्पादन को मुख्यतः देश की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के आधार पर ही स्वरूप दिया गया था। देश स्वावलम्बी और अपने निवासियों के उपभोग के लिए आवश्यक कृषिगत एवं औद्योगिक वस्तुओं के सम्बन्ध में सामान्यतः आत्मनिर्भर था। विलास की वस्तुएं, जिनमें नूतनता का तत्त्व विद्यमान रहता था, विदेशों से मंगाई जाती

---

1. बालकृष्ण, 'कमर्शियल रिलेशन्स बिट्वीन इंग्लैण्ड ऐण्ड इण्डिया, 1600-1757', पृष्ठ 279-81
2. पार्किन्सन, 'ट्रेड ऑफ द ईस्टर्न सीज़', पृष्ठ 50

मुखर्जी, 'इकोनामिक हिस्टरी', पृष्ठ 124

थीं, परन्तु उनकी मांग सीमित थी और धनी-वर्ग किसी अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के स्थान पर अपनी जिज्ञासा अथवा प्रदर्शन-भावना की तुष्टि के लिए ही उन्हें खरीदा करते थे। विदेशों से मंगाई जानेवाली वस्तुओं में कच्चा रेशम, हाथी-दांत, मूंगा, कच्छप-कवच, अम्बर, सोना और चांदी, सीसा, टीन, तांबा, जस्ता, पारा और सुहागा, गन्धक आदि कुछ खनिज पदार्थों का समावेश था।

भारतीय उद्योग देशवासियों की मांग पूरी करने के साथ-साथ विदेशी मण्डियों की भी मांग पूरी करते थे। भारत की जो औद्योगिक सर्वोपरिता अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक बनी रही, उसने विश्व के वाणिज्य और उद्योग में इस देश को ईर्ष्याजनक स्थिति प्रदान कर दी थी। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत "विश्व की मुद्राओं और वस्तुओं के वितरण तथा प्रचार में मानो श्वासनलिका की भांति कार्य कर रहा था; यह वह समुद्र था, जिसमें व्यापार और उद्योग की सभी नदियां मिलती थीं और इस प्रकार यह अपने देशवासियों को धनवान बना रहा था।[1] सत्रहवीं शताब्दी में यह देश विश्व में औद्योगिक वस्तुओं का कदाचित् सबसे बड़ा उत्पादक था। लगभग अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक पृथ्वी का प्रायः प्रत्येक राष्ट्र बहुत मात्रा में भारत से उत्कृष्ट सूती और रेशमी वस्त्र, मसाले, नील, चीनी, दवाएं, जवाहरात और कला की अनोखी वस्तुएं मंगाता था और उनके बदले सोना और चांदी भेजता था।

मूल्यवान धातुओं का तो भारत एक कुण्ड ही बना रहा। हिन्दुस्तान के राजाओं की धन-दौलत का वर्णन करते हुए वान ट्विस्ट ने कहा है: "यद्यपि भारत में सोने और चांदी की खानें नहीं थीं, तथापि ये दोनों धातुएं बहुत बड़े परिमाण में विदेशों से यह आती थीं और यहां से उनका निर्यात निषिद्ध था।"[2] हाकिन्स ने लिखा है: "भारत में चांदी बहुत है, क्योंकि सभी राष्ट्र यहां सिक्का लाते हैं और उसके बदले वस्तुएं ले जाते हैं और फिर यह सिक्का भारत में ज़मीन के नीचे गाड़ दिया जाता है, इसका प्रयोग नहीं किया जाता।"[3] टेरी का अनुमान है कि "लाल सागर से लौटनेवाला भारतीय जहाज़ प्रायः दो लाख पौंड स्टर्लिंग मूल्य का होता था, और उसका अधिकांश सोने और चांदी के रूप में होता था।"[4] उसने आगे चल कर लिखा है: "जिस तरह सभी नदियां समुद्र की ओर बढ़ती हैं, उसी तरह चांदी की बहुत-सी नदियां इस देश की ओर बढ़ती हैं और वहां ठहर जाती हैं, क्योंकि वहां कोई भी राष्ट्र विधिसंगत रूप से चांदी लाकर वस्तुएं तो खरीद सकता है, परन्तु वहां से इस मूल्यवान धातु को किसी उल्लेखनीय मात्रा में ले जाना बहुत बड़ा अपराध माना जाता है।" केवल इंग्लैण्ड से भारत ने सन् 1708 से 1757 तक के 50 वर्षों में 2 करोड़ 20 लाख पौंड मूल्य के सोने-चांदी का आयात किया।[5] विदेशों से आनेवाले इस सोने-चांदी की विशाल मात्रा का एक अंश ही सिक्के ढालने के

1. बालकृष्ण, 'कमर्शियल रिलेशन्स', पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 37
2. देखिए, ब्रजनारायण-कृत 'इण्डियन इकोनामिक लाइफ' (लाहौर, 1929), पृष्ठ 56-57
3. वही, पृष्ठ 57
4. वही
5. बालकृष्ण, 'कमर्शियल रिलेशन्स', पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 208

काम आता था, बाकी सब निजी तौर पर दबा कर रख दिया जाता था या जेवर आदि बनाने के काम में आ जाता था।[1]

भारत से बाहर भेजी जानेवाली वस्तुओं में सूती कपड़े का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस देश में बने उत्कृष्ट सूती वस्त्रों के लिए भारत शताब्दियों तक सम्पूर्ण विश्व में विख्यात रहा। प्राचीन काल में रोम में भारत में बने माल की बड़ी खपत थी। "यूनानवासी 'गंगेटिका' के नाम से ढाका की मलमलों से परिचित थे। भारत में रूई कातने और सूती कपड़ा बुनने की कलाएं दो हज़ार वर्ष पहले प्रवीणता के उच्च स्तर तक पहुंच चुकी थीं।[2] पाइरार्ड ने इस ओर संकेत करते हुए कहा है कि "(भारत की) मुख्य मूल्यवान वस्तुओं में रेशमी तथा सूती माल का समावेश है, जिससे आशा-अन्तरीप से लेकर चीन तक प्रत्येक स्त्री और पुरुष सिर से पैर तक ढका रहता है।"[3] यह विश्व-व्यापी लोकप्रियता यहां की बनी वस्तुओं की शिल्पगत उत्कृष्टता पर आधारित थी। वेबर के शब्दों में, "बुने हुए मुलायम वस्त्रों के उत्पादन, रंगों के मिश्रण, धातुओं और हीरे-जवाहरात के काम, इत्र बनाने और सभी प्रकार की तकनीकी कलाओं में भारतीयों की दक्षता प्राचीन काल से ही पूरे विश्व में आदर पाती रही है।"[4]

मोरलैण्ड का अनुमान है कि सत्रहवीं शताब्दी में प्रति वर्ष लगभग 8 हज़ार गांठ सूती कपड़ा विदेशों में भेजा जाता था, जिसमें से 4 हज़ार 7 सौ गांठें यूरोपीय देशों में जाती थीं। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अकेले इंग्लैण्ड में ही प्रति वर्ष भारतीय सफेद सूती कपड़े और सूसियों के 10 लाख थानों से भी अधिक की खपत हो जाती थी। बादशाह जेम्स-द्वारा सन् 1623 में यह पूछे जाने पर कि इंग्लैण्ड इतनी अधिक मात्रा में भारत से सूती कपड़े का आयात क्यों करता है, टामस मुन और डिप्टी गवर्नर मारिस ऐबट ने निम्नलिखित रोचक उत्तर दिया बताया जाता है: "इंग्लैण्ड में इसकी बहुत

---

1. "यह शिकायत कि भारत विश्व के सोने को दबा कर रख रहा है, प्लाइनी के समय-जितनी पुरानी है।" ('हिस्टोरिया नेचुरालिस', खण्ड 6, 26)। पुराने मुस्लिम इतिहासकार शहाबुद्दीन ने इसका उल्लेख किया है (इलियट और डाउसन, 'हिस्टरी ऑफ इण्डिया', खण्ड 3, पृष्ठ 583)। बर्नियर ने शिकायत की है कि "इस बात की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि सोना और चांदी विश्व के अन्य प्रत्येक भाग में प्रकट होने के बाद जब अन्त में हिन्दुस्तान पहुंचते हैं, तब वे कुछ हद तक निगल-से लिए जाते हैं।" ('ट्रैवेल्स', पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 202)। इसी प्रकार, डा० फ्रायर ने लिखा है, "यद्यपि इससे इस देश का विकास तो नहीं होता, तथापि यहां के 'भद्र जनों' की सहज संचय-भावना और विदेशी व्यय के अवसर के अभाव तथा अपनी बुद्धि को पल्ले में बांध रखने की प्रवृत्ति के कारण विश्व के खजाने का वह सबसे बड़ा अंश भारत में जमीन में गाड़ दिया जाता है।" ('ए न्यू एकाउंट ऑफ ईस्ट इण्डीज', हक्लयुत सोसाइटी, पृष्ठ 283)। मूल्यवान धातुओं के प्रति भारतीयों के प्रेम तथा उन्हें गाड़ कर रखने के उनके स्वभाव की ओर प्रारम्भिक ब्रिटिश अधिकारियों का ध्यान भी आकृष्ट हुआ था (देखिए, फास्टर-कृत 'लेटर्स रिसीव्ड', खण्ड 4, भूमिका, पृष्ठ 33)

2. 'इम्पीरियल गज़ेटियर', खण्ड 3, पृष्ठ 195

3. 'वाएज ऑफ पाइरार्ड', पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 2, भाग 1, पृष्ठ 247

4. 'रिपोर्ट ऑफ द इण्डियन इण्डस्ट्रियल कमीशन', 1916-18, के प्रति दिए गए असहमति-पत्र में पण्डित मदनमोहन मालवीय-द्वारा उद्धृत

उपयोगिता है, क्योंकि इसी से मलमल, कैमरिक और दूसरी तरह के कपड़ों की कीमतें नीचे लाई जाती हैं; शेष के लिए इंग्लैण्ड को अब इस वस्तु की मण्डी बना दिया गया है, जिसमें पहले महामहिम के साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद बाकी बचे माल को इसी देश में बनी वस्तु के रूप में विदेशों में भेज दिया जाता है।"[1] भारत से इंग्लैण्ड में सूती वस्त्रों के आयात से न केवल वहां की वस्तु का उपभोग सीमित हो जाता था, बल्कि उस देश को इसलिए भी लाभ होता था कि वह भारतीय वस्त्रों को दूसरे देशों के हाथ बेच कर बहुत मुनाफा कमा लेता था।

निर्यात की जानेवाली अन्य वस्तुओं में नील महत्त्वपूर्ण था। मछलीपट्टम से सीमित मात्रा में लोहे और इस्पात का निर्यात किया जाता था। कोरोमण्डल-तट से सूत बाहर भेजा जाता था। गुजरात से निर्यात की जानेवाली वस्तुओं में सूती माल और नील के अतिरिक्त, वान ट्विस्ट ने अफीम, हींग, लाख, आंवला, कत्था, दवाइयों, हीरे-जवाहरात सेलखड़ी और संगमर्मर का उल्लेख किया है।

वित्तीय संरचना और वाणिज्यिक वर्ग

इस समस्त जोरदार व्यापार और उद्योग की व्यवस्था तथा इसका वित्त-पोषण भारतीय व्यापारियों ने किया था। उद्योग और व्यापार के परिमाण तथा विस्तार से पता चल जाता है कि उनका पोषण करनेवाले लोग इस देश में बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान थे। इनमें से बहुत-से लोग देश के बन्दरगाहोंवाले नगरों में बसे थे। लिसचोटन[2] ने लिखा है, "गोआ में रहनेवाले मलेच्छ भारतीय बहुत ही धनी व्यापारी हैं और वे बहुत अधिक व्यापार करते हैं।" उसने यह भी कहा है कि "उनकी दुकानें रेशम, साटिन, बेलबूटेदार रेशमी वस्त्रों, चीनी मिट्टी की बनी वस्तुओं और मखमल के अतिरिक्त लिनेन, कमीज़ों और सभी तरह के लोगों के लिए सिले-सिलाए तैयार कपड़ों से भरी रहती हैं।" गोआ के बनिये सभी तरह के हीरे-जवाहरात और माल-सामान बेचते थे। उनके अतिरिक्त, जौहरी तथा मामूली वस्तुओं के व्यापारी भी थे। डब्ल्यू० जी० डी-जोंघ ने (1628-29 की) गुजरात-रिपोर्ट में कहा है: "पूरे समुद्र-तट के साथ-साथ अर्थात् गोआ, कोरोमण्डल और बंगाल में ऐसे बनिये सभी जगह दिखाई देते हैं, जो व्यापार से जीविकोपार्जन करते हैं। दूसरी ओर . . . उनमें से अनेक दलाली करते हैं। इन बनियों में ऐसे लोगों की संख्या उल्लेखनीय है, जो व्यापार के अधिकांश का संचालन करते हैं और इस प्रकार वे सबसे अधिक और सर्वश्रेष्ठ व्यापार के संचालक होने के नाते मुसलमानों से अधिक व्यापार कर लेते हैं। वे सूझ-बूझवाले व्यापारी हैं और रुपया चुकाने में ईमानदार हैं। उनमें से अनेक व्यक्ति मुद्रा-परिवर्तन का काम करते हैं और वे इन भागों में सभी स्थानों पर मिल जाते हैं।"[3] एक अन्य यात्री, डा० फायर, ने सूरत की व्यापार-विषयक स्थिति के सम्बन्ध में कहा है: "जान पड़ता है कि प्रकृति

---

1. मोरलैण्ड, 'इण्डियन एक्सपोर्ट्स ऑफ़ काटन गुड्स इन द सेवेनटीन्थ सेंचुरी', 'इण्डियन जरनल ऑफ इकोनामिक्स', खण्ड 5

2. टर्प्सट्रा, 'कोरोमण्डल', पृष्ठ 176, व्रजनारायण-द्वारा 'इण्डियन इकोनामिक लाइफ' के पृष्ठ 54-55 पर उद्धृत

3. देखिए, व्रजनारायण-कृत पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 59

4. वही, पृष्ठ 60-61

ने उसे समुद्री और स्थलीय यातायात के केन्द्र-स्थल के रूप में निर्मित किया है। ऐसा लगता है कि उसे सम्पूर्ण विश्व की पूर्णतम प्रियतमा बनने से रोकनेवाला कोई भी तत्त्व नहीं रह गया है। यदि लोगों की प्रकृति पर ध्यान दिया जाए, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे देशी और विदेशी, दोनों प्रकार की वस्तुओं को कम कीमत पर खरीदने और महंगे दामों में बेचने में कितने होशियार, कितने प्रवीण हैं। यहां के बनिये गरीबी और हीनता की स्थिति में जीवन तो क्षुद्र-दरिद्र ही बिताते हैं, पर उनके खज़ाने किसी राजा के खज़ाने से कम नहीं हैं। गवर्नर-द्वारा प्रायः लूटे-खसोटे जाने पर भी वे इस देश में आने-जानेवाले व्यापारिक माल की सहायता से अविलम्ब क्षतिपूर्ति कर लेते हैं।"[1]

यह वर्ग बन्दरगाहों तक ही सीमित न था, अपितु देश के व्यापार-मार्गों के साथ बसे हुए सभी नगरों और कस्बों में फैला था। उत्तर-पश्चिम में देश के भीतरी व्यापार के मुख्य केन्द्र थे—पंजाब में मुल्तान और सिन्ध के तीन उपनगर अर्थात् बक्खर, सक्खर और रोहड़ी। इन स्थानों पर व्यापारियों के सम्पन्न समाज विद्यमान थे, जिनमें से अधिकतर खत्री,[2] लोहाना और भाटिया थे। उत्तर-भारत में दिल्ली और आगरा वाणिज्यिक कार्य-कलाप के अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, जहां आन्तरिक जल-यातायात की सुविधा सुलभ थी। मालदह, रंगपुर और कासिम बाज़ार बंगाल में महत्त्वपूर्ण व्यापार-केन्द्र थे; राजस्थान में जैसलमेर, पाली, जोधपुर और अजमेर पुराने व्यापार-केन्द्र थे, जिन्होंने अठारहवीं शताब्दी में अपना महत्त्व बनाए रखा। गुजरात में अहमदाबाद और मराठा-प्रदेशों में पूना तथा नागपुर का महत्त्व सन् 1750 के बाद बढ़ा। दक्कन में वाणिज्य के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र कोरोमण्डल और कोंकण के समुद्री-तटों पर स्थित बन्दरगाहें थीं, परन्तु देश के आन्तरिक भाग में अहमदाबाद, बंगलौर और तंजौर व्यापार तथा वाणिज्य के ज़ोरदार केन्द्र थे। उत्तरप्रदेश और बिहार में बनिया ही प्रधान व्यापारिक जाति थी (जिनमें अग्रवाल, ओसवाल, जैन और माहेश्वरी थीं) जिन्हें प्रायः पर्याप्त सम्पन्न जाति माना जाता था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महाराष्ट्र में राजस्थान के मारवाड़ी उल्लेखनीय संख्या में विद्यमान थे। दक्षिण में आन्ध्रप्रदेश के कोमती और तमिल-प्रदेश के चेट्टी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक जातियां थी।[3] परन्तु यह मान लेना ठीक न होगा कि सभी भारतीय व्यापारी धनवान थे। उनमें साधारण धन-सम्पत्ति-वाले बहुत-से लोग थे और निर्धन लोगों की संख्या उनसे भी अधिक थी।

व्यापारियों के अतिरिक्त छोटे और बड़े वित्त-पोषकों का एक बड़ा वर्ग भी था। अमीर और सम्पन्न वित्त-पोषकों में बंगाल के जगत्-सेठों, गुजरात के नाथजियों और दक्षिण के चेट्टियों का उल्लेख किया जा सकता है। बताया जाता है कि अलावर्दी खां

---

1. डा० जान फ्रायर, 'ए न्यू एकाउंट ऑफ इण्डिया एण्ड परशिया', खण्ड 1, पृष्ठ 302

2. 25 मई, 1618 की एक डच-रिपोर्ट में इस बात का विशेष उल्लेख है कि बनिये और खत्री व्यापारी-वर्ग बहुत बड़ी संख्या में 'इन्दोस्तान' अर्थात् आगरा, लाहौर, दिल्ली और अन्य स्थानों से चल कर बन्दरगाहोंवाले नगरों में पहुंचते थे। इस रिपोर्ट के लेखक पीटर विलिम्सन का विचार था कि यदि पुर्तगालियों को खदेड़ दिया जाए, तो बनिये, "जो महान् और शक्तिशाली व्यापारी हैं", डचों को बहुत अधिक मात्रा में नील देने में समर्थ हो सकेंगे।

3. डी० आर० गाडगिल, 'आरिजिन ऑफ द माडर्न इण्डियन बिजनेस क्लास', पृष्ठ 19

के शासन-काल के आरम्भ में बंगाल के जगत्-सेठों के पास 10 करोड़ रुपये की पूंजी मौजूद थी। बंगाल पर किए गए पहले हमले के समय मराठे उनकी 'कोठी' से 2 करोड़ आर्काट रुपये अपने साथ ले गए थे, पर इतनी बड़ी क्षति का भी उनके संसाधनों पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा था। रुपये से सम्बन्धित उनकी प्रक्रियाओं की गुरुता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वे एक-एक करोड़ रुपये की दर्शनी हुंडियां जारी किया करते थे। सूरत के नाथजियों के संसाधन भी उतने ही अधिक थे। जिस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतीय सरदारों के साथ संघर्ष कर रही थी, उस समय साहूकार-परिवारों ने उसका वित्त-पोषण किया था।

यह बात अत्यन्त रोचक है कि बंगाल के जगत्-सेठ, वास्तव में, मारवाड़ के मूल निवासी थे और सूरत के नाथजी बनारस से जाकर वहां बसे थे। पूर्व (बंगाल) और पश्चिम (गुजरात) की ही तरह दक्षिण में नत्थू कोठारी चेट्टियों के व्यापारिक समुदाय ने सम्पूर्ण व्यापार पर एकाधिकार कर रखा था और उसे अधिकतम धनवान माना जाता था। उनका व्यापार बर्मा, मलाया और पूर्वी द्वीपों तक फैला था। श्रीलंका में, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में, चेट्टी साहूकार के रूप में काम करते थे और उन्होंने कई व्यापारियों-द्वारा मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के नाम जारी किए गए विनिमय-पत्रों के बदले उन्हें नगद रकमें सुलभ की थीं। प्रेज़िडेंसियों में उनकी नियमित एजेंसियां कायम थीं।

वे साहूकार-परिवार राजनीतिक दृष्टि से भी बहुत प्रभावशाली थे। सेठ महताब राय और सेठ स्वरूपचन्द ने सरफराज खां के पराभव और अलावर्दी खां के सिंहासनारोहण में सहायता की। सिराजुद्दौला के विनाश का कारण यह था कि जगत्-सेठ उसके विरुद्ध हो गया था। औरंगज़ेब के उत्तराधिकारी सेनाएं इकट्ठी करने के लिए पर्याप्त धन से वंचित रहे, क्योंकि 'खालसा' भूमियों के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के कारण साहूकारों ने यह समझ लिया था कि उनकी ऋण वापस करने की क्षमता में कमी आ चुकी है। बाद के पेशवाओं को भी इसी प्रकार के संकट का सामना करना पड़ा, क्योंकि उन्हें भी धनाभाव के कारण विपत्तिग्रस्त होना पड़ा।

ये बड़े-बड़े साहूकार आधुनिक बैंक के सभी काम पूरे करते थे। उदाहरण के लिए, वे रकमें जमा करते थे, ऋण देते थे और हुंडियां जारी करते थे। उनसे नीचे ऐसे असंख्य छोटे-छोटे साहूकार थे, जो व्यापार और उद्योग का वित्त-पोषण करने और कारीगरों तथा अन्य लोगों को ऋण देने के काम में लगे थे। प्रत्येक गांव का अपना साहूकार होता था, जो न केवल कृषि-विषयक कामों के लिए ऋण देता था, अपितु देहान्त, विवाह, आदि-जैसे अवसरों पर होनेवाले असाधारण अथवा आकस्मिक व्यय और मवेशियों की खरीद, आदि-जैसे अन्य खर्चों की पूर्ति के लिए भी ऋण देता था। सच तो यह है कि पूरा समाज बहुत हद तक उन्हीं साहूकारों की मुट्ठी में था। किसानों, शिल्पकारों, कारीगरों, कुलीनों, राजाओं, राजकुमारों, सभी को इन लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता था और सभी अपने निजी तथा सार्वजनिक लेन-देन में वित्तीय सहायता के लिए उनके ऋणी थे। "स्थानीय राजकुमार बंध-पत्रों के रूप में अदायगी करता है और यह बात साहूकारों पर निर्भर है कि इन बंध-पत्रों के बदले किसी को कितनी रकम मिल पाती है।"[1] यदि देश के सभी साहूकारों, वित्त-पोषकों

1. स० सी० हिल-कृत 'थ्री फ्रेंचमेन इन बंगाल' के पृष्ठ 84 पर 'ला'

और रुपया उधार देनेवालों के संसाधनों का हिसाब लगाया जाए, तो पता चलेगा कि देश के पूंजी-संसाधन कुल मिला कर उल्लेखनीय थे, यद्यपि वे असमान परिवारों में व्यापक रूप से बंटे हुए थे और इसीलिए बड़े पैमाने के उद्योग के विकास के लिए उनका प्रभाव बहुत कम था

कृषि की पिछड़ी अवस्था

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में उद्योग और वाणिज्य के क्षेत्र में जो वैभव-वृद्धि हुई, उसके मुकाबले की वृद्धि कृषि के क्षेत्र में नहीं हुई। कृषि जड़ और आरम्भिक अवस्था में ही पड़ी रही।

किसानों की जोतों के औसत आकार का हमें कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य प्राप्त नहीं है। यह आकार मिट्टी, धरती की उर्वरता और जलवायु के आधार पर एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश, यहां तक कि एक गांव से दूसरे गांव में भिन्न रहा होगा। परन्तु किसानों की जोतों को सीमित करनेवाला कारण खेती के लिए किसान-परिवार के पास उपलब्ध पूंजी और श्रम का परिमाण ही रहा होगा, जमीन की सुलभता नहीं, क्योंकि उस समय खेती-योग्य भूमि तो किसानों की तत्सम्बन्धी मांग की तुलना में कहीं अधिक उपलब्ध थी। यदि जोतें छोटी थीं, तो इसका कारण अंशतः यह था कि किसानों के पास इतने साधन नहीं थे कि वे बड़ी जोतों की व्यवस्था कर पाते। यह सब होने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की तुलना में मुगल-कालीन भारत में जोतों का औसत आकार बड़ा ही रहा होगा, क्योंकि एक तो उस समय खेती में लगे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम थी और दूसरे, कृषि में लगी आबादी का अनुपात भी कम था। सामान्यतः कहा जा सकता है कि मुगलों के समय में खेत उतने बड़े थे, जितने की व्यवस्था किसान-परिवार आर्थिक लाभ की दृष्टि से तथा सरलतापूर्वक कर सकता था, और इस तरह खेतों के टकड़े-टुकड़े होने, उनका उप-विभाजन होने या आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी जोतों की समस्या अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पैदा ही नहीं हुई।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी का किसान अपने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तराधिकारी की तुलना में जोतों के अपेक्षाकृत बड़े आकार के नाते ही नहीं, इस दृष्टि से भी बेहतर था कि मुगलों के समय में ज़मीन की औसत उत्पादकता अधिक थी। अकबर के समय में 'पोलज' ज़मीन की औसत माध्यमिक उपज (अच्छी, बीच के स्तर की तथा बुरी ज़मीन की औसत) 12 मन 38 सेर गेहूं और इतना ही चावल प्रति एकड़ थी। यह अनुमान देश के उस भाग की ज़मीन के बारे में लगाया गया था, जो अब उत्तरप्रदेश कहलाता है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार, बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में इस इलाके में गेहूं की औसत उपज 12 मन 31 सेर और चावल की 10 मन 13 सेर थी।[1] कुछ अन्य सरकारी आंकड़ों केअनुस,ार प्रतिएकड़ भूमि की औसत उपज इससे भी कम थी। बाद की अवधि में ज़मीन की उत्पादकता में कमी होने के दो कारण रहे: (1) आबादी का दबाव बढ़ जाने से उन घटिया ज़मीनों में भी खेती की जाने लगी; जो इस काम के लिए पहले अपनाई गई ज़मीनों से बहुत कम उपजाऊ थीं; और (2) समुचित रूप

1. के० एल० दत्त, 'रिपोर्ट आन द राइज ऑफ प्राइसेज' (1914), पृष्ठ 69-70

से खाद दिए विना अथवा उत्पादन-शक्ति की पुनः प्राप्ति के लिए ज़मीन को परती छोड़े विना लगातार शताब्दियों तक उन ज़मीनों पर खेती होती रहने से ज़मीन की सहज शक्ति क्षीण हो गई और उसकी उर्वरता में कमी आ गई।

कृषि की उपज में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान खाद्यान्न का था। दक्कन में, नूनिज़[1] के मतानुसार (जो देश के इस भाग में चौदहवीं शताब्दी में आया था) गेहूं, चना, चावल और मोटे अनाज की खेती की जाती थी, जिनमें से "इस अन्तिम वस्तु का ही सबसे अधिक उपयोग किया जाता है। इसके वाद का स्थान पान को प्राप्त है, जो लोग सदा चवाते-खाते रहते हैं।" खफी खां ने भी यह विचार व्यक्त किया है कि ज्वार और वाजरा दक्कनवासियों के मुख्य आहार थे और इनकी वहुत अधिक खेती की जाती थी। उत्तर-भारत में भी लोगों की भोज्य वस्तुओं में मोटे अनाज का अंशदान मुख्य होता था और उसी की मुख्यतः खेती होती थी। हां, अवध में ऐसा बढ़िया चावल पैदा किया जा रहा था, जो "अपनी सफेदी, कोमलता, सुगन्ध और उपयोगिता के कारण अतुलनीय था।" उस समय उत्तरप्रदेश की फसलों में गेहूं को प्रधान स्थान प्राप्त न था। कहा जाता है कि स्वयं अकवर के आगरा-स्थित दरवार के लिए गेहूं वंगाल से मंगाया जाता था।

खाद्यान्नों के वाद, कपास और गन्ने की खेती सबसे अधिक की जाती थी। कपास की खेती सव जगह और गन्ने की खेती कहीं-कहीं होने का उल्लेख थेवेनाट ने किया है। एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक फसल, तम्वाकू, की खेती का आरम्भ गुजरात में पुर्तगालियों ने सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में किया। इस देश में तम्वाकू का प्रयोग वहुत तेज़ी से वढ़ा और इसके साथ ही उसकी खेती का इलाका भी वढ़ गया। पोस्त और नील, दो अन्य व्यावसायिक दृष्टि से किंचित् महत्त्वपूर्ण वस्तुएं थीं, जिनकी खेती भारत में की जाती थी। उनकी खेती विहार के कुछ भागों तक ही सीमित थी। कपास का प्रयोग अधिकतर घरेलू तौर पर सूती कपड़ा तैयार करने के लिए होता था और गन्ना गुड़ तथा सफेद खांड वनाने के काम आता था।[2]

खाद्यान्न का व्यापार सीमित था। नगरों में रहनेवालों की आवश्यकताएं पूरी करने के वाद गांववाले अच्छे फसली वर्षों का वाकी अनाज ज़मीन के नीचे वड़े-वड़े गढ़ों में सुरक्षित रख दिया करते थे। ऋतु-विषयक कारणों से खाद्य-उपज में होनेवाली कमी को पूरा करने के लिए ये संग्रह क्षतिपूरक संग्रहों का काम करते थे। अंग्रेज़ों के राजस्व-विषयक अभिलेखों में यह उल्लेख है कि अंग्रेज़ों के समय के पहले भारत में खाद्यान्न का संग्रह करने की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी। वस्तुतः यह प्रथा तो सन् 1860 के वाद उस समय समाप्त हुई, जब रेलों का निर्माण हो जाने और स्वेज़ नहर के वन जाने के कारण इस देश में खाद्यान्नों के ज़ोरदार निर्यात-व्यापार का विकास हो गया। संग्रह के लिए गढ़े ऐसे वनाए जाते थे, जहां अनाज "40 से 50 वर्ष की अवधि

1. देखिए, सेवेल-कृत 'ए फारगाटन एम्पायर', पृष्ठ, 386

2. वहुत ही सफेद खांड औरंगज़ेव के शासन-काल में आगरा ज़िले के वियाना नामक स्थान पर तैयार की जाती थी। जालौन के पास कालपी में प्रसिद्ध खांडशाला थी। वुचानन ने दक्षिण में भी वहुत वढ़िया किस्म की सफेद खांड तैयार होने का उल्लेख किया है।

तक अच्छी और उचित हालत में रखा रह सकता था।"[1] उत्तर में पंजाव[2] और दक्षिण में मैसूर-जैसे परस्पर-दूरस्थ इलाकों में भी इस तरह के गढ़े विद्यमान होने के प्रमाण प्राप्त हैं।

देश अकाल के भय से मुक्त न था। इसके प्रतिकूल, लिखित विवरणों से पता चलता है कि सन् 1595 से 1792 तक के 200 वर्षों में कम-से-कम 24 बार अकाल अथवा सूखा पड़ा। इनमें से अधिकतर अकाल मामूली रहे, पर विजयनगर, दक्कन और गुजरात को अपनी लपेट में लेनेवाले सन् 1630 के जैसे अकाल वहुत ही घातक होते थे; वे अवर्णनीय संकट और संहार के कारण बनते थे। वान ट्विस्ट ने इन संकटों—आतंकों—का वर्णन इन शब्दों में किया है: "वर्षा इतनी कम हुई कि बोए गए बीज नष्ट हो गए और घास तक पैदा न हुई। पशु मर गए। कस्बों और गांवों में, खेतों और सड़कों पर, मुर्दे इतनी अधिक संख्या में मौजूद थे और उनके कारण इतनी अधिक दुर्गन्ध उठ रही थी कि उन रास्तों से होकर जाना दुष्कर हो गया था। घास, आदि के अभाव में मवेशियों को लाशों का मांस खिला कर जीवित रखा गया और मनुष्यों को मृत पशुओं का मांस खाकर जीवन-रक्षा करनी पड़ी; कुछ लोग तो नितान्त निराशा की स्थिति में उन हड्डियों की तलाश में भटकने लगे, जिन्हें कुत्तों ने चूस कर छोड़ दिया था।"[3]

यह स्पष्ट वात है कि उस समय अकाल पड़ने का कारण यही होता था कि अन्नाभाव-वाले इलाकों में अनाज सुलभ नहीं हो पाता था। परन्तु इस प्रकार के संकट यदा-कदा उपस्थित हो जाने का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि समग्रतः देश में अनाज की कमी थी। सन् 1630 और 1647 के भयंकर अकालों के समय भी "देश के दूसरे भागों में पर्याप्त अनाज मौजूद था।"[4] पर अन्नाभाववाले इलाकों में अविलम्ब अनाज इसलिए नहीं पहुंचाया जा सकता था कि अनाज ढोने का काम उस समय केवल उन लद्दू जानवरों से लिया जा सकता था, जिन्हें वहुत अधिक दाने-पानी के विना वहुत दूर तक नहीं ले जाया जा सकता था और यह काम वहुत महंगा पड़ता था। अस्तु, अकाल के भय-संकट का निवारण करने में वाधा देश में अनाज की कमी के कारण नहीं, अपितु यातायात के सुगम तथा द्रुत साधनों की कमी के कारण उपस्थित होती थी। अतः, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में अकालों के कारण उत्पन्न संकट वुनियादी तौर पर उन अकालों

---

1. सी० ए० इलियट, 'फेमिन रिपोर्ट ऑफ मैसूर', पृष्ठ 8। श्री इलियट ने लिखा है (पृष्ठ 8) कि प्राचीन काल में अकाल से रक्षा करने के लिए "जमीन के नीचे गढ़ों में दवा कर रखी गई उस अतिरिक्त 'रागी' (मोटे अनाज) का उपयोग किया जाता था, क्योंकि वह 40-50 वर्ष तक अच्छी और ठीक बनी रह सकती थी।"

2. डी० रास, 'लैण्ड ऑफ फाइव रिवर्स ऐण्ड सिन्ध', पृष्ठ 118। रास ने लिखा है: "जिन दिनों अनाज की मांग कम होती थी, उन दिनों उसे लगभग दस फुट गहरे वड़े-वड़े गढ़ों में रख कर ऊपर मिट्टी की परत चढ़ा दी जाती थी। इस तरह, अनाज वीस वर्ष तक रखा जा सकता था। वाहर निकालने पर कुछ समय हवा में रहने के वाद वह खाने के सर्वथा उपयुक्त हो जाता था।"

3. देखिए, मोरलैण्ड-कृत 'फ्राम अकवर टु औरंगजेब', पृष्ठ 212

4. वही; पृष्ठ 210

से भिन्न थे, जो सन् 1860 के बाद उस समय सामने आए, जब सामान्य वर्षों में खाद्यान्नों के निर्यात के कारण कम वर्षा के वर्षों में खाद्यान्न की असाधारण कमी और महंगाई हो गई। इस बाद के अकालों में अकाल-निवारण में खाद्यान्न की कमी ने रुकावट डाली, यातायात के साधनों की कमी ने नहीं।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में, सामान्य दिनों में देश में स्थानीय आवश्यकता-पूर्ति के लिए पर्याप्त अनाज होता था। यह स्थिति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान उन परिस्थितियों के सर्वथा प्रतिकूल थी, जब इस विषय के उत्कृष्टतम अधिकारी विद्वान् के कथनानुसार, "भारत की कुल आबादी का पांचवां भाग अथवा 4 करोड़ व्यक्ति अपर्याप्त भोजन पर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं।"[1] उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान परिस्थितियों का वर्णन करते हुए सर चार्ल्स इलियट ने स्वीकार किया है कि "मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि कृषि पर आधारित हमारी आधी आबादी को एक वर्ष के अन्त से दूसरे वर्ष के अन्त तक यह अनुभव ही नहीं हो पाता कि क्षुधा की पूर्णतः निवृत्ति कैसी होती है।"[2] अतः, समय-समय पर भयंकर अकाल पड़ते रहने पर भी, अंग्रेज़ों से पहले सामान्य दिनों में खेती पर आधारित आबादी की स्थिति उन्नीसवीं शताब्दी की तुलना में बेहतर ही थी।

कीमतें और मजदूरी

संचार और परिवहन के साधन अपर्याप्त होने और खाद्यान्नों तथा खेती से उत्पन्न अन्य वस्तुओं का व्यापार सीमित होने के कारण कीमतों में अलग-अलग स्थानों पर भिन्नता दिखाई देती थी। सामान्यतः खाद्यान्न उत्तर-भारत की तुलना में बंगाल में सस्ते थे और गुजरात तथा पश्चिम-भारत के अन्य भागों की तुलना में उत्तर-भारत में सस्ते थे। परन्तु इन प्रदेशगत भिन्नताओं की उपेक्षा करके यदि सम्पूर्ण देश पर विचार किया जाए, तो कहा जा सकता है कि आधुनिक समय की तुलना में अंग्रेज़ों से पहले के समय में खाद्यान्न और जीवन की अन्य अनिवार्य वस्तुएं असाधारण रूप से सस्ती थीं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। उत्तर-भारत में गेहूं सन् 1600 में रुपये का 90 सेर के लगभग आता था, सन् 1650 में 107 सेर और सन् 1729 में (बंगाल में) 131 सेर। ज्वार सन् 1600 में 108.5 सेर प्रति रुपया के भाव बिकता था और सन् 1650 में 128 सेर प्रति रुपया के भाव से। बाजरा सन् 1600 में एक रुपये का 181 सेर आता था और सन् 1650 में 214 सेर। चना सन् 1600 में प्रति रुपया 130 सेर की दर से बिकता था, सन् 1650 में 160 सेर की दर से और सन् 1729 में (बंगाल में) 171 सेर की

1. हंटर, 'इंग्लैण्ड्स वर्क इन इण्डिया', 'द इण्डिया ऑफ द क्वीन' में मुद्रित। लार्ड डफरिन ने सन् 1888 में इस सम्बन्ध में एक व्यापक जांच-पड़ताल का आदेश दिया था। उस जांच-पड़ताल के निष्कर्षों से, जो उस समय प्रकाशित नहीं किए गए और बाद में लगभग 900 पृष्ठों में छपे, सामान्यतः सर्वश्री हंटर तथा इलियट द्वारा अभिव्यक्त विचारों की ही पुष्टि होती है। 'फेमिन प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ द गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया', दिसम्बर 1888, अंक 1-29)।

2. देखिए, 'मद्रास क्रिश्चियन कालेज मैगज़ीन', अक्तूबर 1887, पृष्ठ 231, मद्रास बोर्ड ऑफ रेवेन्यू प्रोसीडिंग्ज़ के अंक 186 (27 अप्रैल, 1888) में उद्धृत।

दर से । खाद्यान्नों में चावल सबसे महंगा था, पर वह भी सन् 1600 में एक रुपये का 54 सेर आता था, सन् 1650 में 64 सेर और सन् 1729 में (बंगाल में) 153 सेर ।[1] यहां तक कि सन् 1807 में उत्तर-भारत में चावल का भाव 120 सेर प्रति रुपया था ।

दैनिक उपयोग की अन्य अनेक वस्तुओं में घी, तेल, चीनी और नमक का उल्लेख किया जा सकता है । घी उत्तर-भारत में सन् 1600 में रुपये का 10.3 सेर, 1661 में 8.75 सेर और 1729 में 9.6 सेर बिकता था । तेल सन् 1600 में रुपये का 13.5 सेर, 1661 में 20 से 23 सेर और 1729 में 21 सेर मिलता था । चीनी का भाव सन् 1600 में 19.3 सेर और 1661 में 14 सेर प्रति रुपया था । नमक सन् 1600 में एक रुपये का 60 सेर मिल जाया करता था ।

भारत में कीमतों में दो प्रकार की, प्रादेशिक और आवधिक, घट-बढ़ दृष्टिगोचर होती थी । पहली का कारण था अधिक वजनवाली कृषि-उपज को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की कठिनाई और अधिक खर्च । रेलों के निर्माण से पूर्व दुर्भिक्ष के दिनों में यह आम बात थी कि गेहूं कहीं एक रुपये का 3 या 4 सेर बिकता था, तो उससे 100 मील की ही दूरी पर 30 से 40 सेर के भाव मिल जाता था ।

मुगलों ने देश को राजनीतिक एकता तो दी, पर वे इस विशाल महाद्वीप के विभिन्न भागों को एक ऐसी सामान्य मण्डी के रूप में संगठित न कर सके, जहां देश की उपज समान मूल्य-स्तरों और देशव्यापी प्रतियोगिता के आधार पर बेची जा सके । देश के विभिन्न भागों के बीच यह आर्थिक संगति उत्पन्न करने का काम अंग्रेजों के लिए छोड़ दिया गया, जो इतने बड़े देश के लोगों में राष्ट्रीय एकता और चेतना जगाने के लिए सर्वथा अनिवार्य है ।

खाद्यान्नों की किसी सुव्यवस्थित मण्डी और व्यापार के अभाव में यह स्वाभाविक ही था कि प्रत्येक क्षेत्र, यहां तक कि प्रत्येक गांव, खाद्य वस्तुओं के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर हो । भारत में वस्तुत: यही स्थिति थी । पर इस स्थिति की अपनी बुराइयां भी थीं । किसान उन वर्षों में अपने खेतों की अतिरिक्त उपज नहीं बेच पाता था, जब फसलें भरपूर होती थीं । उसे उक्त अतिरिक्त फसलें दबा कर रखने या कम दाम पर बेचने के लिए विवश होना पड़ता था । इसके विपरीत, जब वर्षा कम होने के कारण फसलें कम होती थीं, तब वह बहुत ऊंचा मूल्य चुका कर ही दूसरे स्थानों से अनाज प्राप्त कर सकता था । एक ही इलाके में वर्ष-प्रति-वर्ष मूल्यों में बहुत घट-बढ़ हो जाती थी । उदाहरण के लिए, मुर्शिदाबाद में सन् 1712 में गेहूं एक रुपये का 20 सेर था और 1729 में 3 मन 30 सेर; जौ सन् 1712 में एक रुपये का 27 सेर था और 1729 में 8 मन; चावल सन् 1712 में रुपये का 10 सेर था और 1729 में (मोटा चावल) 4 मन 15 सेर के भाव बिकता था ।

मूल्य-स्तर का वेतनभोगियों के लिए बहुत महत्त्व है । 17-वीं और 18-वीं शताब्दियों के भारत में वेतनभोगी श्रमिक केवल नगरों तक सीमित थे । गांवों में छोटे काम करनेवालों और कृषि-श्रमिकों तथा कारीगरों को पारिश्रमिक देने का तरीका यह था कि उनके काम के बदले उस खेत की उपज में उनका अंश निर्धारित कर दिया जाता था,

1. मुखर्जी, 'इकोनामिक हिस्टरी ऑफ इण्डिया', पृष्ठ 46 (सारणी)

जहां वे काम करते थे। वेतन के रूप में मजदूरी नगरों में काम करनेवाले मामली और दक्ष मजदूरों तथा छोटे दर्जों के सरकारी कर्मचारियों को दी जाती थी।

अकबर के समय में गुलामों और बांस काट कर लानेवाले, ईंट ढोनेवाले, आराकश, रोगन आदि करनेवाले, पनिहारे, कुटीरशालाओं में काम करनेवाले और पूरे दिन काम करनेवाले मजदूर-जैसे निम्नस्तरीय कर्मचारियों को प्रति दिन 3 या 4 पैसे की दर से मजदूरी दी जाती थी और बढ़ई, राज तथा चूने का काम करनेवाले-जैसे दक्ष कारीगरों को नौ से साढ़े-दस पैसे प्रति दिन की दर से।[1] बताया जाता है कि जहांगीर के समय में मामूली कर्मचारी को प्रति दिन 5 से 6 पैसे तक मजदूरी मिलती थी और दक्ष कारीगर को उससे दुगुनी।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कलकत्ता में प्रचलित दैनिक मजदूरी की दर मामूली मजदूरों के सम्बन्ध में 6 पैसे प्रति दिन और दक्ष कर्मचारियों के सम्बन्ध में 10 पैसे प्रति दिन थी। व्यवहारतः यह दर उतनी ही थी, जितनी जहांगीर के समय में रही। जान पड़ता है कि मुगल-काल में मजदूरी की अधिकतम दर जहांगीर के समय में थी।

आज के प्रतिमानों के आधार पर तुलना करने पर ऐसा लगता है, मानो जहांगीर के समय में मामूली मजदूरों की नगद मजदूरी बहुत ही कम थी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि श्रमिक-वर्ग अंग्रेजों के समय के मुकाबले मुगलों के समय में अधिक गरीब थे। मुगल-काल में खाद्य सामग्री और दैनिक उपयोग की वस्तुएं बहुत सस्ती होने के कारण मजदूरों की वास्तविक मजदूरी बहुत कम नहीं रहती थी। वास्तव में, अनेक स्थितियों में तो उस समय के मजदूर अपने दो सौ वर्ष बाद के उत्तराधिकारियों की तुलना में कहीं अधिक मजदूरी प्राप्त कर लेते थे। अन्नाभाव की अवधियों के अतिरिक्त, खेती पर काम करनेवाले मजदूरों को मुगलों के समय में अंग्रेजों के समय से कहीं अधिक खाने को मिल जाता था।

इसी प्रकार, नगर में काम करनेवाले मामूली मजदूर भी अपने दिन-भर के श्रम के बदले बहुत अधिक मात्रा में अनाज प्राप्त कर लेते थे। अनाज की दृष्टि से आंका जाए, तो कह सकते हैं कि जहांगीर के समय में अदक्ष मजदूर की दैनिक मजदूरी 12.5 सेर जौ या 10.23 सेर ज्वार या 16.7 सेर बाजरे के बराबर थी। अठारहवीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश तक आते-आते अदक्ष मजदूरों-द्वारा इसी प्रकार प्राप्त किए जानेवाले अन्न-परिमाण कम होकर 2.3 से 2.9 सेर जौ, 2.1 से 2.6 सेर ज्वार और 2 से 2.5 सेर बाजरा रह गए। इस प्रकार, जहांगीर के समय में समर्थ शरीरवाला कोई भी मजदूर अपनी दैनिक आय के बल पर चार-पांच व्यक्तियों के परिवार का पालन कर सकता था। उसके डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् यद्यपि नगद मजदूरी में लगभग एक पैसा प्रति दिन की वृद्धि हो गई, तथापि वास्तविक मजदूरी इतनी गिर गई कि परिवार के प्रमुख व्यक्ति की आय पूरे परिवार के पालन के लिए अपर्याप्त हो जाने के कारण बहुत छोटे बच्चों और बहुत बूढ़ों के अतिरिक्त मजदूर-परिवार के सभी सदस्यों के लिए आजीविका कमाना अनिवार्य हो गया।

---

1. एक रुपया अकबर के समय में 80 से 90 पैसे का था। जहांगीर के समय में एक रुपये में 45 से 56 पैसे तक आ जाते थे।

जनता का जीवन-स्तर और उपभोग

उस समय भी आजकल की भांति निर्धन-वर्ग थे और उनका जीवन-स्तर नीचा था। परन्तु उस समय के निर्धन-वर्गों को जीवन की अनिवार्य वस्तुएं अधिक प्राप्त थीं और मुगल-काल में उन्हें परवर्ती काल की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन सुलभ था। दुर्भाग्य की बात है कि जिस समय यूरोप में निर्धन-वर्ग उनके देशों में होनेवाली आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप अपने जीवन-स्तर को सुधार रहे थे, उस समय भारत के निर्धन-वर्ग देश के आर्थिक ह्रास के कारण उपभोग-विषयक कमी के शिकार होते जा रहे थे।[1]

निर्धन व्यक्तियों-द्वारा किए जानेवाले उपभोग की उस कमी का प्रभाव मुख्यतः खाने-पीने की चीजों पर पड़ा। जान पड़ता है कि सत्रहवीं शताब्दी में जनसाधारण में घी का प्रयोग आमतौर से प्रचलित था। पालसार्ट[2] और डी-ले के अनुसार जन-सामान्य शाम को खिचड़ी खाते थे, जिसमें घी या मक्खन मिला लिया करते थे। उत्तर-भारत में लोग मोटे अनाज और गेहूं की बनी रोटियां खाते थे, पर यहां भी उत्तर-बिहार और बंगाल के अतिरिक्त सभी जगह दूध और घी की बहुतायत थी और इन वस्तुओं का उपभोग आज की तुलना में कहीं अधिक मात्रा में किया जाता था। मोरलैण्ड ने इस विचार का विरोध करने पर भी कि 17-वीं शताब्दी में भारत के गरीब लोगों का जीवन-स्तर 19-वीं शताब्दी से उच्चतर था, यह स्वीकार किया है कि "चिकनाईवाले पदार्थ अर्थात् घी और खाने के तेलोंवाले बीज, अनाज की तुलना में आज की अपेक्षा प्रत्यक्ष रूप से सस्ते थे और इस नाते समाज के निम्नतर वर्ग उत्पादकों के रूप में बेहतर हालत में न होने पर भी उपभोक्ताओं के रूप में बेहतर हालत में थे।[3] जनता-द्वारा उपभोग किए जानेवाले अनाजों के प्रकार स्थानीय उत्पादन के आधार पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर और ऋतु-विशेष में पाई जानेवाली फसल के आधार पर वर्ष के एक भाग से दूसरे भाग में भिन्न होते थे। उदाहरण के लिए, उत्तर-भारत में लोग सर्दी में ज्वार, बाजरा और चना खाते थे, पर वसन्त और ग्रीष्म-ऋतु में गेहूं की रोटी बनाते थे।

टेरी के मतानुसार, यूरोपीय गेहूं की तुलना में भारतीय गेहूं कहीं अच्छी किस्म का था और उससे "लोग इतनी विशुद्ध तथा स्वादिष्ट रोटियां बनाते हैं कि मैं उनके सम्बन्ध में वही उक्ति कहना चाहता हूं, जो किसी ने लीज के सम्बन्ध में कही थी—वह 'पेनिस, पेनमेलियर' है।"[4] लाहौर के बाजारों में तीन प्रकार की रोटियां दिखाई देती थीं—मामूली चपातियां, कुलचे और रोगनी। जिस तरह चावल-भोजी जनता

---

1. ऐडम स्मिथ का कहना है कि राष्ट्रीय आय बढ़ने, स्थिर रहने अथवा घटने से मजदूरी क्रमशः बढ़ती, स्थिर रहती अथवा घटती जाती है। 18-वीं और 19-वीं शताब्दियां भारत के लिए ह्रास-काल रही हैं, अतः यह स्वाभाविक ही था कि इस अवधि में श्रमिक-वर्गों के जीवन-स्तर में गिरावट आ जाती। (वेल्थ ऑफ नेशन्स, खण्ड 1, अध्याय 8, आधुनिक पुस्तकालय-संस्करण, पृष्ठ 69-73)

2. 'फ्राम अकबर टु औरंगजेब' नामक पुस्तक के पृष्ठ 199 पर मोरलैण्ड-द्वारा उद्धृत आगरे (1626) के जीवन का विवरण

3. मोरलैण्ड, 'इण्डिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर', पृष्ठ 271

4. मुखर्जी, 'इकोनामिक हिस्टरी ऑफ इण्डिया', पूर्वोद्धृत खण्ड, पृष्ठ 58

खिचड़ी में घी मिला कर खाती थी, उसी प्रकार उत्तर-भारत के लोगों के पास भी "घी, पनीर, आदि-जैसी अच्छी खाद्य वस्तुएं प्रचुर मात्रा में विद्यमान थीं, क्योंकि उनके पास मवेशियों की अधिकता थी।"[1] उपभोग किए जानेवाले अनाजों के परिमाण और किस्म तथा घी, मक्खन और दूध, आदि के प्रयोग को ध्यान में रखते हुए यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि भारत की सामान्य जनता 19-वीं शताब्दी की तुलना में 17-वीं शताब्दी में बेहतर जीवन बिता रही थी।

जीवन की दो अन्य अनिवार्य वस्तुएं, अर्थात् खांड और नमक, के सम्बन्ध में उपलब्ध साक्ष्य इतना निश्चयात्मक नहीं है। मोरलैण्ड के कथनानुसार, परिशोधित सफेद खांड एक ऐसी महंगी वस्तु थी, जो मुगल-काल में मामूली आदमियों की पहुंच से परे थी, जबकि अनाज के नाते "नमक आज की तुलना में दुगुने से भी अधिक महंगा था।"[2] यह अवश्य है कि उन वस्तुओं के सापेक्ष मूल्यों से आवश्यक वस्तुओं के उपभोग के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं है, क्योंकि मोरलैण्ड के विचार के प्रतिकूल हमें टेरी का वह साक्ष्य प्राप्त है, जिसने "नमक के बहुत बड़े भण्डार और भारत में बनती खांड की बहुतायत"[3] का विशेष रूप से उल्लेख किया। हो सकता है कि सफेद खांड महंगी रही हो और इस प्रकार निर्धन व्यक्ति अपने दैनिक उपभोग में उसे प्राप्त न कर पाते हों, पर गुड़ और शक्कर गरीब घरानों में भी बहुत काम में लाए जाते थे और मुगलों के समय में भी जन-सामान्य को वे वस्तुएं आज से कुछ कम मात्रा में प्राप्त नहीं थीं। जहां तक नमक का सम्बन्ध है, मोरलैण्ड का कथन, विशेषतया दक्कन के सम्बन्ध में. अधिक मजबूत आधार पर प्रतिष्ठित है। उदाहरणार्थ, डा० फ्रायर ने लिखा है कि दक्कन में नमक "इतना मूल्यवान् पदार्थ है कि उसे कहावत के रूप में रोटी से अधिक प्राथमिकता दी जाती है। इसीलिए जिस सन्दर्भ में हम कहते हैं, आप रोटी किसकी खाते हैं, उसी सन्दर्भ में वहां कहा जाता है, आप नमक किसका खाते हैं।"[4]

इसीलिए सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों की भारतीय जनता की निर्धनता का जो चित्र यूरोपीय यात्रियों और अन्य तत्कालीन लेखकों ने प्रस्तुत किया है, उसमें पोषक भोजन की पर्याप्त मात्राओं के अभाव की अपेक्षा कपड़ों की कमी, रहने के स्थानों की दुर्दशा, बर्तनों के घटियापन और फर्नीचर के अभाव का ही अधिक आधार दृष्टिगत होता है। फिंच का कथन है कि उत्तर-भारत में "लोग नंगे घूमते हैं, उनकी कमर पर केवल एक छोटा-सा कपड़ा होता है। सर्दी के मौसम में लोग रूई-भरे कोट और रूई-भरी टोपियां पहनते हैं, जिनमें देखने के लिए स्थान बने होते हैं और जिन्हें वे अपने कानों के नीचे बांध लेते हैं।"[5] पन्द्रहवीं शताब्दी में निकितिन[6] ने दक्कन के हिन्दुओं को

---

1. मुखर्जी, 'इकोनामिक हिस्टरी ऑफ इण्डिया', पूर्वोद्धृत खण्ड, पृष्ठ 58
2. मोरलैण्ड, 'इण्डिया ऐट द डेथ आफ अकबर', पृष्ठ 272
3. वही, पृष्ठ 271
4. जान फ्रायर, 'ए न्यू एकाउंट ऑफ ईस्ट इण्डिया एण्ड परशिया', खण्ड 1 (विलियम क्रुक-द्वारा सम्पादित, लन्दन, 1909), पृष्ठ 345
5. मुखर्जी, 'इकोनामिक हिस्टरी', पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 60
6. देखिए, मोरलैण्ड-कृत 'इण्डिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर', पृष्ठ 274

"बिल्कुल नंगा तथा नंगे पैर" पाया।[1] बारबोसा के मतानुसार, वे लोग "कमर से ऊपर-ऊपर नंगे रहते थे" और सिर पर छोटी-छोटी पगड़ियां बांधते थे। गुजरात के हिन्दुओं के सम्बन्ध में वारथेमा[2] ने लिखा है कि "उनमें से कुछ लोग नंगे रहते हैं, कुछ केवल अपने गुप्तांग ढंक लेते हैं" और विजयनगर में "आम लोग नंगे घूमते हैं, केवल उनकी कमर पर एक कपड़ा लिपटा रहता है।"

रहने के मकानों और फर्नीचर के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही तसवीर सामने आती है। पालसार्ट का कथन है[3]: "उन लोगों के मकान मिट्टी के बने होते हैं, जिन पर छप्पर होते हैं। फर्नीचर वहां या तो होता ही नहीं या बहुत कम होता है। वहां तो केवल पानी भरने और खाना बनाने के लिए मिट्टी के कुछ बर्तन और दो चारपाइयां होती हैं, क्योंकि यहां पति-पत्नी एक साथ नहीं सोते। उनके बिस्तर भी थोड़े-से होते हैं—एक या दो चादरें, जिनसे ओढ़ने या बिछाने का काम ले लिया जाता है।" बंगाल के सम्बन्ध में लिखते हुए मैनरिक ने कहा है: "वे लोग प्रायः गारा-मिट्टी की बनी झोंपड़ियों में रहते हैं, जिनके ऊपर ताड़ के पत्तों का छप्पर होता है। अपने निवास-स्थान वे बहुत साफ रखते हैं, उसे लगातार गोबर और मिट्टी से लीपते रहते हैं। केवल धरती को ही नहीं लीपा जाता, दीवारें भी लीपी जाती हैं और जहां बैठ कर वे भोजन करते हैं, उसे तो नित्य लीपना होता है। कुछ सम्प्रदायों के लोग तो हर बार भोजन से पूर्व उस स्थान को लीपते हैं।"[4] कर्नाटक और मलाबार में रहनेवाले निर्धनों के मकानों का वर्णन करते हुए डा० फ्रायर ने उन्हें ऐसे "छोटे-छोटे झोंपड़े अथवा कुटीर कहा है, जिनमें से सबसे अच्छे को भी कोष्ठ कहना कठिन ही है।"[5] यहां के राजधानी-नगर आगरे में भी जोरडेन ने "नगर का अधिकतर भाग ऐसी कच्ची झोंपड़ियों से बना पाया, जो साल में एक-दो बार जल कर राख हो जाती हैं।"[6]

जहां तक फर्नीचर का सम्बन्ध है, हमें डी-ले का साक्ष्य प्राप्त है, जिसने लिखा है कि "फर्नीचर की बहुत ही कमी है। इस रूप में केवल कुछ मिट्टी के बर्तन, चारपाइयां और मामूली बिस्तर हैं।"[7] लिन्सचोटन् ने इसी प्रकार पश्चिमी समुद्र-तट के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है कि "लोगों के घर के सामान में तिनकों से बनी चटाइयां हैं, जिन पर वे बैठते हैं और लेटते हैं तथा केले के पत्तों से बनी मेजें, मेज़पोश, आदि हैं।"[8]

इन विवरणों की यथार्थता के सम्बन्ध में तो सन्देह के लिए विशेष अवकाश नहीं है, पर इनके आधार पर लोगों की सामान्य गरीबी का जो निष्कर्ष निकाला जाता है,

---

1. देखिए, मोरलैण्ड-कृत 'इण्डिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर', पृष्ठ 274
2. वही
3. देखिए, मोरलैण्ड, 'फ्राम अकबर टु औरंगजेब, पृष्ठ 199
4. 'ट्रैवेल्स ऑफ सेबेशियन मैनरिक' (1629-43), खण्ड 1, पृष्ठ 64
5. जे० फ्रायर, 'ए न्यू एकाउण्ट ऑफ ईस्ट इण्डिया एण्ड परशिया', पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 1, पृष्ठ 136
6. मोरलैण्ड, 'इण्डिया ऐट द डेथ ऑफ अकबर', पृष्ठ 273
7. वही
8. वही

उसके सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण बातें स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि उपर्युक्त सभी अभिव्यक्तियां उन विदेशी लेखकों की हैं, जिनके देशों में प्रचलित जन-सामान्य के रहन-सहन और वेश-भूषा के तौर-तरीके भारत में विद्यमान तरीकों के प्रत्यक्षतः प्रतिकूल हैं। ऐसी परिस्थितियों में यह स्वाभाविक ही था कि वे भारतीय घरों की सरलता और भारतीय वेश-भूषा की अल्पता के सम्बन्ध में प्रतिकूल विचार व्यक्त करते। दूसरी बात यह है कि प्रथा और परम्परा के अलावा किसी देश की जलवायु-विषयक परिस्थितियां भी उसकी वेश-भूषा, गृह-निर्माण, आदि, का निर्धारण करती हैं।[1] अधिकतर यूरोपीय देशों की तुलना में भारत की जलवायु गर्म है और वस्त्रों की अल्पता, विशेषतः भारत में गर्मी के महीनों में, इस देश की जलवायु के कारण है। यूरोपवाले जिस प्रकार की जोरदार सर्दी का अनुभव करते हैं, वह भारत के बिल्कुल उत्तरवाले भाग के अतिरिक्त यहां कहीं नहीं पाई जाती। इसीलिए यहां के लोगों को वर्ष के अधिकतर भाग में अपने नग्नता-निवारण के अतिरिक्त वस्त्रों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती और गांवों में तो आज भी पूरे देश में लोगों की वेश-भूषा तथा रहन-सहन के वही तरीके हैं, जो 17-वीं शताब्दी में प्रचलित थे। उनके वस्त्रों की अल्पता और मिट्टी-गारे के बने उनके मकान् उनकी निर्धनता के उतने अधिक प्रमाण न होकर जीवन-यापन के उस तरीके के प्रतीक हैं, जो भारत में ऐसे अनेक युगों से प्रचलित रहे हैं, जिनका हमें लिखित इतिहास प्राप्त है और जो आज भी प्रचलित हैं।

अतः निष्कर्ष-स्वरूप कहा जा सकता है कि जहां तक जनता के निर्धन-वर्गों का सम्बन्ध है, उनकी इच्छाएं कम थीं और देश में पैदा होनेवाली वस्तुओं से ही उनकी पर्याप्त रीति से पूर्ति हो जाती थी। अकाल के दिनों के अतिरिक्त आमतौर पर न तो भुखमरी की स्थिति थी और न ही पोषण के अभाव की। हां, सामान्य वर्षों में भी उनके पास इतना अधिशेष नहीं रहता था, जिससे वे अकाल-जैसे संकटों का सामना करने के लिए आर्थिक निधियों का संचय-संग्रह कर सकें। उनके शरीर पर वस्त्र कम रहते थे और उनके मकान मामूली थे, पर उन आवश्यकताओं के सम्बन्ध में उन्हें कदाचित् अपनी उपलब्धि से अधिक इच्छा भी न थी और इसीलिए वे अपनी स्थिति सुधारने के प्रयास में भी नहीं लगे। जीवन सरल और सन्तोषपूर्ण था और लोगों की गिनी-चुनी इच्छाओं की पूर्ति आसानी से हो जाती थी। इसीलिए जीवन-संघर्ष उस समय इतना तीव्र न था, जितना आज है। इस सरलता और तुष्टि-भावना की प्रत्यक्ष अच्छाइयां थीं, पर इसमें एक जबर्दस्त बुराई भी थी। भारत के जन-सामान्य ने अपनी स्थिति सुधारने की उस उमंग का अनुभव नहीं किया, जिसका अनुभव सोलहवीं और उससे अगली शताब्दियों में पश्चिमवालों ने किया था और इसीलिए भारतवासियों ने राजनीतिक प्रगति के लिए उस प्रकार संघर्ष नहीं किया, जिस प्रकार यूरोपवालों ने किया।

---

1. "किसी एक देश के लिए अनिवार्य मकान और कपड़े किसी और के लिए अनावश्यक भी हो सकते हैं और हिन्दुस्तान का कोई मजदूर अपनी स्वाभाविक मजदूरी के रूप में केवल उतने वस्त्र, आदि प्राप्त करके भी पूरे उत्साह के साथ काम कर सकता है, जितना रूस में मजदूर को मर जाने से बचाने के लिए अपर्याप्त हो सकती है।"—आर० टोरेन्स, 'ऐन एसे आन द ईस्टर्न कार्न ट्रेड', पृष्ठ 68

अठारहवीं शताब्दी में भारत के आर्थिक विकास में बाधा डालनेवाले तत्त्व

उच्च वर्गों-द्वारा उपभोग में लाई जानेवाली वस्तुओं का परीक्षण करने से ऐसा एक अन्य तथ्य सामने आता है, जिसने आर्थिक क्षेत्र में इस देश की प्रगति में बाधा डाली। मध्य-काल में शहज़ादे, कुलीन और सूबेदार शान-शौकत और ऐश-आराम का जीवन बिताते थे। इस दिशा में पहल नरेशों ने की थी और उन्हीं के रहन-सहन के ढंग की नकल उनके दरबारियों तथा कुलीनों ने उस हद तक कर डाली थी, जहां तक उनके साधन थे। विदेशों से मंगाए जानेवाले महंगे फल, नौकर-चाकर, घोड़े और हाथी, शादी और दहेज़ तथा दुर्गतुल्य मकान बनाने पर बहुत खर्च कर दिया जाता था। आय का बहुत बड़ा भाग हीरे-जवाहरात और महंगे कपड़ों पर खर्च होता था। खर्च में हीरे-जवाहरात के बाद घोड़े और हाथियों का स्थान था। प्रत्येक सामन्त के घर और अस्तबल में सैकड़ों नौकर होते थे। उपहार देने में बड़ी-बड़ी रकमें खर्च कर दी जाती थीं—सरदार बादशाह को नज़राना देते थे और अपने से नीचेवाले लोगों से नज़राने लेते थे; यह क्रम इसी तरह चलता जाता था। डी-ले के कथनानुसार मुगल-दरबार का विलास-वैभव सर्वथा अवर्णनीय था, क्योंकि "उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य प्रत्येक प्रकार के आनन्द की चरमावस्था तक पहुंचना था।" इसी प्रकार, सर टामस रो ने मुगल सामन्तों को "विलासिता और सम्पदा के अव्यवस्थित मिश्रण-मात्र" कह कर वर्णित किया है। इस फिज़ूलखर्ची का एक कारण यह था कि सामन्त-द्वारा अर्जित सारी सम्पत्ति उसकी मृत्यु के पश्चात् शाही खज़ाने में पहुंच जाती थी और इसीलिए प्रत्येक सामन्त अपने ही जीवन-काल में अपनी पूरी कमाई खर्च कर देने के लिए प्रयत्नशील रहता था। इस प्रवृत्ति और आय की अनियमित प्राप्ति का परिणाम यह हुआ कि वे लोग अपनी आमदनी से अधिक खर्च करने के अभ्यासी हो गए। इस दिशा में भारतीय सामन्त यूरोप के मध्य-कालीन सामन्तों से भिन्न नहीं थे, जिनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि उनके बहुत अधिक नौकर-चाकर थे और रहन-सहन के बहुत ही खर्चीले ढंग थे। भारतीय उमरावों के सम्बन्ध में एक अतिरिक्त खर्च यह था कि उन्हें विविध अवसरों पर शासक को महंगे नज़राने भेंट करने होते थे। नज़राने देने की यह प्रथा इतनी महंगी थी कि बर्नियर का कथन है[1] कि सामन्तों में व्यापक रूप से पाई जानेवाली ऋणग्रस्तता का कारण यह था। ऐसी परिस्थितियों में पूंजी-संग्रह सरल न था। बचाई गई रकमों को लाभ पर लगाने के भी अधिक अवसर सुलभ न थे। कुछ सामन्त मितव्ययिता से रहते थे और इस प्रकार उन्होंने काफी धन इकट्ठा किया, पर अन्ततोगत्वा वे भी उसे किसी व्यापार अथवा उद्योग में लगाने के बजाय विवाह, दहेज़, इमारतों, आदि पर खर्च कर देते थे।

व्यापारियों की ही वह एकमात्र जाति थी, जिसने पूंजी का संग्रह किया है—उनमें भी कुछ बड़े-बड़े परिवारों ने ही ऐसा किया। इस वर्ग के बाकी लोगों के पास व्यापार और उद्योग के विस्तार के लिए अधिक धन न था। बैंकों में रुपया जमा कराने की पद्धति उस समय तक विकसित नहीं हो पाई थी। इस प्रकार, सत्रहवीं शताब्दी और अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के भारत में आर्थिक प्रगति के दो महत्त्वपूर्ण तत्त्वों—प्रगति करने के लिए जन-सामान्य में उत्साह-भावना और उद्योग-वाणिज्य तथा कृषि के विकास-विस्तार के लिए धनी और मध्य-वर्गों-द्वारा पूंजी का संग्रह—का अभाव था।

1. एफ० बर्नियर, 'ट्रैवेल्स', पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 65, 271

प्रगतिशील पश्चिम और अगतिशील पूर्व के सम्पर्क का परिणाम अन्ततः क्या होना था, इसमें विशेष सन्देह का अवकाश नहीं। वह प्रतियोगिता प्रत्यक्षतः दो असमान पक्षों के बीच थी। एक गतिशील और प्रगतिशील था, दूसरा अगतिशील और अप्रगतिशील। भारत का मध्य-कालीन समाज उस दशा में अधिक समय तक नहीं रह सकता था, क्योंकि उसके ह्रास के लक्षण प्रकट होने लग गए थे। विदेशी शासन की स्थापना ने ह्रास की क्रिया को द्रुत कर दिया और एक नई सामाजिक व्यवस्था की नींव डाल दी।

पांचवां अध्याय

सांस्कृतिक जीवन—शिक्षा, कलाएं और साहित्य

अठारहवीं शताब्दी में व्याप्त परिस्थितियों का ऐसा कोई भी विश्लेषण समग्र नहीं माना जा सकता, जिसमें उस समय प्रचलित विचार-धाराओं का उल्लेख न हो। इन प्रश्नों को भिन्न करके दिखाना कठिन है कि किस सीमा तक लोगों के विचार राजनीतिक परिवर्तनों का कारण बनते हैं और कहां तक स्वयं विचार जीवन की भौतिक स्थितियों की देन होते हैं। यह सरलता से स्वीकार किया जा सकता है कि ये दोनों प्रश्न परस्पर-सम्बद्ध हैं और यह भी मानी हुई बात है कि इतिहास की जानकारी बढ़ाने में इन दोनों का अध्ययन सहायक होता है।

प्रत्येक देश के इतिहास ने एक भिन्न पथ का अनुसरण किया है। कुछ देशों में व्यापक प्रभाववाले राजनीतिक उलट-फेर ऐसे अन्य देशों की तुलना में अधिक जल्दी-जल्दी हुए हैं, जहां जीवन का प्रवाह अधिक सहज-सरल रहा है। यूरोप में इटली पहले प्रकार का उदाहरण है और इंग्लैण्ड दूसरे प्रकार का। प्राचीनकाल में इटली ने ऐसी महानता प्राप्त की, जो लगभग सात सौ वर्ष तक बनी रही। इसके बाद तेज़ी से उतार आया और बर्बर जातियों ने इटली को विजित और पदाक्रान्त कर दिया। इसके उपरान्त उसकी भूमि पर एक बार फिर सभ्यता का अंकुर फूटा, जो पुनर्जागरण की अवधि में पल्लवित हुआ। उसे फ्रांस से आनेवाले आक्रामकों ने कुचल डाला। उसके पश्चात् इटली कुछ समय तक अन्धकारग्रस्त रहा। अपने मैज़िनी, केवूर और गैरीबाल्डी-सरीखे पैगम्बरों, राजमर्मज्ञों और सैनिकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप इटली फिर अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आया।

इंग्लैण्ड ने संस्कृति की अखंडता का भव्य उदाहरण प्रस्तुत किया है। नार्मन-विजय, से लेकर अब तक इसका विकास बाहरी विजय-बाधा के बिना अनवरत रूप से होता रहा है।

भारतीय विचार-धारा और संस्कृति

भारत के इतिहास ने ढंग तो इंग्लैण्ड की अपेक्षा इटली का ही अधिक अपनाया है, परन्तु एक अन्तर के साथ। इटली के क्रान्तिकारी परिवर्तनों में वहां का समाज, शासन-व्यवस्था और संस्कृति, सभी सम्मिलित थे। इसके विपरीत, भारत में होनेवाले परिवर्तन क्रान्तिकारी नहीं थे और उन्होंने केवल शासकों को प्रभावित किया।

भारत पर हुई विदेशी विजयों से प्रशासन में ऐसे परिवर्तन आए, जो ऊपरी थे। समाज की संरचना प्रायः अपरिवर्तित रही। नए धर्मों तथा भाषाओं ने प्राचीन धर्मों तथा देशभाषाओं की संख्या में वृद्धि-मात्र की। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों में अद्भुत अखंडता बनी रही। उनके उच्च वर्गीय अनुयायी विश्वास और उपासना, व्यक्तिगत विधि-निषेध और शास्त्रीय भाषाओं के प्रयोग में प्राचीन परम्पराओं का ही पालन करते रहे।

इन सामान्य उक्तियों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। पहली बात तो यह कि जिन्हें हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति कह कर पुकारा जाता है, वे अपने-आपमें समरूप नहीं थीं। वे एकरूप, आत्मसंगत और सरल सत्ताएं न थीं। हिन्दू-समाज एक इकाई न था। उसमें तो सांस्कृतिक दृष्टि से अलग-अलग स्तर के विभिन्न प्रकार के लोगों का समावेश था। विभिन्न प्रदेशों की भिन्न-भिन्न भाषाएं थीं। प्राचीनकाल में, जबकि शिक्षा कुछ गिने-चुने उच्च जातीय हिन्दुओं तक ही सीमित थी, ऊपर के दस व्यक्तियों की संस्कृति उन बहुसंख्यकों से भिन्न थी, जिनमें से बहुत-से लोग अज्ञान, अन्धविश्वास और निर्धनता के गर्त में पड़े थे। स्वयं मध्य और निम्नतर जातियों में भी सम्प्रदाय और विधि-निषेध स्वरगत ऊंच-नीच, व्यवसाय तथा धन की दृष्टि से अन्तर विद्यमान थे। इस प्रकार, हिन्दुत्व विश्वास तथा आचारों का एक ऐसा विराट् दृश्य उपस्थित कर रहा था, जिसमें एक ओर दर्शन के गहनतम सत्यों का और दूसरी ओर अन्धविश्वास के निकृष्टतम रूपों का समावेश था।

मुसलमानों में हिन्दुओं-जितना कठोर और तीव्र विभाजन तो न था, किन्तु उच्चतर तथा निम्नतर वर्ग उनमें भी थे। उच्चतर वर्ग अथवा शरीफों में योद्धाओं, विद्वानों और धर्माचार्यों का शासक-वर्ग शामिल था और निम्नतर वर्ग अथवा अजलाफ़ में निचले दर्जे के वे लोग थे, जो उच्च वर्ग के अयोग्य समझे जानेवाले काम किया करते थे। मुसलमानों के इन दोनों वर्गों में अलग-अलग अनुपात में ऐसे धर्मान्तरित व्यक्ति भी शामिल थे, जिनके स्वभाव तथा रीति-रिवाज, रहन-सहन के ढंग और विचार-विश्वास उस मूल वर्ग से मिलते-जुलते थे, जिससे वे आए थे। मुस्लिम देशों से आनेवाले नए लोग और उनके पहली तथा दूसरी पीढ़ी के वंशज सांस्कृतिक दृष्टि से उन धर्मान्तरित व्यक्तियों और बहुत पहले से चले आते परिवारों से भिन्न थे। यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि मुगल-साम्राज्य की शान-शौकत और उसकी सेवा करके धन कमाने की सम्भावनाओं से आकृष्ट होकर ईरान, अफगानिस्तान और ट्रांस-आक्सियाना से विद्वान्, सैनिक और व्यापारी औरंगज़ेब की मृत्यु तक, लगातार भारत आते रहे। उन्होंने आत्मीकरण की शक्तियों को कमज़ोर किया।

फिर भी, शताब्दियों के साहचर्य का अनिवार्यतः प्रभाव पड़ा। पन्द्रहवीं शताब्दी से ही कबीर और नानक-जैसे हिन्दू-सुधारक हिन्दू और मुसलमान का अन्तर कम करके उन्हें निकट लाने के लिए प्रयत्नशील थे। मुस्लिम सूफी तथा सन्त—विशेषतः इब्न अरबी के उपदेशों पर चलनेवाले—वेदान्त के सिद्धान्तों और योगाभ्यास में रुचि लेने लगे और उनसे प्रभावित हुए। हिन्दू और मुस्लिम साहित्यकारों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं तथा साहित्यों के विकास में योग दिया। कलाकारों ने शिल्प, चित्र और संगीत-कला में ऐसी शैलियों का सूत्रपात किया, जिनमें इस्लामी और भारतीय तत्वों का संगम था। सुधारकों ने श्रद्धा पर आधारित जिन धर्मों का प्रचार किया, उन्होंने अधिकतर समाज की मध्यम श्रेणी के लोगों को ही आकृष्ट किया, यद्यपि उच्च तथा निम्न श्रेणियों के कुछ लोग भी उनमें शामिल हुए। सम्राटों, राजकुमारों तथा भू-स्वामियों ने साहित्य और कलाओं को संरक्षण दिया और विद्वानों को भारतीय भाषाओं की पुस्तकों का फारसी में और फारसी-ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने अपने दरबारों से सम्बद्ध कलाकारों को मिली-जुली शैली में अपनी कलाकृतियां प्रस्तुत करने के लिए भी प्रेरित किया।

हिन्दू-भक्ति-सम्प्रदायों का प्रचार पूरे भारत में हुआ और भक्ति-शाखा ने अपने निर्गुण तथा सगुण, दोनों रूपों में जन-मानस को अपने में आबद्ध कर लिया। इनके अनुयायियों की संख्या का ठीक-ठीक अनुमान लगाना तो सम्भव नहीं, किन्तु यह कहना असत्य न होगा कि भक्ति-शाखा मुख्यत: समाज के मध्यम स्तरों—व्यापारियों, दस्तकारों, शिल्पियों तथा किसानों—में ही फैली।

इसी तरह तसव्वुफ (रहस्यवाद) भी दूर-दूर तक फैला। उच्च वर्ग का प्रत्येक मुसलमान किसी-न-किसी सूफी गुरु-परम्परा में शामिल होना अथवा एक ऐसा पीर बनाना आवश्यक समझता था, जो रहस्यमय यात्रा में शिष्य का नेतृत्व कर सके। विभिन्न गुरु-परम्पराओं में से वह चिश्तिया गुरु-परम्परा सबसे अधिक लोकप्रिय थी, जिसकी स्थापना भारत में ख्वाजा मुईनुद्दीन ने की थी और जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा अभ्यासों की दृष्टि से हिन्दू-भक्ति-सम्प्रदाय के निकटतम थी। एकेश्वरवाद (अद्वैत अथवा वहदतुल वजूद) के सिद्धान्त के प्रति विश्वास दोनों का मूलाधार था और दोनों में ही आत्मनिग्रह तथा आत्मशुद्धि के समान उपाय (योग और धिक्र) अपनाए जाते थे। दोनों के मतानुसार, गान और संगीत रहस्यात्मक स्थितियां—चिन्तन तथा एकीकरण—उत्पन्न करने में सहायक थे। प्रत्येक मुस्लिम विद्वान् और धर्मशास्त्रज्ञ शरीयत (विधि) और तरीकत (रहस्यवाद), दोनों का अध्ययन करता था। इसी प्रकार, हिन्दू विद्वान् धर्मशास्त्र और वेदान्त, दोनों का अध्ययन किया करते थे।

हिन्दू तथा मुसलमान विद्वानों में, मोटे तौर पर, तीन विचार-धाराओं के लोग थे। उनमें से पहला सम्प्रदाय उन परम्परावादियों अथवा पुरातनपंथियों का था, जो धर्म-ग्रन्थों के पवित्र मूलपाठों के शब्दानुपालन और इलहाम अथवा साक्षात्कार पर आधारित धर्मोपदेशों के अन्धानुकरण का आग्रह करता था। वे लोग रूढ़ियों तथा विश्वासों के तर्कयुक्त विवेचन की निन्दा करते थे और सत्ता के सम्मुख पूर्ण आत्म-समर्पण के समर्थक थे। धर्मादेश के शब्दश: परिपालन के प्रति पूर्ण आग्रहशील तथा तर्क के प्रति अविश्वासी होने के कारण उन्हें बाह्याचारवादी (उलमाए-ज़ाहिरी) कहा जाता था। धार्मिक व्यवस्था के आदेशों के अनुरूप आचरण के आग्रही होने के कारण वे आचारनिष्ठा-सिद्धान्त के अनुयायियों की कोटि में आते हैं।

दूसरा सम्प्रदाय उन लोगों का था, जिन्हें उपासना का बाह्य विधान तथा विधि-निषेधों का अविवेकपूर्ण परिपालन अप्रिय था। उनके मतानुसार, धर्म का सार था—परमात्मा और मानव के प्रति प्रेम, परमसत्य के प्रति श्रद्धा-भाव, पूर्णता की खोज, आत्मानुशासन और आन्तरिक जागरण। वे श्रद्धा-निष्ठा के कायल थे।

तीसरे सम्प्रदाय के लोग उपर्युक्त दोनों वर्गों के बीच की खाई को पाटना चाहते थे, अर्थात् आदेश और अनुराग के दावों का समंजन, धार्मिक आदेशों का तर्क-द्वारा औचित्य-स्थापन तथा अपने मत के आधारभूत सिद्धान्तों का परित्याग किए बिना असहिष्णुता का निरोध करना चाहते थे।

मुगल सम्राटों में अकबर द्वितीय सम्प्रदाय का समर्थक था, जहांगीर और शाहजहां तीसरे वर्ग के थे और औरंगजेब पहले वर्ग का था। इन तीनों सम्प्रदायों के अनुयायियों में उपनिषदों का अनुवादक दारा शिकोह द्वितीय सम्प्रदाय का सर्वाधिक प्रसिद्ध समर्थक था, शाह वलीउल्लाह तीसरे का और शेख अहमद सरहिन्दी पहले का समर्थक था।

दारा शिकोह एक प्रसिद्ध कादिरी सन्त सूफी मियां मीर (1635 ईसवी) के शिष्य मुल्ला शाह बदख़शानी का अनुयायी था। इन महानुभावों ने जिस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया, उसमें उस महान् गुरु, इब्न अरबी (1165-1240), के उपदेशों की स्पष्ट गूंज है, जिसने इस्लामी रहस्यवाद के विकास पर सबसे अधिक प्रभाव डाला। धार्मिक विधि-व्यवस्था की दृष्टि से, इब्न अरबी उन ज़ाहिरियों के सम्प्रदाय का अनुयायी था, जिन्हें वैधानिक सम्प्रदायों का वितंडावाद अप्रिय था और जो प्रत्यक्ष दर्शन की तर्क-संगत पद्धति को प्राथमिकता देते थे। धर्मादेश-विषयक मामलों में वह तक़लीद (सत्ता) पर, और ठीक रास्ते पर मनुष्य को चलाने के लिए अन्तःज्योति पर विश्वास रखता था। वह किसी भी प्रकार के लक्षण, गुण अथवा सम्बन्ध-विशेष के बिना परमात्मा की मूलभूत एकता (वहदतुल वजूद) में विश्वास रखता था। उसकी मान्यता थी कि देश काल और कारणमय यह विश्व केवल आभासात्मक है—उसी एक वास्तविकता का प्रकट रूप है। मनुष्य में सत्य और आभास, दोनों मिले हुए हैं और मनुष्य के भीतर का नश्वरता से आच्छादित दिव्यत्व अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। इब्न अरबी एकतत्ववादी था, जिसका विचार था कि सब प्रकार के धार्मिक विश्वास सापेक्षतः सत्य हैं। उसने कहा कि क़ुरान के अनुसार, "तू जिधर देखता है, उधर ही एक चेहरा है और वही अल्लाह की हक़ीक़त है।"[1] उसका कहना था "मेरा हृदय सभी स्वरूपों का संग्राहक है। यह कुरंगों अथवा प्रेम-पात्रों की चरागाह है, ईसाई पादरियों का मठ है, मूर्तियों का देवालय है, यात्रियों का काबा है, यहूदी विधि-व्यवस्था का पवित्र प्रस्तर और क़ुरान है। मैं प्रेम-धर्म का अनुयायी हूं। प्रेम-रूपी ऊंट मुझे जिस ओर ले जाते हैं, वही मेरा धर्म है और प्रेम ही मेरा ईमान है।"[2] वह पैगम्बर (नबी) और परमात्मा के सन्देशवाहक (रसूल) की अपेक्षा सन्त (वली) को श्रेष्ठतर मानता था, जो उस अलौकिक आनन्दप्रद दृश्य के दर्शन कर लेते हैं, क्योंकि इस प्रकार सन्त दिव्य गुणों में सहभागी हो जाता है और सन्तत्व अनादि-अनन्त है। इस लक्ष्य तक पहुंचा देनेवाले रहस्यात्मक मार्ग विधि-व्यवस्था से कहीं आगे हैं।

बताया जाता है कि सच्ची श्रद्धा की बाह्याडम्बर से भिन्नता प्रकट करते हुए दारा के गुरु, मुल्ला शाह कहते थे, "ओ सत्य में आस्था रखनेवालो, तुम सक्र (मदहोशी) और मस्ती की दशा में नमाज़ की ओर न बढ़ो। एक सीमा तक मदहोशी की हालत नमाज़ पढ़ने से भी ऊंची बात है ... क्योंकि यदि मस्ती का कारण सांसारिक और पार्थिव पदार्थ हैं, तो उस दशा में नमाज़ वर्जित है, ताकि नमाज़ दूषित न हो, यह शर्त नमाज़ की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए है, किन्तु यदि मदहोशी अलौकिक है, तब भी नमाज़ वर्जित है; क्योंकि उस दशा में नमाज़ का अर्थ होगा उस मदहोशी के प्रति आदर-भाव व्यक्त करना। नमाज़ का आराध्य और आसन (मुसल्ला) दोनों गायब हो जाने पर भला नमाज़ कैसी?"[3]

---

1. क़ुरान, 2, 109

2. इब्न अरबी, 'तर्जुमानुल अशवाक़'; आर० ए० निकलसन, 'ए लिटररी हिस्ट्री ऑफ द अरब्स' (कैम्ब्रिज, 1930), पृष्ठ 403

3. दारा शिकोह, 'हसनतुल आरफ़ीन' (मूलपाठ), पृष्ठ 32

दारा शिकोह ने इन सिद्धान्तों का प्रचार अपनी रचनाओं-द्वारा किया, जिनमें से 'मजमाउल बहरीन' (समुद्र-संगम) और 'सिर्रे अकबर' (महामन्त्र—उपनिषदों का अनुवाद) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इब्न अरबी और दारा शिकोह के सहधर्मावलम्बियों के कुछ वर्ग उन दोनों को धर्मद्रोही कह कर तिरस्कृत करते थे और दारा को तो अपनी मान्यताओं के कारण प्राणों से ही हाथ धोना पड़ा। दारा की पराजय तथा प्राणदंड से उसके सम्प्रदाय को गहरा धक्का लगा। राज्याधिकार-सम्पन्न सम्राट् औरंगज़ेब का विद्वेष और उसकी मृत्यु के बाद के तूफ़ानी दिन भद्र तर्कशीलता और व्यापक सहिष्णुता पर आधारित उस सम्प्रदाय के लिए अशुभ सिद्ध हुए। अतएव दारा के विचार छिटपुट व्यक्तियों के जीवन के प्रेरणास्रोत और कवि-कंठ से निकली कविता के रूप में ही बचे रह सके।

रहस्यात्मक उदारतावाद सम्प्रदाय का तीव्रतम विरोधी शेख अहमद सरहिन्दी था, जिसके उपदेश दमिश्क में हम्बाली विधि-व्यवस्था के प्राचार्य इब्ने तीमिया (1263-1328) के समय तक खोजे जा सकते हैं। तीमिया एक ऐसा शब्दानुकरणवादी तथा रूढ़िवादी था जो नई उद्भावनाओं (बिदात) की निन्दा करता था; एक ऐसा अवतारवादी था, जो कुरान की व्याख्या उसके शब्दों के स्पष्ट और प्रत्यक्ष अर्थों के आधार पर करता था, और एक ऐसा भाष्यकार था, जो यूनानी दर्शन पर इसलिए प्रहार करता था कि वह अविश्वास को जन्म देता था।

इब्ने तीमिया का स्थान उत्तराधिकार में प्राप्त करनेवाले शेख अहमद सरहिन्दी (जन्म 1563-64, मृत्यु 1624-25) ने दो बातों पर सबसे अधिक ज़ोर दिया— (1) विधियों, धर्मादेशों और परम्पराओं के प्रति आत्मसमर्पण (इतबाए-सुन्नत,) और (2) नई उद्भावनाओं से विरति (रफ़ाए-बिदात)। उसने आस्था के क्षेत्र में तर्क के प्रयोग की निन्दा की और यह विचार व्यक्त किया कि "यदि तर्क ही पर्याप्त होता, तो तर्क को अपना मार्गदर्शन बना लेनेवाले यूनानी कभी भूल के गर्त में न गिरते। उस दशा में वे ईश्वर की महिमा को अन्य लोगों से अधिक अनुभव करते, किन्तु वास्तव में, उस महिमामय सर्वेश के गुणों तथा सारतत्व के सम्बन्ध में यूनानी ही सबसे अधिक अन्धकार-ग्रस्त प्राणी हैं।"[1] उसका मत था, "जिस प्रकार तर्क-पद्धति अनुभूति-पद्धति से आगे बढ़ जाती है, और इसीलिए जो कुछ अनुभूतिगम्य नहीं है, वह तर्क-द्वारा जान लिया जाता है, उसी प्रकार सिद्धि-पद्धति तर्क-पद्धति से आगे बढ़ जाती है, क्योंकि तर्क-द्वारा जो-कुछ नहीं जाना जा सकता, वह सिद्धि के बल पर जान लिया जाता है और तर्कमूलक श्रद्धा-पद्धति से ऊपर उठ कर जो भी पद्धति उस दिव्य सत्य का दर्शन नहीं कराती, वह सिद्धि-पद्धति की निषेधक-मात्र है।"[2] उसका विचार था कि जो व्यक्ति दार्शनिक बनना चाहे, उसे शैतान के साथ रहना चाहिए, क्योंकि इसी तरह वह घाटे में रहेगा और उसे निराशा हो सकेगी। उसका विश्वास था, परमात्मा अपने गुण-धर्मों के सम्बन्ध में और स्वयं को पसन्द आने तथा न आनेवाले कामों के सम्बन्ध में अपना सन्देश पैगम्बरों-द्वारा भिजवाता है।" गज़ली-द्वारा, उसकी लघु पुस्तिका 'अल मुनक़िद मिन उल ज़लाल' में कही गई इस उक्ति का शेख अहमद सरहिन्दी ने समर्थन किया कि दार्शनिकों ने चिकित्सा और ज्योतिष-विज्ञान पैगम्बरों के ग्रन्थों से चुराए हैं; उन्होंने

1. 'मकतूबाते इमामे रब्बानी', खण्ड 3, पत्र-संख्या 23
2. वही

उन्हीं के पृष्ठों से ओषधियों के गुण-धर्मों की जानकारी पाई है और संस्कृति तथा नैतिकता की शिक्षा सूफियों से ग्रहण की है (जो सदा ही पैगम्बरों के अनुयायी रहे हैं)।

चूंकि पैगम्बर परमात्मा के आदेशों का वाहक है, इसलिए उसके प्रति आज्ञाकारिता का अर्थ है, स्वयं परमात्मा के प्रति आज्ञाकारिता। इससे स्वतः यह निष्कर्ष निकल आता है कि सच्चे धर्मावलम्बी के लिए मन, वाणी तथा कर्म से पैगम्बर के आदेशों तथा तौर-तरीकों का अनुकरण अनिवार्य है; कोई मुसलमान उससे भिन्न कुछ भी करने का अधिकारी नहीं है। शेख ने उस अन्तर की निन्दा की, जो कुछ धर्मशास्त्रज्ञों ने अच्छी और बुरी उद्भावनाओं ('बिदाते-हसन' और 'बिदाते-सैयह') के बीच किया था। उसका प्रश्न था, "यदि प्रत्येक नई बात उद्भावना है और प्रत्येक उद्भावना भूल है, तो फिर कोई भी उद्भावना अच्छी या उचित कैसे मानी जा सकती है, क्योंकि परम्पराओं ('हदीस' या पैगम्बर की उक्तियों) के अनुसार प्रत्येक उद्भावना निरपवाद रूप से विधि-व्यवस्थाओं और धर्मोपदेशों का अतिक्रमण करती है, और इस कारण प्रत्येक उद्भावना बुरी है।"[1]

शेख अहमद ने व्यापक रूप से सभी उद्भावनाओं की निन्दा की, किसी को अपवाद न माना। शिया-मत की उद्भावना काफिरपन से भी बुरी थी, इसलिए शियाओं के साथ से बचना आवश्यक था। शेख फरीद के नाम एक पत्र में उसने लिखा था, "यह निश्चित बात है कि किसी काफिर के साथ रहने की अपेक्षा किसी उद्भावक के साथ रहना अधिक दुष्टतापूर्ण है। निकृष्टतम उद्भावक वे हैं, जो पैगम्बर के साथियों के प्रति घृणा पैदा करते हैं; गरिमामण्डित 'कुरान' में भी उन्हें काफिर कहा गया है।"[2] उसने शियाओं के इस सिद्धान्त-वाक्य के खण्डन के लिए एक ग्रन्थ 'रद्दे रवाफिज़' लिखा और कहा कि पैगम्बर के और सब साथियों से अली श्रेष्ठतर थे। नाचने-गाने ('समा' व 'रक्स') के प्रति उसने असहमति प्रकट की। बड़ी और छोटी, सभी बातों में उसने पैगम्बर के पूर्ण अनुकरण का आग्रह किया। उदाहरण के लिए, उसकी मान्यता थी कि साफे का खुला किनारा बाईं ओर गिराना पैगम्बर की आदत के प्रतिकूल होने के कारण उचित नहीं, क्योंकि वह सदा उसे दोनों कन्धों के बीच में रखते थे।

शेख अहमद हिन्दुओं का भयंकर शत्रु था। वह उन्हें काफिर समझता था और उनका अपमान-तिरस्कार परमात्मा के लिए सबसे अधिक सुखप्रद बात मानता था। जज़िया की वसूली को वह काफिरों पर तिरस्कार और घृणा उंडेलने का एक साधन बताया करता था।

मुसलमानों ने हिन्दुओं के बहुत-से रीति-रिवाज—विवाह-संस्कार, अन्त्येष्टि-संस्कार, अतिलौकिक शक्तियों के प्रति आदर-भाव तथा उनका आवाहन, जाति-भेद, गोहत्या के प्रति घृणा और विधवा-विवाह—अपना लिए थे। शेख अहमद ने उन्हें सर्वथा तिरस्करणीय और त्याज्य घोषित किया। वह चाहता था कि मुसलमान पैगम्बर के समय के अरबों की तरह जीवन बिताएं और उन्हें बहुसंख्यक गैर-मुसलमान भारत-वासियों के तौर-तरीके अपनाने से इन्कार कर देना चाहिए।

जहां तक सूफी-मत का सम्बन्ध था, वह भारत की सभी प्रमुख सूफी गुरु-परम्पराओं

1. मुहम्मद मियां, 'उलमा-ए-हिन्द का शानदार माज़ी', खण्ड 1, पृष्ठ 174
2. इमामे रब्बानी, 'मक्तूबात', खण्ड 1, पत्र-संख्या 54

में दीक्षित हो चुका था। लेकिन वह नक्शबंदिया गुरु-परम्परा को तरजीह देता था, क्योंकि उसमें रहस्य-साधना और ज्ञान की अपेक्षा धार्मिक विधि-व्यवस्था (शरीयत) के प्रति अत्यधिक आज्ञाकारिता को श्रेष्ठतर माना जाता था। फिर भी, वह सूफियों के इस दावे की भर्त्सना करता था कि प्रबुद्ध पूर्ण सन्त (वली) पैगम्बर (नबी) से उच्चतर स्थान का अधिकारी है। इसी प्रकार, उसने एकेश्वरवाद (वहदतुल वजूद) के सिद्धान्त का खण्डन किया और इसके बदले वैशिष्ट्य ऐक्य (वहदतुल शहूद) के सिद्धान्त का प्रचार किया।

संक्षेप में, उसके मतानुसार, निष्कपट और सत्यमति उलमा-द्वारा निर्वचित 'कुरान' और 'हदीस' से विश्वास-शुद्धि, विधि-व्यवस्था का अक्षरशः परिपालन और सभी प्रकार की उद्‌भावनाओं का परित्याग ही उस इस्लाम के प्रमुख सिद्धान्त थे, जिसका अनुगमन करना सभी मुसलमानों का परम धर्म था।

शेख अहमद सरहिन्दी अपने उच्च धर्म-कार्य के प्रति बड़ा जागरूक था। उसने इस सम्बन्ध में विभिन्न जीवन-क्षेत्रों से सम्बद्ध अनेक प्रमुख व्यक्तियों और प्रभावशाली मुगल कुलीनों से पत्र-व्यवहार किया और उन लोगों में अपने विचार फैलाने के सभी सम्भव उपाय किए। उसने जिन लोगों के साथ पत्र-व्यवहार किया, उनमें खानेखाना, सिकन्दर खां लोदी, महाबत खां, खानेआज़म, मुरतज़ा खां, शेख फरीद बुखारी, खाने-जहां, किलिच खां, सद्र जहां, लाला बेग और अन्य लगभग पांच सौ प्रसिद्ध व्यक्ति शामिल थे। उसने प्रत्येक नगर और प्रान्त में अपने धर्म-प्रचारक भेजे और इस बात का बराबर ध्यान रखा कि वे अपना कार्य योग्यतापूर्वक करते हैं या नहीं।

शेख अहमद की धारणा थी कि उसका जन्म केवल सही रास्ता दिखाने और सत्य को पूर्णता प्रदान करने के लिए नहीं, बल्कि किसी अन्य योजना के अन्तर्गत किसी और उद्देश्य की सिद्धि के लिए हुआ है। वह कहा करता था कि वह न केवल अबू बक्र और उमर की स्थितियों तक पहुंच चुका है, बल्कि उनसे आगे भी बढ़ चुका है। वह आग्रहपूर्वक कहता था कि वह सन्तत्व (वलीयत) के द्वार खोलनेवाला था, रहस्यवादी परम्परा का अन्तिम प्रधान पुरुष था, द्वितीय सहस्राब्दी में इस्लाम-धर्म का नवजीवनदाता था और मुहम्मद की स्थिति में सुधार करके उन्हें परमात्मा के मित्र (खलील) के पद पर प्रतिष्ठित करनेवाला था। उसके असाधारण दावों ने उलमाओं का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया और उन्होंने जहांगीर से शिकायत की। जांच-पड़ताल करने और मुकदमा चलाने के बाद सम्राट् ने उसे ग्वालियर के उस किले में बन्दी बना दिया, जहां भयंकर राजनीतिक अपराधी बन्द किए जाते थे। बाद में जहांगीर ने उस पर दया दिखाई और अपनी सेना की देख-रेख में उस पर नज़र रखने के बाद उसे छोड़ दिया।

लेकिन शेख अहमद के विरुद्ध यह कार्रवाई की जाने पर भी उसका धर्म जहांगीर और शाहजहां के शिथिल शासन-काल में फैलता रहा। उसके पुत्र मुहम्मद मासूम ने उसके धर्म का ज़ोरदार प्रचार किया और कहा जाता है कि औरंगज़ेब, जो उस समय मुल्तान का गवर्नर था, उसके व्याख्यान सुना करता था। मक्का-यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय मासूम ने भविष्यवाणी की थी कि राज-सिंहासन के लिए होनेवाले संघर्ष में औरंगज़ेब विजयी होगा। बलख के विरुद्ध शाही सेनाओं का संचालन करने के लिए औरंगज़ेब की नियुक्ति होने पर उसने औरंगज़ेब को एक पत्र लिख कर धर्मयुद्ध (जिहाद)

से होनेवाले पुण्यों का विस्तृत वर्णन किया था। उसने लिखा था : "यदि हम-जैसे दरवेश, जो इस दुनिया से विरक्त हो चुके हैं, तप-साधना करें और बड़े-बड़े उपवास करें, तो भी उन श्रेष्ठ फलों के अंशमात्र को भी प्राप्त नहीं कर सकते, जो जिहाद से प्राप्त हो जाते हैं।"[1] कारण, "पैगम्बर की मस्जिद में पढ़ी गई नमाज़ का दस हज़ार-गुना फल मिलता है, मक्का की मस्जिद में पढ़ी गई नमाज़ का लाख-गुना और जिहाद की रणभूमि में पढ़ी गई नमाज़ का बीस लाख-गुना।"[2]

मुहम्मद मासूम के पुत्र शेख सैफुद्दीन (जन्म 1049 हिजरी अथवा 1639-40 ईसवी) को औरंगजेब ने अपना गुरु और रहनुमा बना लिया था। उसके प्रभाव-काल में शेख अहमद सरहिन्दी के विचारों को कार्य-रूप दिया गया। मुगल-साम्राज्य के पतन में उन विचारों का भी योगदान कुछ कम न रहा। किन्तु अहमद सरहिन्दी के पक्ष-समर्थकों का कहना था कि साम्राज्य गया तो क्या हुआ, धर्म-रक्षा तो हुई। यह एक ऐसी बात है, जिसका खण्डन भी कठिन है और मण्डन भी। कुछ भी हो, इसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि भारत आन्तरिक कलह और अराजकता में झोंक दिया गया और उसे बाह्य आक्रमणों के लिए अरक्षित छोड़ दिया गया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद सौ वर्ष के अन्दर ही भारत एक ऐसे विदेशी शासन के अधीन हो गया, जो लगभग दो सौ वर्ष तक बना रहा और जब आखिरकार आज़ादी मिली भी, तब देश दो भागों में बंट गया।

अकबर-द्वारा चलाए गए आन्दोलन की परिणति दारा शिकोह में हुई। किन्तु वह मुसलमानों के दिमाग अपनी ओर खींचने में असमर्थ रहा। अकबर के विचार उस समय प्रचलित धारणाओं से बहुत आगे थे। उनकी एक प्रतिक्रिया हुई, जिसका शेख मुहम्मद सरहिन्दी ने तीव्रतम विरोध किया। औरंगजेब सरहिन्दी के ही मार्ग पर चला, लेकिन उसने जो कदम उठाए, वे मुसलमानों के जीवन में कोई सुधार न ला सके। उच्च वर्ग के लोग पहले से भी अधिक विलासी और प्रमादग्रस्त हो गए तथा किसानों, कारीगरों, व्यापारियों, आदि का जन-समाज बढ़े हुए सरकारी करों के बोझ से पिस गया। सेना का नैतिक पतन हुआ और सेनानायक घूसखोर तथा भ्रष्ट हो गए। छद्मवेशी और प्रपंची धर्मशास्त्रज्ञों की भरमार हो गई, जिनमें सबसे प्रसिद्ध शेख अहमद का पौत्र शेख़ सैफ़ुद्दीन था, जिसकी शान-शौकत सम्राटों के समान थी। समाज के बन्धन शिथिल पड़ गए, जातिवाद और सम्प्रदायवाद पनप उठे और राज्य के प्रति वफादारी का सूत्र कमज़ोर हो गया। इस खेदजनक वस्तुस्थिति के कारणों का विवेचन करते हुए एक मुसलमान लेखक ने लिखा है—"विधि-व्यवस्था (शरा) और धर्मशास्त्रज्ञता (फिक़:) के प्रति उत्साह-मात्र से आन्तरिक बुराइयों का उपचार नहीं होता, क्योंकि उनका सम्बन्ध बाह्याचार से है (घर के अन्दर सेंसर का क्या प्रयोजन ?) उनका सम्बन्ध तो इस्लामी प्रथा-परम्पराओं—जुआ-निषेध, मद्यपान का अन्त, जज़िया का प्रचलन, नए मन्दिरों के निर्माण पर रोक, छोटे और बड़े पापाचारों के लिए दण्ड-निर्धारण—को बनाए रखने से है। न्यायज्ञ इन बातों को बहुत महत्त्व देते हैं, किन्तु वे लोग नैतिक तथा आध्यात्मिक कमज़ोरियों का इलाज नहीं कर सकते, क्योंकि वे उनकी अधिकार-सीमा से परे हैं।"[3]

---

1. मुहम्मद मियां, 'उलमाए-हिन्द का शानदार माज़ी' खण्ड 1, पृष्ठ 340
2. वही
3. शेख मुहम्मद इकरम, 'रौदे कौसर' (उर्दू), मर्कंटाइल प्रेस, लाहौर, पृष्ठ 309

सन् 1625 में शेख अहमद की और सन् 1707 में औरंगज़ेब की मृत्यु के बीच की अवधि में उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायों की पूर्ण विफलता प्रकट हो गई। औरंगज़ेब के बाद भारत की अवस्था तेजी से अव्यवस्था की ओर बढ़ने लगी। गहरे अन्धकार और बढ़ती हुई निराशा के उसी युग में इस्लामी विचार-धारा के तीसरे सम्प्रदाय के प्रवर्तक का उदय हुआ। उसका नाम था, शाह वलीउल्लाह। उसका जन्म दिल्ली में 1703 ईसवी (1114 हिजरी) में हुआ था और मृत्यु 1763 ईसवी (1176 हिजरी) में। उसे समाज और राज्य, धर्म, आचार-नीति तथा राजनीति की कुछ जटिलतम समस्याओं का सामना करना पड़ा। उस समय विभेदों और मतभेदों का बोलबाला था। मतवाद और कर्मकांड को आधार माननेवाले पाण्डित्याभिमानियों और आत्मानुशासन को धर्म का प्राण समझनेवाले दीक्षित विचारकों, विधिवेत्ताओं और परम्परावादियों, चारों सम्प्रदायों के न्यायज्ञों तथा शिया और सुन्नियों के बीच संघर्ष हो रहा था। लोगों के दृष्टिकोण में भी भेद था। कुछ लोग सत्ता (तकलीद) के अन्धानुकरण में विश्वास रखते थे और दूसरे लोग अपने सामने व्याख्या (इजतिहाद) का मैदान खुला पाते थे। कुछ व्यक्ति धार्मिक रूढ़ियों की व्याख्या के लिए यूनानी दर्शन का प्रयोग उचित ठहराते थे और कुछ उक्त रूढ़ियों को समझने के लिए बुद्धिशीलता और तर्क का प्रयोग वांछनीय मानते थे। आचार-नीति और राजनीति-विषयक बातों—साम्राज्य के पतन और चरित्र-पतन-जैसे विषयों—पर भी लोगों में मतभेद था।

वलीउल्लाह ने इन समस्याओं पर मौलिक दृष्टिकोण से विचार किया। वह भेद-भावों के मूल कारणों का अन्त, सहज शत्रुताओं का निवारण और परस्पर-विरोधी विचार-धाराओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहता था। उसका कहना था कि धर्मशास्त्रीय बातों में तर्क और प्रमाण का बहिष्कार नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि परमात्मा आलिम (सर्वान्तर्यामी) भी है और हकीम (सर्वज्ञ) भी। उसके सभी कार्य-कलाप अनिवार्यतः तर्कसंगत हैं और यह मनुष्य का कर्तव्य है कि वह तर्क-द्वारा उनका सन्धान करे। पैगम्बरों के ज़रिए सामने आनेवाले खुदा के उद्गार उसकी इच्छा को समझने में हमारी मदद करते हैं। 'कुरान' तर्क के अतिरिक्त और किसी तरह किसी से कुछ नहीं मनवाना चाहता। उसकी मान्यता थी कि शरीयत और तरीकत कोई दो विरोधी मार्ग न होकर एक ही वृक्ष के दो फल हैं, और परमात्मा की तात्विक एकता तथा गुणधर्मात्मक एकता, इन दोनों दर्शनों की मिलती-जुलती बातों पर ज़ोर देकर उसने उनके अनुयायियों का पारस्परिक मतभेद दूर करने का प्रयास किया। इसी तरह, उसने मलिक की कृति 'मवाता' में धर्मशास्त्रज्ञता के चारों सम्प्रदायों के मूल ढूंढ़ कर उन चारों में निहित एकता का सन्धान करने का भी प्रयत्न किया।

अठारहवीं शताब्दी में होनेवाली परस्पर-विनाशक लड़ाइयों का एक प्रमुख कारण था : तुरानी वंश के सुन्नी कुलीनों और ईरानी वंश के शियाओं का आपसी झगड़ा। शाह वलीउल्लाह ने 'इज़ालातुल खिफा' नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उसने चारों खलीफ़ाओं के जीवनचरित, उपलब्धियों तथा विशिष्टताओं को ऐसे रूप में प्रस्तुत किया, जिससे दोनों पक्ष सहमत हो सकें।

किन्तु व्यक्ति की तर्कशीलता पर प्रभाव डालने और उसे उलमा के नेतृत्व-बन्धनों से मुक्ति दिलाने की उसकी इच्छा का सबसे अधिक पुष्ट तथा मान्य प्रमाण है उसके द्वारा किया गया 'कुरान' का फारसी-अनुवाद। लूथर-सदृश औद्धत्य के साथ किए गए

उसके इस काम ने व्यक्ति के इस अधिकार पर मानो मुहर लगा दी कि वह पवित्र धर्मग्रन्थों के मूलपाठ समझने के लिए अपने मस्तिष्क से भी काम ले सकता है।

राजनीति के क्षेत्र में, कदाचित् वह एकमात्र ऐसा मुसलमान था, जिसे नीतिशास्त्र, राजनीति-विज्ञान और अर्थशास्त्र के घनिष्ठ सम्बन्धों की अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी। उसके मतानुसार, नीतिशास्त्र के दो पक्ष हैं: व्यक्तिगत या निजी और सार्वजनिक या सामाजिक। किन्तु इन दोनों में से दूसरे का महत्त्व पहले की अपेक्षा कहीं अधिक है। सामाजिक नैतिकता में उसने उस न्याय अथवा औचित्य को सबसे ऊंचा स्थान दिया है, जो हमारे व्यक्तिगत आचरण में नम्रता, शिष्टता तथा सभ्यता के रूप में, हमारे आर्थिक लेन-देन में मितव्ययिता के रूप में, सामूहिक जीवन में नागरिक स्वातन्त्र्य के रूप में तथा राजनीति में सुव्यवस्था के रूप में प्रकट होता है और जब इस गुण को बन्धुत्व, पारस्परिक प्रेम और मित्र-भाव का आधार बना लिया जाता है, तब इसी को सामाजिक कल्याण की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। न्यायोचित ढंग से आचरण करके मनुष्य एक ऐसे न्यायनिष्ठ समाज की स्थापना कर सकता है, जो परमात्मा की इच्छाओं के अनुकूल होता है।

न्याय के सम्बन्ध में वलीउल्लाह की धारणा की तुलना, व्यापकता तथा गाम्भीर्य की दृष्टि से, प्लेटो की तत्सम्बन्धी धारणा के साथ की जा सकती है। जिन प्रक्रियाओं-द्वारा वे दोनों अपनी धारणा तक पहुंचे, वे निस्सन्देह भिन्न थीं।

यह न्यायनिष्ठ समाज उस समय भ्रष्ट हो जाता है, जब धन में वृद्धि होती है और वासनाओं की तुष्टि ही जीवन-लक्ष्य बन जाती है; जब मिथ्याहंकार और आत्म-प्रदर्शन की भावना धनवानों को आक्रान्त कर लेती है और विलासप्रियता तथा लम्पटता की तुष्टि ही जीवन का मुख्य ध्येय मान ली जाती है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि दुर्बल का दमन करके और किसानों, व्यापारियों तथा कारीगरों का खून पीकर धन बढ़ाने के उपाय अपनाए जाते हैं। इस प्रकार, देश की अर्थ-व्यवस्था अनुचित दिशाओं की ओर बढ़ निकलती है, विलास की वस्तुओं के उत्पादन पर ज़ोर दिया जाने लगता है और श्रमजीवी-वर्ग धनहीन बना दिए जाते हैं। उन निठल्ले पराश्रितों पर व्यय बढ़ जाने के कारण, जो संख्या में बढ़ जाते हैं किन्तु कोई भी उपयोगी काम नहीं करते, राजकोष अन्ततः खाली हो जाता है।

इस तरह की वस्तुस्थिति के लिए उसने जो उपाय सुझाया, वह था: इस व्यवस्था का आमूल अन्त (फक्की कुल्ली निज़ाम), मानवीय सम्बन्धों में न्याय का पुनःप्राधान्य और सामंजस्य की पुनःस्थापना।

वलीउल्लाह के दर्शन में ऐसे मूल्यवान तत्त्व निहित थे, जो भली-भांति विकसित किए जाने पर भारतीय जीवन की उलझी समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकते थे। किन्तु दुर्भाग्यवश, समय प्रतिकूल था और उस दार्शनिक के साधन अपर्याप्त थे। जिन उपकरणों के बल पर वह सुधार करना चाहता था, वे या तो अक्षम थे या अयोग्य। उसने नजीबुद्दौला, निज़ामुल्मुल्क और अहमद शाह अब्दाली—तिरस्कृत पद्धति के तीनों हामियों—से अनुरोध किया कि वे इस सम्बन्ध में आगे बढ़ कर इस्लाम को उसकी प्राचीन गरिमा फिर प्राप्त कराएं। वह अपने प्रमुख पक्ष-समर्थकों की निराशाजनक अपर्याप्तता को अनुभव न कर पाया। यह आश्चर्य की बात है कि इस काम के लिए उसने उस अहमद शाह अब्दाली का सहारा लिया, जो मुगल-साम्राज्य के सुन्दरतम भागों को तबाह कर चुका था, नाममात्र का भी अनुताप किए बिना हिन्दुओं और मुसलमानों

दोनों को लूट चुका था और इन सबसे बड़ी बात यह कि वह एक ऐसा अनभिजात था, जिसका अपने ही लोगों के साथ कोई सहज सम्बन्ध न था। उसके लिए यह समझना कठिन था कि केवल वह न्याय, जो सम्प्रदायों तथा जातियों की सीमाओं से ऊपर हो, जो भारतीय समाज के सभी तत्त्वों को एक समलय इकाई में बांधे रखे और सभी भारतीयों को समान समझे, ऐसी शक्ति पैदा कर सकता है, जो उसके काल्पनिक समाज को जन्म भी दे सकती है और बनाए भी रख सकती है। उसने बंगाल में होनेवाली उन घटनाओं का महत्त्व भी नहीं समझा, जो भारत में राजनीति का आधार ही पूरी तरह परिवर्तित कर रही थीं।

उसके पुत्र, शाह अब्दुल अजीज (1746–1823) ने, जो सन् 1803 में अंग्रेज़ों के दिल्ली-आधिपत्य का साक्षी रहा था, यह अनुभव अवश्य किया कि वस्तुतः इस्लाम की नींव नष्ट होने का कारण यह था कि विवेक तथा विचार की स्वतन्त्रता नष्ट हो चुकी थी और लोगों को नागरिक स्वाधीनता से वंचित कर दिया गया था और इसीलिए भारत दारुल्हर्ब (युद्धभूमि) बन गया था। फिर भी, उन पिता-पुत्र में से कोई भी उस परिवर्तन का वास्तविक महत्त्व न समझ सका, न ही यह अनुभव कर सका कि नए संकट का सामना पुराने हथियारों से नहीं किया जा सकता और दूसरों को गुलामी, वेदना और असन्तोष की हालत में छोड़ कर कोई भी जाति अलग से उन्नति नहीं कर सकती।

हिन्दू-विचार-धारा

जान पड़ता है कि दक्षिण में विजयनगर-साम्राज्य के अन्त के साथ ही हिन्दुओं के मौलिक चिन्तन तथा बौद्धिक पुनर्निर्माण का युग समाप्त हो गया। चिन्तन की जिस धारा का श्रीगणेश प्राचीन काल में उपनिषदों से हुआ था और जिसे मध्य-युग में शंकर, रामानुज, मध्व और निम्बार्क की परिकल्पनाओं ने पुष्ट किया था, उसका अन्तिम महान् आचार्य वल्लभ के ही साथ अन्त हो गया। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में, "इस ह्रास-काल के दार्शनिक अथवा दर्शन-विषयक लेखक अपने को सत्य का उपासक बताते हैं—यद्यपि इससे उनका आशय केवल इस अथवा उस सिद्धान्त-शास्त्र के भक्ति-भावपूर्ण तर्क-वितर्क अथवा पवित्र सूक्ष्मानुशीलन-मात्र से है। ये व्यावसायिक तार्किक अपने निकट बहते, रेत में रिसते और धुन्ध में विलीन होते छोटे-से झरने को ही भारतीय दर्शन की विशाल सरिता मान बैठे।"[1]

रामानुज, रामानन्द और वल्लभ ने भक्ति की उस शाखा को दार्शनिक आधार प्रदान किए, जो सारे भारत में फैलती जा रही थी। वल्लभ ने जिस सिद्धान्त की स्थापना की, उसे 'पुष्टिमार्ग' कहते हैं। उसमें उस परमात्मा के प्रति प्रेम तथा अनुराग पर बल दिया गया है, जिसकी कृपा से ही दिव्यानुभति सम्भव है। वल्लभ के ऐसे शिष्य तो न रहे, जिन्होंने दार्शनिक विद्वत्ता में ख्याति पाई हो, किन्तु उसके विचारों ने भक्तों की ऐसी सम्पूर्ण परम्परा को प्रेरित-प्रभावित अवश्य किया, जिन्होंने दिव्य प्रेम तथा अनुग्रह के गीत गाने के लिए लोकभाषाओं को माध्यम बनाया।

भक्ति के उद्गम तथा विकास का एक और सृजनात्मक तत्त्व था, 'भागवत पुराण' का फिर से लोकप्रिय हो जाना। प्राचीनतर आचार्यों ने अपना ध्यान प्रस्थानत्रयी, अर्थात् 'उपनिषद्', 'ब्रह्मसूत्र', और 'भगवद्गीता' तक ही सीमित रखा था, किन्तु

---

1. एस० राधाकृष्णन्, 'इण्डियन फिलासफी', खण्ड 2 (लन्दन, 1931), पृष्ठ 771-72

वल्लभ और अन्य आचार्यों ने इस त्रयी में 'भागवत' को जोड़ दिया और उसकी टीकाएं लिखी जाने लगीं।

विचार तथा अनुभूति की यही धाराएं सूरदास और तुलसीदास की अमर कविताओं में व्यक्त हुईं। उन दोनों पर विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं का प्रभाव तो था, फिर भी वे सम्प्रदायगत भेद-भाव, संकीर्णता तथा सीमाओं से ऊपर उठ गए। सोलहवीं शताब्दी में उत्तर-भारत की आधुनिक भाषाएं संस्कृत का स्थान लेकर सृजनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बन बैठीं।

धर्मशास्त्र का अध्ययन तो व्यापक रूप से हुआ, किन्तु वाचस्पति मिश्र (15-वीं शताब्दी), रघुनन्दन (16-वीं शताब्दी), कमलाकर और मित्र मिश्र (17-वीं शताब्दी) के समय के पश्चात् उसकी कोई महत्त्वपूर्ण टीका नहीं लिखी गई। बालकृष्ण पंजगुंड की 'बलमभट्टि' अठारहवीं शताब्दी में लिखी गई और मिताक्षर की टीका के रूप में उसे बड़ी ख्याति मिली। जगन्नाथ तर्कपंचानन ने हिन्दू-विधि-व्यवस्था पर एक ग्रन्थ तैयार करने में वारेन हेस्टिंग्स की सहायता की।

उस समय 'न्याय' और अन्य दर्शन-पद्धतियों का भी अध्यापन होता था, किन्तु उनमें कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ। नक्षत्र-विज्ञान तथा गणित की ओर कुछ ध्यान अवश्य दिया गया—विशेषतः जन्मपत्रियां बनाने, शुभ मुहूर्त निकालने और त्योहारों के दिन निश्चित करने के लिए। शरीर-रचना-विज्ञान अथवा शरीर-विज्ञान में कोई विकास हुए बिना ही आयुर्विज्ञान की प्राचीन पद्धति का अध्ययन किया जाता रहा।

सब मिला कर, परवर्ती संस्कृत-साहित्य के सम्बन्ध में कीथ का निर्णय ठीक ही है। उसने कहा है कि "लेखकों के लिए आप्त ग्रन्थों का अनुकरण अनिवार्य था और वे उन आप्त ग्रन्थों के प्रति स्वच्छन्द प्रवृत्ति अपनाने अथवा असमाधेय का समाधान करने तथा प्रत्यक्षतः अन्य अर्थ रखनेवाले प्राचीन मूलपाठों का भ्रष्ट अर्थ करके अपने ज़िले की किसी प्रथा का औचित्य स्थापित करने में अपनी अत्यन्त उल्लेखनीय योग्यता प्रदर्शित करने से अधिक कुछ करने में असमर्थ रहे।"[1]

शिक्षा

हिन्दू तथा मुस्लिम, दोनों संस्कृतियों की प्रधान बुराई थी उनकी पुरानी और अप्रगतिशील शिक्षा-पद्धति। शिक्षा की दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान, दोनों समान रूप से पिछड़े हुए थे। उन दोनों में से किसी को भी न तो उस प्रगति का क्षीणतम आभास था, जो पश्चिमी देश विज्ञान की दिशा में कर रहे थे और न ही वे प्रेक्षण, परीक्षण तथा विवेचन की नई पद्धतियों के सम्बन्ध में कुछ जानते थे। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि अकबर ने अनेक यूरोपीय धर्म-प्रचारकों का अपने दरबार में स्वागत किया और वर्षों तक उनके साथ धर्म और धर्म-दर्शन-विषयक विचार-विमर्श किया, तथापि उसने यूरोपीय दर्शन, विज्ञान अथवा उद्योग-विद्या में कोई रुचि न ली। जय सिंह के शिविर में शिवाजी मानूसी के साथ दो घण्टे तक रहा, परन्तु कदाचित् उस इटालियन की संस्कृति के सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा उसके मन में उत्पन्न ही नहीं हुई। यूरोपियन भारत के आस-पास के समुद्रों पर छा गए और उन्होंने पूर्वी तथा पश्चिमी, दोनों समुद्र-तटों पर अपने ठहरने

1. ए० बी० कीथ, 'ए हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ 449

के स्थान तथा कोठियां बना लीं, परन्तु गुजरात, कोंकण, केरल, चोलमण्डल, उड़ीसा और बंगाल के भारतीय, बौद्धिक दृष्टि से, उनकी उपस्थिति से पूर्णतः अप्रभावित ही बने रहे। विभिन्न दरबारों के राजकुमारों तथा कुलीनों ने यूरोप के पशु-पक्षियों, दर्पण, खिलौनों और सुरा-मदिराओं में तो कुछ रुचि ली, किन्तु उनके सामाजिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक मामलों से वे विरक्त ही रहे।

यह बात उस समय तो और भी आश्चर्यजनक लगती है, जब हम यह स्मरण करते हैं कि यूरोप के मध्य-युगीन अन्धकार में से निकलने से बहुत पहले हिन्दू-भारत विज्ञानों की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति कर चुका था। वे लोग गणित के क्षेत्र में अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति और यहां तक कि अत्यणुकलन का विकास कर चुके थे। वे शून्य और अनन्त की अत्यधिक सूक्ष्म संकल्पनाओं का पता लगा चुके थे और आधुनिक स्तरों की वैज्ञानिक मान्यताओं तक पहुंच चुके थे। अन्य विज्ञानों में वे नक्षत्र-विज्ञान, आयुर्विज्ञान और शल्य-चिकित्सा, प्राकृतिक दर्शन के प्राथमिक सिद्धान्तों, वनस्पति-विज्ञान और प्राणिविज्ञान के क्षेत्र में प्रगति कर चुके थे। उन्होंने अपने निष्कर्ष जांच, प्रेक्षण, परीक्षण, अंगविभाजन की पद्धति-द्वारा और प्रायः कारण तथा कार्य के आपसी सम्बन्धों के आधार पर निकाले थे।

मुसलमान भी वैज्ञानिक जानकारी के विकास की दिशा में बहुत आगे बढ़ चुके थे। भारतीय तथा यूनानी ग्रन्थों के अरबी-अनुवादों का अध्ययन करके वे ज्ञान के विस्तार में सराहनीय अंशदान कर चुके थे। वस्तुतः अनेक विज्ञानों में—उदाहरणतः गणित के क्षेत्र में बीजगणित, रेखागणित, गोलीय त्रिकोणमिति और लघु गणकों में; नक्षत्र-विज्ञान के क्षेत्र में सारणियां बनाने, ऐस्ट्रोलेब वेधयन्त्र और खगोल-सूचक गोले-जैसे उपकरण तैयार करने तथा वेधशालाओं का निर्माण करने में; रसायन-विज्ञान में अम्लों (सल्फ्यूरिक, नाइट्रिक और अम्लराज) के संघटनों की जानकारी, लवणों की तैयारी तथा उनके सल्फाइडों से आर्सेनिक और ऐंटिमोनी अलग-अलग करने में और आयुर्विज्ञान की कुछ शाखाओं में—तो वे हिन्दुओं से भी काफी आगे जा चुके थे। विश्व के भूगोल के सम्बन्ध में भी वे काफी जानकारी एकत्र कर चुके थे। इतिहास की दिशा में वे विशेष रूप से आगे बढ़े। वस्तुतः उन्होंने ही पहले-पहल यूरोप को विज्ञानों की शिक्षा दी। उनके विद्यालयों में यूरोप के विभिन्न देशों के ईसाई छात्र प्रशिक्षण पाते थे और उनके अरबी ग्रन्थों के लैटिन-अनुवाद यूरोपियनों के अध्ययन का आधार होते थे।

किन्तु स्पेन, इटली और फ्रांस के ईसाई विश्वविद्यालयों में मुसलमानों के ज्ञान की लगभग प्रत्येक शाखा का अध्ययन किए जाने तथा यूरोप की सांस्कृतिक परम्परा में उसका समावेश होते रहने पर भी पन्द्रहवीं शताब्दी से यूरोप में होनेवाले नए आविष्कार अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में अविदित ही बने रहे।

यह उपेक्षा विद्यालयों की कमी के कारण न थी। वास्तव में, विद्यालय तो बहुत थे। बंगाल और बिहार की शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में दी गई रिपोर्टों (1835 और 1838) में ऐडम ने अनुमान लगाया है कि उस समय वहां लगभग 1,50,000 गांवों के लिए 1,00,000 प्रारम्भिक विद्यालय थे।[1] जनसंख्या के आधार पर उसने हिसाब

---

1. डब्ल्यू॰ ऐडम, 'रिपोर्ट्स आन द स्टेट ऑफ एजुकेशन इन बंगाल' (सम्पादक ए॰ बसु, 1941), पृष्ठ 6-7

लगाया कि प्रति 400 व्यक्तियों के लिए एक विद्यालय था। जहां तक इससे ऊंचे स्तर की शिक्षा का सम्बन्ध है, बंगाल के प्रत्येक ज़िले में औसतन लगभग एक सौ विद्यालय थे। पूरे प्रान्त में कुल मिला कर ऐसे 1,800 विद्यालय थे। मद्रास के प्रदेशों में 12,500 शिक्षा-संस्थान थे, जो रजवाड़ों या स्वयं लोगों-द्वारा चलाए जा रहे थे।"[1]

वास्तविक कठिनाई यह थी कि शिक्षा ठीक प्रकार की न थी। पहली बात तो यह कि शिक्षा की व्यवस्था साम्प्रदायिक आधार पर की गई थी। शिक्षा की, वास्तव में, दो सर्वथा भिन्न पद्धतियां थीं—एक केवल हिन्दुओं के लिए, जिसमें प्रारम्भिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषा थी और उच्च स्तरीय शिक्षा संस्कृत के माध्यम से दी जाती थी, और दूसरी मुसलमानों तथा उन हिन्दुओं के लिए, जो सरकारी नौकरी करना चाहते थे। इन विद्यालयों में फारसी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी।

हिन्दू विद्यालय दो पूर्णतः पृथक् भागों में बंटे थे। एक भाग में वे संस्थान थे, जहां प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। ये विद्यालय उन बालकों के लिए थे, जिन्हें आगे चल कर खेती या वाणिज्य-व्यापार करना होता था। स्वभावतः ही, ज़िले की लगभग प्रत्येक जाति के छात्र इनमें पढ़ते थे। उदाहरण के लिए, मुर्शिदाबाद (नगर और ज़िले) के प्रारम्भिक विद्यालयों में पचास जातियों तथा उप-जातियों के बच्चे पढ़ते थे। 998 अध्येताओं में से 181 ब्राह्मण थे, 129 कायस्थ और बाकी अन्य जातियों के। इनमें 82 मुसलमान छात्र भी थे।

दक्षिण-विहार में 2,918 हिन्दू छात्र थे, जो 48 जातियों के थे। इनमें सबसे अधिक संख्या गन्धवणिक, मागध और तेली जातियों के बच्चों की थी। उसके बाद ब्राह्मण और कायस्थों का स्थान था और फिर राजपूत, कहार तथा अन्य जातियों का। मुसलमान छात्रों की संख्या वहां 172 थी।

परन्तु इन विद्यालयों के अध्यापक अधिकतर मुंशी-जातियों के थे। मुर्शिदाबाद में 67 विद्यालयों के इतने ही अध्यापकों में से 39 कायस्थ थे तथा 14 ब्राह्मण और 14 अन्य जातियों के। दक्षिण-विहार में 285 विद्यालय थे और इतने ही अध्यापक। उनमें से 278 कायस्थ थे और 7 अन्य जातियों के। ब्राह्मण एक भी न था।

प्रारम्भिक विद्यालयों के बालक अपना पाठ्यक्रम पूरा करने में 5 से 10 वर्ष तक का समय लगाते थे। पाठ्यक्रम में लिखाई, पढ़ाई और गणित का समावेश था। लिखना सीखने-सिखाने में बहुत समय लगता था। आरम्भ में फर्श पर बिछी रेत पर उंगली से अक्षर बनाना सिखाया जाता था, फिर ताड़ के पत्ते पर सरकंडे की कलम और काली स्याही से लिखा जाता था, फिर केले के पत्ते पर, और अन्त में कागज़ पर। उद्देश्य यह रहता था कि पत्र-लेखन और व्यावसायिक पत्राचार—याचिकाएं, अनुदान-पत्र, पट्टे के कागज़, आदि लिखना—सीख लिया जाए। गणित पढ़ने में मुख्य उद्देश्य रहता था, कृषि या व्यवसाय-विषयक हिसाब-किताब कर पाने की योग्यता अर्जित कर लेना। इसीलिए सारणियों—संख्यात्मक, गुणन तथा माप-तौल-विषयक और भिन्नात्मक—पर ज़ोर दिया जाता था। पढ़ना प्रादेशिक भाषा में रामायण-जैसी पुस्तकों के अध्ययन तक सीमित था।

शिक्षा विशुद्धतः उपयोगिता-प्रधान और अत्यधिक परिमित थी। वह न तो

1. डब्ल्यू० ऐडम, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भूमिका, पृष्ठ 65

मस्तिष्क को उद्‌बुद्ध करती थी और न उसे रूढ़ियों के बन्धन से मुक्त कर पाती थी। तत्कालीन शिक्षा पर टीका-टिप्पणी करते हुए ऐडम ने कहा है : हाथ, आंख और कान से काम लिया जाता है, स्मरण-शक्ति का भी पर्याप्त व्यायाम हो जाता है, विवेक की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं होती और धार्मिक तत्त्व भी, चाहे वह कितने ही गलत ढंग से संचालित क्यों न हों, आरम्भ से तथा लगातार विद्यमान रहता है। किन्तु भावनाओं तथा भावावेशों को, उनका आधिक्य रोके बिना तथा उन्हें अच्छे उद्देश्यों की ओर प्रवृत्त किए बिना ही, अनियन्त्रित रीति से बढ़ने दिया जाता है।"[1]

उच्चतर विद्यालयों की स्थिति और भी बुरी थी। उन विद्यालयों के छात्र और अध्यापक, दोनों ही प्रायः ब्राह्मण-जाति के होते थे, क्योंकि उनके पाठ्यक्रमों में मुख्यतः धर्मशास्त्रीय विषय होते थे, जिनके साथ कुछ और सहायक विषय जोड़ दिए जाते थे। उदाहरण के लिए, मुर्शिदाबाद में ऐसे 24 विद्यालय थे, जिनमें 24 अध्यापक और 153 छात्र थे। सभी अध्यापक ब्राह्मण थे और एक छात्र के अतिरिक्त बाकी सब छात्र भी ब्राह्मण ही थे। दक्षिण-बिहार के 27 विद्यालयों के 27 अध्यापकों में सभी ब्राह्मण थे। 437 विद्यार्थियों में से भी कोई ब्राह्मणेतर जाति का न था।

बंगाल और बिहार में तीन तरह के पाठ्यक्रमों की शिक्षा दी जाती थी—(1) व्याकरण और सामान्य साहित्य, (2) विधि, और (3) तर्कशास्त्र। इनके अतिरिक्त, कुछ विद्यालयों में दर्शन-शास्त्र (दर्शन और वेदान्त), पुराणों, तन्त्रों, नक्षत्र-विज्ञान तथा आयुर्विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध था। यह अनुमान लगाया गया कि "एक लाख ब्राह्मणों में से कदाचित् एक हज़ार ऐसे होते थे, जो संस्कृत-व्याकरण का अध्ययन करते थे। उनमें से कदाचित् चार-पांच सौ काव्य-साहित्य के कुछ अंगों की शिक्षा ग्रहण करते थे और पचास अलंकार-शास्त्र के कुछ अंगों की। इन हज़ार में से चार सौ व्यक्ति कुछ स्मृतियों का अध्ययन करते थे, किन्तु तन्त्रों के किसी अंग का अध्ययन करनेवालों की संख्या कदाचित् दस से अधिक न होती थी। लगभग तीन सौ व्यक्ति न्याय (अथवा तर्कशास्त्र) का, किन्तु केवल पांच-छः मीमांसा (वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या), सांख्य (दार्शनिक भौतिकवाद), वेदान्त (वेदों के आध्यात्मिक पक्ष-निरूपण), पातंजल (योग-दर्शन), वैशेषिक (दार्शनिक अभौतिकवाद) अथवा वेद (हिन्दुओं के प्राचीनतम पवित्र ग्रन्थों) का अध्ययन किया करते थे। ब्राह्मणों की इस संख्या में से कदाचित् 10 नक्षत्रीय शास्त्रों में निष्णात हो जाते थे और अन्य दस उन्हें अपेक्षाकृत कम प्रवीणतापूर्वक समझने लगते थे। उन एक हज़ार व्यक्तियों में से कदाचित् पचास 'श्रीभागवत' और कुछ लोग पुराण पढ़ लेते थे।"[2]

अध्ययन-काल दो से बारह, कभी-कभी बाईस वर्ष तक चलता था। विद्यालयों में एक अध्यापक होता था और उससे पढ़नेवाले कुछ छात्र। प्रत्येक अध्यापक के साथ औसतन छः-छः छात्र होते थे। कक्षाएं अध्यापक के घर पर ही लगती थीं और उनकी दिनचर्या सुबह से आरम्भ होकर, दोपहर में कुछ समय का अन्तराल रख कर, सन्ध्या तक चला करती थीं।

अध्ययन के सभी विषयों के प्रारम्भिक पाठ्यक्रम में संस्कृत-शिक्षा का समावेश था। सामान्य साहित्य के पाठ्यक्रम में व्याकरण, अलंकारशास्त्र और शब्दानुशासन—

---

1. डब्ल्यू० ऐडम, 'रिपोर्ट आन एजुकेशन', पृष्ठ 147
2. वही, पृष्ठ 19

पाणिनि के 'अमरकोश' और 'कौमुदी'—पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। साहित्य-शिक्षा का आरम्भ 'भट्टिकाव्य' से किया जाता था और उसके उपरान्त 'रघुवंश' तथा अन्य काव्य पढ़ाए जाते थे।

विधि के अध्येता हिन्दू-विधि-विधान की विभिन्न शाखाओं में निष्णात होने के लिए आठ से तेईस वर्ष तक का समय लगा देते थे। बंगाल में 'दायभाग' और 'दायतत्व' का अध्ययन किया जाता था और अन्य विद्यालयों में 'मनुस्मृति' और 'मिताक्षर' पढ़ाए जाते थे।

तर्कशास्त्र के अध्ययन में बारह से बाईस वर्ष तक लग जाते थे। पारिभाषिक शब्दों, गुणधर्मों तथा वस्तुओं की परिभाषाओं से आरम्भ करके, उसमें तर्कवाक्यों, हेत्व-नुमानों, अनुमान और निगमन, तर्काभासों और दिव्य सत्ता की उपस्थिति के प्रमाणों तक का समावेश होता था।

आयुर्विज्ञान तथा नक्षत्र-विज्ञान में—केवल इन्हीं दो विज्ञानों की शिक्षा दी जाती थी—प्राचीन मूलग्रन्थों तथा उनके भाष्यों के आधार पर अध्ययन किया जाता था।

स्पष्ट है कि ज्ञान की किसी एक शाखा में इतना अधिक समय बिताने और उसमें विशेषज्ञता प्राप्त करने के कारण बुद्धि तो प्रखर और तीक्ष्ण अवश्य होती थी, किन्तु इससे संकीर्णता भी उत्पन्न हो जाती थी। इसके अतिरिक्त, व्याकरण, विधि और तर्क-शास्त्र-विषयक शिक्षण अधिकतर औपचारिक तथा मौखिक था। इसका परिणाम यह होता था कि विद्यार्थी का ध्यान विषयाश्रित वास्तविकता से परे हट जाता था। ऐडम के शब्दों में, "इन अध्ययनों से विद्यार्थी व्याकरण की जटिलतम सूक्ष्मताओं में प्रवीण हो जाते थे, अपनी राष्ट्रीय विधियों तथा साहित्य के समस्त प्रकारों और प्रयोगों से परिचित हो जाते थे तथा तार्किक और नैतिक दर्शन के क्षेत्र में सूक्ष्मतम एवं अत्यन्त रोचक विवेचन प्रस्तुत करने में समर्थ हो जाते थे।"[1] किन्तु इन अध्ययनों के बाद भी "उनका मस्तिष्क मानो सुप्त अवस्था में ही पड़ा, विगत युगों की कथाओं और परिकल्पनाओं को जोड़ने-तोड़ने तथा अनेक रूपों में बनाने-बिगाड़ने में संलग्न स्वप्निल जीवन बिताता रहता था।"[2]

शिक्षा की इस्लामी पद्धति भी कोई बहुत अच्छी नहीं थी। वहां शिक्षा केवल उच्च वर्गों के लिए थी, मुसलमान जन-साधारण को शिक्षा देने की उसमें कोई व्यवस्था न थी। उस पद्धति में, हिन्दू प्रारम्भिक विद्यालयों की भांति, ऐसे प्रारम्भिक विद्यालय न थे, जहां शिक्षा के लिए मातृभाषा का प्रयोग होता हो। सभी मुस्लिम विद्यालयों में फारसी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी; वहां उर्दू या किसी अन्य प्रचलित भारतीय भाषा का प्रयोग नहीं किया जाता था। इसीलिए मुसलमान जनता हिन्दू जन-साधारण की अपेक्षा अधिक अज्ञानग्रस्त थी।

मुसलमानों को तीन तरह से शिक्षा दी जाती थी। पहले ढंग में कुरान की आयतें, अर्थ समझे बिना ही, कण्ठस्थ कर ली जाती थीं। यह काम उन मुल्लाओं के हाथ में था, जिन्होंने ज्ञान की उपलब्धि निम्नतम अंश में भी नहीं की होती थी। ऐडम ने उनकी शिक्षा को 'विशुद्ध स्वांग'[3] की संज्ञा दी है। वह महत्त्वहीन और निष्प्रयोजन थी।

---

1. डब्ल्यू० ऐडम, 'रिपोर्ट आन एजुकेशन', पृष्ठ 170
2. वही, पृष्ठ 276
3. वही, पृष्ठ 152

शिक्षा का दूसरा ढंग फारसी विद्यालयों में प्रचलित था। उसका सम्बन्ध मुख्यत: साहित्य से था; व्याकरण, गणना और अंकगणित तो उसमें मानो ठूंस दिए गए थे। पद्य में फिरदौसी, सादी, हाफिज़, उर्फी, जामी, खाकानी, आदि की कविताएं; गद्य में 'गुलिस्तां', 'वकाए नेमात खान अली', 'वहारे दानिश', आदि; पत्रात्मक कृतियों में अबुल फज़ल, आलमगीर, माधोराम ब्राह्मण, आदि की रचनाएं; और व्याकरण तथा अलंकारशास्त्र में 'हदीकतुल वलागत', 'दस्तूरुल मुक्तदी', आदि पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं। पाठ्यक्रम में अंकगणित और रेखागणित के नियमों का भी समावेश था।

फारसी के बाद अरबी पढ़ाई जाती थी, जिससे विद्वत्ता में निखार आ जाता था। अरबी का पाठ्यक्रम व्याकरण के मज़बूत आधार से आरम्भ होता था, जिसमें शब्द-व्युत्पत्ति, रूपान्तर, वाक्य-विचार और छन्दशास्त्र का समावेश था। भाषा पर अधिकार हो जाने पर अध्येता उच्चतर अध्ययन करता था। उच्चतर पाठ्यक्रम दो वर्गों में बंटे थे—मनकूलात (परम्परागत) और माकूलात (तर्कसंगत)। पहले वर्ग में अखबार और हदीस (इतिहास तथा परम्परा), तफसीर (भाष्य), अदब (साहित्य) और फिक: (विधि) का समावेश था और दूसरे वर्ग में मन्तिक (तर्कशास्त्र), हिकमत (दर्शन), तिब्ब (आयुर्विज्ञान), गणित और नक्षत्र-विज्ञान (रियाजी और हैयत) शामिल थे।

भाषा और साहित्य विज्ञानों के आधार माने जाते थे। अत: व्याकरण (सर्फोनाह्व) और गद्य तथा पद्य की निर्धारित पुस्तकों पर बहुत ज़ोर दिया जाता था। हदीस के छ: संग्रहों, फिक: (मुस्लिम विधि-व्यवस्था) और उसूले फिक: (मुस्लिम धर्मशास्त्रज्ञता के सिद्धान्तों) के चुने हुए अवतरण व्यापक रूप से पढ़ाए जाते थे। भाष्य के क्षेत्र में जलालैन और बेदावी का अध्ययन पर्याप्त माना जाता था। तर्कशास्त्र अरस्तू के ग्रन्थों पर आधारित था और दर्शन में यूनानी तथा मुस्लिम विचारों का मेल था। आयुर्विज्ञान, गणित और नक्षत्र-विज्ञान हिन्दू तथा यूनानी विज्ञानों पर आधारित थे, किन्तु तर्काश्रित विज्ञानों, जिनमें आयुर्विज्ञान और नक्षत्र-विज्ञान शामिल थे, का अध्ययन बिल्कुल किताबी था, क्योंकि प्रयोगशालाएं तथा वेधशालाएं विद्यमान नहीं थीं और अध्ययन के क्षेत्र में परीक्षण-विधि का प्रचलन नहीं था। धर्मशास्त्र तथा विधि-व्यवस्था पर मुख्य रूप से ज़ोर दिया जाता था और प्राचीन काल के महान् गुरुओं के प्रमाण शंका तथा टीका-टिप्पणी-रहित श्रद्धा-भाव से स्वीकार्य थे।

मुसलमानों का मस्तिष्क मध्य-युगीनता में डूबा था और पश्चिम से होनेवाला प्रहार सहने के लिए वे बौद्धिक दृष्टि से बिल्कुल तैयार न थे। आश्चर्य की बात यह है कि शिक्षा की इस पद्धति पर सबसे अधिक ध्वंसात्मक टीका-टिप्पणी स्वयं औरंगज़ेब ने की, जिसने शिष्य की उन्नति के लिए किए गए अपने गुरु मुल्ला सालेह के आग्रहों से तंग आकर उसके सामने अपने मन की कुछ बात कह कर अध्यापक के वास्तविक कर्तव्यों पर प्रकाश डाला था। बर्नियर ने उसका वह कथन पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया है।

औरंगज़ेब ने मुल्ला सालेह से पूछा—"आखिर वह ज्ञान क्या है, जो मुझे आपके शिष्य-रूप में मिला है?" दुख-भरे शब्दों में उसने कहा—"क्या मेरे शिक्षक का यह कर्तव्य नहीं था कि वह मुझे इन बातों से परिचित कराता कि पृथ्वी के प्रत्येक राष्ट्र की क्या विशेषताएं हैं, उसके शक्ति-संसाधन क्या हैं, उसकी युद्ध-पद्धति क्या है, उसके रीति-रिवाज, धर्म तथा शासन-पद्धति क्या है, और उसका हित मुख्यत: किन बातों में निहित

है ? और इस प्रकार, ऐतिहासिक अध्ययन के नियमित पाठ्यक्रम-द्वारा मुझे राज्यों के उद्भव, विकास तथा ह्रास और उन स्थितियों, घटनाओं या भूलों से अवगत कराया जाता, जिनके कारण वे बड़े-बड़े परिवर्तन और ज़बर्दस्त क्रान्तियां सम्भव हुईं।" उसने आगे कहा—"अपने आस-पास के राष्ट्रों की भाषाओं की जानकारी किसी भी बादशाह के लिए अनिवार्य हो सकती है, किन्तु आप तो मुझे केवल अरबी लिखना-पढ़ना सिखाते रहे ···इस बात की चिन्ता किए बिना कि किसी शहज़ादे की शिक्षा में किन-किन महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश होना चाहिए। आप तो उसे इस तरह पढ़ाते रहे, मानो उसे मुख्यतः व्याकरण में प्रवीण होने के साथ-साथ जितना विधि-व्यवस्था का कोई आचार्य होता है, उतना ज्ञान-सम्पन्न होना चाहिए।" उसने आगे चल कर यह भी कहा—"क्या हम केवल अरबी के माध्यम से नमाज़ पढ़ सकते हैं या विधि और विज्ञानों की जानकारी पा सकते हैं···मुझे अच्छी तरह याद है कि पिछले अनेक वर्षों में आप ऐसी अनेक निरर्थक और मूर्खतापूर्ण परिकल्पनाओं से मेरे मस्तिष्क को संत्रस्त करते रहे हैं, जिनके समाधान से उसे किसी प्रकार का सन्तोष प्राप्त नहीं हो पाता—वे तो ऐसी परिकल्पनाएं रही हैं, जो जीवन के कार्य-व्यवहार में शायद ही कभी सामने आती हैं···आपके साथ रह कर अध्ययन समाप्त करने पर मैं विज्ञान से इससे अधिक उपलब्धि का गौरव प्राप्त नहीं कर सका कि मैं ऐसे अनेक दुरूह और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग सीख गया, जो अधिकतम पुष्ट मेधावाले किसी युवक को भी हतोत्साहित, पराजित और आतंकित कर सकते थे··· यदि आप मुझे उस दर्शन की शिक्षा देते, जो मस्तिष्क को तर्क-योग्य बना देता है और अधिकतम ठोस तर्कों के बिना सन्तुष्ट होना सर्वथा अस्वीकार कर देता है; सदैव आदि-सिद्धान्तों की ओर इंगित करने का अभ्यासी बना देते; विश्व तथा इसके भागों की नियम-व्यवस्था तथा नियमित गतिविधि की भव्य और पर्याप्त जानकारी उपलब्ध करा देते; तो मैं अरस्तू के प्रति प्रकट किए गए सिकन्दर के आभार से भी अधिक आपका ऋण मानता।"[1]

बर्नियर ने बनारस के पण्डितों-द्वारा दी जानेवाली शिक्षा का भी इतना ही सत्योद्घाटक वर्णन किया है। भारत के इस एथेन्स में उसने शिक्षा का वही तरीका चालू पाया, जो प्राचीन यूनान में प्रचलित था। शिक्षक अपने घरों में और उपनगरीय उद्यानों में कक्षाएं लेते थे। प्रत्येक शिक्षक के चार से पन्द्रह तक शिष्य होते थे, जो दस से बारह वर्ष तक उसके साथ रहते थे। विद्यार्थी विशुद्ध अध्ययन के वातावरण में संयमपूर्ण जीवन बिताते थे।

पाठ्यक्रम में संस्कृत, पुराणों, दर्शनों (षड्दर्शन), आयुर्विज्ञान, नक्षत्र-विज्ञान तथा भूगोल की शिक्षा सम्मिलित थी। आयुर्विज्ञान के सम्बन्ध में बर्नियर का मत था कि यद्यपि रोगों के उपचार के तरीके सफल सिद्ध हो जाते थे, तथापि चिकित्सकों को शरीर-रचना का कुछ पता न था, क्योंकि "वे न तो कभी किसी मनुष्य का और न किसी पशु का शरीर चीर कर देखते थे।" नक्षत्र-विज्ञान में, "उनके पास ऐसी सारणियां थीं, जिनके अनुसार वे ग्रहण के दिनों की बिल्कुल ठीक तरह भविष्यवाणी कर सकते थे, किन्तु ग्रहणों के सम्बन्ध में उनके सिद्धान्त हास्यास्पद थे और पृथ्वी तथा उसकी दीप्ति से चन्द्रमा की दूरी के सम्बन्ध में उनकी मान्यता मूर्खतापूर्ण थी। फिर, भूगोल के क्षेत्र में भी, उनका विश्वास था कि दुनिया चपटी और तिकोनी है और यह ऐसे सात भागों में बंटी है, जिनमें

---

1. एफ० बर्नियर, 'ट्रैवेल्स', पृष्ठ 1551-60

से प्रत्येक भाग विशेष प्रकार के—दूध, शर्करा, नवनीत, सुरा, आदि के—समुद्र से घिरा है।"[1]

इन पूर्णत: काल्पनिक मान्यताओं का वास्तविकता से कोई सम्बन्ध न था। जिन लोगों का इनमें विश्वास था, उन्हें उन लोगों के साथ प्रतियोगिता करने का अवसर नहीं मिला था, जो अपने-आपको प्रकृति-विषयक प्रत्यक्ष जानकारी में प्रवीण कर रहे थे और उसकी शक्तियों पर अधिकार प्राप्त करते जा रहे थे।

कला, वास्तुशिल्प और साहित्य

अठारहवीं शताब्दी के भारतीय मानस का अध्ययन सबसे अच्छे ढंग से उसकी कला तथा साहित्य-विषयक अभिव्यक्तियों में किया जा सकता है। वे इस बात की साक्षी हैं कि उस समय एक अवर्णनीय संक्षोभ भारत की आत्मा पर अधिकार जमाता जा रहा था —एक नैतिक तथा बौद्धिक विषकीट उसका जीवन-रस चूसता जा रहा था। नैतिक तथा मानसिक शक्ति की सम्भावित राशि में अकस्मात् दिखाई पड़नेवाली यह कमी व्यावहारिक राजनीति और उस शताब्दी के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के आचरण में प्रकट हुई। औरंगज़ेब ने इस रोग को अनुभव कर लिया था और इसका इलाज ढूंढ़ने का भी प्रयास किया था। किन्तु इलाज तो बीमारी से भी बुरा साबित हुआ।

परिस्थितियों में आनेवाली इस गिरावट के स्पष्ट प्रमाण हमें कलाओं, विशेषत: वास्तुशिल्प में प्राप्त होते हैं। विसेंट स्मिथ ने उल्लेख किया है कि "औरंगज़ेब आलमगीर (1659–1707) के लम्बे और सुखहीन शासन-काल में कला, वास्तुशिल्प-सहित, में तेज़ी से ह्रास हुआ।"[2] इस ह्रास का एक कारण वह घनिष्ठ सम्बन्ध था, जो राज्य और कलाओं के बीच विद्यमान था। कलाओं का मुख्य संरक्षक सम्राट् था और कलाओं की शैलियों के निर्धारण में शासक की अभिरुचियां, प्रवृत्तियां और आदर्श महत्त्वपूर्ण तत्त्व सिद्ध होते थे।

दूरदर्शी अकबर ने विश्व-शान्ति और सामंजस्य का स्वप्न देखा। वह स्वप्न फतेहपुर सीकरी के निराले नगर के रूप में साकार हुआ। अबुल फज़ल के शब्दों में : "महामहिम भव्य इमारतों की योजना बनाते हैं और इस तरह अपने मस्तिष्क और हृदय के कवित्व को पत्थर तथा मिट्टी का परिधान प्रदान करते हैं।"[3] फतेहपुर सीकरी का परित्याग उस स्वप्न के अन्त का प्रतीक था।

जहांगीर परिष्कृत रुचि का विलासी और इन्द्रियपरायण व्यक्ति था। उसके सौन्दर्यबोध ने उसके दरबार के उन चित्रकारों को प्रेरित किया, जो अपने युग के महानतम कलाकारों से तुलनीय थे। उसकी बेगम नूरजहां-द्वारा बनवाया गया इतमादुद्दौला का मकबरा अपने अलंकार-वैभव और रेखा-सौकुमार्य की दृष्टि से उसके दरबार की अभिरुचियों का उत्कृष्ट उदाहरण है।

शाहजहां शान-शौकत का प्रेमी था। उसकी प्रेम-साधनात्मक गीतिमयता की भरपूर अभिव्यक्ति शाश्वत प्रेम-प्रतीक ताजमहल के रूप में हुई।

---

1. एफ बर्नियर 'ट्रैवेल्स', पृष्ठ 334-40
2. वी० ए० स्मिथ, 'ए हिस्टरी ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन' (द्वितीय संस्करण, आक्सफोर्ड, 1930), पृष्ठ 186
3. अबुल फज़ल, 'आईने-अकबरी' (अनु० ब्लोचमन, कलकत्ता, 1927), पृष्ठ 232

शाहजहां की सिंहासन-च्युति युगान्त की सूचक थी। औरंगज़ेब भावशून्य, जुगती तथा धर्मान्ध व्यक्ति था। उसके धर्मोत्साह के जड़ताजनक हिमपात ने कला के निर्झर स्तब्ध कर दिए। सन् 1678 में औरंगाबाद में बने रज़िया दौरानी के मकबरे के सम्बन्ध में पर्सी ब्राउन ने कहा है : "उसमें उस आध्यात्मिक तथा मानवीय उत्साह के संगम का अभाव है, जो मुगल शिल्पकारों को प्रभावित करता रहा था।"[1] लाहौर में बनी बादशाही मस्जिद से लगता है, मानो "उसकी (वास्तुशिल्प की) प्रकृति का अनिवार्य तत्त्व ही उसमें से निकल चुका है, उसका प्राण-रस सूख रहा है और वह कठोर तथा निर्जीव होता जा रहा है।"[2]

औरंगज़ेब के बाद मुगल सम्राटों ने बड़े-बड़े स्मारक बनवाना बन्द कर दिया। उन सम्राटों का स्थान प्रान्तीय शासकों को मिला। उनमें अवध के नवाब मुख्य थे। किन्तु उनके द्वारा बनवाई गई इमारतों के सम्बन्ध में विंसेंट स्मिथ ने यही फैसला दिया है कि "औरंगज़ेब के समय की ईरानी शैली में बनी इमारतें बढ़ते हुए ह्रास की प्रतीक-मात्र होने के कारण विस्तृत अध्ययन अथवा उदाहरण-योग्य नहीं हैं। दिल्ली के समीप बना अवध के नवाब सफदरजंग का मकबरा (1756), जो हुमायूं के मकबरे की कामचलाऊ नकल-भर है, भीतरी भाग में प्लास्टर से की गई निकृष्ट सजावट के कारण सौन्दर्यविहीन हो गया है। लखनऊ में नवाब वज़ीरों-द्वारा बनाई गई झूठी शानदार इमारतें, वास्तव में, आडम्बरपूर्ण मिथ्या प्रपंच-मात्र हैं।"[3] पर्सी ब्राउन ने बड़े इमामबाड़े को "बाहरी शान और प्रदर्शनपूर्ण आडम्बर" से बनाई गई ऐसी इमारत ठहराया है, जिसकी "शैली में आध्यात्मिक मूल्यों का नितान्त अभाव है।"[4]

अन्य कलाएं भी वास्तुशिल्प के इसी साक्ष्य की पुष्टि करती हैं। बाबर और हुमायूं, जिनके संरक्षण में दिल्ली-दरबार में चित्रकला का उदय और विकास हुआ, ऐसे व्यक्ति थे, जो भाग्य की चोटें सह चुके थे और जिन्होंने वर्षों के दुर्भाग्य, आपदा और उद्यम के फलस्वरूप विजय और सल्तनत पाई थी। अतः उनके द्वारा पल्लवित कला में उनका यह अन्तर्जगत् प्रतिबिम्बित हुआ। उनके संरक्षण में तैयार की गई चित्रपट्टियों को किलाबन्दियों, लड़ाइयों, आखेटों, निर्माणरत इमारतों, लगाए जा रहे उद्यानों और शौर्य, साहस तथा सृजनात्मक गतिशील दृश्यों ने अलंकृत किया। चित्रकला को परमात्मा की अनुकम्पा-प्राप्ति का एक साधन माननेवाले अकबर ने इस उच्च प्रवृत्यात्मक शैली को गति प्रदान की और चित्रकला की शैलियों, विषय-वस्तुओं तथा निरूपण के भारतीयकरण को प्रोत्साहन दिया। अद्वितीय अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न कलापारखी जहांगीर के संरक्षण में कला ने पूर्णता प्राप्त की। शाहजहां का विशेष अनुराग तो वास्तुकला के ही प्रति था, फिर भी उसके दरबार में चित्रकला बराबर फूलती-फलती रही। उसके पश्चात् औरंगज़ेब की प्रचण्डता और उसके उत्तराधिकारियों के दुर्भाग्य तथा दुर्बलता ने कला पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। कला की हरियाली, कमनीयता, सामर्थ्य और उल्लास-उमंग का अन्त हो गया। रेखाओं में भी ह्रास आया और रंगों में भी। कला में स्त्रैणता

---

1. पर्सी ब्राउन, 'इण्डियन आर्कीटेक्चर : द इस्लामिक पीरियड', पृष्ठ 120
2. वही, पृष्ठ 121
3. वी० ए० स्मिथ, 'ए हिस्टरी ऑफ फाइन आर्ट्स इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन', पृष्ठ 186
4. पर्सी ब्राउन, 'इण्डियन आर्कीटेक्चर : द इस्लामिक पीरियड', पृष्ठ 123

मिथ्याप्रदर्शन, पलायनवादी हाव-भाव और थोथी भावुकता की प्रधानता होने लगी। अठारहवीं शताब्दी में केवल उन छोटे-छोटे राज्यों में कला अपनी कुछ ऊर्जस्विता तथा प्राणवत्ता की रक्षा कर सकी, जो साम्राज्य के केन्द्रीय प्रदेशों से दूर अवस्थित थे और इस प्रकार जो आक्रमणकारियों के तूफ़ानी अभियानों की सीमा से बाहर थे।

साहित्य जीवन का दर्पण है। समाज की बदलती मनःस्थितियां उसमें प्रतिबिम्बित होती हैं। अन्य कलाओं की भांति, साहित्य में भी मानव-मानस की इच्छा-आकांक्षाओं, आशा-आशंकाओं, छाया तथा प्रकाश को अभिव्यक्ति मिलती है। फिर भी, साहित्य अन्य कलाओं से इस बात में भिन्न होता है कि इसमें अधिकतम प्रतिकूल तथा अशोभन परिस्थितियों में भी सौन्दर्य-सृजन की क्षमता होती है। भारत की प्रमुख कलाएं दरबारी संरक्षण पर निर्भर रहीं। दरबारों के वैभव-काल में वास्तु, मूर्ति, चित्र तथा संगीत-कलाओं ने उन्हीं की प्रवृत्तियों का अनुसरण किया, अन्यथा वे पिछड़ गईं। मुगल शासकों ने किले, मस्जिदें, मकबरे, महल, आदि बनाने में जी खोल कर धन लगाया और वे अपने पीछे शोभा तथा गरिमा के भव्य स्मारक छोड़ गए। वे अपने कारखानों से सम्बद्ध उन चित्रकारों पर बराबर कृपा-दाक्षिण्य की वर्षा करते रहे, जिन्होंने रेखाओं की मृदुलता और रंगों की एकलयता में अतुलनीय सौन्दर्य-संसार का सृजन किया। सम्राट् और राजकुमारों ने प्रबुद्ध अनुकम्पावश दिल्ली, ग्वालियर और आगरा की संगीत-शैलियों का संरक्षण किया, जहां अमीर खुसरो, तानसेन, बैजू तथा अन्य कलाकारों ने नई राग-रागिनियों का सन्धान तथा नए वाद्ययन्त्रों (सितार) का आविष्कार किया।

किन्तु जब बढ़ती अराजकता और घटते राजकोषों के कारण यह संरक्षण शिथिल पड़ने लगा, तब कलाओं पर भी निराशान्धकार छाने लगा और अठारहवीं शताब्दी में कला-क्षेत्र में प्रत्यक्ष ह्रास दृष्टिगोचर हुआ। साहित्य के क्षेत्र में ठीक यही बात नहीं हुई, क्योंकि काव्य की अनुभूति भी अत्यधिक व्यक्तिगत होती है और अभिव्यक्ति भी। प्रत्यक्षतः काव्य-प्रतिभा बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होती। औरंगज़ेब के समय में भारत-रूपी जिस आकाश पर काली अंधियारी रात छाती जा रही थी, उसमें साहित्यकार-रूपी उन जगमगाते नक्षत्रों ने सभी ओर आलोक बनाए रखा। ह्रासमूलक वस्तुस्थिति का भार-मोचन करती यह साहित्यिक प्रतिभा सभी भारतीय भाषाओं में प्रकट हुई।

इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें हिन्दी और उर्दू-साहित्यों के इतिहास में प्राप्त हैं। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इन दोनों के विकास में एक प्रकार का साहित्यिक धारा-विभाजन हो गया—एक में कला की साधना जीवन के लिए होती रही, दूसरी में स्वयं कला के लिए। वह उदात्त काव्य, जिसमें उच्चतर जीवन के लिए मानव की उत्कण्ठाएं, उस अवर्णनीय वास्तविकता के दर्शन की लालसा, दिव्य सत्ता के साथ एकीकरण की कामना तथा अपने चरम लक्ष्य की ओर बढ़नेवाले यात्री की यात्राकालीन सुख-दुख की अनुभूतियां अभिव्यक्त हुईं और वह ओजस्वी काव्य, जिसमें वीरोचित कार्यकलाप, महान् आदर्शों की प्राप्ति के प्रति उच्चोत्साह और महिमामण्डित उपलब्धि, प्रणय, अनुराग तथा निष्ठा का अंकन हुआ, सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से पहले की दो-ढाई शताब्दियों में रचा गया।

हिन्दी में भक्ति की तीनों शाखाओं ने उच्चतम कोटि के काव्य की प्रेरणा प्रदान की। उन शाखाओं के उन्नायक थे—कबीर, सूरदास और तुलसीदास। उनके अतिरिक्त इसी अवधि में दोहा तथा चौपाई की उस शैली में कविता करनेवाले मलिक मुहम्मद

आयसी-जैसे प्रतीकात्मक प्रणयकथा-काव्यों के रचयिता भी हुए, जिसमें आगे चल कर 'रामचरितमानस' की रचना हुई।

इसके उपरान्त वह युग आया, जिसे हिन्दी-काव्य का रीतिकाल कहा जाता है। यह कहना कठिन है कि काव्य-प्रतिभा ने इस स्थिति में यह दिशा क्यों अपनाई। केवल यही कहा जा सकता है कि कला और साहित्य, दोनों ने प्राचीन तथा स्वास्थ्यप्रद दिशाओं का परित्याग करके अपने थके-मांदे, अनुत्तरदायित्वपूर्ण और डगमगाते कदम एक निम्नतर मार्ग की ओर बढ़ा दिए। दरबारी कवि अपने संरक्षकों की क्षुद्रता-तुच्छताओं में लीन हो गए। राजकुमारों तथा उनके दरबारियों के षड्यन्त्र, अश्लील आचरण और दुराचार इन कवियों ने अपनी आंखों के सामने होते देखे और उनकी कविता ने अपने स्वामियों की वासनाओं को वातायन प्रदान किए। उनकी दृष्टि में स्त्री एक खिलौना-मात्र—पुरुष की वासनातुष्टि का साधन-मात्र—थी। वह स्वतन्त्र सत्ता-सम्पन्न न थी। अतः, वह ऐसे प्रेम का आधार नहीं हो सकती थी, जो प्रणय-साधना पर आधारित होता है; जिसमें प्रियतमा आदर तथा श्रद्धा की अधिकारिणी होती है; जिसमें वह एक ऐसी उपलब्धि होती है, जो त्याग तथा कष्ट-संकटपूर्ण उद्यम-द्वारा ही सम्भव है। उन कवियों की दृष्टि में स्त्री कल्पनालोक की वह राजकुमारी-मात्र थी, जो रेशम, मखमल तथा गोटे-किनारी से ढंकी, हीरे-जवाहरात से सजी और निस्तेजक वासनाओं से घिरी राजमहल में जीवन विताती है।

उस समय के लेखक एक ऐसे सामाजिक परिवेश में रह रहे थे, जिसमें उत्साह का स्थान उदासीनता ने ले लिया था, आदर्शों के प्रति आकर्षण नष्ट हो चुका था, पुण्यशीलता का स्थान छल-प्रपंचप्रियता ने ग्रहण कर लिया था और अहम्मन्यता तथा आत्मतुष्टि का स्थान सर्वोपरि हो गया था। मानव-मस्तिष्क की गरिमा विचारों की गहनता अथवा अनुभूति की तीव्रता में न मानी जाकर, गंतव्य दिशा की चिन्ता किए विना, जीवन- रा की ऊपरी सतह पर ही बहते रहने में मान ली गई थी। परिश्रम और अध्यवसाय तथा सुधार अथवा प्रगति के स्थान पर सुख-विश्राम ही मानव-लक्ष्य बन गया था।

काव्य की वर्ण्यवस्तु जीवन से गृहीत न होकर परम्परा और पुस्तकों से ली जाती थी। कवि कामशास्त्र, नायक-नायिका-भेद और अलंकार-विषयक प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों से विचार, उपमाएं, रूपक, आदि अलंकार और वर्ण्यवस्तु ग्रहण कर लिया करते थे।

हां, उस कविता में एक अच्छी बात अवश्य थी। वह शब्द की दृष्टि से पूर्ण थी। एकलय ध्वनियों, उचित परिचित काव्यालंकारों और चित्ताकर्षक लयों ने उन उक्तियों को असाधारण रूप से प्रभावशाली बना दिया था। बहुत-सी अशोभन वर्ण्यवस्तु भी उस कविता में इन्द्रधनुषी परिधानों में सजा कर प्रस्तुत की गई है। अपनी कुछ मनोहरता—भावों की तीव्रता, मनःस्थितियों की विविधता, गीतात्मकता, आलंकारिता और शब्दावली—के लिए यह कविता फारसी तथा उर्दू-साहित्य की भी ऋणी रही है।

रीति-काव्य की इस परम्परा का आरम्भ चिन्तामणि त्रिपाठी-द्वारा, जिन्होंने सन् 1650 में 'कविकुलकल्पद्रुम' की रचना की थी, हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक असंख्य कवियों ने इसके विकास में योग दिया। इन कवियों में मतिराम, देव, रसलीन, दास और पद्माकर सबसे प्रसिद्ध थे।

उर्दू-साहित्य-धारा ने भी ऐसा ही मार्ग अपनाया। यद्यपि उर्दू-भाषा का उद्भव दिल्ली के आस-पास के इलाके में हुआ, तथापि इसका सर्वप्रथम साहित्य दक्षिण में रचा गया।

इस्लाम के सन्देश का प्रचार करने के आकांक्षी सूफी सन्त उर्दू-साहित्य के अग्रदूत बने। शीघ्र ही शिक्षित लोगों में कविता करने का रिवाज-सा चल पड़ा और इस प्रकार ऐसे अनेक कवि प्रकाश में आए, जिन्होंने उर्दू-भाषा का परिष्कार किया और अपनी कृतियों द्वारा इसे सम्पन्न किया। आरम्भिक कविता की भाषा चलती हुई तथा धरती की देन थी। बोलचाल की उस भाषा का अपनी मूल प्राकृत से घनिष्ठ सम्बन्ध था। कविता के वर्ण्य-विषय—उपदेशात्मक धर्मकथाएं, रहस्य-यात्रा की रूपकात्मक कथाएं, वीरगीत और प्रबन्ध, प्रणय, अनुराग और उद्यम—जीवन से लिए जाते थे और उनकी वर्णन-शैली स्वाभाविक तथा ओजपूर्ण थी।

इसके पश्चात् दक्षिण पर मुगलों ने आक्रमण कर दिया और अन्ततोगत्वा बहमनी-सुलतानों का शासन समाप्त हो गया। राजसंरक्षण से वंचित होकर कवि उत्तर की ओर बढ़े। वे उस समय दिल्ली पहुंचे, जब मुगल-साम्राज्य का सूर्यास्त हो रहा था। फिर भी, सर्वत्रव्यापी नैतिक ह्रास की उस अवधि में उर्दू-कविता का बिरवा अपनी जन्मभूमि में खूब पल्लवित हुआ। अठारहवीं शताब्दी में उर्दू भारत में सब ओर फैल गई और देश के सभी प्रान्तों में उर्दू के साहित्यिक केन्द्र स्थापित हो गए। जिस समय उत्तर-भारत पर अंग्रेजों का अधिकार हुआ, उस समय उर्दू ही वह सामान्य देशभाषा थी, जिसका प्रयोग सभ्य-समाज—मुस्लिम और हिन्दू—संस्कृति तथा सामाजिक विचार-विनिमय के माध्यम के रूप में किया करता था।

किन्तु इस भ्रष्ट युग में रचित साहित्य में वे सब दोष भी विद्यमान थे, जो तत्कालीन समाज को विरासत में मिले थे। इस युग की कविता अपरिपक्व तथा शब्दाडम्बर और आत्म-प्रवंचना से बोझिल थी। उसमें अभिव्यक्त भावना तुक के नकली बन्धनों में जकड़ी थी और अभिव्यक्त मनोदशा कभी ऐन्द्रिकता की ओर झुक जाती थी, तो कभी आध्यात्मिकता की ओर—अनुभूति की गहराई किसी भी दशा में न थी। निराशा-निरुत्साह के बादल उस पर छाए थे, वास्तविकता से पलायन में ही उसे विश्रान्ति मिलती जान पड़ती थी। फिर भी, समकालीन हिन्दी-कवियों की भांति, उर्दू-साहित्यकारों ने अपनी भाषा-शैली में अद्वितीय दक्षता प्रदर्शित की और उर्दू-भाषा को भावाभिव्यक्ति का आश्चर्यजनक रूप से समर्थ साधन बना दिया। उस समय उर्दू-काव्याकाश पर असाधारण आभा बिखेरने-वाले नक्षत्र थे—सौदा, मीर, मोमिन और गालिब।

यह अवश्य है कि उस युग के उर्दू तथा हिन्दी-कवि ऐसे कलानुरागी थे, जो अपरिष्कृत शब्दपिण्डों को तराशने, निखारने और जौहरियों की भांति उन्हें छवि तथा चमक की दृष्टि से उन काव्य-मालाओं के अनुकूल बनाने में ही अपनी सम्पूर्ण दक्षता का प्रयोग करते रहे, जिन्हें वे गूंथ रहे थे। अपने इस कार्य में वे इतने तल्लीन थे कि, वास्तव में, वे जीवन के यथार्थ आशय और साहित्य के उच्चतर लक्ष्य से ही भरम गए।

हिन्दी और उर्दू के सम्बन्ध में जो बात कही गई है, वह उत्तर तथा दक्षिण-भारत की अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में भी सत्य है। यह तथ्य, वास्तव में, उल्लेखनीय है कि भाषा, जाति तथा सम्प्रदायगत विभिन्नता के भीतर भी सम्पूर्ण देश में कैसे एक गहरी सांस्कृतिक एकता बनी रही। मध्य-कालीन भारत के साहित्यिक इतिहास को जिन दो भागों में बांटा जा सकता है, उनमें से प्रत्येक में हमें विश्व-विषयक दृष्टिकोण, मानवीय समस्याओं के विवेचन, विषय-वस्तु तथा विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से समानता ही दृष्टिगत होती है। पहली अवधि में रामायण, महाभारत और पुराण विषय-वस्तु के स्रोत बने रहे

और उपनिषदों, भगवद्गीता तथा भागवत ने जीवन-दर्शन को पोषित-पल्लवित किया। सभी भाषाओं में इन ग्रन्थों का अनुवाद अथवा रूपान्तर-द्वारा पुनःसृजन हुआ। तुलसीदास ने हिन्दी में, कृत्तिवास ओझा ने बंगला में, कम्बन ने तमिल में, भास्कर ने तेलुगु में, एलुत्तकन ने मलयालम में, मुक्तेश्वर ने मराठी में, गिरिधर ने गुजराती में, माधव कन्दलि ने असमिया में और बलराम ने उड़िया में या तो वाल्मीकि-रामायण को स्थानीय भाषा-शैली में रूपान्तरित किया अथवा उस कथा को अपनी कल्पना तथा श्रद्धाजन्य संशोधन-परिवर्तन-सहित प्रस्तुत किया। उर्दू तथा फारसी में भी रामायणें लिखी गईं। महाभारत तथा पुराणों से प्रेरित-प्रभावित होकर इन सभी भाषाओं के कवियों ने या तो उनका व्यापक रूप से, अथवा अंशतः, अनुवाद या रूपान्तर किया।

उपनिषदों, भगवद्गीता और भागवत ने सभी धर्मों के करोड़ों लोगों को सद्-जीवन व्यतीत करने के लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रेरणा दी। पूरे भारत के हिन्दू मूल संस्कृत या प्रादेशिक भाषाओं में किए गए उनके अनुवादों में ये ग्रन्थ पढ़ते रहे। यह स्वाभाविक था। किन्तु मुसलमान भी उन सूफियों की सहायता से इन तक पहुंच गए थे, जिन्होंने हिन्दू साधुओं के सत्संग या उन ग्रन्थों के अनुवादों-द्वारा उनमें निहित उपदेशों का परिचय पा लिया था। फैज़ी गीता का फारसी में पद्यानुवाद कर चुका था, दारा शिकोह ने पचास उपनिषदों का गद्यानुवाद कर दिया था और उसी के अनुरोध पर भागवत के दशम स्कन्ध का फारसी-रूपान्तर किया जा चुका था। बनवारीदास वली ने कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय' का फारसी में अनुवाद किया।

दूसरी अवधि में भी इसी प्रकार की प्रवृत्तिगत एकता दृष्टिगत होती है। तमिल के सम्बन्ध में डा० वरदराजन्-द्वारा की गई इस शिकायत की गूंज अन्य सभी भाषाओं के इतिहासकारों की उक्तियों में सुनी जा सकती है—"इस अवधि का साहित्य वैयाकरणों के पाण्डित्यदर्शी अभ्यासों और नीरस आत्म-प्रवंचना से भरा है और उस सरलता, स्पष्टता तथा संयम का अन्त हो गया है, जो पहली अवधि के साहित्य की विशेषताएं थीं। इस काल के अधिकतर कवि अपने कथानकों में ही नहीं, वर्णनों में भी दूसरों की कही बातें दोहराते या उनकी नकल करते जान पड़ते हैं। काव्य-विषयक अभिरुचि दूषित हो गई है और कवियों का मूल्यांकन उनके अनुप्रास की झंकार तथा उनकी छन्द-विषयक बाज़ीगरी के आधार पर किया जाता है। हमें ऐसे वास्तविक प्रतिभाशाली लेखक भी दिखाई पड़ते हैं, जो मौलिक कृतियां प्रस्तुत करने में समर्थ हैं, किन्तु जिनकी संख्या बहुत ही कम है। इन विशिष्ट कवियों की कृतियों में भी अव्यवस्थित कल्पनाओं तथा अतिशयोक्तियों के प्रति बालोचित दिलचस्पी दिखाई पड़ती है। इस अवधि की अनेक कृतियों में कला से कहीं अधिक कृत्रिमता है और इसीलिए उनमें से अनेक विस्मृति के अन्धकार में विलीन हो गई हैं।"[1]

इस समय के तेलुगु-साहित्य के सम्बन्ध में डा० सीतापति का कथन है : "उत्कृष्ट काव्य विलीन हो गया और ह्रास का युग आरम्भ हो गया।"[2] श्री आद्य रंगाचार्य के मतानुसार, "अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक कन्नड़-भाषा की सत्ता समाप्त हो गई।"[3]

---

1. 'इण्डियन लिटरेचर', सम्पादक डा० नगेन्द्र तथा अन्य महानुभाव, पृष्ठ 47
2. वही, पृष्ठ 96
3. वही, पृष्ठ 166

मराठी में लावणियां अत्यन्त लोकप्रिय हो गईं और आध्यात्मिक प्रेम तथा श्रद्धा का अंकन भी लौकिक प्रेम-प्रसंग के निकृष्ट ढंग पर किया गया। श्रीमती देशपांडे का कथन है : "स्पष्ट था कि ह्रास का आरम्भ हो गया था। आध्यात्मिक विदग्धता कुण्ठित होती जा रही थी, भक्ति का आवेश मंद पड़ रहा था और सैनिक जीवन का उमंग-उत्साह उतार पर था। साहित्य पर पेशवाओं के बाद के दिनों की मन्थर विषयासक्ति और पाण्डित्यपूर्ण आलंकारिकता अधिकार करती जा रही थी।"[1] त्रिवेदी के कथनानुसार"[2] गुजरात में "सन् 1790 से लेकर अंग्रेजों के आगमन तक जीवन ह्रासोन्मुख था" और दयाराम की उत्कृष्टता भी उसका उद्धार न कर सकी। अठारहवीं शताब्दी की बंगला-कविता के सम्बन्ध में डा० एस० के० बनर्जी का मत है कि "वह विषय-वस्तु तथा शैली, दोनों ही दृष्टि से पुराने प्रतिमानों का निर्जीव भार वहन कर रही थी।"[3] असमिया-साहित्य में "प्रधानतः भौतिक स्वर मुखर हो गया था" और "असमवासियों के इस नीरस काल में शृंगारप्रधान तथा प्रशंसात्मक पद्यों" का प्राचुर्य रहा।"[4] उर्दू और हिन्दी में भी यही दोष दिखाई पड़े।

सर्वत्रव्यापी उस अन्धकार में आलोकसूचक विशिष्टता यही थी कि उस अवधि में अलंकारशास्त्र, रीति तथा शैली के उन महान् आचार्यों का उदय हुआ, जो विचारों की दृष्टि से कितने ही निर्धन क्यों न रहे हों, भाषा पर सर्वोपरि अधिकार रखते थे। उन्होंने जिन भाषाओं में रचना की, उन्हें परिष्कृत तथा विकसित करके भावी आवश्यकताओं की पूर्ति का उपयुक्त साधन बना दिया। इस प्रकार वे एक अस्तोन्मुख युग के प्रतिनिधि और एक उदयोन्मुख युग के अग्रदूत सिद्ध हुए। उनका साहित्यिक कृतित्व भारत की सांस्कृतिक एकता का अकाट्य प्रमाण है। यदि विचारों के क्षेत्र में हिन्दू और मुस्लिम विद्वानों के बीच अलंघ्य खाई न होती और कार्यशीलता के क्षेत्र में राष्ट्रभावना का अभाव न होता, तो यह एकता और भी अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती।

---

1. 'इण्डियन लिटरेचर', सम्पादक डा० नगेन्द्र तथा अन्य महानुभाव, पृष्ठ 252
2. वही, पृष्ठ 231 और 334
3. वही, पृष्ठ 386
4. डा० बरुआ और गोस्वामी, वही, पृष्ठ 439

छठा अध्याय

भारत में अंग्रेज़ी राज की स्थापना

भारत का जलमार्ग

वास्को द गामा-द्वारा भारत के लिए जलमार्ग की खोज से एशिया और यूरोप के सम्बन्धों के इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। इस खोज का तात्कालिक प्रभाव यह पड़ा कि पूर्वी अफ्रीका और एशियायी देशों—अरब, ईरान और भारत—के निकटवर्ती समुद्रों पर से तुर्की सत्ता समाप्त हो गई।

परन्तु इस खोज के दो सौ से अधिक वर्ष बाद तक पश्चिमी जातियों की समुद्री गतिविधियां केवल तटीय व्यापार तक सीमित रहीं। उन्होंने समुद्रों पर अधिकार कर लिया; किन्तु, अनातोलिया, ईरान और भारत के अन्तर्देशीय भागों में तुर्कों, सफावियों और मुगलों ने ऐसी प्रभावशाली साम्राज्य-व्यवस्थाएं कायम कर रखी थीं कि उनसे पश्चिमी देशों के साहसी व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाओं पर रोक लग गई।

इन दो शताब्दियों—अर्थात् सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी—में एशिया की कीर्ति चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। परन्तु उसकी वह सफलता ही उसके पतन का कारण बनी। जानी-मानी रीतियों को बदलना असम्भव हो गया, परम्पराएं निर्धारित कर दी गईं और मस्तिष्क अपनी ही चहारदीवारी में बन्दी बन गया। तत्कालीन आर्थिक ढांचे के कारण समाज में छोटे-छोटे स्वतन्त्र एकक बन गए और इससे लोग संकीर्ण दायरे में ही आबद्ध रहने लगे। आन्तरिक स्वतन्त्रता का बाहरी सत्ता तथा भोगाधिकार से मेल हो गया। आलोचना और मतभेद पाप समझे जाने लगे।

दूसरी ओर, पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में स्वतन्त्रता की हवा चलने लगी। समय के साथ-साथ वह फैलती गई, साथ ही उसकी शक्ति भी बढ़ती गई। पुनर्जागरण ने बुद्धि की बेड़ियां तोड़ डालीं, सुधार-आन्दोलन ने मस्तिष्क को धर्माचार्यों के अत्याचारों से मुक्ति दिलाई, व्यापारिक तथा औद्योगिक क्रान्तियों से समाज का आधार व्यापक बना और राजनीतिक परिवर्तनों से राष्ट्रीय राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ। ज्ञान की वृद्धि से प्रकृति को वश में किया जाने लगा। नई अनुभूतियों के उदय से मानव-बन्धुत्व के नए क्षितिज सामने आए। सामन्त-युगीन निष्क्रियता जाती रही। जीवन में गतिशीलता आई और मनुष्य अपने-आपको ऊंचा उठता हुआ अनुभव करने लगा।

तुर्क मुसलमानों का पूरब की ओर से ईसाई यूरोप में बढ़ना और अफ्रीका के इर्द-गिर्द ईसाइयों-द्वारा मुसलमानों का पीछा किया जाना पन्द्रहवीं शताब्दी के दो समानान्तर आन्दोलन थे, जिनका एक-समान विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा। इन आन्दोलनों के कारण पूरब के गतिहीन समाजों और पश्चिम के प्रगतिशील राज्यों के बीच भीषण संघर्ष हुआ। दो ऐसी सामाजिक व्यवस्थाओं के संघर्ष में, जिनमें से एक की बौद्धिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षमता दूसरी से अधिक हो, ऊर्जा का वेग उनके स्तरों के अन्तर के आधार पर निश्चित किया जाता है।

वास्को द गामा इस आन्दोलन का अग्रदूत था। वह आक्रमणशील यूरोप का

अगुआ था। परन्तु पुर्तगाल अर्थात् वह देश, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता था, इस आन्दोलन को अधिक समय तक चलाए रखने में असमर्थ रहा। इस प्रकार, पुर्तगाल दौड़ में पीछे रह गया और नेतृत्व अधिक शक्तिशाली हाथों में चला गया। हालैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड पुर्तगाल और स्पेन के प्रतिद्वन्द्वी बन गए और इन तीनों के सम्मिलित दबाव से बाध्य होकर उन दोनों को मैदान छोड़ना पड़ा। इसके बाद इन तीनों—हालैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड—में भी प्रतियोगिता की भावना पैदा हो गई, क्योंकि इनमें उस ज़बर्दस्त लाभ के लिए होड़ लग गई थी। अन्त में, फ्रांस और हालैण्ड को भारत से निकाल बाहर करने में इंग्लैण्ड सफल हुआ, हालांकि इण्डोनेशिया के द्वीपों पर हालैण्ड का अधिकार बना रहा और हिन्दचीन पर फ्रांस ने अपना अधिकार जमा लिया।

जिस ढंग से अंग्रेज़ों ने भारत के तटवर्ती प्रदेशों में आने का साहस किया, विनम्र व्यापारियों की तरह अपना व्यापार करते हुए डेढ़ सौ वर्ष तक धैर्य से इन्तज़ार किया और जब भारत की राजनीतिक सत्ता कमज़ोर होने लगी, तब देश को अपने अधिकार में कर लिया, वह मानव-इतिहास की एक अद्‌भुत घटना है। उसे समझने के लिए यूरोप की उस समय की विचारधारा और प्रचलित रीति-रिवाजों की समीक्षा आवश्यक है।

यूरोप में वाणिज्यवाद

सोलहवीं शताब्दी में यूरोप ने अपनी मध्य-युगीन कृषि-व्यवस्था छोड़ दी थी और वह वाणिज्य-युग में प्रवेश कर चुका था। इसका अर्थ था: व्यापारी पूंजीपति अथवा पूंजीवादी मध्य-वर्ग नागरिक धनिकतन्त्र का आविर्भाव।

वाणिज्यवाद केवल एक आर्थिक सिद्धान्त, एक विचारधारा या एक जीवन-दर्शन नहीं था, वह समाज का एक प्रतिमान था।

वाणिज्यवादी व्यवस्था मध्य-युगीनता के स्थान पर आधुनिकता और सामन्ती अराजकता के स्थान पर राष्ट्रीय एकता की सूचक थी। उससे कृषि, उद्योग और व्यापार में सहकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। कृषि के सम्बन्ध में जागीरदारी-प्रथा के टूटने से और उद्योग तथा वाणिज्य को शिल्प-संघों के कठिन नियमों से छुटकारा मिलने से उत्पादन और सहकारी व्यापार में वृद्धि हुई। देश के सामूहिक हितों के सामने स्थानीय या वर्गीय हित गौण पड़ गए। नागरिक रीतियों और कार्य-प्रणालियों के स्थान पर सारे देश के लिए एक-जैसे कानून बनाए गए। गांव और नगर की आत्मनिर्भरता राष्ट्र की व्यापक आत्मनिर्भरता का ही अंग बन गई। एक ओर वाणिज्यवाद से व्यक्तिगत स्वाग्रह की पूर्ति हुई, और दूसरी ओर, उससे लोगों के बीच सहयोग बढ़ा। यह दोहरा विकास उस-उद्यमी-वर्ग के उदय के रूप में परिलक्षित हुआ, जिसके कौशल, दूरदर्शिता और उद्यम के साधनों का अधिक अच्छा उपयोग किया गया, तकनीकों में सुधार हुआ, नए कारखाने तथा मंडियां खुलीं और साथ ही संयुक्त उद्योग स्थापित किए गए तथा विदेशों में व्यापार करने के लिए पूंजी जुटाई गई। इसके परिणामस्वरूप बैंकों, ऋण देनेवाली संस्थाओं, राष्ट्रीय उद्योग और विदेशी व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला। श्रमिक गतिशीलता बढ़ी और श्रम तथा उद्योग में अधिक विशेषज्ञता प्राप्त की जाने लगी। छोटे उत्पादकों का स्थान बड़े उद्योगपतियों, सौदागर राजकुमारों और पूंजीपतियों ने ले लिया।

वाणिज्यवाद ने एक नई आचार-संहिता प्रस्तुत की। मध्य-युग में अर्थशास्त्र

धर्म और नैतिकता से पृथक् न था और वह ईसाई धर्म-व्यवस्था (चर्च) के आदेशों के अनुसार ही चलता था। अब प्रवुद्ध स्वार्थ ने धर्म और नैतिकता का स्थान ले लिया। "सामाजिक कारण-कार्य-सम्बन्ध के अपरिवर्तनीय कानूनों के प्रति आस्था, अर्थात् एक ऐसे युक्तिवाद" ने ईसाई धर्म-व्यवस्था तथा धर्म-सिद्धान्तों का स्थान ले लिया, "जिसका सहज परिणाम नितान्त अनैतिक और अमानवीय सामाजिक जीवन-दर्शन होता है।"[1] इसके वाद 'लैसे फेयर' की कथा प्रचलित हुई और ऐडम स्मिथ के ग्रन्थ 'द वेल्थ ऑफ नेशन्स' में उन्मुक्त व्यापार को अभिव्यक्ति मिली। ऐडम स्मिथ का कहना है, "कसाई, कलाल और कांदविक (नानवाई) की कृपा के कारण नहीं, उनके अपने स्वार्थ के कारण ही हमें अपना आहार प्राप्त होता है; हम खुद से उनकी मानवता की नहीं, उनके आत्मप्रेम की ही वात करते हैं; और उनसे अपनी आवश्यकताओं की नहीं, सदा उन्हीं के लाभ की वातें करते हैं।"[2] इस प्रकार, आत्मप्रेम को मानव-समाज के पारस्परिक आचार-व्यवहार के नियामक सिद्धान्त के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। ऐडम स्मिथ ने आगे लिखा है, "मनुष्य का आत्मप्रेम ईश्वरीय वरदान है।" नई संहिता ने सभी उपायों को उनके परिणामों के आधार पर न्यायोचित ठहराया। इसका फल यह हुआ कि "सभी चिर-प्रतिष्ठित प्रथाओं तथा मानवीय आवश्यकताओं को त्याग देने के अपने आग्रह में वे (व्यापारी) और अधिक उग्र हो गए···उन्हें उत्पीड़न के प्राय: सभी चिर-प्रचलित उपाय उपलब्ध हो गए।"[3]

धार्मिक सत्ता के चंगुल से छुटकारा पाने के वाद प्रत्येक व्यक्ति को राज्य-सत्ता पूरी तरह शिरोधार्य करनी पड़ी। "जवकि मध्य-युग में मानवीय कार्य-कलाप का लक्ष्य मानवीय आत्माओं की मुक्ति माना गया और आर्थिक उदारतावाद ने व्यक्तियों के भौतिक कल्याण को ही अपना चरम उद्देश्य वताया, वाणिज्यवादी राजनेताओं तथा लेखकों ने राज्य के प्रजाजन को ही अपनी लक्ष्य-प्राप्ति का साधन ठहराया और वह लक्ष्य था, स्वयं राज्य की सत्ता-महत्ता।"[4]

इस प्रकार, वाणिज्यवाद ने राज्य के अधिकारों पर लगे धार्मिक प्रतिवन्ध दूर करने में मदद की और 'लेवियाथन' (सर्वप्रभुता-योग्यता-सम्पन्न सत्ताधारी) अस्तित्व में आया। ठीक उसी समय इस नवजात की जन्मभूमि का यशोगान करने और इसकी जन्म-कुण्डली वनाने के लिए टामस हाव्स सामने आए।

मध्य-वर्ग को अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए जिस राजनीतिक प्रणाली की ज़रूरत थी, उसी का चित्र टामस हाव्स-द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस प्रणाली में राज्य को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त थी—ऐसी अधिकार-सत्ता, जो मध्य-युग की दोनों प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों—अर्थात् ईसाई धर्म-व्यवस्था और कुलीनतन्त्र—से गुरुतर थी। धर्म-व्यवस्था के शक्तिहीन होने के कारण उसके वे निरोधात्मक नियम थे, जिनसे व्यक्तियों की

---

1. ई० एफ० हेक्शर, 'मरकेंटाइलिज़्म', 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइंसेज़', खण्ड 10, पृष्ठ 338

2. ऐडम स्मिथ, 'द वेल्थ ऑफ नेशन्स' (आधुनिक पुस्तकालय-संस्करण), पृष्ठ 14

3. ई० एफ० हेक्शर, 'मरकेंटाइलिज़्म', पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 339

4. वही, पृष्ठ 335

पहल करने की भावना पर रोक लग जाती थी; और कुलीनतन्त्र की शक्ति इस कारण छिनी कि वह अमन-चैन में बाधक होता था। हाब्स ने एक ऐसे धर्म-निरपेक्ष राज्य की परिकल्पना की थी, जिसके पास असीम शक्ति हो, ताकि वह ऐसी परिस्थिति बनाए रख सके, जिसमें मध्य-वर्ग के लोग देश तथा विदेशों में अपने भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें। यही उस समय की मांग भी थी।

वाणिज्यवाद का मुख्य उद्देश्य था, राष्ट्र का भौतिक वैभव। उसकी चिन्तन-पद्धति धर्म-निरपेक्ष थी और दृष्टिकोण वैज्ञानिक। उसमें मनुष्य के इर्द-गिर्द की दुनिया के बारे में नई जागरूकता—भौगोलिक खोज, खगोल-विज्ञान और प्रकृति की शक्तियों तथा प्रकृति-तन्त्र के सम्बन्ध में नई दिलचस्पी—निहित थी और उसने चिन्तन तथा कर्म के क्षेत्र में तर्क-प्रयोग का समर्थन किया।

सन् 1645 में रायल सोसाइटी की स्थापना इस मनोवृत्ति की उचित अभिव्यक्ति थी। उसके इतिहासकार, रोचेस्टर के पादरी टामस स्प्राट, ने लिखा है, "सामान्यतः अब लोग प्राचीन काल के अवशेषों से उकता गए हैं और धार्मिक झगड़ों से उनका पेट भर गया है।...अब सब जगह ज्ञान की चाह और भूख जाग उठी है।"[1]

वाणिज्यवादी दर्शन का अनुसरण करनेवाले मध्य-वर्ग का उस युग की राजनीति में प्रमुख हाथ था। वे लोग शक्ति और सम्पत्ति के अपने दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य की नीतियां निर्धारित करने में अपना प्रभाव डालते थे। उद्योगों के विस्तार को प्रोत्साहन देने, विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण देकर उत्पादन को बढ़ावा देने और आन्तरिक प्रतिबन्ध हटाने के लिए उन्हें राज्य-सत्ता की आवश्यकता थी। उद्देश्य यह था कि निर्मित वस्तुओं का आयात बन्द करके और उन वस्तुओं का निर्यात बढ़ा कर देश को आत्मनिर्भर बनाया जाए। वाणिज्यवादियों ने मूल्यवान धातुओं—सोना और चांदी—के आयात को प्रोत्साहन दिया, क्योंकि इस प्रकार वस्तुओं की कीमतें बढ़ा कर लाभ की मात्रा बढ़ाई जा सकती थी; श्रेष्ठतर युद्ध-सामग्री से सज्जित और अधिक बड़ी सेना का प्रबन्ध करने के लिए राज्य की सामर्थ्य बढ़ाने में भी इससे सहायता मिलती थी। इस प्रकार, लोगों में यह विचार घर करने लगा कि मुद्रा ही धन है और इसलिए निर्यात को सन्तुलित रखने के लिए मूल्यवान धातुओं का आयात होना चाहिए। वाणिज्यवादियों का विश्वास था कि विश्व-व्यापार का परिमाण निश्चित है। अतः, एक राष्ट्र के पास धन होने का अनिवार्य अर्थ है, अन्य राष्ट्रों की निर्धनता।

जहां तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सम्बन्ध था, वे ऐसे बहिष्कारवादी थे, जो मंडियों को अपने प्रतियोगियों से मुक्त रखने के लिए लड़ने तक में संकोच नहीं करते थे। वे अपने देशवासियों के बीच भी प्रतियोगिता नहीं होने देना चाहते थे, क्योंकि प्रतियोगिता से लाभ की मात्रा कम होने की सम्भावना रहती थी। इसके कारण अन्य विशेषाधिकारों, विशेष रिआयतों और एकाधिकारों की मांग की जाने लगी। ऐसी मंडियों की कामना, जहां तैयार माल महंगा बेचा जा सके और कच्चा माल सस्ता खरीदा जा सके, निस्सन्देह उपनिवेशवाद की विजय और आधिपत्य की सूचक थी।

इस प्रकार, वाणिज्यवादी आर्थिक क्रिया-कलाप में हाब्स-द्वारा प्रतिपादित

---

1. देखिए, 'द हिस्टरी ऑफ द रायल सोसाइटी', 1667, पृष्ठ 152; ई॰ लिपसन-द्वारा 'द इकोनामिक हिस्टरी आफ इंग्लैण्ड', खण्ड 2, पृष्ठ 43 पर उद्धृत

प्राकृतिक अवस्था के विधानों का स्वागत किया गया। व्यापार तलवार के ज़ोर से किया जाता था और उसका परिणाम यह निकला कि यूरोप के सभी राज्यों के बीच सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक निरन्तर वाणिज्यिक युद्ध होता रहा। अंग्रेज़ समुद्री कप्तानों ने उन समुद्रों में भाग-दौड़ आरम्भ कर दी, जिन पर पुर्तगाली तथा स्पेनवासी अपना दावा जताते थे और वे अतलांतिक तथा हिन्द-महासागरों में तस्कर व्यापार एवं डकैती के काम में जुट गए। धन-सम्पत्ति और माल से लदे जहाज़ लूट कर कब्ज़े में ले लिए जाते थे और हिंसात्मक तरीकों से अपार सम्पत्ति हड़प ली जाती थी। हाकिन्स पश्चिम-अफ्रीका के तटवर्ती प्रदेशों से गुलामों को पकड़ कर अमेरिका भेजता था और इस प्रकार अत्यधिक लाभ कमाता था। इसी तरह, ड्रेक और फ्रोबिशर तथा गिलबर्ट और रैले समुद्रों में चक्कर काटते थे, अवैध व्यापार करते थे, जहाज़ों में डाका डालते थे, लूट का माल ले जाते थे और अंग्रेज़ी उपनिवेश स्थापित करने के उद्देश्य से प्रदेश हड़पते थे।

उपनिवेशों की स्थापना से वाणिज्यवाद का उद्देश्य पूरा हुआ, क्योंकि कुछ प्रमुख उद्योगों—जैसे, जहाज़-निर्माण—के लिए कच्चा माल उपलब्ध करके इंग्लैण्ड के अपर्याप्त साधनों को पूरा करने के लिए इन उपनिवेशों की आवश्यकता थी। आम राय यह थी कि "उपनिवेशों का अस्तित्व उनकी स्थापना करनेवाले देशों के लिए उस 'अथाह धन-भंडार' के रूप में है, जिसका प्रयोग वे अपनी बनी वस्तुओं के उपभोग और ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के लिए कर सकते हैं, जिनसे विदेशी वस्तुओं की खरीद के कारण होनेवाला धन-ह्रास रोका जा सके।"[1]

अमेरिका और आयरलैण्ड में बसाई गई बस्तियां उपनिवेशवादी पद्धति की सबसे अच्छी मिसाल हैं। जिस आदर्श पर यह पद्धति आधारित थी, वह था "स्वतःपूर्ण और आत्मनिर्भर साम्राज्य, जिसमें बस्ती बसानेवाला देश सभी ज़रूरी वस्तुएं बनाता था और उपनिवेश कच्चा माल तथा उष्ण प्रदेशों में इस्तेमाल की जानेवाली विलास की वे वस्तुएं तैयार करते थे, जो उस समय तेज़ी से सभ्य जीवन की आवश्यकताएं बनती जा रही थीं।"[2]

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ब्रिटिश संसद् ने लगातार ऐसे कई अधिनियम पास किए, जिनसे औपनिवेशिक व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने की एक निश्चित प्रणाली का जन्म हो सके।... केवल अंग्रेज़ों के जहाज़ और अंग्रेज़ प्रजाजन ही उपनिवेशों के साथ व्यापार कर सकते थे, उपनिवेशों में रहनेवाले लोगों का अधिकतर निर्यात और सारा आयात अंग्रेज़ों की बन्दरगाहों से ही हो सकता था और अन्तःमहाद्वीपीय व्यापार पर कुछ शुल्क लगा दिए गए थे।"[3] अमेरिकी उपनिवेशों में राजनीतिक पाबन्दियां लगा दी गईं। "प्रतिनिधित्व समाप्त कर दिया गया; प्रशासन करने, कानून बनाने और कर लगाने का सारा अधिकार गवर्नर और परिषद् (कौंसिल) को दे दिया गया।"[4] गवर्नर

1. ई० लिपसन, 'द इकोनामिक हिस्टरी ऑफ इंग्लैण्ड', खण्ड 3, पृष्ठ 155
2. जे० ए० विलियमसन, 'ए शार्ट हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश एक्सपेंशन', पृष्ठ 424
3. 'द कैम्ब्रिज माडर्न हिस्टरी', खण्ड 7, पृष्ठ 28
4. वही, पृष्ठ 29

को इंग्लैण्ड का सम्राट् मनोनीत करता था और कौंसिल में जो जगहें होती थीं, वे गवर्नर-द्वारा भरी जाती थीं।

आयरलैण्ड में स्थिति और भी खराब थी। सन् 1494 में पोयनिंग्स कानून लागू करके आयरलैण्ड की संसद् की स्वतन्त्रता कम कर दी गई थी। ट्यूडर-शासन में सुधार-आन्दोलन चलाया गया और हठधर्मी सरदारों का दमन किया गया। जब उपद्रव होते थे, तब उन्हें बड़ी निर्दयता से कुचल दिया जाता था। उपद्रवियों की ज़मीन-जायदाद ज़ब्त कर ली जाती थी और उन्हें अंग्रेज़ प्रोटेस्टेण्टों को दे दिया जाता था। आयरलैण्ड से इंग्लैण्ड में पशुओं का आयात रोक दिया गया था। इसी तरह, वहां से सूत, चमड़े और पनीर का भी आयात बन्द कर दिया गया था। आयरलैण्ड को अपना ऊनी कपड़ा विदेशों को भेजने की मनाही थी, ताकि वह अंग्रेज़ी कपड़े से होड़ न लगा सके। इस प्रकार, आयरलैण्ड में वस्तु-निर्माण का विनाश हो गया। अल्स्टर के छः देशों ने इंग्लैण्ड के बगानों का रूप ग्रहण कर लिया और आयरलैण्ड धराशायी होकर इंग्लैण्ड के पैरों पर आ पड़ा।

वाणिज्यवाद, जो सामाजिक-आर्थिक विकास की उच्चतर अवस्था का प्रतीक था, चरम कोटि के सहज स्वार्थ और अधिकतम हिंसा के वातावरण में आगे बढ़ता गया। ऐडम स्मिथ का कहना है, "सामन्तवादी प्रथाओं की सारी ज़ोर-ज़बर्दस्ती से जो काम कभी नहीं हो सकता था, वह विदेशी व्यापार और उत्पादकीय मूक और अलक्ष्य प्रक्रिया से धीरे-धीरे हो गया।"[1] अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी वाणिज्यवाद की प्रतिनिधि-देन थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी

कम्पनी की स्थापना वाणिज्यिक उद्यम की एक लम्बी प्रक्रिया की परिणति थी। बहुत पहले, अर्थात् सन् 1313 में, ही 'फेलोशिप आफ स्टेपल्स' की स्थापना हो चुकी थी, जिसका ऊन के व्यापार पर एकाधिकार था। एक शताब्दी बाद (सन् 1407 में) 'कम्पनी आफ मर्चेण्ट ऐडवेंचरर्स' स्थापित की गई, जो ऊन की बजाय ऊनी कपड़े का व्यापार करती थी और जो इंग्लैण्ड के वस्तु-निर्माण-युग में प्रविष्ट होने की सूचक थी।

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ से कम्पनियां खोलने का तरीका बड़ी तेज़ी से बढ़ निकला। इस शताब्दी के मध्य में 'मस्कोवी कम्पनी' की स्थापना हुई, जो अपने ढंग की पहली कम्पनी थी। इसके बाद कई कम्पनियों—सन् 1567 में अफ्रीकन कम्पनी, 1577 में स्पेनिश कम्पनी, 1578 में ईस्टलैण्ड कम्पनी और 1581 में तुर्की कम्पनी—ने व्यापार के लिए सम्राट् से शासपत्र (चार्टर) प्राप्त किए। सन् 1592 में 'तुर्की कम्पनी' का 'लेवेंट कम्पनी' में विलय हो गया। अन्त में, दिसम्बर 1600 में महारानी एलिज़बेथ ने "हमारे राष्ट्र की प्रतिष्ठा, हमारे लोगों के धन-वैभव" के विचार से ईस्ट इण्डिया कम्पनी को शासपत्र दिया। शासपत्र में कम्पनी का प्रबन्ध उसके शाही निकाय-द्वारा किए जाने की व्यवस्था थी, जिसमें गवर्नर, डिप्टी गवर्नर और समिति के चौबीस सदस्य थे। पर कम्पनी की आन्तरिक व्यवस्था का अधिकार सम्राज्ञी तथा प्रिवी-कौंसिल के हाथों में रहा। सम्राज्ञी के परमाधिकार का प्रयोग करते हुए जारी

---

1. ऐडम स्मिथ, 'द वेल्थ ऑफ नेशन्स', पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 338

किए गए शासपत्र-द्वारा कम्पनी को पन्द्रह वर्ष की अवधि के लिए सम्पत्ति रखने, अपने सदस्यों तथा कर्मचारियों में अनुशासन बनाए रखने और व्यापार का अनन्य विशेषाधिकार दे दिया गया।

एलिज़बेथ ने कम्पनी में बड़ी दिलचस्पी दिखाई और उसे अंशदान भी दिया। इस प्रकार शुरू की गई कम्पनी उस समय की वाणिज्यिक विचारधारा की सच्ची प्रतीक थी। उसे भारत में स्थायी रूप से शस्त्रों से लैस होकर व्यापार करने के लिए राजकीय एकाधिकार—"बड़े-से-बड़े पैमाने पर सशस्त्र समुद्री व्यापार और विस्तार तथा आत्मरक्षा का पूर्णतम अधिकार"[1]—प्राप्त था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास वैविध्यपूर्ण रहा। अपनी स्थापना के पहले सौ वर्षों में उसे तीन तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ा। पहले प्रकार की समस्याएं शाही परमाधिकार पर आधारित एकाधिकार के कारण पैदा हुईं, क्योंकि कम्पनी की स्थापना के फौरन बाद शाही राजवंश बदल गया और स्टुअर्ट-वंशियों के राजगद्दी पर बैठते ही जनता और नरेशों में राजनीतिक संघर्ष छिड़ गया।

(1) पहली समस्या—ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आन्तरिक कठिनाइयां

जेम्स प्रथम (1603-25) ने कम्पनी का समर्थन भी किया और उसे संरक्षण भी दिया। उसने सन् 1609 में एलिज़बेथ के शासपत्र का नवीकरण कर दिया, उसकी अवधि को पन्द्रह वर्ष से बढ़ा कर हमेशा के लिए कर दिया और इस प्रकार कम्पनी की स्थिति को सुदृढ़ बना दिया। बाद में उसने हिस्सेदार बनने की भी इच्छा व्यक्त की और शाही प्राधिकार-द्वारा कम्पनी की सहायता करनी चाही। पर कम्पनी इस झंझटवाली साझेदारी से बचती रही।

जेम्स प्रथम के शासन-काल में ही कम्पनी का एकाधिकार तोड़ने के प्रयत्न किए जाने लगे थे। चार्ल्स प्रथम (1625-49) ने अपनी संसद् से झगड़ा किया और कम्पनी के भी प्रति उसका समर्थन द्विविधापूर्ण ही रहा। उसे धन की बहुत आवश्यकता रहती थी, इसलिए उसने एक प्रतिद्वन्द्वी कम्पनी—'कोर्टेन्स एसोसिएशन'—को पूर्वी भारत में व्यापार करने का लाइसेंस देकर प्रोत्साहित किया। इसके बाद दोनों में लम्बा संघर्ष हुआ, जिसका निबटारा आगे चल कर क्रामवेल ने एक नया शासपत्र जारी करके किया। इस नए शासपत्र-द्वारा कम्पनी को एक स्थायी तथा संयुक्त पूंजी-निगम बना दिया गया और उसके सभी प्रतिद्वन्द्वी मिटा दिए गए।

यद्यपि चार्ल्स द्वितीय के फिर से गद्दी पर बैठने पर क्रामवेल की कृपाएं द्विविधाजनक सिद्ध हुईं, तथापि कम्पनी ने अत्यधिक वफादारी दिखा कर तथा ऋणों के रूप में नरेश को बड़े-बड़े उपहार देकर शासन की सद्भावना प्राप्त कर ली। इसके बदले में चार्ल्स द्वितीय ने कई शासपत्र जारी किए, जिनसे कम्पनी के एकाधिकार की गारंटी दी गई। उसने कूटनीति और युद्ध से कम्पनी के लिए सम्पत्ति प्राप्त की और उसके अधिकार बढ़ा दिए, जिनमें किलेबन्दी करना और उनकी रक्षा के लिए वहां सैनिक ले जाना उल्लेखनीय हैं। उसका सबसे अधिक कृपापूर्ण कार्य था बम्बई के बन्दरगाह का हस्तान्तरण, जहां से सारे पश्चिमी तट का नियन्त्रण होता था। इस प्रकार, बम्बई एक उपनिवेश बन गया,

---

1. डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर, 'ए हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 1, पृष्ठ 253

जिसे सैनिक अड्डे के रूप में काम में लाकर कम्पनी बंगाल की खाड़ी से लेकर मध्य-अतलांतिक तक शस्त्रों के बल पर अधिकार जताने की स्थिति में हो गई।

स्टुअर्ट-शासन की समाप्ति तक कम्पनी "राष्ट्र से भिन्न एक संस्था बन चुकी थी। फिर भी, उसे भारत में मुद्रा ढालने, कर लगाने, बन्दरगाह बनाने, सेनाएं रखने और युद्ध या सन्धि करने के राष्ट्रीय अधिकार प्राप्त थे।"[1] उसके कार्य-व्यापार ने बड़ी तेज़ी से प्रगति की। लाभ की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हुई और उसके हिस्सों का मूल्य 100 पौंड प्रति हिस्से से बढ़ कर 360 पौंड और सन् 1683 में 500 पौंड हो गया। उसके व्यापार का मूल्य इतना अधिक बढ़ गया था कि कम्पनी पर "राष्ट्र के व्यापार का आधे से भी अधिक भाग"[2] हड़प लेने का अभियोग लगाया गया।

सन् 1688 की क्रान्ति से सम्राट् की सत्ता संसद् को हस्तान्तरित की गई। कम्पनी के एकाधिकार के सम्बन्ध में पुरानी शिकायत फिर से दोहराई गई। कम्पनी के डायरेक्टरों ने कम्पनी को भंग होने से बचाने के लिए अथक परिश्रम किया और मन्त्रियों तथा 'कोर्ट' के सदस्यों को रिश्वत के रूप में मोटी-मोटी रकमें दीं। फिर भी, संसद् ने सन् 1698 में एक अधिनियम पास किया, जिससे एक नई ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना हुई। इससे एक विचित्र स्थिति पैदा हो गई, क्योंकि इससे उन दोनों कम्पनियों के बीच खुला संघर्ष शुरू हो गया, जिनमें से एक शाही शासपत्रों पर आधारित थी और दूसरी संसदीय अधिनियम पर। दोनों कम्पनियों के बीच दस वर्ष तक संघर्ष चलता रहा और तब सन् 1708 में गोडोल्फिन-पंचाट के अनुसार दोनों का विलय कर दिया गया।

संयुक्त कम्पनी वाणिज्यवादी पद्धति के सभी लक्षणों अर्थात् एकाधिकार, सशस्त्र व्यापार और उपनिवेशवाद की प्रतिरूप थी। "ईस्ट इण्डिया कम्पनी केवल अंग्रेजों का व्यापार बढ़ाने के लिए बनाई गई कम्पनी नहीं लगती थी, वास्तव में वह मानो पूर्व में भेजा गया एक प्रतिनिधिमण्डल था, जिसे इस साम्राज्य की सारी शक्ति और प्रभुसत्ता दे दी गई थी।"[3]

(2) दूसरी समस्या—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रतिद्वन्द्वी

यदि कम्पनी की पहली किस्म की कठिनाइयां भारत में व्यापार का एकाधिकार बनाए रखने के लिए किए गए प्रयत्नों के कारण पैदा हुईं, तो दूसरी किस्म की कठिनाइयों का कारण यह था कि कम्पनी ने सशस्त्र व्यापारियों के रूप में काम किया। सशस्त्र व्यापार की धारणा इस विश्वास में अन्तर्निहित थी कि किसी देश की, अपने को समृद्ध बनाने की इच्छा दूसरों के मूल्य पर ही पूरी हो सकती है।

पूर्व-भारतीय वाणिज्य के क्षेत्र में पुर्तगालियों का स्थान सर्वप्रथम था। उन्होंने ही भारत के जलमार्ग का पता लगाया था और मुस्लिम देशों के व्यापारियों और जहाजों को हिन्द महासागर से बाहर खदेड़ा था। इसी तरह, व्यापार-पद्धतियों में भी वे अग्रणी थे। उन्होंने किले बनाए, उन किलों की रक्षा के लिए गोला-बारूद और लड़ाई की सामग्री

1. डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर, 'ए हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इण्डिया,' खण्ड 2, पृष्ठ 275

2. वही, पृष्ठ 278

3. एडमण्ड बर्क, 'कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया' (भारतीय संस्करण), खण्ड 5, पृष्ठ 182 पर उद्धृत वारेन हेस्टिंग्ज के मुकदमे के दौरान किए गए भाषण

से लैस सेना रखी, प्रदेशों को हथियाया और वहां बस्तियां बसाईं, गैर-ईसाइयों से लड़ाइयां लड़ीं, उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार करने या प्राणों से हाथ धोने में से कोई एक विकल्प स्वीकार करने के लिए विवश किया तथा तोपों से लोगों को उड़ाने, हाथ के कंगन तथा कान की बालियां छीन लेने के उद्देश्य से स्त्रियों के हाथ और कान काटने और लोगों के—स्त्रियों और बच्चों-सहित—सामूहिक संहार-जैसे बर्बर और अमानवीय अत्याचार किए। उन्होंने हिंसा और आतंक के बल पर अपना रक्तरंजित व्यापार चलाया। अपनी सेनाओं के लिए भारतीय सैनिक भर्ती करने और उन्हें प्रशिक्षण देने तथा अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए एशियायी राजकुमारों की आपसी दुश्मनी का लाभ उठाने का रास्ता भी उन्होंने ही दिखाया। पूर्व की ओर आनेवाले पश्चिमी देशों के वे सबसे पहले और सबसे अधिक दम्भी, अहंकारी तथा पतित प्रतिनिधि थे। धार्मिक कट्टरता में दीवाने, सभी समुद्र-तटीय राष्ट्रों के विवेकहीन धूमकेतु, झगड़ालू, लोभी, निर्दयी और व्यभिचारी इन लोगों को आबे रेनल ने "एक ह्रासोन्मुख जाति" कह कर पुकारा है। "उनकी सेना पुरुषत्वविहीन थी।...सैनिकों या अफसरों को न तो अनुशासन और आज्ञाकारिता की भावना अनुप्राणित करती थी और न ही ख्याति की चाह।"[1] शीघ्र ही उन्हें इसका उचित फल मिला। उत्तर के प्रोटेस्टेण्ट राष्ट्रों ने उनका साम्राज्य चकनाचूर कर दिया और उन्हें पूर्वी समुद्रों से खदेड़ बाहर किया।

सन् 1580 में स्पेन के फिलिप द्वितीय ने पुर्तगाल की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया और अगले साठ वर्षों तक दोनों राज्य एक ही सम्राट् के अधीन रहे। वे दोनों मिल कर रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय का दुर्ग बने रहे और इसीलिए वे यूरोप के प्रोटेस्टेण्ट राज्यों के आक्रमण के लक्ष्य बन गए। हालैण्ड सुधार-आन्दोलन का अगुआ रहा। उसने स्पेन के आधिपत्य के विरुद्ध बगावत की और सन् 1579 में आज़ादी प्राप्त कर ली। लड़ाई-झगड़े इसके बाद भी होते रहे। तत्कालीन यूरोप की सबसे बड़ी समुद्री ताकत, हालैण्ड, को दूसरे प्रोटेस्टेण्ट राज्य, अर्थात् इंग्लैण्ड, ने भी संयुक्त स्पेन और पुर्तगाल के विरुद्ध सहायता दी। इसका परिणाम हुआ जीवन तथा मृत्यु के बीच होनेवाला वह संघर्ष, जिसमें सेनाएं, समुद्री बेड़े और व्यापारिक जहाज़ इस्तेमाल में लाए गए। अन्त में, प्रोटेस्टेण्ट राज्य हरा दिए गए और उनका व्यापारिक एकाधिकार समाप्त हो गया।

पूर्व में होनेवाली लड़ाई का सबसे अधिक भार डचों पर पड़ा। उन्होंने गरम मसाले के द्वीपों (स्पाइस आइलैण्ड्स), मलय जलडमरूमध्य (मलय स्ट्रेट्स) श्रीलंका और आशा अन्तरीप (केप आफ गुड होप) से पुर्तगालियों को बाहर खदेड़ा, पर इन प्रदेशों को अपने अधिकार में ले लेने के बाद उन्होंने व्यापार के क्षेत्र में एकाधिकार के उन्हीं सिद्धान्तों—कम कीमत पर माल खरीदना और अधिक पर बेचना, लोगों का निर्दयतापूर्ण शोषण और कठोर शासन—का पालन किया।

डचों ने पुर्तगालियों को निकाल दिया था और उस क्षेत्र में, जिसे वे एकमात्र अपना व्यापार-स्थल समझते थे, वे अंग्रेजों को भी बर्दाश्त करने के लिए तैयार न थे। अतः, यूरोप में उनके साथ उद्देश्यगत समानता होने और दोनों के बीच कच्ची मैत्री होने पर भी उन्होंने अंग्रेजों को निकालने की ठान ली। इस झगड़े की परिणति तथाकथित अम्बोयना जन-संहार (1623) में हुई। इसके परिणामस्वरूप अंग्रेज़ों को आर्किपेलैगो

1. पी० एण्डरसन, 'द इंग्लिश इन वेस्टर्न इण्डिया' (बम्बई, 1854), पृष्ठ 16

(द्वीप-समूह) छोड़ना पड़ा और अपना व्यापार भारत में ही सीमित रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। डचों ने भी अनुभव किया कि भारत और आर्किपेलैगो, दोनों स्थानों पर अपने हितों की रक्षा करना उनकी सामर्थ्य से वाहर है। इसलिए उन्होंने अपना ध्यान गरम मसाले के द्वीपों पर हीं केन्द्रित कर लिया।

डचों के पीछे हटने का कारण यूरोप की परिस्थितियां थीं। वे चारों ओर से प्रतिद्वन्द्वियों और दुश्मनों से घिरे थे और पूर्वी द्वीप-समूह को अपने एकमात्र अधिकार में करने के फौरन वाद उन्हें यूरोप में लड़ाई के मैदान में उतरना पड़ा। पहले स्पेन के साथ लड़ाई हुई, जो सन् 1648 की वेस्टफेलिया-सन्धि-द्वारा समाप्त हुई। उसके वाद सन् 1652 और 1665 में इंग्लैण्ड के साथ लड़ाइयां हुईं और अन्त में सन् 1672 से 1713 तक फ्रांस के साथ युद्ध चलता रहा। हालैण्ड-जैसे छोटे-से देश की जनशक्ति और वित्तीय साधनों पर वरावर दवाव पड़ते रहने से उसके साधनों का समाप्त होना अवश्यम्भावी था। जव तक इंग्लैण्ड अपने लड़ाई-झगड़ों, गृह-युद्धों और राजनीतिक क्रान्ति से मुक्त हुआ, तब तक हालैण्ड एक प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी शक्ति के रूप में लगभग समाप्त हो चुका था।

(3) तीसरी समस्या—ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बस्तियां

ईस्ट इण्डिया कम्पनी को पुर्तगालियों और डचों के साथ जो लड़ाइयां लड़नी पड़ीं, उनसे उसे भारत महाद्वीप में ही अपना भाग्य आज़माने के लिए वाध्य होना पड़ा। भारत में पैर जमाने के उनके पहले प्रयत्न असफल रहे। न तो हाकिन्स को अधिक सफलता मिल पाई और न सर टामस रो को।

मुगल-दरवार में जेसुइट सम्प्रदाय के जो पुर्तगाली थे, उन्होंने कोठी कायम करने के उद्देश्य से शाही फरमान प्राप्त करने के लिए अंग्रेज़ कम्पनी-द्वारा किए गए प्रारम्भिक प्रयत्नों को विफल वनाया। बाद में जब सन् 1608 में जहांगीर से अनुमति मिल गई, तब स्थानीय गवर्नर ने कठिनाइयां पैदा कीं। कम्पनी के छठे जहाज़ी दल के कप्तान मिडिल्टन ने सन् 1611 में गुजरात और लाल सागर के बीच यातायात रोक कर उस पर दबाव डाला। वेस्ट और डाउनटन ने स्वैली से परे पुर्तगालियों पर सन् 1612 और 1615 में जो विजय पाई, उसमें गवर्नर की हिचकिचाहट मिट गई और अंग्रेज़ सूरत में वस गए।

लेकिन इस रिआयत का दुरुपयोग किया गया। अंग्रेज़ों की समुद्री ताकत सवसे अधिक थी। उन्होंने अपनी इस शक्ति का प्रयोग "उस लाल सागरीय व्यापार के ज़रिए गुजरात को हड़प जाने के लिए" किया और इस प्रकार उन्होंने सम्राट् की दुश्मनी मोल ले ली। रो ने कम्पनी को सलाह दी कि "मैं जानता हूं कि इन लोगों (मुगलों) से पेश आने का सवसे वढ़िया तरीका यह है कि एक हाथ में तलवार रखी जाए और दूसरे में डंडा।"[1] उसके पादरी एडवर्ड टेरी ने जो-कुछ डचों के वारे में कहा, वह अंग्रेज़ों पर भी लागू होता है: "वे जहां वसते हैं, वहीं अपने लिए किलावंदी कर लेते हैं और इस तरह स्वयं सुरक्षित होकर स्थानीय लोगों पर इस वात के लिए किसी-न-किसी तरह का दवाव डालते हैं कि वे उन्हीं के हाथ अपनी वस्तुएं वेचें।"[2]

1. देखिए, 'राइज़ ऐण्ड फुलफिलमेंट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (1958 का संस्करण), पृष्ठ 15
2. एडवर्ड टेरी, 'ए वाएज टु ईस्ट इण्डिया' (1777 का संस्करण) पृष्ठ 5-6

इसी नीति के अनुरूप मिडिल्टन ने सन् 1611 में गुजरात और लाल सागर के बीच यातायात रोका था और कैप्टेन कीलिंग ने सन् 1616 में कालीकट के राजा से मालाबार-तट पर एक बन्दरगाह प्राप्त करने की कोशिश की थी। पर तब तक, मुगल-साम्राज्य के काफी शक्तिशाली होने के कारण गुजरात के समुद्र-तट पर किलेबन्दी करना आसान नहीं था और गोआ के आस-पास के क्षेत्र में किसी प्रकार का हस्तक्षेप होने देने के लिए पुर्तगाली तैयार न थे।

इसलिए अंग्रेज़ पश्चिमी तट के इलाके प्राप्त करने और किले बनाने की अपनी इच्छा पूरी न कर सके। मुगल-सरकार ने उन पर दृढ़ नियन्त्रण बनाए रखा। सन् 1625 में अंग्रेज़ी कोठी के मुख्य कार्यकर्त्ताओं को हथकड़ियां पहना दी गईं। फ़िर, जब कोर्टेन्स एसोसिएशन के कर्मचारियों ने सन् 1636 में समुद्री डाके डाले, तब सूरत के गवर्नर ने कौंसिल के प्रधान मेथवोल्ड और अन्य सदस्यों को जेल में डाल दिया, जिससे वे 18,000 पौंड अदा करने पर मुक्त किए गए।

जिस समय इधर अंग्रेज़ों का इस प्रकार अपमान किया जा रहा था, उसी समय दूसरी ओर मुगल घुड़सवार दक्षिण को पददलित कर रहे थे। सन् 1636 में, दक्षिण का वायसराय औरंगज़ेब था। उस समय से लेकर लगातार मुगल-साम्राज्य, बहमनी-राज्य के उत्तराधिकारी सुल्तानों और शिवाजी के नेतृत्व में मराठों के बीच भीषण युद्ध चलते रहे और इसीलिए देश का वह भीतरी भाग अंग्रेज़ी बस्तियों के लिए सुरक्षित नहीं था।

शिवाजी की विजयों का सिलसिला सन् 1647 में आरम्भ हो गया था, जब उसने तोरण के किले पर धावा बोला था। सन् 1664 और फिर 1670 में उसने सूरत पर चढ़ाई की। इन आक्रमणों से स्थिति विकट हो गई। यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों और भारतीय सरदारों के विरुद्ध सैनिक संरक्षण के बिना व्यापार करना असम्भव हो गया था, इसलिए प्रदेश, किलाबंदी, सैनिक अड्डे और लड़ाई का सामान ज़रूरी था। परन्तु इसके लिए मुगल-सम्राट् से आसानी से अनुमति नहीं मिल सकती थी। सौभाग्य से सम्राट् चार्ल्स द्वितीय ने सन् 1668 में बम्बई कम्पनी को हस्तान्तरित कर दिया और उसकी किलेबंदी के लिए फौरन कदम उठाए गए। परन्तु औरंगज़ेब की मृत्यु तक पश्चिमी तट की अंग्रेज़ी कोठियों के लिए मुगलों और मराठों से खतरा बना ही रहता था।

इस स्थिति से बचने के लिए उन्होंने भारत के पूर्वी तट की ओर बढ़ना चाहा। यहां की स्थिति अधिक अनुकूल थी, क्योंकि सन् 1565 में तालीकोटा की लड़ाई में विजय-नगर-राज्य का तख्ता उलट जाने से वह राज्य छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गया था और उन राज्यों के छोटे-छोटे राजा गोलकुंडा के कुतुबशाहियों की बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित थे। उड़ीसा से लेकर नीचे कोरोमण्डल-तट तक कई बन्दरगाहों—बालासोर, पिपली, पुलीकट, पट्टापोली, मछलीपट्टम—पर आज़माइश की गई। इनमें से कुछ स्थानों पर कोठियां कायम की गईं, पर कोई भी सन्तोषप्रद सिद्ध नहीं हुआ। अन्त में, सन् 1639 में मद्रास पर अधिकार किया गया।

लेकिन मद्रास गंगा के उस डेल्टे से बहुत दूर था, जहां उत्तर-भारत का व्यापार मुख्यत: केन्द्रित था। इसलिए अंग्रेज़ों ने बंगाल की ओर दृष्टि डाली। यहां हुगली पर, जो उक्त डेल्टे का दक्षिण-पश्चिमी जलमार्ग है, पुर्तगालियों ने बहुत पहले एक कोठी कायम की थी, परन्तु सन् 1632 में शाहजहां ने उन्हें वहां से खदेड़ दिया था। सन् 1650 में

कम्पनी ने बंगाल के गवर्नर से वहां व्यापार करने की अनुमति मांगी और उसे लाइसेंस मिल गया। बंगाल में स्थापित किए गए कम्पनी के प्रतिष्ठान मद्रास के फोर्ट सेंट जार्ज के अधीन कर दिए गए।

सन् 1649 से 1689 तक की अवधि में कम्पनी के व्यापार में बहुत प्रगति हुई। परन्तु जैसे-जैसे व्यापार बढ़ता गया और लाभ अधिक होने लगा, वैसे-वैसे उसकी आकांक्षाएं भी बढ़ने लगीं। सन् 1661 के शासपत्र से कम्पनी को सन्धि और युद्ध करने तथा न्याय करने के अधिकार मिल गए। शासकीय सत्ता प्राप्त हो जाने के कारण कुछ व्यापारी शक्ति और आधिपत्य के स्वप्न देखने लगे। सन् 1674 में सर जोसिया चाइल्ड कम्पनी का एक डाइरेक्टर बना और अगले पच्चीस वर्षों तक कम्पनी की व्यवस्था में उसका हाथ बहुत ऊंचा रहा। "उसके निर्देशन में कम्पनी ने पहले-पहल राजनीतिक महत्त्व और शक्ति-प्राप्ति के लिए तीव्र गति से प्रयत्न शुरू किए।"[1] उसका दूर का एक रिश्तेदार, सर जान चाइल्ड, जो छोटी उम्र से ही भारत में नौकरी कर रहा था, सन् 1682 में कम्पनी की बम्बई और सूरत-स्थित कोठियों का अध्यक्ष बना। दोनों चाइल्ड अंग्रेज प्रतियोगियों (जो कम्पनी का एकाधिकार समाप्त करने पर तुले हुए थे) और मुगल शासकों (जो कम्पनी की राजस्व-वृद्धि की अभिलाषाओं में रोड़ा अटका रहे थे) के विरुद्ध कम्पनी की सत्ता-महत्ता बनाए रखने के लिए कटिबद्ध थे।

उन्होंने उन अंग्रेजों को भारतीय व्यापार में शामिल न होने देने के लिए बड़े सख्त आदेश जारी किए, जो भारत में बिना अधिकार घुस आए थे। उन्होंने अपने ही देशवासियों को कुचलने में कोई कसर नहीं छोड़ी और कहा कि "इंग्लैण्ड के कानून कूड़े का एक ढेर हैं, जिन्हें कुछ ऐसे जाहिल-ग्रामीण व्यक्तियों ने बनाया है, जो कम्पनियों और विदेशी व्यापार के विनियमन की तो बात दूर, यह भी नहीं जानते थे कि अपने निजी परिवारों की भलाई के लिए कानून कैसे बनाए जाते हैं।"[2] बिना अधिकार प्रवेश करनेवाले इन लोगों को पकड़ कर जबर्दस्ती नौअधिकरण-न्यायालय के सामने पेश किया जाता था।

सर जोसिया चाइल्ड चाहता था कि भारत में "असैनिक और सैनिक अधिकारोंवाला एक ऐसा शासनतन्त्र स्थापित किया जाए और निश्चित रूप से इतना अधिक राजस्व प्राप्त करने का प्रबन्ध कर लिया जाए, जो भारत में हमेशा के लिए एक विशाल, सुदृढ़ और सुनिश्चित अंग्रेजी राज की नींव डाल दे।"[3] सर जोसिया ने जिस नीति की रूपरेखा तैयार की थी, सर जान उस पर अमल करने के लिए तैयार था। वह ऐसा करने के लिए इसलिए और अधिक इच्छुक था कि "कम्पनी ने सूरतवासियों से 2,81,250 पौंड का ऋण ले रखा था और कम्पनी को इतनी बड़ी रकम का व्याज चुकाने में भी दिक्कत पड़ने लगी थी, इसलिए ऋण अदा करने की पुरानी प्रथा पर चलने के बदले वे लोग इस दायित्व से ही बच निकलने का कोई रास्ता ढूंढ़ निकालना चाहते थे।"[4] इस प्रकार, मूलतः बेईमान शासन-पद्धति के इन एजेन्टों ने कम्पनी को मुगल-साम्राज्य के खिलाफ़

---

1. पी० ऐण्डरसन, 'द इंग्लिश इन वेस्टर्न इण्डिया', पृष्ठ 109
2. मिल तथा विलसन, 'ए हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', (पंचम संस्करण, 1858) खंड 1, पृष्ठ 91, टिप्पणी 1
3. डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर, 'ए हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खंड 2, पृष्ठ 273
4. पी० ऐण्डरसन, 'द इंग्लिश इन वेस्टर्न इण्डिया', पृष्ठ 110

युद्ध में फंसा दिया। "कोर्ट ने बड़े गर्व के साथ घोषणा की कि वे न केवल बंगाल के नवाब के विरुद्ध, बल्कि उसके बाद स्वयं सम्राट् से भी युद्ध करने के लिए कृतसंकल्प हैं।"[1]

बड़े पैमाने पर तैयारियां की गईं। तोपोंवाले हथियारबंद जहाज प्राप्त किए गए, पैदल सैनिकों के कई गुल्म बनाए गए और पैदल सैनिकों तथा उनके अधिकारियों का एक पूरा नियमित गुल्म इंग्लैण्ड से भी आया। मद्रास की किलेबंदी की गई और उसके चारों ओर दीवारें खड़ी की गईं। बंगाल में चटगांव पर बलपूर्वक अधिकार किया जाना था और उसकी किलेबंदी की जानी थी, हुगली को खाली कराना था और समुद्र के पास एक बन्दरगाह प्राप्त करनी थी, पश्चिमी तट पर भारतीय जहाजों को नष्ट करना था और मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करनी थी। "इतने विशाल कार्यक्रम में से, जो भौगोलिक दूरियों के हास्यास्पद अज्ञान और शत्रु-पक्ष की शक्ति की आश्चर्यजनक उपेक्षा-द्वारा तैयार किया गया था, एक भी काम पूरा नहीं किया जा सका।"[2] कम्पनी की वाणिज्यवादी नीति के इस पक्ष के सफलतापूर्वक परिपालन का समय अभी नहीं आया था। उस समय तक मुगल-साम्राज्य निर्जीव नहीं हुआ था और शीघ्र ही कम्पनी ने महसूस कर लिया कि स्वयं क्षति उठाए बिना उसे नहीं ललकारा जा सकता।

बंगाल में, नवाब शाइस्ता खां की सेनाओं ने अंग्रेजों को हिजिली से बाहर खदेड़ दिया, जहां उन्होंने शरण ली थी और उन्हें चटगांव पर अधिकार नहीं करने दिया। भारत के दूसरे भागों में भी मुगलों ने इतनी ही तेजी और सख्ती से प्रतिरोध किया। सूरत, मछलीपट्टम और विजगापट्टम की कोठियां जब्त कर ली गईं। सिद्दी के बेड़े ने बम्बई पर धावा बोल दिया और किले को छोड़ कर सारे द्वीप पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों को नीचा देखना पड़ा और उनके इतिहासकार मिल के शब्दों में "उन्होंने अपने को बहुत नीचे गिरा कर आत्मसमर्पण किया।"[3] उन्होंने बहुत नम्र शब्दों में याचना की कि "उन्होंने जितने भी अपराध किए हैं, उन्हें क्षमा किया जाए।" सम्राट् ने उनके दूतों की प्रार्थनाएं सुनीं और सन् 1690 में एक नया फरमान जारी करने के लिए इस शर्त पर तैयार हो गया कि कम्पनी भारतीय व्यापारियों को देय रकमें चुकता करे, साम्राज्य को हुई क्षति को पूरा करे और सर जान चाइल्ड को भारत से वापस बुलाए। ये शर्तें पूरी होने पर बम्बई खाली कर दी गई और पश्चिमी तट तथा बंगाल में व्यापार करने के पुराने परमिट फिर से दे दिए गए।

कम्पनी फिर बंगाल में आ गई। उसने नवाब से तीन गांव—सूतानटी, गोविन्दपुर और कलिकाता—किराए पर ले लिए और जमींदार बन गई। उन्होंने अपने व्यापार की रक्षा के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम नामक किला भी बनाया।

उन्हें सबक मिल चुका था। अगले पचास वर्ष तक वे भारत के शासकों को किसी भी तरह नाराज करने से बचे रहे। इसके विपरीत, वे तो विशेषाधिकार और रिआयतें प्राप्त करने के उद्देश्य से मुगल-सम्राट् की चाटुकारिता और मिथ्या प्रशंसा में लगे रहे, ताकि वे सम्राट् के कृपापात्र बन सकें।

सन् 1708 में विपत्तियों का अन्त हो गया। व्यापार-सम्बन्धी अनन्य अधिकारों

---

1. पी० ऐण्डरसन, 'द इंग्लिश इन वेस्टर्न इण्डिया,' पृष्ठ 111
2. डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर, 'ए हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 2, पृष्ठ 248
3. मिल तथा विल्सन, 'द हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 1, पृष्ठ 86

के लिए कम्पनी ने जो संघर्ष किया था, उसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। उसके दोनों प्रतिद्वन्द्वी, पुर्तगाली और डच, बाहर खदेड़े जा चुके थे और भारत के शासकों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस सम्बन्ध में उन्हें बहुमूल्य अनुभव प्राप्त हो चुका था। भारत के तीन महत्त्वपूर्ण केन्द्रों में—पश्चिमी तट पर बम्बई में, कोरोमण्डल-तट पर मद्रास में और बंगाल में कलकत्ता में—कम्पनी अपने को सुदृढ़ रूप से स्थापित करने में सफल हो गई थी। इन तीनों स्थानों में से किसी पर भी मुगल-साम्राज्य के सैनिक आसानी से अधिकार नहीं कर सकते थे और इन सभी स्थानों की रक्षा, न्यूनाधिक रूप से, उसी सत्ता के द्वारा ठीक तरह से की जा सकती थी, जिसका भारत के आस-पास के समुद्रों पर अधिकार हो।

इन बन्दरगाहों-द्वारा कम्पनी भारत के साथ बहुत ही लाभप्रद व्यापार करने लगी थी। पर उसका मार्ग सरल अथवा बाधाहीन नहीं रहा था। वाणिज्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार चलते हुए ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों के समक्ष दो लक्ष्य थे: "उनकी पहली अभिलाषा थी राजनीतिक विशेषाधिकार प्राप्त करना, और दूसरी अभिलाषा यह थी कि उन विशेषाधिकारों का उपभोग कम-से-कम व्यक्ति करें।"[1] इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्हें "कृपापात्र भी बनना पड़ा और छल-कपट भी करना पड़ा, बल-प्रयोग और चाटुकारिता में सामंजस्य करना पड़ा, लालच और खुशामद का मेल करना पड़ा और शौर्य का जामा पहन कर सूदखोर की-सी सख्ती से काम लेना पड़ा···और जब तक उन्हें व्यापार में लाभ मिलता रहा, तब तक उन्होंने इस बात की कुछ परवाह न की कि वे जिन चीजों का सौदा कर रहे हैं, वे गुलाम हैं या हाथी-दांत की बनी वस्तुएं, ऊन है या ऊनी कपड़े, टीन है या सोना।"[2] ये तरीके उनके अपने देश में तथा भारत में समान रूप से प्रयोग में लाए गए और यदि परिणामों को न्याययुक्त कसौटी माना जाए, तो कह सकते हैं कि ये तरीके पूरी तरह प्रभावकारी सिद्ध हुए।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का क्षेत्र-विस्तार

दोनों कम्पनियों के मिल जाने से ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। मिल का कहना है कि "इससे पहले वे (कम्पनी) केवल व्यापारियों के रूप में काम करते रहे और देशी राजाओं के साथ नम्रता से रह कर तथा अपने को समर्पित करके, उनके संरक्षण में रहते हुए या अत्याचार सहते हुए इस दूर देश में अपने पैर जमाने के लिए प्रयत्न करते रहे। आगे चल कर हम उन्हें कई लड़ाइयों में हिस्सा लेते हुए और भारतीय राजाओं के आपसी झगड़ों में उत्सुकता से शामिल होते हुए देखते हैं।"[3]

राजनीतिक परिस्थितियां अनुकूल थीं। यूट्रेक्ट की सन्धि (1713) से लेकर आस्ट्रियाई उत्तराधिकार-युद्ध (1740) तक यूरोप लड़ाइयों से मुक्त रहा। स्पेन, हालैण्ड और फ्रांस लुई चौदह की लड़ाइयों के बाद थक चुके थे और लड़ाइयों से हुई

---

1. मारिस डाव, 'स्टडीज इन द डेवलपमेंट ऑफ कैपिटलिज्म' (लन्दन 1946), पृष्ठ 121
2. वही
3. मिल तथा विलसन, 'द हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 3, पृष्ठ 60

क्षति को पूरा करने में लगे थे। इंग्लैण्ड का नेतृत्व वालपोल कर रहा था, जिसकी नीति यह थी कि जान-बूझ कर आफत मोल नहीं लेनी चाहिए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार को कोई विशेष खतरा नहीं था। भारत में मुगल-साम्राज्य तेज़ी से अराजकता की ओर बढ़ रहा था और प्रान्तीय गवर्नर तथा मराठा सरदार चारों ओर आतंक तथा विनाश फैला रहे थे। मुर्शिदाबाद, लखनऊ और हैदराबाद का महत्व दिल्ली से भी अधिक था और पूना का प्रभाव भारत के सभी भागों में बढ़ता जा रहा था।

कम्पनी ने अनुभव कर लिया था कि मुगल-साम्राज्य पर सीधे आक्रमण का अर्थ होगा, लोहे के चने चवाना। पर कम्पनी ने किसी भी रूप में उस नीति को छोड़ा नहीं था, जो उसके डाइरेक्टरों ने सन् 1689 में निर्धारित की थी, अर्थात् "अपना राजस्व बढ़ाने के सम्बन्ध में भी हमें उतना ही चिन्तित रहना चाहिए, जितना कि व्यापार के सम्बन्ध में। बीसियों दुर्घटनाएं हमारे व्यापार में वाधक हो सकती हैं; पर यही वह साधन है, जो हमारी शक्ति बनाए रख सकता है—यही वह साधन है, जो हमें निश्चित रूप से भारत में एक राष्ट्र का रूप देगा। इसके विना तो हम महामहिम के शाही शासपत्र-द्वारा संगठित बहुत-से अनधिकृत व्यापारी-मात्र समझे जाएंगे—उन्हीं जगहों पर व्यापार करने-योग्य समझे जाएंगे, जहां हमारा व्यापार अधिकार-प्राप्त किसी भी व्यक्ति की दृष्टि में देश के लिए अहितकर न हो।"[1]

राजस्व बढ़ाने की यह नीति किस प्रकार अमल में लाई गई, इसका पता कम्पनी-द्वारा तंजौर राज्य के मामले में किए गए हस्तक्षेप से चल जाता है। मिल ने इसका बहुत अच्छा वर्णन किया है। उसने लिखा है: "तंजौर के राजा के रूप में प्रताप सिंह के साथ कई वर्ष तक पत्र-व्यवहार करने, उसे अंग्रेज़ राष्ट्र की दोस्ती का आश्वासन देने, और फ्रांसीसियों के विरुद्ध उसकी सहायता लेने के बाद, अंग्रेज शासकों ने, नाममात्र की भी उत्तेजना या आरोप के बिना ही, देवी-कोटा को हथियाने के उद्देश्य से उस राजा को गद्दी से हटाने के लिए सेना भेज दी।"[2] इस प्रकार, देवी-कोटा का किला और उसके साथ वह ज़मीन अधिकार में कर ली गई, जिससे प्रतिवर्ष 9,000 पगोडा[3] लगान मिलता था।

इसी बीच और इलाकों पर अधिकार करने और किले बनाने के सम्बन्ध में सावधानी से प्रयत्न किए गए। सन् 1716 में फर्रुखसियर से सूरत में ज़मीन खरीदने और कलकत्ता के पास कुछ गांव किराए पर लेने के लिए इजाज़त मांगी गई। मद्रास के समीपस्थ पांच गांवों के उपहार की भी पुष्टि कर दी गई।

पश्चिमी तट पर अंग्रिया के नेतृत्व में मराठों की नौसेना के साथ नियमित रूप से रुक-रुक कर समुद्री लड़ाई जारी रही। बंगाल में नवाब के साथ खुले रूप से लड़ाई करना कम्पनी ने अभद्रतापूर्ण समझा। उन्होंने अपने बुरे कारनामों—उदाहरण के लिए, 'दस्तकों' का दुरुपयोग और "व्यापारियों का बहुत-सा माल छिपा कर राजा को राजस्व से वंचित करना"[4]—को छिपाने के लिए नवाब को मोटी रकमें देकर प्रसन्न रखना चाहा। अली वर्दी

---

1. मिल तथा विलसन, 'दि हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 1, पृष्ठ 87-8
2. वही, खण्ड 3, पृष्ठ 62
3. एक पगोडा=साढ़े तीन रुपये (हाब्सन-जाब्सन)
4. 'दि हिस्टरी आफ बंगाल', सम्पादक यदुनाथ सरकार, खण्ड 2 (1948), पृष्ठ 432

खां (1740 से 1756) ने उन पर सख्त निगरानी रखी और उन्हें ऐसा कोई मौका नहीं दिया, जिससे वे बंगाल में भी वैसा ही कुछ कर सकते, जैसा उन्होंने दक्कन में किया था। उसने उन्हें कलकत्ता में और किलेबंदी भी नहीं करने दी।

इस प्रकार, लगान उपलब्ध कर सकनेवाले इलाके अपने अधिकार में करने के उद्देश्य से शताब्दी के मध्य तक कम्पनी को अधिक सफलता नहीं मिली। परन्तु व्यापार की दिशा में उसकी सफलता बहुत उत्साहवर्द्धक थी। सन् 1708 में कम्पनी ने इंग्लैण्ड से केवल 61,000 पौंड का माल भारत भेजा; सन् 1748 तक यह रकम 1,27,000 पौंड तक पहुंच गई। इसी प्रकार, भारत से इंग्लैण्ड में किया गया आयात भी पांच लाख पौंड से बढ़ कर दस लाख पौंड हो गया। इस अवधि में कम्पनी ने अपने हिस्सेदारों को आठ से दस प्रतिशत तक लाभांश दिया। कम्पनी अब इतनी समृद्ध हो गई थी कि उसने सन् 1744 में सरकार को दस लाख पौंड का और सन् 1750 में चालीस लाख पौंड से भी अधिक का ऋण दिया।

अंग्रेज-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा

अंग्रेजों की सफलता से उनके यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वियों के मुंह में पानी भर आया। पुर्तगाल, स्पेन और हालैण्ड दौड़ में पीछे छूट गए थे और अब वे इस स्थिति में नहीं थे कि इंग्लैण्ड को चुनौती दे सकें। पर फ्रांस ने भारतीय व्यापार को हथियाने और पूर्व में अपना व्यापार बढ़ाने के लिए बहुत प्रयत्न किए। कोलबर्ट ने सन् 1664 में फ्रेंच ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना कर दी थी। लेकिन चौदहवें लुई के शासन-काल (1643-1715) में यह कम्पनी अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकी, क्योंकि फ्रांस की स्पेन, हालैण्ड और साम्राज्य से लड़ाई होती रही। सन् 1720 में जान ला ने फ्रांसीसी वित्त-व्यवस्था में सुधार किए और कम्पनी का पुनर्गठन किया। इसके बाद कम्पनी ने तेजी से प्रगति की। सन् 1721 में मारिशस द्वीप पर अधिकार कर लिया गया, जो भारत आने के आधे रास्ते में पड़ता था और सन् 1725 तथा 1739 में क्रमशः माही और कारीकल पर कब्जा किया गया। पांडीचेरी, जो फ्रांसीसी कम्पनी की भारत में मुख्य बस्ती बनी, डचों के हाथ में चली गई, पर सन् 1697 में रिसविक की सन्धि से उसे फिर वापस ले लिया गया। चन्द्रनगर पर सन् 1691 में अधिकार कर लिया गया था।

पुनर्गठित फ्रांसीसी कम्पनी ने राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने और व्यापार बढ़ाने की दोहरी नीति का उत्साहपूर्वक अनुसरण किया। भारतीय सरदारों के विरुद्ध उसने अपनी बस्तियों को मजबूत बनाया और उनकी किलेबंदी की। फ्रांसीसियों का विश्वास था कि "समृद्ध बस्तियों और कुछ ऐसे स्थानों से, जिनकी भलीभांति किलेबंदी की गई हो, इन लोगों के बीच (कम्पनी को) अच्छी स्थिति मिल जाएगी।"[1] परन्तु इस नीति पर उन्होंने सन् 1740 के बाद ही खुले तौर से अमल करना शुरू किया।

भारत में एक प्रादेशिक साम्राज्य की स्थापना की बात डूप्ले के उर्वर मस्तिष्क की उपज थी। फ्रांसीसी कम्पनी की आवश्यकताएं ही इसका कारण थीं, क्योंकि व्यापार बढ़ाने के उस कम्पनी के प्रयत्नों में, फ्रांस से पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता न मिलने के कारण बाधा पड़ रही थी। डूप्ले ने महसूस किया कि लगान उपलब्ध करा देने-योग्य इलाकों को

1. 'द कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 73

अधिकार में करना ही आवश्यक साधन जुटाने का एकमात्र तरीका है और राजनीतिक सत्ता हाथ में आने पर ही इस समस्या का समाधान हो सकता है। उसने "अमेरिका तथा पूरे संसार की भांति, एशिया को इस दृष्टि से चाहे देखा हो या नहीं, जिसके भाग्य में यूरोपीय जातियों के कानून के आगे घुटने टेकना बदा था", किन्तु वह भारत फ्रांस को सौंप देने के लिए कृतसंकल्प था।

डूप्ले को सन् 1720 में पांडीचेरी-स्थित फ्रांसीसी कम्पनी की उच्चतर कौंसिल का प्रथम कौंसिलर बनाया गया। दस वर्ष बाद वह चन्द्रनगर बस्ती का व्यवस्थापक और भारत-स्थित फ्रांसीसी प्रतिष्ठानों का गवर्नर-जनरल बना दिया गया। कर्नाटक की विक्षिप्त स्थिति के कारण यूरोपीय कम्पनियों को छोटे-छोटे राजाओं के गृह-युद्धों में एक-दूसरे का पक्ष लेने का अवसर पहले ही मिल गया था। सन् 1732 में कर्नाटक के नवाब सआदतुल्ला खां की मृत्यु होने पर उसके भतीजे दोस्त अली ने राजगद्दी पर अधिकार कर लिया था। उसने फ्रांसीसियों से दोस्ती कर ली और फ्रांसीसी गवर्नर ड्यूमा की प्रार्थना पर दिल्ली के सम्राट् से उन्हें मुद्रा-ढलाई—पर्याप्त लाभप्रद कार्य—का अधिकार दिला दिया था। दोस्त अली के दामाद चंदा साहब ने, जो एक महत्वाकांक्षी युवक था, शक्तिशाली फ्रांसीसी मैत्री का निजी तौर पर लाभ उठाना चाहा और इसीलिए तंजौर राज्य पर धावा करने, कारीकल पर कब्ज़ा करने और उसे फ्रांसीसियों को दे देने का प्रस्ताव रखा। ऐसा ही किया गया और सन् 1739 में कारीकल और उसके आसपास के ज़िले फ्रांसीसियों के अधिकार में आ गए।

कर्नाटक के शान्त-स्थिर वातावरण और वहां के राजाओं के तुच्छ छल-प्रपंचों के बीच राघोजी भोंसले और उसके नायब, नारायण राव, के नेतृत्व में 50,000 मराठा घुड़सवारों की सेना का अचानक आ जाना बम फटने के समान था। दोस्त अली, जिसने उन्हें रोकने का प्रयत्न किया, लड़ाई में मारा गया। उसका उत्तराधिकारी सफदर अली और चंदा साहब अपने कुटुम्बियों को सुरक्षा के लिए पांडीचेरी ले गए। राघोजी ने त्रिचनापल्ली को घेर लिया, किले पर कब्ज़ा किया और चंदा साहब को बंदी बना डाला। वह इसके बाद पांडीचेरी की तरफ बढ़ा, लेकिन जब उसे पता चला कि फ्रांसीसी उसका मुकाबला करने के लिए पूरी तरह तैयार हैं, तब वह वापस लौट आया।

फ्रांसीसी गवर्नर ड्यूमा ने जिस निर्भीकता का परिचय दिया, उससे वह दक्षिण के राजाओं की प्रशंसा और श्रद्धा का पात्र बन गया। सम्राट् मुहम्मद शाह ने उसे 'नवाब' का खिताब और 'मनसब' प्रदान किया। निज़ामुल्मुल्क ने उसे 'खिलअत' से विभूषित किया और कर्नाटक के नवाब सफदर अली ने कीमती उपहार भेंट किए। इसी समय ड्यूमा निवृत्त होकर चला गया और उसके स्थान पर डूप्ले ने (जनवरी 1742 में) कार्य-भार सम्भाला।

कार्य-भार सम्भालने पर डूप्ले को मालूम हुआ कि स्थिति काफी असन्तोषजनक है। कर्नाटक के राजा को निज़ाम लगान की बकाया रकम की वसूली के सम्बन्ध में धमकी दे रहा था और फ्रांसीसियों के आश्रित चंदा साहब को मराठों ने बंदी बना रखा था। मराठा सरदार फिर से अपने हमले शुरू करने और कर्नाटक पर कर लगाने के लिए तैयार बैठे थे। फ्रांसीसी कम्पनी की भी स्थिति चिन्ताजनक थी। अपनी बस्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कम्पनी के डाइरेक्टरों के पास पर्याप्त धन नहीं था। इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच युद्ध की तैयारियां हो रही थीं और कम्पनी अपनी कोठियों की

किलेबंदी के लिए आवश्यक धन का इन्तज़ाम नहीं कर पा रही थीं। इन कठिनाइय. के बावजूद डूप्ले ने अपने संकल्प, देश-प्रेम और सूझ-बूझ से स्थिति को कुशलता से सम्भाल लिया।

मार्च 1740 में जब यूरोप में आस्ट्रिया का उत्तराधिकार-युद्ध छिड़ा और फ्रांस तया इंग्लैण्ड उसमें फंस गए, तब भारत में उन दोनों वाणिज्यिक कम्पनियों के एजेण्टों ने महसूस किया कि दोनों कम्पनियों का अस्तित्व एक-दूसरी के हितों के विरुद्ध है। वे अपने-अपने देशों के अधिकारियों की इच्छाओं और आदेशों के विरुद्ध व्यापार के क्षेत्र में अपना-अपना एकाधिकार स्थापित करने के लिए आपस में लड़ने लगे। डूप्ले पहला व्यक्ति था, जिसने यह अनुभव किया कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजनीतिक प्रभुत्व और प्रादेशिक अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। उसके सामने विपम परिस्थितियां मुंह वाए खड़ी थीं। फ्रांस की सरकार इस ओर से उदासीन थी और पन्द्रहवें लुई तथा उसके मन्त्री उन अपने ही देशवासियों को आवश्यक सहायता देने में असमर्थ थे, जो भारत में फ्रांस की प्रतिष्ठा के लिए लड़ रहे थे। फ्रांसीसी कम्पनी मुख्यत: सरकार पर निर्भर थी और फ्रांस-सरकार की अदूरदर्शितापूर्ण, दुर्वल और ढुलमुल नीति के कारण कम्पनी को हानि उठानी पड़ी। यद्यपि कम्पनी के व्यापार में वृद्धि हो गई थी, किन्तु उसका खर्च इतना अधिक था कि उस पर भारी कर्ज़ हो गया। इसलिए, ऐसे संकट के समय में, कम्पनी ने अपने भारतीय प्रतिष्ठानों को देय अंशदान की रकम कम कर दी।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण वात यह थी कि बड़े-बड़े नेताओं में घातक मतभेद हो गए थे और उनकी आपसी ईर्ष्या के कारण संयुक्त रूप से कारंवाई नहीं हो पा रही थी। पेरिस से प्राप्त असाधारण आदेश क्षोभ और तुच्छता की भावना पैदा कर रहे थे।

यह लड़ाई, जो चार वर्ष तक चलती रही, समग्र रूप से फ्रांसीसियों के ही पक्ष में रही। डूप्ले की प्रतिभा ने सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की। अपनी कूटनीति से उसने भारतीय सरदारों का समर्थन प्राप्त कर लिया था और उसने अंग्रेज़ों के विरुद्ध उनका उपयोग किया। उसने भारतीय सैनिकों को भर्ती करके और उन्हें पश्चिमी ढंग की सैनिक शिक्षा देकर फ्रांसीसी सेना की कमी पूरी कर ली। उसने अप्रशिक्षित भारतीय सैनिकों की तुलना में प्रशिक्षित सैनिकों की उत्कृष्टता सिद्ध कर दिखाई। उस लड़ाई में, जो अदयार नदी के किनारे सेंट टाम में कर्नाटक के नवाव अनवरुद्दीन के वेटे महफ़ूज़ खां की सेना और फ्रांसीसी कप्तान पैराडिस की सेनाओं के बीच 4 नवम्वर, 1746 को हुई, फ्रांसीसी सेनाओं ने जल्दी ही नवाव की सेनाओं को कुचल डाला। पैराडिस की कमान में जो सैनिक टुकड़ी थी, उसमें 230 यूरोपियन और 700 हिन्दुस्तानी सिपाही थे। उनके पास वन्दूकें नहीं थीं और उन्हें नदी पार करके वन्दूकों से लैस 10,000 सैनिकों का मुकावला करना था। यह मुश्किल पैंतरेवाज़ी सफलतापूर्वक कार्य-रूप में परिणत कर दी गई। योग्य और निडर अधिकारियों के नेतृत्व में एक छोटी-सी सेना ने अपने अनुशासन और संगठन-द्वारा विजय प्राप्त की। जैसा कि मलेसन ने गर्व के साथ कहा है : "यह वात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि भारत में जितनी भी निर्णायक लड़ाइयां हुई हैं, उनमें सवसे स्मरणीय लड़ाई यही थी।... इस लड़ाई के इतनी स्मरणीय वनने का कारण यह है कि यह अपने ढंग की पहली लड़ाई थी, जिसने दोनों पक्षों को

विस्मय में डाल कर एशियायी सैनिकों की तुलना में अनुशासित यूरोपीय सैनिकों की परम और प्रचुर श्रेष्ठता सिद्ध कर दी।"[1]

डूप्ले ने मद्रास पर अधिकार कर लिया और लगभग सारे कोरोमण्डल-तट से अंग्रेज़ों को खदेड़ दिया।

एक्स-ला-चैपल की सन्धि (1748) से यूरोप में लड़ाई वन्द हो गई। पर, इससे भारत में इन प्रतिद्वन्द्वियों के बीच शान्ति स्थापित न हो सकी। "जब उनकी आकांक्षा जाग्रत हो रही थी, आपसी ईर्ष्या भड़क उठी थी, बड़े राज्य का प्रलोभन सामने था, तब फिर उन्हें अमन-चैन का क्या करना था ?"[2]

1748 का वर्ष अविस्मरणीय रहा। उस वर्ष सम्राट् मुहम्मद शाह की मृत्यु हो गई और अहमद शाह अब्दाली का पहला हमला हुआ। निज़ामुल्मुल्क भी परलोक सिधारा और 'मसनद' के उत्तराधिकार के लिए दावेदारों में संघर्ष छिड़ गया। प्रतिद्वन्द्वी पक्ष मराठों, कर्नाटक के राजा, फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों को अपनी ओर खींच लाए। शीघ्र ही लड़ाई का स्वरूप वदल गया। भारतीय प्रतिद्वन्द्वियों के सहायक के रूप में रहने के वदले फ्रांसीसी और अंग्रेज स्वयं सर्वोच्चता-प्राप्ति के मुख्य दावेदार वन कर परस्पर झगड़ने लगे, हालांकि यूरोप में उन दोनों राष्ट्रों के बीच शान्ति थी।

भारत में फ्रांसीसी वस्तियों के गवर्नर-जनरल डूप्ले ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से यह जान लिया कि भारत से अंग्रेज़ों को तभी खदेड़ा जा सकता है, जब भारतीय राजागण उसके कहने के अनुसार चलें और अपने साधनों को अंग्रेज़ों के विरुद्ध इस्तेमाल करने के लिए उसके सुपुर्द कर दें। वह इस नीति को कार्य-रूप देने में सफल हुआ, क्योंकि दक्षिण-भारत और कर्नाटक में उत्तराधिकार-सम्बन्धी झगड़े चल रहे थे और इससे उसे उनके बीच हस्त-क्षेप करने के अवसर मिल गए। उसने अपने प्रशिक्षित यूरोपीय और भारतीय सैनिकों की सहायता देकर स्थिति को अपने असामियों के पक्ष में कर लिया। उसने और उसके लेफ्टिनेंट बुसी ने स्थिति को इतनी अच्छी तरह से सम्भाला कि सन् 1748 से 1756 तक इस प्रायद्वीप में फ्रांसीसियों की ही धाक रही। डूप्ले को वास्तव में कर्नाटक का नवाव—कृष्णा नदी के सारे दक्षिणी क्षेत्र का गवर्नर—बना दिया गया और बुसी निज़ाम को अपने हाथों की कठपुतली वना कर दक्कन का शासन सम्भाले रहा।

पर न तो डूप्ले के साधन और कौशल लाभदायक सिद्ध हुए, और न ही बुसी की निर्भीक योजनाएं और अविचल साहस। फ्रांसीसी राजनीतिक पद्धति पुरानी पड़ चुकी थी। फ्रांस की वागडोर दुर्बल राजनीतिज्ञों के हाथों में आ गई थी। वित्तीय स्थिति की दृष्टि से भी फ्रांस तेज़ी से दिवालिया वनता जा रहा था। उसकी नौसेना उपेक्षित थी। इन परिस्थितियों में उस डूप्ले के वापस बुलाए जाने से, जिसने अपनी दूरदर्शिता और दृढ़ निश्चय से भारत में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित कर लिया था, फ्रांसीसियों के सौभाग्य को असाध्य आघात पहुंचा। सन् 1755 में उसके चले जाने के वाद फ्रांसीसियों का दक्कन पर से अधिकार जाता रहा और सप्तवर्षीय लड़ाई में अंग्रेज़ों ने उन्हें इतनी बुरी तरह हराया कि उसके वाद वे फिर उठ नहीं सके।

---

1. मलेसन, 'द हिस्टरी आफ द फ्रेंच इन इण्डिया' (लन्दन, 1868), पृष्ठ 192-93

2. वही, पृष्ठ 226

यद्यपि सप्तवर्षीय युद्ध यूरोप में अगस्त 1756 में आरम्भ हो गया था, किन्तु अंग्रेजों के सौभाग्य से भारत में लड़ाई वास्तव में 1758 में ही शुरू हुई। तब तक प्लासी का युद्ध हो चुका था और बंगाल के समृद्ध साधन अंग्रेजों के हाथ में आ चुके थे। कर्नाटक में होनेवाली कोई भी घटना भारत में दोनों राष्ट्रों के भविष्य में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती थी।

सप्तवर्षीय युद्ध के दौरान फ्रांस-द्वारा दक्कन में किए गए प्रयत्नों में उसे भारी असफलता मिली। डूप्ले और बुसी के परिश्रम से स्थापित साम्राज्य में से समुद्र-तट पर यत्र-तत्र बसे शक्ति-शस्त्रविहीन पांच कस्बों के अलावा उनके पास कुछ नहीं बचा। फ्रांस का राजनीतिक प्रभाव पूर्णतः समाप्त हो गया।

एक-एक करके सभी प्रतिद्वन्द्वी दौड़ में पिछड़ गए थे और भारत में अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इंग्लैण्ड के सामने मैदान साफ हो चुका था। अस्तित्व के संघर्ष में योग्यतम की विजय हो गई थी। जहां तक पुर्तगाल का सम्बन्ध था, उसकी असफलता के कारण प्रत्यक्ष थे। सोलहवीं शताब्दी में उसकी आबादी केवल दस लाख थी, जो उसके शासक के इस गर्वीले दावे—"इथियोपिया, अरब, ईरान और भारत के राज्याधिकार, नौचालन और व्यापार का अधीश्वर"—को अधिक समय तक बनाए नहीं रख सकती थी। उसके मनसूबे बड़े ऊंचे थे: इस्लामी दुनिया के विरुद्ध धर्मयुद्ध करना, म्लेच्छ राष्ट्रों में दिव्य वाणी का प्रचार करना, मसालों का व्यापार हथियाना और आधी दुनिया में हुकूमत कायम करना। पुर्तगाल ने जो विशाल कार्य हाथ में लिया था, उसे पूरा करने के लिए उसके पास आदमियों, अनुभव और ज्ञान की कमी थी। इस तनाव से उसकी शक्ति क्षीण हो गई और शाही राजवंश की विफलता से राज्याश्रय पर आधारित उद्यम भी विफल हो गया।

सन् 1580 में पुर्तगाल का ताज स्पेन के राजा को उत्तराधिकार में मिला। दोनों राज्यों के मेल से भी उनकी शक्ति में वृद्धि नहीं हुई। स्पेन की आर्थिक स्थिति बहुत डांवाडोल थी। सोलहवीं शताब्दी में कीमतों में पांच-गुनी वृद्धि हो गई थी, उत्पादन घट गया था, मंडियां हाथ से निकल गई थीं और उद्योग ठप्प हो गए थे। मुद्रा-स्फीति के कारण धनिक और अभिजात-वर्ग और भी धनी हो गए थे, परन्तु गरीब, मजदूर और उपभोक्ताओं की आर्थिक स्थिति और खराब हो गई थी। वर्गों के बीच फूट बढ़ गई थी और दोनों वर्गों में उग्र संघर्ष होने लगा था। ऐयाशी में लीन धनी-वर्ग और भूख से पीड़ित लाखों व्यक्ति एक-दूसरे को टेढ़ी निगाह से देखते थे। नैतिक विषकीट ने समाज की जड़ें खोखली कर दी थीं। यद्यपि सम्पत्ति के कारण स्पर्धा उत्पन्न हो गई थी और दुश्मनी भड़क उठी थी, लेकिन राष्ट्र में प्रतिरोध की अभीष्ट भावना लुप्त हो गई थी। इस प्रकार, "समुद्री भिक्षुक" डचों और "समुद्री कप्तान" अंग्रेजों ने स्पेन के साम्राज्य को धूल में मिला दिया।

इसके बाद डचों ने—मुश्किल से पचास लाख की आबादी वाले राष्ट्र ने—बहादुरी से पुर्तगालियों का उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया। अपने वाणिज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने एक अर्द्धराष्ट्रीय कम्पनी की स्थापना को अपना साधन बनाया। उसे दोहरा काम—व्यापार और युद्ध—सौंपा गया। उस कम्पनी को बड़े अधिकार प्राप्त थे: पूर्वी व्यापार का एकाधिकार, आयात-शुल्कों से छूट, सशस्त्र जल तथा स्थल-सेनाएं रखना, किले बनाना, उपनिवेश स्थापित करना, युद्ध करना या शान्ति स्थापित करना, सन्धिपत्रों

की व्यवस्था, धन कमाना और अपने अधिकार-क्षेत्र में प्रशासनिक, न्यायिक और विधायी प्राधिकार का प्रयोग करना।

परन्तु कम्पनी और डच स्टेट्स जनरल में निकट सम्पर्क बने रहने से राष्ट्रीय समृद्धि की वह भी भागीदार हो गई। शुरू से ही हालैण्ड निरन्तर लड़ाइयों में उलझा रहा—पहले पुर्तगाल और स्पेन से, उसके बाद सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैण्ड के साथ और बाद में चौदहवें लुई के फ्रांस के साथ। "सारी अठारहवीं शताब्दी में सार्वभौम सत्ता के रूप में कम्पनी के दायित्व बढ़ते रहे, गढ़-सेनाओं की संख्या और बढ़ गई तथा प्रशासन-सम्बन्धी खर्च भी बढ़ गया। इसके परिणामस्वरूप यद्यपि उसका व्यापार उन्नति करता रहा, तथापि कम्पनी की वित्तीय स्थिति जटिलतर होती गई।"[1]

अपने शत्रुओं के विरुद्ध युद्ध करने के लिए धन के मामले में कम्पनी का राज्य पर निर्भर रहना एक अपंग व्यवस्था थी। स्थलीय लड़ाइयों के कारण नौसेना की उपेक्षा होने लगी। व्यापार में कम्पनी को अत्यधिक हानि हुई, क्योंकि उसके अधिकतर केन्द्रों में मुनाफा न रहा और उसकी कर्जदारी बढ़ते-बढ़ते दस करोड़ गिल्डर तक पहुंच गई। डाइरेक्टरेट में की जानेवाली नियुक्तियों और नीति-विषयक निर्णयों के सम्बन्ध में स्टेट्स जनरल का नियन्त्रण अस्वास्थ्यकर सिद्ध हुआ। सरकार के धन-वैभव में होनेवाले उतार-चढ़ाव से कम्पनी को क्षति उठानी पड़ी। इसीलिए जब फ्रांस की राज्य-क्रान्ति शुरू हुई और हालैण्ड नेपोलियन-जैसी कूटनीति अपनाने लगा, तब अंग्रेजों के बेड़े ने डचों को भारतीय समुद्रों से बाहर खदेड़ दिया।

जब पिरार्द द-लेवल और मार्तिन द-विते अपनी जान हथेली पर रख कर सन् 1601 में समुद्र के रास्ते भारत आए, तब फ्रांसीसी अपनी "निष्क्रियता की तन्द्रा" से जागे। लेकिन पूर्वी देशों के साथ व्यापार शुरू करने के उनके प्रयत्नों में तब तक सफलता नहीं मिली, जब तक कोलबर्ट ने, जो वाणिज्यवाद का बहुत बड़ा समर्थक था, सन् 1664 में फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित नहीं कर ली। फ्रांस के वस्तु-निर्माताओं ने इसका विरोध किया और उसकी गतिविधियों पर बहुत रोक लग गई। समुद्री राज्यों के साथ चौदहवें लुई की लड़ाइयों के कारण फ्रांस का समुद्रपारीय व्यापार ठप्प हो गया तथा कम्पनी का कारबार और भी कम हो गया। इस मरणासन्न स्थिति से जान ला ने सन् 1720 में उसका उद्धार किया। लेकिन तब वह राज्य का ही एक विभाग बन गई और कारबार के सम्बन्ध में न वह कोई पहल कर सकती थी और न उसका कोई उत्तर-दायित्व ही था। नरेश हिस्सेदारों में से उसके डाइरेक्टर नामजद करता था और वे सरकार-द्वारा नियुक्त दो हाई कमिश्नरों के निर्णयों का पालन करते थे। डाइरेक्टरों की बैठकों का सभापति फ्रांस का कंट्रोलर-जनरल (महानियन्त्रक) होता था और सभी महत्वपूर्ण मामलों में उसकी स्वीकृति लेना आवश्यक था। कम्पनी को वाणिज्यवादी नीति के अनुसार प्रभूत अधिकार—व्यापार का एकाधिकार तथा युद्ध और सन्धि करने का अधिकार—दे दिए गए थे।

परन्तु स्वतन्त्रता के अभाव में पहल करने की शक्ति दब गई और उद्योगपतियों के विरोध के कारण दूरदर्शितापूर्ण वाणिज्यिक नीतियां निर्धारित न की जा सकीं। कौंसिल में सरकार का आधिपत्य होने के कारण कम्पनी में वे सभी बुराइयां घुस आईं, जिनका फ्रांस

1. 'कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 57

अठारहवीं शताब्दी में शिकार था। वित्तीय व्यवस्था अच्छी नहीं थी, कम्पनी ऋणग्रस्त थी और डूप्ले की योजनाओं के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध नहीं था। यूरोप महाद्वीप में हो रही लड़ाइयों और चौदहवें लुई की पूर्वव्यस्तता के कारण व्यापारिक जहाज़ों और नौसेना की अवहेलना की जाने लगी। अपनी अकुशलता और कुप्रबन्ध के लिए फ्रांस को भारी कीमत चुकानी पड़ी। उसकी सामन्तवादी राजनीतिक व्यवस्था अठारहवीं शताब्दी की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। राज्य-क्रान्ति के समय यह व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई और इसके साथ-साथ वे संस्थाएं भी मिट गईं, जो इसके आश्रय में पनप रही थीं।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने प्रतिद्वन्द्वियों से अधिक भाग्यशाली थी। वह एक स्वतन्त्र संस्था थी और उसके कारवार में सरकारी हस्तक्षेप वाधक नहीं था। शासन के साथ उसके सम्बन्ध बड़े लचीले थे और, गृह-युद्धों तथा राज्य-क्रान्तियों का उस पर असर पड़ने पर भी, न तो वैधानिक उलट-फेरों से ही कभी उसका गहरा सम्बन्ध रहा और न विदेशी लड़ाइयों से। सत्ता चाहे राजा के हाथ में रही या संसद् के, कम्पनी के हित समग्र रूप से सुरक्षित रहे, क्योंकि इंग्लैण्ड सामुद्रिक शक्ति के विकास और राष्ट्रीय समृद्धि के विस्तार में उसके योगदान का महत्व मानता था। अंग्रेज़ों की राजनीतिक व्यवस्था—चाहे वह ट्यूडरों का-सा राजतन्त्रीय शासन रहा या क्रामवेल के समय की संसदीय तानाशाही, या अठारहवीं शताब्दी का उच्च मध्य-धनिक-वर्गीय शासन—हमेशा जनता की इच्छाओं के प्रति संवेदनशील और जनकल्याण की इच्छुक बनी रही। इस दृष्टि से यह व्यवस्था पुर्तगाल, स्पेन और फ्रांस की तत्कालीन व्यवस्थाओं से बेहतर थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का संगठन और उसके व्यापारिक तरीके भी फ्रांसीसी तथा डच कम्पनियों से अच्छे थे। उक्त कम्पनियों के विपरीत, अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक समृद्ध संस्था थी, जो ज़रूरतमन्द सरकारों को ऋण भी दे देती थी। उसने व्यापार की ऐसी योजनाएं बना रखी थीं, जो देश के लिए लाभप्रद थीं और साथ ही जिनसे देश के औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव भी नहीं पड़ता था। मंदगामिनी नदी की भांति देश से बाहर चली जानेवाली मूल्यवान धातुएं अनगिनत उपभोग्य और पुनर्निर्यात-योग्य वस्तुओं के रूप में वापस आ जाती थीं और इंग्लैण्ड की समृद्धि में योगदान करती थीं। अंग्रेज़ी कम्पनी को यद्यपि कठिन परीक्षाओं में से गुज़रना पड़ा, तथापि वह अपनी अन्तर्निहित उत्कृष्टता के कारण अन्त में विजयी हुई।

बंगाल—विजित होने से पहले

आस्ट्रिया के उत्तराधिकार-युद्ध से यूरोप की शान्ति भंग होने से पहले, अंग्रेज और फ्रांसीसी, जिनके बीच दक्षिण-भारत में प्रभुत्व के लिए प्रतिस्पर्धा चल रही थी, अपनी सांग्रामिक गतिविधियां स्थगित करने के लिए सहमत हो गए थे। सन् 1754 की सन्धि डूप्ले के शानदार मंसूबों की असफलता की प्रतीक थी। और, हालांकि बुसी नामक दूसरा प्रतिभाशाली फ्रांसीसी दक्कन के निज़ाम पर तब भी अपना दृढ़ शासन बनाए हुए था, किन्तु भारत में फ्रांसीसियों की स्थिति की कमज़ोरियां स्पष्ट हो गई थीं। इस प्रकार, जब कि फ्रांसीसी अपने घाव सहला रहे थे और निकट भविष्य में होनेवाली उस लड़ाई की तैयारी में जुटे थे, जिसे वे अवश्यम्भावी समझते थे, अंग्रेज़ अपनी सफलता के गर्व में फूले नहीं समा रहे थे। फ्रांसीसियों ने जो बाज़ी शुरू की थी, उसके वे सभी दांव-पेंच

सीख गए थे और अपने उस्तादों से भी आगे बढ़ निकले थे। उन्होंने फ्रांसीसियों की योजनाओं को निष्फल कर दिया था और उनसे बढ़ कर राजनयिक लाभ प्राप्त कर लिए थे। उन्होंने भारतीय सरदारों और उनकी सैनिक शक्ति का अन्दाज़ा लगा लिया था। यह उनका सौभाग्य रहा कि सन् 1756 और 1758 के बीच यूरोप में लड़ाई के चलते रहने पर भी उन्हें अपने प्रतिद्वन्द्वियों से किसी भीषण संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से नहीं उलझना पड़ा। हां, इस अवधि में उन्हें भारत में अपनी योजनाओं के सम्बन्ध में अचानक ही बंगाल में एक नई चुनौती का सामना अवश्य करना पड़ा।

सन् 1756 में बंगाल के नवाब अल्लावर्दी खां की मृत्यु हुई, जिसने पन्द्रह वर्ष तक इस प्रान्त में शासन किया था। उसकी मृत्यु से भारत के इतिहास में एक निर्णायक अध्याय का आरम्भ हुआ। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल अपने गवर्नरों के कारण भाग्यशाली रहा। मुर्शिद कुली खां, जो सन् 1701 में बंगाल का दीवान नियुक्त किया गया था, अपनी मृत्यु (1727) तक वहां की बागडोर सम्भाले रहा। उसके बाद उसका दामाद शुजा खां चौदह वर्ष तक इस प्रान्त पर शासन करता रहा। मुर्शिद कुली खां के निकम्मे पुत्र के एक वर्ष के अल्पावधिक शासन के बाद अल्लावर्दी खां ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली और सन् 1756 तक शासन करता रहा। ये तीनों व्यक्ति प्रबल और कुशल प्रशासक थे और उनके शासन में बंगाल बहुत फूला-फला—यहां तक कि, उस समय बंगाल को 'भारत का स्वर्ग' माना जाता था।

इसके कई कारण थे। जब कि भारत के शेष भाग भाई-भाई की लड़ाइयों, मराठों के आक्रमणों और जाटों के उपद्रवों से विक्षिप्त थे और उत्तर-भारत में नादिर शाह तथा अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों के कारण तबाही मची थी, बंगाल में समग्र रूप से शान्ति बनी रही। मराठों के आक्रमण (1742-52) अवश्य एक दुखदायी घटना बन गए, क्योंकि उनके कारण उड़ीसा उनके अधिकार में चला गया, अन्यथा शान्ति में कोई विशेष बाधा नहीं पड़ी। शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने के साथ-साथ ऐसे प्रशासनिक उपाय भी किए जाते रहे, जिनसे प्रान्त आर्थिक समृद्धि की ओर अग्रसर हो रहा था। सरकार की आय के दोनों साधनों—भूराजस्व और व्यापार—की ओर विशेष ध्यान दिया जाता रहा।

उत्तर-कालीन मुगलों के शासन में जागीर-प्रथा के अपरिमित विस्तार से दूसरे प्रान्तों की तरह बंगाल की भी क्षति हुई। यह प्रथा आर्थिक दृष्टि से अपव्ययपूर्ण और राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक थी। मुर्शिद कुली खां ने इस सम्बन्ध में बड़ी कठोरता से काम लिया। बंगाल में अधिकतर जागीरें फिर से शुरू हो गई और जागीरदारों को उड़ीसा में भूमि दे दी गई। इस प्रकार बनाई गई 'खालसा' (सम्राट् की) ज़मीनों पर सीधा सरकारी अधिकार हो गया। उनका भूराजस्व निर्धारित करने के लिए कई प्रणालियां उपलब्ध थीं। टोडरमल की 'ज़ब्त'-प्रथा सबसे अधिक वैज्ञानिक थी। उसका आधार यह था कि किसानों की जोतों की पैमाइश हो, उनकी औसत उपज का अनुमान लगा लिया जाए और उसमें से नगदी के रूप में राज्य का अंश निर्धारित कर दिया जाए। बंगाल की भूमि और जलवायुगत विशेषता के कारण वह तरीका वहां के लिए अव्यवहार्य हो गया। सेटन-कार के शब्दों में, "भारत के कदाचित् किसी भी अन्य प्रान्त से अधिक बंगाल के निचले भाग में, वहां की उन नदियों के भयंकर वेग के कारण अधिकतम अप्रत्याशित परिवर्तन होते हैं, जो बरसात के मौसम में अपने साथ मटियाले पानी की

वाढ़ ले आती हैं। पानी का यह विशाल परिमाण प्राकृतिक बाधाएं लांघ जाता है, पूरे-के-पूरे गांव बहा ले जाता है, पूर्णतः या अंशतः जागीरों को अपने में डुबा कर विलीन कर देता है, वड़े-वड़े इलाकों को जलमग्न कर देता है और अक्तूबर के महीने में अपने पीछे वाढ़ की मिट्टी छोड़ कर चला जाता है, जिसके कारण भूमि के सभी सीमा-चिह्न मिट चुके होते हैं और इन ज़मीनों के स्वामी अपनी भूतपूर्व सीमा-रेखाएं ढूंढ़ते रह जाते हैं।"[1]

वंगाल में किसान अधिकांशतः ऐसे छोटे-छोटे इखरे-विखरे पुरवों में रहते थे, जो चारों ओर से दुर्गम नदियों से घिरे होते थे। ऐसी परिस्थितियों में लम्बी अवधि के लिए ठीक-ठीक भू-अभिलेख नहीं रखे जा सकते थे और इसीलिए नवाब गांवों को पट्टे पर दे देना अधिक पसन्द करते थे। भूस्वामी लगान की वसूली बड़ी निर्दयता से करते थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि राज्य की तिजोरियां तो रुपये-पैसे से लबालब भर गई, किन्तु किसानों की गरीबी अपनी चरम सीमा पर जा पहुंची। ज़मींदारों की हालत भी बेहतर नहीं थी। उन पर यह सन्देह किया गया कि वे अपने लाभ के लिए राजस्व के मामले में गड़बड़ कर रहे हैं। अतः उनसे उनके काम छीन लिए गए। 'आमिलों' या राजस्व-अधिकारियों की नियुक्ति कलेक्टरों के रूप में कर दी गई। इन पदों पर मुख्यतः हिन्दू नियुक्त किए गए थे, क्योंकि ढीठ मुसलमानों की अपेक्षा हुक्मबरदार हिन्दुओं पर देखरेख रखना आसान था।

इन उपायों का परिणाम यह निकला कि राजस्व की प्राप्तव्य रकम—जिसका टोडरमल ने एक करोड़ रुपये से कुछ अधिक का अनुमान लगाया था—मुर्शिद कुली खां के समय में बढ़ कर लगभग डेढ़ करोड़ रुपये हो गई और अल्लावर्दी खां की मृत्यु के समय एक करोड़ छियासी लाख। राजस्व की यह वृद्धि मुख्यतः उपकरों के बढ़ाए जाने के कारण हुई। परन्तु राजस्व की यह मांग बराबर बढ़ने पर भी वास्तविक वसूली मांग की तुलना में काफी कम होती थी। सन् 1762-63 में, जब कि साढ़े सात करोड़ रुपये से भी अधिक राजस्व की मांग की गई, वसूली उसके पचास प्रतिशत से भी कम रही। इन रकमों के बकाया रहते हुए भी, प्रान्त की आमदनी बराबर बढ़ती गई।

प्रान्त की आमदनी का दूसरा महत्वपूर्ण साधन सीमा-शुल्क था। इस अवधि में विदेशी व्यापार में असामान्य वृद्धि हुई। अकेले ढाका से लगभग तीस लाख रुपये का कपड़ा एशियायी देशों को भेजा गया। कासिम बाजार में लगभग 25 लाख पौंड रेशम तैयार किया गया। मुर्शिदाबाद के सीमा-शुल्क-कार्यालय ने सत्तर लाख रुपये की कीमत के रेशम का उत्पादन दर्ज किया। वंगाल से ईरान की खाड़ी के प्रदेशों और भारत के प्रान्तों को पचास हज़ार मन चीनी तथा पर्याप्त मात्रा में पटसन भी भेजा गया। विदेशों के हाथ और कई चीज़ें—जैसे शोरा, अफीम, आदि—भी बेची गई। सन् 1706 से 1756 तक की अर्द्ध-शताब्दी में वंगाल को उसके निर्यातों के बदले में लगभग साढ़े छः करोड़ रुपये का सोना-चांदी और लगभग 2.3 करोड़ रुपये का व्यापारिक माल मिला।

पूर्वी तथा पश्चिमी एशिया के देशों तथा अफ्रीका और यूरोप में भारत में बनी वस्तुओं की अच्छी मांग थी और समुद्री परिवहन के लाभकारी व्यापार में भारतीय और दूसरे एशियायी देशों के सौदागरों के स्थान पर अब यूरोप के जो व्यापारी काम कर रहे थे,

---

1. डब्ल्यू० एस० सेटन-कार, 'कार्नवालिस', (रूलर्स आफ इण्डिया सीरीज़), पृष्ठ 154-55

वे खासा लाभ कमा रहे थे। समुद्रपारीय व्यापार के परिमाण में अपार वृद्धि हुई थी और कम सीमा-शुल्कों (मूल्यानुसार 2.5 प्रतिशत) तथा अंग्रेजों को सीमा-शुल्कों के सम्बन्ध में दी गई छूट के बावजूद समूचे मुगल-साम्राज्य की, विशेषकर बंगाल की, आमदनी काफी थी।

विदेशी व्यापार से उद्योगों को प्रोत्साहन मिला और देश अधिक समृद्ध हुआ। यही कारण था, जिससे भारत के शासक अंग्रेज और दूसरे व्यापारियों का इतना अधिक सम्मान करते थे। इसके बहुत-से उदाहरण प्राप्त हैं। औरंगज़ेब ने सन् 1686-89 की लड़ाई के बावजूद अंग्रेज़ी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को फिर वे सारी सहूलियतें दे दीं, जो पहले उसे प्राप्त थीं। फर्रुखसियर ने बंगाल के गवर्नर का आदेश रद्द करके और एक शाही आदेश जारी करके सन् 1716 में उन्हें पुनः सीमा-शुल्कों से छूट दे दी। आज़िमुश्शान ने डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों को अपनी कोठियों की किलेबंदी करने और उनकी रक्षा के लिए भारतीय सैनिक रखने की अनुमति दी। मुर्शिद कुली खां ने व्यापारियों के प्रति बड़ा अनुराग दिखाया और परिणाम यह हुआ कि हुगली एक महान् सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। कलकत्ता की आबादी सन् 1704 के 15,000 से बढ़ कर सन् 1750 में एक लाख हो गई और ढाका तथा मुर्शिदाबाद घनी आबादीवाले नगर बन गए।

व्यापार, उद्योग और कृषि की उन्नति से साहूकारी-प्रथा को भी प्रोत्साहन मिला। इसका प्रमाण था, 'जगत्-सेठों' का उदय। वे प्रान्तीय सरकार की ओर से एक ही समय में एक करोड़ रुपये तक की हुंडियां जारी कर सकते थे। मुर्शिद कुली खां इन्हीं के एजेण्टों की मार्फत बंगाल का वार्षिक राजस्व दिल्ली भिजवाता था। ऐसी दशा में उस समय की राजनीति में उनका महत्वपूर्ण हाथ होना स्वाभाविक था।

सम्पत्ति-वृद्धि के दूसरे उपाय भी किए गए। सरकारी व्यय में कमी की गई। लेकिन मितव्ययिता के उद्देश्य से सशस्त्र सेनाओं में कमी करके केवल दो हज़ार घुड़सवार और चार हज़ार पैदल सैनिक रखना, निस्सन्देह, बुद्धिमत्ता का काम नहीं माना जा सकता।

भारत पतन, पराभव और दिवालिएपन का जो अन्धकारपूर्ण चित्र प्रस्तुत कर रहा था, उसमें बंगाल ही एकमात्र समृद्ध प्रकाशस्थल—"मुगल-साम्राज्य में शेष बची एकमात्र चांदी की खान"—था। इस तरह, हुआ यह कि जब सभी दूसरे प्रान्त असहाय सिद्ध हो रहे थे, तब औरंगज़ेब दक्कन के अपने विफल अभियानों के खर्चों के लिए मुर्शिद कुली खां पर निर्भर था। उसे बंगाल से प्रतिवर्ष एक करोड़ रुपये मिलते थे और उसके बदले में उसने गवर्नर को खुली छूट दे रखी थी कि वह वहां जो चाहे, करे। उसने गवर्नर से कहा—"तुम पूरे अधिकारोंवाले दीवान और फौजदार हो; तुम्हारे विरुद्ध किसी का भी आरोप मानने के लिए मैं तैयार नहीं।"[1]

दुर्भाग्यवश, विपुलता के उस चमचमाते बाह्य दृश्य के पीछे एक जीर्ण-शीर्ण ढांचा था, जो इतना कमज़ोर था कि समुद्र-पार से आनेवाले तूफान के पहले झोंके से ही ढह गया। नवाब और उसके अत्याचारी धनिकतन्त्रवादी शासनाधिकारियों का धन-वैभव दरिद्र किसानों और दीन शिल्पकारों के श्रम तथा सन्ताप का ही पुरस्कार था।

---

1. इनायतुल्ला का 'अहकाम', 218; देखिए, यदुनाथ सरकार-कृत 'द हिस्ट्री आफ बंगाल', खण्ड 2 (1948 का संस्करण), पृष्ठ 401

अनभिजात शासकों और उनकी चिरपीड़ित प्रजा का सम्वन्ध रेत की कड़ियों के समान था।

भारतीय जनता के वीच रहनेवाले विदेशियों ने इस व्यवस्था की शक्ति को भी भलीभांति समझ लिया था और कमज़ोरी को भी। भारतीय शासकों की सामर्थ्य के सम्वन्ध में उनकी राय वहुत खराव थी। भारतीय सेना के विषय में वर्नियर ने अपने विचार इन शव्दों में व्यक्त किए हैं: "ये विशाल सेनाएं प्राय: वड़े-वड़े कारनामे कर दिखाती हैं, लेकिन जव इनमें अव्यवस्था फैलती है, तव फिर अनुशासन कायम करना असम्भव हो जाता है।···मैंने जव-जव इन्हें अनुशासनहीन अवस्था में पशुओं के झुंड की भांति अनियन्त्रित रीति से चलते देखा है, तव-तव मुझे ऐसा लगा है कि भारतीय सैनिकों की संख्या चाहे कितनी ही अधिक क्यों न हो, किन्तु प्रिंस कोंडे या मार्शल टुरीन के नेतृत्व में फ्लैंडर्स की सेना के हमारे पच्चीस हज़ार चुने हुए सैनिक भी उन पर कितनी सरलता से विजय प्राप्त कर सकते हैं।"[1] अठारहवीं शताव्दी के अन्त के एक लेखक ने कहा है कि "उनका प्रवन्ध जितना खर्चीला था, उतना ही दोषपूर्ण भी था।··मानो उन असंख्य हट्टे-कट्टे सैनिकों और चुस्त घोड़ों का अपने सरदारों की युद्ध-यात्रा की शोभा वढ़ाने के अतिरिक्त कोई और उद्देश्य ही न था।"[2] मार्क्विस आफ अलोर्ना ने भारतीय सरदारों के सैन्य-समूहों की अनुशासनहीनता की चर्चा करते हुए कहा है: "मैं ऐसी सेना पर, चाहे उसकी संख्या पचास हज़ार ही क्यों न हो, पांच हज़ार नियमित सैनिकों की टुकड़ी से हमला करने में कदापि नहीं हिचकूंगा।"[3] जो फ्रांसीसी और अंग्रेज़ कमांडर भारतीय सरदारों की सेनाओं के विरुद्ध वास्तव में लड़े थे, उनकी भी इन लोगों की सैनिक सामर्थ्य के वारे में वहुत वुरी राय थी। मिसाल के तौर पर, डूप्ले ने पेरिस में कम्पनी के डाइरेक्टरों को लिखा: "कृष्णा नदी के इस ओर के सभी गढ़ों और प्रान्तों को 500 यूरोपीय सैनिक कब्ज़े में कर सकते हैं।"[4] क्लाइव ने 7 जनवरी, 1759 को विलियम पिट को लिखा कि मीर जाफर और मीरन से कम्पनी 2,000 यूरोपियनों·····की सहायता से प्रभुसत्ता अपने हाथ में ले सकती है।"[5]

सच तो यह है कि यूरोपियन सेनाएं "सहस्रवाहु दानव के समान थीं, जो एक ही मस्तिष्क के आदेशों के अनुसार आत्मरक्षा या प्रहार करती थीं", जव कि भारतीय सेनाएं "एक अनुशासनहीन जमघट के समान थीं, जो पास-पास लड़ते हुए भी न तो प्रभावपूर्ण आघात ही कर सकती थीं और न प्रतिरोध।"

जान पड़ता है कि अल्लावर्दी खां को इस कमज़ोरी का कुछ आभास था। सम्भवत: उसने इस आभास की अभिव्यक्ति इन शव्दों में कर भी दी थी: "इस समय तो धरती पर

---

1. एफ० वर्नियर, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 55
2. देखिए, विलियम इरवाइन-कृत, 'द आर्मी आफ द इण्डियन मुगल्स' (लन्दन 1903), पृष्ठ 300
3. एस० एन० सेन, 'द मिलिटरी सिस्टम आफ द मराठाज' (1958 का संस्करण), पृष्ठ 72-73
4. वी० एम० थाम्पसन, 'डूप्ले ऐण्ड हिज लेटर्स' (न्यूयार्क, 1933), पृष्ठ 695
5. जे० मैलकम, 'द लाइफ आफ रावर्ट लार्ड क्लाइव', खण्ड 2, पृष्ठ 120-21

लगी आग बुझाना भी कठिन है। यदि समुद्र से भी आग की लपटें निकलने लगीं, तो उन्हें कौन शान्त कर सकेगा ?"[1]

जब सन् 1756 में उसकी मृत्यु हुई और उसका पोता सिराजुद्दौला बंगाल के 'मसनद' पर आसीन हुआ, तब समुद्र से आग की लपटें निकलने लगीं। उसी वर्ष अहमद शाह अब्दाली पंजाब में घुसा था। बंगाल पर उसका यह प्रभाव पड़ा कि साम्राज्य से प्राप्त होनेवाली सहायता नगण्य हो गई। सिराजुद्दौला ने शायद दिल्ली से पूछे बिना ही गवर्नर का पद सम्भाल लिया, क्योंकि स्वयं सम्राट् की स्थिति सन्देहात्मक थी।

बंगाल-विजय

उस समय सिराजुद्दौला-जैसे शासक की आवश्यकता नहीं थी। वह एक बिगड़ा हुआ लड़का था, जिसे एक बूढ़े की चापलूसी ने ढीठ और निकम्मा बना दिया था। अपने उत्पीड़क, स्वच्छन्द और निष्ठुर व्यवहार से उसने छोटे-बड़े, सभी को अप्रसन्न कर दिया था। वह जब "अपने चिर-निर्धारित राजसिंहासन पर बैठा, तब घर में फूट तथा कलह थी; सेना में वैर-भावपूर्ण गुटबन्दी थी और प्रजा में असन्तोष था।"[2] उसके यूरोपीय निन्दकों ने उसका चरित्र-चित्रण करते हुए उस पर खूब कालिख पोती है, लेकिन उसके दूसरे कार्य चाहे कितने भी असमर्थनीय क्यों न रहे हों, जहां तक अंग्रेजों का सम्बन्ध था, स्वयं उसके द्वारा किए गए अपराधों की अपेक्षा उसके प्रति किए गए अपराध ही अधिक रहे।

उसके और कलकत्ता-स्थित ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एजेण्टों के बीच जो झगड़ा हुआ, उसमें उसका पक्ष बिल्कुल जायज़ था। उन्होंने उसके सिंहासन-ग्रहण को मान्यता देने की सामान्य शालीनता भी नहीं दिखाई। उन्होंने उसके इन्साफ से भागनेवाले एक व्यक्ति को अवैध रूप से शरण दी थी और उसके कर्मचारी को कलकत्ता से—जिस पर तब भी बंगाल के नवाब की प्रभुसत्ता थी—निकाल दिया था। और, सबसे बुरी बात यह कि उन्होंने बिना उसकी आज्ञा प्राप्त किए कलकत्ते में किलेबंदी कर ली थी और गढ़-सेनाओं की रक्षा के लिए सैनिकों की संख्या बढ़ा दी थी। इस तरह, उन्होंने अल्लावर्दी खां के पूर्व-आदेशों का भी खुलेआम उल्लंघन किया था, जिसने फ्रांसीसियों और अंग्रेज़ों से कह दिया था : "तुम व्यापारी हो, तुम्हें किले का क्या करना है ? मेरे संरक्षण में रहते हुए तुम्हें शत्रुओं का कोई भय नहीं।"[3]

अंग्रेज़ों ने क्षमा-याचना-द्वारा उसका क्रोध शान्त करने के प्रयत्न किए, लेकिन वे युद्ध की तैयारियां भी करते रहे। पहले उन्हें यह आशा थी कि फ्रांसीसी और डच उनकी सहायता करेंगे, पर वहां से सहायता न मिलने पर वे अपनी सेना बढ़ाने लगे, रसद इकट्ठी करने लगे और रक्षा-सम्बन्धी निर्माण-कार्य में जुट गए। इन कार्रवाइयों से क्रुद्ध होकर वह तत्काल कलकत्ता पहुंचा, अंग्रेजों की चौकियों पर उसने धावा बोला और फोर्ट विलियम पर चढ़ाई करके उसे अपने अधिकार में ले लिया। किन्तु उसने अंग्रेज़ गवर्नर को अपने जहाजों के साथ फलता भाग जाने दिया, जहां वह तब तक चुपचाप बैठा रहा, जब तक क्लाइव के नेतृत्व में मद्रास से और सेना नहीं आ गई।

---

1. एस० सी० हिल, 'बंगाल इन 1756-57', खण्ड 1, पृष्ठ 32
2. यदुनाथ सरकार, 'हिस्टरी आफ बंगाल', खण्ड 2, पृष्ठ 470
3. वही, पृष्ठ 452

सामरिक दृष्टि से इससे बड़ी भूल और नहीं हो सकती थी, क्योंकि इस तरह अंग्रेजों के हाथ में फलता एक ऐसा स्थान बना रह गया, जहां से वे फिर संगठित होकर अपनी नौसेना-द्वारा अपने हाथ से निकले हुए नदी पर स्थित किले प्राप्त कर सकते थे। मद्रास की सेना के साथ क्लाइव के बंगाल पहुंचने पर सारी स्थिति ही बदल गई। बंगाल के गुमाश्ते बड़े कायर निकले। सन् 1686-89 की याद उनके मस्तिष्क में चक्कर काट रही थी और मुगल सम्राट् को सन् 1712 में भेजे गए जान रसेल के पत्र में जो दीनता व्यक्त की गई थी, उसकी छाप उनके दिमाग में अभी तक बनी थी।[1] परन्तु दक्कन की विजय नशीली शराब के समान प्रतीत हुई और उसके परिणामस्वरूप वाटसन और क्लाइव-द्वारा सिराजुद्दौला को लिखे गए पत्रों में मानो आग ही उगली गई। क्लाइव ने नवाब को लिखा : "महामहिम को दूसरों से पता चलेगा कि बंगाल में कितनी सेना आ पहुंची है। इतनी बड़ी सेना आपके प्रान्त में पहले कभी नहीं दिखाई दी थी। जब महामहिम को इन सब बातों का पता चलेगा और आप इन पर गम्भीरता से विचार करेंगे, तब मेरा विश्वास है कि आपको अपना, हमारा और अपने प्रान्त के व्यापार का ध्यान इतना अधिक हो जाएगा कि कम्पनी को जितनी हानि उठानी पड़ी है, उस सबकी क्षतिपूर्ति का आश्वासन देने के लिए आप तैयार हो जाएंगे।"[2]

वाटसन इससे भी अधिक मुंहफट निकला। किसी प्रकार की कूटनीतिक शिष्टता दिखाए बिना ही वह भभक उठा : "मैं आपके देश में ऐसी आग लगा दूंगा कि गंगा का सारा पानी भी उसे बुझा नहीं पाएगा।"[3] उन "लड़ाई-झगड़ों दांव-पेंचों, प्रवंचनाओं, षड्यन्त्रों, राजनीतियों और ईश्वर जानता है कि क्या-क्या नहीं"[4] की उस दुखद कथा का विस्तारपूर्वक उल्लेख यहां आवश्यक नहीं, जिनके द्वारा बंगाल पर अंग्रेज़ों का अधिकार हुआ।

जून 1757 में प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला पराजित कर दिया गया और मीर जाफर खां ने कृपापूर्वक कर्नल "क्लाइव के सियार" और बंगाल के नवाब की कठपुतली की अपमानजनक भूमिका अदा करना स्वीकार कर लिया। प्लासी के युद्ध से परिणामों की एक लम्बी शृंखला शुरू हुई, जिसने भारत का रूप पूर्णतः बदल दिया। शताब्दियों से चली आ रही अर्थ-व्यवस्था तथा शासन-व्यवस्था में भारी परिवर्तन हो गए।

प्लासी की लड़ाई ने सत्ता का हस्तान्तरण किया, बक्सर की लड़ाई (1764) ने अधिकारों को जन्म दे दिया। नाममात्र के मुगल सम्राट् ने फरमान जारी करके बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रान्तों की दीवानी कम्पनी को दे दी। इस तरह कम्पनी के इतिहास में वैध आर्थिक व्यापार का युग समाप्त हुआ और राजनीतिक सत्ता की

---

1. बंगाल की अंग्रेजी बस्तियों के गवर्नर जान रसेल ने लिखा : "जान रसेल की अनुनय, जो रेत के एक छोटे-से कण के समान है और जिसका ललाट विश्व के आश्रय तथा एकछत्र सम्राट् के पादपीठ के अग्रभाग के समान है, आदि, आदि"। देखिए, जे० एस० लुडलो-कृत 'ब्रिटिश इण्डिया, इट्स रेसेज ऐण्ड इट्स हिस्टरी' (कैम्ब्रिज, 1858), खण्ड 1, पृष्ठ 139

2. एस० सी० हिल, 'बंगाल इन 1756-57', खण्ड 2, पृष्ठ 76

3. वही, खण्ड 1, पृष्ठ 162

4. ओर्मे को क्लाइव का पत्र, देखिए पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ, पृष्ठ 203

छत्रछाया में तथा राजस्व की सहायता से किए जानेवाले व्यापार का युग आरम्भ हुआ। भारत के इतिहास में यह उन नई सामाजिक शक्तियों के प्रवर्तन का सूत्रपात था, जिनका उदय दूर पश्चिम में हुआ था और जिन्हें समुद्रों तथा महाद्वीपों में से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सारी दुनिया को अपने में जकड़ लेना था।

अंग्रेजों की सफलता के कारण

इतिहास का यह एक विचित्र सत्य है कि इस विशाल और दुर्द्धर्ष शक्ति के एजेण्ट अधिकतर सिद्धान्तशून्य, लालची, झगड़ालू और ईर्ष्यालु व्यक्ति थे तथा इन दुस्साहसियों के नियन्त्रण में उनके ही देश के वे लोग—निम्न श्रेणी के वे लोग—थे, जिनमें से बहुत-से सचमुच पृथ्वी के अभिशाप—अपराधी, धर्मत्यागी, वर्णसंकर और यूरोप की सभी जातियों के नीच जन, थे।[1] डूप्ले के शब्दों में—"कम्पनी कर्मचारियों और अधिकारियों के रूप में ऐसे भिखमंगों को भेजता है, जिनके पास तन ढंकने के लिए एक कमीज भी नहीं होती।"[2] एक प्रत्यक्षदर्शी ने बम्बई छोड़ देने के बाद कहा : "मैं आतंकित हुए बिना यह बता पाने में भी असमर्थ हूं कि इस जगह सभी प्रकार के नीच कर्म किस अधोगति तक पहुंच गए थे। अंग्रेजों के कार्रवाई करने के सिद्धान्तों तथा उनसे उद्भूत दुराचारों ने ही उनकी विपत्तियों के लिए मार्ग बनाया और वायुमण्डल को उन व्याधिजनक तत्वों से भरने में योग दिया, जिन्होंने उनकी प्राणशक्ति को अपने चंगुल में लेकर उनकी परलोक-यात्रा को शीघ्र-सम्भव बना दिया। भोग-विलास, निर्लज्जता और आचार-व्यवहार के व्यभिचारमूलक विनाश को अपने लिए नितनवीन कार्य-सामग्री प्राप्त होती रही।"[3] ऐण्डरसन ने लिखा है : "सभी तरह के पापाचार वहां अधिकतम मात्रा में विद्यमान थे और सबसे अधिक घृणित पाप भी वहां अपरिमित रूप से किए जा रहे थे।"[4] उसने आगे लिखा है : "व्यभिचार की प्रचुरता प्रकट करने के लिए कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स को गवाही के लिए बुलाया जाना चाहिए। नैतिक पतन इतना अधिक हो गया था कि उन्हें हस्तक्षेप करने के लिए विवश होना पड़ा और सन् 1682 में कड़े आदेश भेजे गए कि अधिकृत रूप से तत्काल सुधारात्मक उपाय किए जाएं। उन्होंने अत्यन्त भर्त्सनापूर्वक उस 'लम्पटता,

---

1. कार्नवालिस की फौज का वर्णन कीथ ने इस प्रकार किया है : "उसकी सेना यद्यपि बहुत बड़ी—कुल मिला कर 70,000—थी, किन्तु बहुत घटिया किस्म की थी, विशेषकर कम्पनी की सेना के वे 6,000 यूरोपियन, जो लन्दन की गलियों के निम्न लोगों और जेलों से निकले हुए थे तथा जिनके अधिकारी नष्ट-भ्रष्ट युवक या धन के पीछे भागनेवाले लोलुप व्यक्ति थे।" —ए० बी० कीथ, 'ए कांस्टीट्यूशनल हिस्टरी आफ इण्डिया', 1600-1935, (दूसरा संस्करण, 1937) पृष्ठ 104

2. डूप्ले-द्वारा द बेक्येनकोर्ट को 15 फरवरी, 1753 को लिखा गया पत्र; वी० एम० थाम्पसन-द्वारा अपने ग्रन्थ, 'डूप्ले ऐण्ड हिज लेटर्स' (न्यूयार्क, 1933), के पृष्ठ 724 पर उद्धृत

3. पी० ऐण्डरसन-द्वारा उद्धृत, 'द इंग्लिश इन वेस्टर्न इण्डिया' (बम्बई, 1854), पृष्ठ 130

4. वही, पृष्ठ 130

अपव्यय, लापरवाही और मूढ़ता' का उल्लेख किया, जो उस समय मामूली बात बन चुकी थी। अपव्ययी और दूषित आदतों को रोकने के लिए वे दृढ़प्रतिज्ञ थे।"[1]

उनके पक्ष में यदि कुछ कहा जा सकता है, तो यही कि उनके प्रतिपक्षियों की स्थिति भी, नैतिक दृष्टि से, उनसे अच्छी नहीं थी। अंग्रेजों का विरोध करने तथा उनसे युद्ध करनेवाले भारतीय नरेश और कुलीन भी स्पृहणीय सद्गुणों से वंचित थे। डूप्ले ने उन्हें घूस देकर खरीदे जा सकनेवाले, कायर तथा "शासकीय और राजनयिक विश्वस्तता के प्रारम्भिक सिद्धान्तों को भी समझने"[2] में असमर्थ बताया है। उसने उनके लिए इन अन्य शब्दों का प्रयोग किया : अन्धविश्वासी, अस्थिर, परस्पर-अविश्वासी, शक्ति तथा डांट-डपट के प्रदर्शन में भरोसा रखनेवाले, धन के अलावा किसी और चीज़ की परवाह न करनेवाले, आरामपसन्द और उच्छृंखल। एक ऐसे विदेशी उद्यमी की इस धारणा में विद्वेष और अतिशयोक्ति सम्भव है, जो साम्राज्य स्थापित करने पर तुला हुआ था, परन्तु उसकी इस राय का समर्थन एक गम्भीर भारतीय इतिहासकार ने भी किया है। यदुनाथ सरकार ने अठारहवीं शताब्दी के भारतीय प्रशासन को नितान्त बेईमान और अयोग्यतापूर्ण तथा तत्कालीन शासकों को "छोटे, स्वार्थी, घमंडी और अयोग्य शासक-वर्ग" कह कर पुकारा है। उन्होंने उनके लिए कायर, कामी और क्रूरसम्भोगी-जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है। उनके शासन में "पारिवारिक जीवन की पवित्रता खतरे में पड़ गई . . . धर्म व्यभिचार और मूर्खता का दास बन गया।"

इसमें सन्देह नहीं कि उन लोगों में सार्वजनिक नैतिकता और राजनीतिक मेधा क अभाव था। उनके मन में न तो सार्वजनिक सद्गुण का ही कोई विचार था और न राज्य अथवा धर्म के प्रति कोई निष्ठा थी। किसी महान् लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपने व्यक्तिगत हितों के परित्याग का पाठ उन्होंने पढ़ा ही नहीं था। फिर भी, यह कहना न्यायोचित न होगा कि उनमें आत्मबल का अभाव था। उनमें से बहुत-से लोग निर्भीक वीर, अध्यवसायी, सूझ-बूझवाले, शान्त भाव से आत्म-परित्यागी और यातना सहने की असीम क्षमता रखनेवाले थे। वे प्राणों का मूल्य चुका कर भी विश्वासपात्र बने रह सकते थे और कभी-कभी तो अपनी वचन-रक्षा के लिए किया गया उनका संकल्प महामानवीय स्तर तक पहुंच जाता था।

उनके मानमर्दन और पराजय का कारण यह नहीं था कि वे अंग्रेजों या फ्रांसीसियों की अपेक्षा कम शूरवीर थे अथवा उनके हथियार और दांव-पेंच कम प्रभावशाली थे। अंग्रेज़ों की विजय पाप पर पुण्य की विजय नहीं थी, क्योंकि अठारहवीं शताब्दी—विशेषकर उसके पूर्वार्द्ध—में इंग्लैण्ड के रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार किसी भी प्रकार अनुकरणीय नहीं थे।

जार्ज प्रथम और जार्ज द्वितीय दिल्ली, मुर्शिदाबाद, पूना या हैदराबाद के तत्कालीन शासकों से श्रेष्ठतर नहीं थे। लार्ड चेस्टरफील्ड ने जार्ज प्रथम का वर्णन करते हुए कहा है कि वह आलसी, अभद्र, विलासी, विदूषकों तथा मसखरों की संगत का प्रेमी तथा मोटी औरतों पर लट्टू होनेवाला था। इंग्लैण्ड के प्रति उसे तनिक भी प्रेम न था। जार्ज

1. कोर्ट-द्वारा मई 1682 में बम्बई के डिप्टी-गवर्नर और कौंसिल के नाम लिखा पत्र; ऐण्डरसन-द्वारा उद्धृत, 'द इंग्लिश इन वेस्टर्न इण्डिया', (बम्बई, 1854), पृष्ठ 100

2. देखिए, वी० एम० याम्पसन-कृत, 'डूप्ले ऐण्ड हिज़ लेटर्स', पृष्ठ 697

द्वितीय अपने पिता की कुछ कम प्रचण्ड प्रतिकृति लगता था—अचेतन, जड़, अवसरवादी। और, उसके बौद्धिक स्तर का सार-संक्षेप उसकी इस विख्यात उक्ति में ही मिल जाता है कि उसके पास 'चित्तरकला और कवित्ता' के लिए कोई अवकाश न था। उन दोनों की संसदें काम ढूंढ़नेवाले दलालों का समूह-मात्र थीं, जिनके सदस्य दुश्चरित्र क्षेत्रों और भ्रष्ट नगरों-द्वारा चुने जाते थे। लन्दन के लोग उद्दंड थे, जिनकी दृष्टि में शिष्टता, कानून या व्यवस्था का विशेष आदर न था। उनके धृष्ट आवारापन के कारण गलियों में चलना भी भय से खाली न था। उस समय के एक व्यक्ति का मत है कि "हमारे अंग्रेजों को लड़ना रुचिकर लगता है।" 'जिन' नामक शराब बहुत पी जाने लगी थी। मदोन्मत्त युवक सभी प्रकार के अनाचार किया करते थे। 'गुंडे', 'नृत्य-शिक्षक' और 'नट' स्त्री-पुरुषों की ताक में रहते थे, उन्हें पीटते थे, उनके नाक-कान काट देते थे, गृहिणियों को लकड़ी के ढोलों में लुढ़का कर स्नो हिल के नीचे फेंक देते थे और उनके साथ अभद्र व्यवहार करते थे।

पुलिस के सिपाही प्रमत्त और अकुशल थे। होरेस वालपोल ने मदोन्मत्त पुलिसवालों के एक मामले का वर्णन करते हुए लिखा है कि उन्होंने पचीस-छब्बीस स्त्री-पुरुषों को—जिनमें एक गर्भवती महिला, भिक्षुक तथा व्यापारी भी थे—सेंट मार्टिन के एक वन्दीगृह में वन्द कर दिया और खिड़की तथा दरवाज़े वन्द करके उन्हें सारी रात वहीं रखा, यद्यपि वे पानी के लिए वरावर चिल्लाते रहे। सवेरा होने पर पता चला कि उनमें से चार का दम घुट गया है, दो की वाद में मृत्यु हो गई और वारह दर्दनाक दशा में थे।

डाकुओं, लुटेरों और वटमारों का बोलवाला था। वालपोल ने लिखा है: "यदि किसी को कहीं जाना हो, तो दोपहर में भी लोग इस तरह जाते थे, जैसे लड़ाई के लिए जा रहे हों।" अपराध, तस्कर व्यापार, जुएवाज़ी, जानवरों से कटवाना, परस्त्रीगमन, और व्यभिचार का साम्राज्य था। स्त्री-पुरुषों के आपसी सम्बन्ध भ्रष्ट थे। अस्थायी विवाह—यानी "सहमति और सहवास"—वैध माने जाते थे। लेकी का कथन है कि "परित्याग, दाम्पत्तिक अनास्था, वहुविवाह, छद्मी पादरियों-द्वारा कराए गए विवाह इस व्यवस्था के स्वाभाविक और प्रायः सामने आनेवाले परिणाम थे।"[1] पत्नियां नीलाम पर चढ़ाई जा सकती थीं।

धार्मिक पुनरुद्धारवाद और उसके सहचरों—वातोन्माद, विभ्रान्ति और वैराग्य, लोकोत्तर कार्यों में विश्वास, जादू-टोने और आध्यात्मिक मतभेदों—का वाहुल्य था। स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियां प्रवल थीं।

संक्षेप में, न तो अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड की सामाजिक दशा प्रशंसनीय थी और न तत्कालीन भारत की। फिर भी, अंग्रेज़ एक वात में वेहतर थे: उनमें राष्ट्र-भावना जाग गई थी और उन्होंने अनुशासन तथा संगठन में रहना सीख लिया था, जब कि भारत में इनका अभाव था।

अंग्रेज़ों की वंगाल-विजय विश्व-इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना है। जिन लोगों को इसका श्रेय मिला, वे केवल एक व्यापारिक निगम के सौदागर थे, जिन्हें युद्ध तथा युद्ध-विषयक गतिविधियों का कोई अनुभव नहीं था। उनके वहुत-से कमांडर मुंशी-वर्ग के आदमी थे, जो या तो स्वेच्छा से या अकारण ही सैनिक वना दिए गए थे। जिन लोगों

---

1. डब्ल्यू० ई० एच० लेकी, 'ए हिस्टरी आफ इंग्लैण्ड इन द एटीन्थ सेंचुरी', खण्ड 1, पृष्ठ 491; तथा आर० एच० फिलिप्स, 'जार्जियन स्क्रैप-वुक'

पर उन्होंने विजय पाई, वे भी न तो अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के असभ्य आदिवासी-जैसे थे और न अमेरिका के अर्द्ध-सभ्य रेड इण्डियन-जैसे। भारत को अपनी अत्यधिक विकसित सभ्यता और अपनी सांस्कृतिक सफलताओं के कारण विश्वविख्यात तथा समृद्धिशाली साम्राज्य पर गर्व था। उसके विभिन्न प्रकार के हस्तशिल्पों और श्रेष्ठ कलाओं में पश्चिम की अपेक्षा कहीं अधिक निपुणता परिलक्षित होती थी। दर्शन, धर्म और साहित्य के क्षेत्र में तो भारत अतुलनीय ही था। हां, विज्ञान, तकनीकों, उद्योग और राजनीति में पश्चिम अवश्य वाजी मार ले गया। फिर भी, अठारहवीं शताब्दी में दोनों में अधिक अन्तर न था।

अंग्रेजों की यह विजय एक अन्य दृष्टि से भी अद्भुत थी। यह पूर्णत: विजित के खर्च पर ही प्राप्त की गई थी, क्योंकि युद्ध और विजय के लिए कम्पनी ने एक पैसा भी खर्च नहीं किया। यह विजय इसलिए भी विलक्षण रही कि विजय के साधन मुख्यत: विजितों-द्वारा ही उपलब्ध किए गए। दक्कन की लड़ाइयों में (1744-54) मद्रास की सेना में 300 अंग्रेज सैनिक और तीन से चार हज़ार तक भारतीय—ईसाई, मुसलमान और हिन्दू—सैनिक थे। प्लासी की लड़ाई में क्लाइव की कमान में 950 अंग्रेज पैदल सैनिक, 150 तोपें तथा 2,100 भारतीय सिपाही थे, जिनमें से कुछ तैलंग तथा कुछ उत्तर-भारतीय—पठान, जाट, राजपूत और ब्राह्मण—थे।

इतने सस्ते मिल जानेवाली विजय का सादृश्य ढूंढ़ना कठिन है। प्लासी की लड़ाई में अंग्रेज़ों के 7 यूरोपियन और 16 सिपाही मारे गए तथा 13 यूरोपियन और 36 सिपाही घायल हुए। लाभ यह हुआ कि भारत के सबसे समृद्ध प्रान्त पर, एक ऐसे विशाल क्षेत्र पर, उन्हें प्रभुत्व प्राप्त हो गया, जिससे प्रतिवर्ष 2 करोड़ 55 लाख रुपये से भी अधिक राजस्व मिलता था और जिसकी आवादी लगभग 3 करोड़ थी।

प्लासी की लड़ाई से बंगाल के असीम संसाधन अंग्रेज़ी अनुशासन और संगठन के अधीन आ गए। अब उनकी प्रतिष्ठा इतनी अधिक बढ़ गई थी कि मुगल-साम्राज्य के उत्तराधिकार के गम्भीरतम दावेदारों में उनकी गिनती होने लगी थी। यह अंग्रेज़ों का सौभाग्य था कि पानीपत में मराठों की बुरी तरह हार होने और उसके बाद उनके बीच आन्तरिक वैमनस्य बढ़ने तथा अहमद शाह अब्दाली की मृत्यु होने और उसके फलस्वरूप अफगानिस्तान में अराजकता फैल जाने से दो बहुत प्रबल प्रतिद्वन्द्वी उनके रास्ते से हट गए।

बक्सर के युद्ध से अंग्रेज बंगाल के वैध शासक बन बैठे। इसके परिणामस्वरूप अवध के नवाब से सन्धि कर ली गई, जिससे बंगाल की पश्चिमी सीमाएं भी सुरक्षित हो गईं। इससे सम्राट् की स्थिति एक पेंशनभोगी की-सी हो गई और मुगल-साम्राज्य के पुनरोदय की आशा सदा के लिए समाप्त हो गई।

डूप्ले धैर्य के लाभ का बखान करते हुए कभी अघाता न था। अंग्रेज़ों ने इसी पर आचरण किया। मितव्ययिता की अच्छाइयों पर भी उनका इतना ही विश्वास था, क्योंकि इस दिशा में उन्हें फ्रांसीसियों से काफी चेतावनी मिल चुकी थी। अंग्रेज फ्रांसीसी व्यापार-पद्धतियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, क्योंकि वे आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं थीं। भारत की फ्रांसीसी वस्ती को वे "सामूहिक प्रार्थना-प्रवचन के लिए बना एक छोटा-सा गिरजाघर" मानते थे। इसलिए सन् 1765 के बाद उन्होंने सोचा कि अब वे काफी आगे बढ़ चुके हैं और अब उन्हें विजित प्रदेशों को इकट्ठा करने और लाभ बढ़ाने की

आवश्यकता है। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने भारत में अपने एजेण्टों को लिखा : "हिन्दुस्तान का एकीकरण कम्पनी का काम नहीं है। . . .हमारी अभिलाषा तो यह है कि बिना हमारे हस्तक्षेप के भारतीय नरेश एक-दूसरे पर अंकुश लगाए रहें।"

अन्य विजय तथा राज्य-विस्तार

भारतीय राजनीति के भंवर में एक बार फंस जाने के बाद पीछे लौटना असम्भव था। अंग्रेजों का हित तीन प्रदेशों में केन्द्रित था—पश्चिमी तट पर बम्बई के आस-पास, दक्षिण-पूर्वी तट पर मद्रास के निकट और उत्तर-पूर्वी भारत में कलकत्ता के इर्द-गिर्द। बम्बई चारों तरफ से मराठा राज्यों से घिरा था और उसका भविष्य मराठा शासकों की राजनीति से प्रभावित हो रहा था। दक्षिण में जिन प्रदेशों पर अंग्रेजों का अधिकार था वे तीन सरकारों—मराठा, मैसूर और निज़ाम—के राज्य-क्षेत्रों से मिले हुए थे। ये तीनों सरकारें अपनी मित्रता निरन्तर बदलती रहती थीं और अलग-अलग मित्र-मण्डलियां बनाती रहती थीं। हाल ही में प्राप्त किए गए प्रदेशों की रक्षा करने और उन प्रदेशों में अनाधिकार प्रवेश या आक्रमण को रोकने के लिए अंग्रेज इन राज्यों के झगड़ों में—विशेषतः जब कि फ्रांस अपने प्रतिद्वन्द्वियों को मिटाने के उद्देश्य से इनमें से किसी एक के साथ मैत्री करता था—शामिल रहते थे।

उत्तर में मुगल-साम्राज्य की शक्ति समाप्त हो चुकी थी, पर उसके नाम का मान बाकी था। उसके स्थूल पिण्ड पर अधिकार करने के लिए भीषण संघर्ष हुआ, जिसकी ध्वनि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक गूंजती रही। दावेदारों में दो—अफगान और मराठा—मुख्य थे पर गौण रूप से भाग लेनेवाले भी बहुत थे। इन दावेदारों के बहुविध पक्ष-परिवर्तनों के कारण यह करुण कथा असामान्यतः जटिल हो गई थी। रोहिल्ला सरदार और अवध के नवाब दिल्ली-दरबार पर अपना-अपना प्रभाव जमाने के लिए लड़ रहे थे। राजपूत और जाट, तथा शताब्दी समाप्त होने से पहले सिख भी, इस नाटक में भाग लेने लगे थे। उनके षड्यन्त्रों और साजिशों, चालों और जवाबी चालों, आन्दोलनों और आक्रमणों से चारों ओर अरक्षा और अव्यवस्था फैल रही थी। अंग्रेज, जिन्होंने निचले दोआब को अपने अधिकार में कर लिया था, इस मदान्धतापूर्ण स्थिति को सीमा-पार से देखते रहे और मौके का इन्तजार करते रहे।

कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के निदेशों के बावजूद लड़ाइयां लगभग निरन्तर लड़ी जाती रहीं और इनमें मद्रास, बम्बई तथा बंगाल की प्रेज़िडेंसियां मुख्य या गौण रूप से भाग लेती रहीं। इसके कई कारण थे। मद्रास और बम्बई की प्रेज़िडेंसियां कलकत्ता प्रेज़िडेंसी-जैसी सफलताएं प्राप्त करने की इच्छुक थीं। प्रत्येक अपनी आमदनी बढ़ाना और इसलिए अधिक-से-अधिक क्षेत्र पर अधिकार करना चाहती थी। भारतीय सरदारों की संयुक्त कार्रवाई से सभी डरती थीं और वे उनके बीच शक्ति का सन्तुलन बनाए रखना चाहती थीं। भारतीय सरदार एक-दूसरे से ईर्ष्या करते थे। वे अपनी स्वार्थपरता के दुष्परिणामों का विचार किए बिना कम्पनी के जाल में फंसने लगे और अपनी लड़ाइयों में कम्पनी की सहायता लेने लगे। सप्तवर्षीय युद्ध समाप्त होने के बाद से फ्रांसीसी बदला लेने के लिए मौके की ताक में थे। उन्होंने अंग्रेजों की मुसीबतों से यथासम्भव लाभ उठाया और उनके साम्राज्य तथा दूर-दूर फैले व्यापार को नष्ट करना चाहा। जब अमेरिकी उपनिवेशों ने संग्राम शुरू किया, तब फ्रांस अतलांतिक के पार उनकी सहायता के लिए

दौड़ा और अंग्रेज़ों को तंग करने के उद्देश्य से उसने हैदर अली और टीपू सुल्तान की मदद के लिए भारत में भी अपनी सेना भेज दी। फ्रांसीसियों की भारतीय सरदारों के साथ संन्धि-वार्ता और उनकी सेना में फ्रांसीसी अधिकारियों की मौजूदगी को कम्पनी ने वैर-भाव का चिह्न माना। कम्पनी ने ऐसी सभी कार्रवाइयों पर कड़ी नजर रखी और उनकी चाल को बेकार करने के लिए कदम उठाए। इसी प्रक्रिया में एक-एक करके सभी सरदार या तो नष्ट कर दिए गए या अधीन कर लिए गए और अन्त में सारे भारत पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया।

निज़ाम

इस प्रक्रिया के दो दौर थे। पहले दौर में दक्कन के राज्यों से निवटा गया, और दूसरे में अंग्रेज़ी राज्य का झंडा भारत की प्राकृतिक सीमाओं पर भी लहराया गया। दक्कन में तीन मुख्य शक्तियां थीं—निज़ाम, मैसूर के सुल्तान और मराठे। इनमें से निज़ाम सबसे कमज़ोर था और उसकी नीति बहुत ही ढुलमुल थी। सप्तवर्षीय युद्ध की समाप्ति तक निज़ाम पर फ्रांसीसियों का प्रभाव था। उसके बाद उसने अंग्रेज़ों से मित्रता की। सन् 1795 में खर्दा में मराठों के द्वारा पराजित किए जाने पर वह फिर फ्रांसीसियों की ओर हो गया। पर सन् 1798 में वेलेज़ली ने उसे एक सहायक सन्धि करने के लिए फुसला लिया। इस प्रकार, उसी के खर्च पर उसकी रक्षा के लिए अंग्रेज़ों-द्वारा दी गई मुख्यतः भारतीय सेना के बदले में उसने अपनी स्वतन्त्रता कुर्बान कर दी।

मैसूर

मैसूर के सुल्तान—हैदर अली और टीपू—अंग्रेज़ों के लिए कष्टसाध्य सिद्ध हुए। उन्होंने अंग्रेज़ों और उनके मित्र राज्यों—निज़ाम और मराठों—को लड़ाई के लिए ललकारा उन्होंने चार भीषण लड़ाइयां लड़ीं। पहली लड़ाई में हैदर अली की विजय हुई और उसने मद्रास के किले में अपनी शर्तों के अनुसार सन्धि-पत्र लिखवाया। दूसरी लड़ाई (1780-84) में उसे फ्रांसीसियों से भी कुछ सेना मिली, जिन्होंने बुसी के संरक्षण में 2,000 सैनिक भजे थे और फ्रांसीसी ऐडमिरल सफरेन ने अंग्रेज़ों के बेड़े को टिकने नहीं दिया था। पर सन् 1783 में जब इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच सन्धि हो गई, तब फ्रांसीसी पीछे हट गए और मैसूर की दूसरी लड़ाई समाप्त हो गई। मंगलौर की सन्धि से युद्ध-पूर्व की स्थिति फिर कायम हो गई। किन्तु उस तीसरी लड़ाई में, जो कार्नवालिस ने सन्धि की शर्तें तोड़ कर और "एक ऐसी कार्यपद्धति अपना कर टीपू सुल्तान के लिए अनिवार्य कर दी थी, जो केवल दिलाए गए भरोसे की ही दृष्टि से सन्देहात्मक न थी, अपितु जो टीपू सुल्तान के लिए अवश्य ही अत्यन्त अप्रिय रही होगी, और जो उसकी अपरिमित महत्वाकांक्षाओं पर रोक लगाने के स्पष्ट और विधिसंगत उद्देश्य से की गई प्रतिरक्षात्मक सन्धि के वचनबद्ध संविदे की अपेक्षा उस नरेश से युद्ध होने की सम्भावना से ही कहीं अधिक प्रेरित होकर निर्धारित की गई होगी,"[1] टीपू को हानि उठानी पड़ी और अंग्रेज़ी सेना उसकी राजधानी श्रीरंगपट्टम तक पहुंच गई। अपने आधे राज्य का मूल्य चुका कर उसने सन्धि की। चौथी लड़ाई में

1. जे० मैलकम, 'स्केच आफ द पालिटिकल हिस्टरी आफ इण्डिया' (लन्दन, 1811), पृष्ठ 69

अंग्रेज़ों ने रुपये-पैसे से वह काम कर दिखाया, जो तब तक उनकी बन्दूकें भी नहीं कर पाई थीं। मन्त्रियों ने अपने स्वामी को धोखा दिया, किन्तु टीपू ने आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दिया[1] और वह अपने किले की रक्षा करते हुए बहादुरी से लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके राजवंश का सफाया कर दिया गया। उसका राज्य बहुत छोटा करके पुराने हिन्दू-परिवार को वापस लौटा दिया गया और उसे अंग्रेज़ों के अधीन एक जागीरदार बना दिया गया। निज़ाम ने टीपू सुल्तान के विरुद्ध अंग्रेज़ों की जो मदद की थी, उसके पुरस्कार के रूप में उसे कुछ प्रदेश और दे दिए गए।

मराठे

मराठों के पतन का कारण था उनका कठोर वैमनस्य, अत्यधिक मूर्खता और घोर स्वार्थपरता। जान पड़ता है, वे आत्मघाती मानसिक रोग के शिकार थे। मराठों और अंग्रेज़ों की पहली लड़ाई चौथे और पांचवें पेशवा माधव राव और नारायण राव के चाचा रघुनाथ राव की महत्वाकांक्षाओं का परिणाम थी। माधव राव की मृत्यु एक क्षयकारी रोग से हुई और नारायण राव स्त्रियों की ईर्ष्या और राजगृह के षड्यन्त्रों का शिकार बना। रघुनाथ राव ने गद्दी पाने का दावा किया, लेकिन नारायण राव के निधन के पश्चात् उसका पुत्र पैदा हो जाने के कारण रघुनाथ राव को इस वांछित पुरस्कार से वंचित होना पड़ा। इसलिए उसने नाममात्र को ही पेशवा बन जाने के लिए सन् 1775 में सूरत की सन्धि-द्वारा मराठों की स्वतन्त्रता निछावर कर दी। अंग्रेज़ सत्ता हथियाने के लिए ऐसे अवसर की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे। किन्तु वर्तमान प्रयास अपरिपक्व ही सिद्ध हुआ। मराठा राज्य-संघ का आपसी सामंजस्य अभी समाप्त नहीं हुआ था और महादजी सिन्धिया-जैसे संयत और योग्य परामर्शदाताओं का प्रभाव अभी बाकी था। अतः उसके उपरान्त जो लड़ाई हुई, उसमें हार-जीत बराबर-बराबर रही। अंग्रेज़ों की अपकीर्ति तो हुई, लेकिन गौडर्ड के मध्य-भारत पार कर लेने और सिन्धिया की पराजय से उनकी प्रतिष्ठा पुनः स्थापित हो गई। सन् 1782 में सालबाई की सन्धि से युद्ध समाप्त हुआ।

उस लड़ाई से अंग्रेज़ों के हाथ कोई इलाका तो न आया, फिर भी वे पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बन गए। मराठों से उनका पहला युद्ध ऐसे समय में हुआ, जब उनकी शक्ति क्षीणतम थी। अमेरिका में उनका राज्य हाथ से निकलता जा रहा था और उनके यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वी उनके संकट से पूरा-पूरा लाभ उठा रहे थे। भारत में कम्पनी का कार्य निर्बाध रूप से नहीं चल रहा था। प्रेज़िडेंसियों के गवर्नर कलकत्ता-स्थित केन्द्रीय प्राधिकरण की इच्छाओं की उपेक्षा करके अपनी-अपनी नीतियों पर चलना चाहते थे। कलकत्ते में रेग्युलेटिंग ऐक्ट से एक विषम स्थिति पैदा हो गई थी, क्योंकि कौंसिल के सदस्य गवर्नर-जनरल की नीतियों की अवहेलना करने लगे थे। आर्थिक स्थिति भी सन्तोषप्रद नहीं थी। वारेन हेस्टिंग्स के लिए यह श्रेय की बात है कि उसने सभी विपत्तियों पर विजय पाई और अधिकतम संकट की स्थिति में अंग्रेज़ों के हितों की रक्षा की। इसके पश्चात् उन्हें भारत में कभी भी इतने बड़े संकट का सामना नहीं करना पड़ा।

दूसरा मराठा-युद्ध भी पहले युद्ध-जैसी परिस्थितियों में ही आरम्भ हुआ। इस समय झगड़े की जड़ रघुनाथ राव का अयोग्य पुत्र बाजी राव पेशवा (द्वितीय) था। उसने

---

1. मुहीब्बुल हसन खां, 'हिस्टरी आफ टीपू सुल्तान', पृष्ठ 324-29

सिन्धिया और होल्कर के बीच के शाश्वत युद्ध में सिन्धिया का पक्ष लिया था। होल्कर ने इन दानों को पराजित किया और पूना पर अधिकार कर लिया। बाजी राव भाग कर अंग्रेज़ों की शरण में चला गया। गवर्नर-जनरल लार्ड वेलेज़ली ने अंग्रेज़ों की सत्ता को भारत में सर्वोपरि बनाने का निश्चय कर लिया था। इसलिए उसने बाजी राव का स्वागत किया और उससे बसईं की सन्धि पर हस्ताक्षर करा लिए। इस प्रकार, सन् 1802 में उसने अंग्रेज़ों का सहकारी बनना स्वीकार कर लिया। पेशवा की यह कार्रवाई दूसरे मराठा सरदारों को एक चुनौती थी। निश्चित विनाश सामने मौजूद होने पर भी दुर्भाग्यवश पुराने वैमनस्य और द्वेष के कारण वे अंधे थे। उन्होंने एक होना स्वीकार नहीं किया। अंग्रेज़ों के आक्रमण का मुख्य प्रहार सिन्धिया और भोंसले पर हुआ, जब कि गायकवाड़ तटस्थ रहा और होल्कर मन-ही-मन कुढ़ता रहा। परिणाम वही हुआ, जो होना था। अंग्रेज़ दक्कन और हिन्दुस्तान में मराठों से भिड़ गए। उनकी दक्कन की फौजों ने, जो आर्थर वेलेज़ली (बाद में ड्यूक आफ विलिंगडन) के अधीन थीं, अस्सई और अरगांव की निर्णयात्मक विजय प्राप्त की और अहमदनगर, बरहानपुर, असीरगढ़ और गाविलगढ़ पर अधिकार कर लिया। हिन्दुस्तान में लक ने अलीगढ़ और दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया और लासवाड़ी में सिन्धिया की सेना को मार भगाया। मराठा सरदारों को सन्धि के लिए प्रार्थना करनी पड़ी, अपने प्रदेश के काफी बड़े-बड़े भाग अंग्रेज़ों को देने पड़े और उनका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

होल्कर को अपनी मूर्खता की भारी कीमत चुकानी पड़ती, लेकिन लार्ड वेलेज़ली वापस बुला लिया गया और उसके उत्तराधिकारियों ने उसे आसान शर्तों पर ही छोड़ दिया।

मराठों की पराजय हुई। वे अंग्रेज़ों के अधीन हो गए और एक-दूसरे से पृथक् कर दिए गए। यद्यपि यह अपमान उन्हें चुभता रहा, तथापि अपनी हार से भी उन्हें अक्ल नहीं आई थी। वे अपनी पराजय के वास्तविक कारणों का विश्लेषण करने में असमर्थ रहे। अपने छिन्न-भिन्न राज्य का पुनर्गठन करने के लिए न तो उनके पास धैर्य था और न ही वे इतने व्यवहारकुशल और प्रवीण थे कि एक प्रदग्ध और शक्तिशाली शत्रु ने उनसे जो राज्य हड़प लिया था, उसमें से कुछ फिर प्राप्त करने के लिए सामूहिक रूप से योजना बनाते। उन्होंने षड्यन्त्रों का सहारा अवश्य लिया, पर उनके ही बीच के गद्दार अंग्रेज़ों को उनकी गतिविधियों की सूचना देते रहे। जैसे-जैसे वर्ष गुज़रते गए, स्थिति और भी बिगड़ती गई। लेकिन, वेलेज़ली की लड़ाइयों और विजयों से कम्पनी के वित्तीय संसाधनों पर बहुत दबाव पड़ गया था ; और इसीलिए डाइरेक्टरों ने आतंकित होकर हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाने का निश्चय कर लिया। लेकिन वेलेज़ली के वापस बुलाए जाने के दस वर्ष के अन्दर ही अंग्रेज़ फिर से नए युद्ध करने के लिए तैयार हो गए। सन् 1813 में मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स गवर्नर-जनरल बन कर आया और उसने अपनी फौज को आगे बढ़ने के आदेश दे दिए। मराठों ने मामूली-सा प्रतिरोध किया और उन पर आसानी से विजय प्राप्त कर ली गई। मराठा राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया। सन् 1818 तक दक्कन और अधिकांश उत्तर-भारत में अंग्रेज़ों की प्रभुता स्थापित हो गई।

अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के दूसरे दौर में हिमालय से लेकर सागर-पर्यन्त सारे देश में भारतीयों की स्वतन्त्रता समाप्त हो गई। सिन्ध और पंजाब पर विजय प्राप्त कर

ली गई, अवध और मध्यप्रान्त हस्तगत किए गए और छोटे-छोटे कई भारतीय राज्यों का नाम ही मिटा दिया गया।

सिन्ध

यह सिन्ध का दुर्भाग्य था कि वह विभाजित भी था और अशक्त भी। उसके पड़ोसी शक्तिशाली थे—उत्तर में अफ़गान थे, जिन्हें वे अहमद शाह अब्दाली के समय से कर दे रहे थे और उधर सिख सिन्ध नदी के ऊपरी भाग के स्वामी थे और नीचे उस नदी के मुहाने तक के क्षेत्र पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे। अंग्रेज़ों ने सतलुज के तटों तक के इलाके पर अधिकार कर लिया था और उनकी कुछ अपनी योजनाएं थीं। रूस के मध्य-एशिया तक बढ़ आने को उन्होंने खतरे की घंटी समझा। अफ़गानिस्तान को पृथक् करना आवश्यक था और चूंकि पंजाब में रणजीत सिंह हाथ-पैर फैलाए था, इसलिए उस पहाड़ी राज्य तक केवल सिन्ध से होकर जाया जा सकता था। अतः साम्राज्य की सुरक्षा और अखण्डता के लिए सिन्ध को कुर्बान कर दिया गया। नेपियर-द्वारा सिन्ध में किए गए कारनामे का वर्णन करते हुए 'पंच' पत्रिका ने जिस संक्षिप्त और विश्वविख्यात शब्द—पेकावी[1]—का प्रयोग किया था, उसका महत्व स्वीकार कर लेने में उस स्वेच्छाचारी विजेता ने भी लज्जा का अनुभव नहीं किया।

पंजाब

पंजाब में जब तक रणजीत सिंह रहे, उन्होंने अपनी समझदारी के कारण अंग्रेज़ों को उत्तेजित नहीं किया, क्योंकि उन्होंने उनकी शक्ति का सही अनुमान लगा लिया था। परन्तु जैसे ही उनका शक्तिशाली और व्यवहारकुशल नेतृत्व समाप्त हुआ, वैसे ही पंजाब में अव्यवस्था और अशान्ति फैल गई। अविश्वास, ईर्ष्या और आवेश का बोलबाला हो गया और प्रान्त में चारों ओर अबाध रूप से कत्ल और खूनखराबी होने लगी। शीघ्र ही सेना ने राज्य के काम में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। 'खालसा' वीर तो था, पर दुर्भाग्यवश धर्म-भावना से वह बहुत जल्दी प्रभावित हो जाता था और परिणामों की चिन्ता किए बिना लड़ाई के लिए तत्पर हो जाता था। यह बात उस समय तो विशेष रूप से देखी जाती थी, जब उसके परामर्शदाताओं में 'निहंग' और 'पुजारियों' का प्राधान्य होता था—और उस संकटकाल में वास्तव में ऐसा था भी। स्वार्थी और दुश्चरित्र नेताओं ने इन कमज़ोरियों से लाभ उठाया। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न पक्ष 'पंच खालसा' (सेना-समिति) से बहुधा फरियादें करते रहे।

शीघ्र ही सरकार पर सेना का ज़ोर होने लगा। इस भस्मासुर को जन्म देनेवाले

---

1. पेकावी (Peccavi) लैटिन भाषा का शब्द है, जिसका अंग्रेज़ी में अर्थ है: I have sinned, अर्थात् मैंने पाप किया है। प्रस्तुत प्रसंग में sinned ध्वनि-साम्य के आधार पर Sind (सिन्ध) का भी वाचक है। इस दृष्टि से इस अभिव्यक्ति के दो अर्थ हो जाते हैं (i) I have sinned (मैंने पाप किया है) और (ii) I have sind (मैंने सिन्ध ले लिया है)। इस प्रकार 'पंच' पत्रिका ने एक द्वयार्थक शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि सिन्ध पर नेपियर का अधिकार एक पापकर्म था और वह स्वयं भी इसे अनुभव करता था।

ही इससे भयभीत हो गए—उन्हें चिन्ता हो गई कि कहीं उन्हें अपने पदों से ही हाथ न धोना पड़े। स्थिति यह थी कि गद्दी पर दिलीप सिंह नामक एक बालक बैठा था। उसकी माता रानी जिन्दन कौर प्रतिशासक (रीजेंट) थी, जिन्दन कौर का प्रेमी लाल सिंह मुख्य मन्त्री तथा उसका कृपापात्र तेज सिंह प्रधान सेनापति था। वे तीनों अत्यन्त नीच और दुष्ट थे तथा जिन उच्च पदों पर विराजमान थे, उनके सर्वथा अयोग्य थे। तीनों 'खालसा' से घृणा करते थे और उसे उलटने का षड्यन्त्र कर रहे थे।

वे उनकी गुप्त बातें अंग्रेज़ों के सामने प्रकट कर देते थे, जो पंजाब के मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए पहले से ही किसी अवसर की ताक में थे। लगभग सारे भारत के स्वामी बन जाने के बाद अंग्रेज़ों के लिए यह असम्भव था कि वे सामरिक दृष्टि से इतने महत्वपूर्ण प्रान्त में दिलचस्पी न रखते। जब पड़ोसी राज्य की अराजकता वहां के मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए आमन्त्रित कर रही हो, तब किसी सुगठित, सुव्यवस्थित और शक्तिशाली सरकार से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह हाथ-पर-हाथ धरे बैठी रहे। स्पष्ट था कि यदि अंग्रेज़ मुंह फेर लेते, तो अफगानिस्तान शान्ति से बैठा न रहता और उसके पीछे रूस का विनाश-चक्र निर्दयता से बढ़ता चला आ रहा था। सिखों के परस्पर-विनाशकारी झगड़ों से शक्ति-सत्ता का जो अभाव पैदा हो रहा था, उसे अधिक समय तक अभाव ही नहीं बना रहने दिया जा सकता था।

अंग्रेज़ों के इरादों के बारे में अनेक संकेत मिल रहे थे। उनमें से कुछ ये थे : फिरोज़पुर पर अधिकार करना और अंग्रेज़ सेनाओं के रहने के लिए उसे छावनी बना देना, अम्बाला में और सिखों की सरहद के समीप की पहाड़ियों में फौजें रखना, सतलुज नदी पर नावों का पुल बनाना और पेशावर को अमीर दोस्त मुहम्मद को सौंपने का प्रस्ताव करना। वैर-भावपूर्ण इन बातों से सिखों के मन में आशंका पैदा होना स्वाभाविक ही था। सिखों से सम्बन्धित मामलों के अंग्रेज़ी एजेण्ट, मेजर ब्राडफुट का रुख बहुत ही उत्तेजक था। उसने खुले तौर पर ऐलान कर दिया कि सतलुज से इधर के जो इलाके लाहौर-सरकार के अधिकार में हैं, वे महाराजा दिलीप सिंह की मत्यु होने या उसके राजच्युत होने पर ज़ब्त कर लिए जाएंगे।[1]

इस तरह, सिख सेना को पूरा विश्वास हो गया था कि अंग्रेज़ पंजाब को हड़पना चाहते हैं। लाल सिंह और तेज सिंह ने इन आशंकाओं को और भी बढ़ा-चढ़ा कर प्रकट किया और इस प्रकार उनकी भावनाओं को चरम सीमा तक उत्तेजित कर दिया। ऐसी स्थिति में उन्हें यह भी सुनाई पड़ा कि अंगेज़ों ने लुधियाने के समीप कुछ गांवों पर अस्थायी रूप से अधिकार कर लिया है और अंग्रेज़ों का गवर्नर-जनरल उनकी सीमाओं की ओर बढ़ रहा है। उनके धैर्य का प्याला छलक उठा। 11 दिसम्बर, 1845 को सिख सेना ने सतलुज पार की और लड़ाई शुरू हो गई। पर यह ऐसा युद्ध था, "जिसमें स्पष्ट रूप से यह दिखाई पड़ रहा था कि स्वयं सैनिकों में उद्देश्य की उत्साहवर्द्धक एकता होने पर भी उनका नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में था, जो न केवल युद्ध-कला से सर्वथा अपरिचित थे, बल्कि अपने अनुगामियों के साथ विश्वासघात करने के लिए भी कृतनिश्चय थे।"[2]

---

1. जे० डी० कनिंघम, 'ए हिस्टरी आफ द सिख्स' (सम्पादक: गैरेट और सेठी, 1955), पृष्ठ 252

2. वही, पृष्ठ 264

लड़ाइयां हुईं और सामान्य सैनिकों ने अद्वितीय वीरता भी दिखाई, पर सैन्य-संचालकों के घृणास्पद विश्वासघात और निर्लज्ज देशद्रोह के कारण सैनिकों की शूरवीरता निष्फल सिद्ध हुई। लाहौर पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया, पंजाब की स्वतन्त्रता छिन गई, पर सिख-राज्य की प्रतिच्छाया रहने दी गई।

सिख पराजित तो हो गए थे, पर उन्होंने अपना राज्य फिर प्राप्त करने की आशा नहीं छोड़ी। दूसरी वार युद्ध हुआ (1849), पर फिर वही बात हुई, जो पहले युद्ध में हुई थी। मलेसन के अनुसार, "जिस तरह सिख लड़े, उससे बेहतर ढंग से कोई दूसरी सेना नहीं लड़ सकती थी। पर, किसी भी सेना का संचालन इससे अधिक निकृष्ट नहीं हो सकता था।" परिणाम यह हुआ कि सिख-राज्य की प्रतिच्छाया भी लुप्त हो गई। पंजाब को ब्रिटिश भारत में मिला दिया गया। एक सिख की सृजनात्मक प्रतिभा ने अपने सैन्य-पराक्रम और राजमर्मज्ञ-सुलभ योग्यता से जो ढांचा खड़ा किया था, वह उसके कुख्यात उत्तराधिकारियों के दुराचार और द्रोह के कारण मिट्टी में मिल गया।

प्लासी के युद्ध से सौ वर्ष के अन्दर ही सारे भारत को अंग्रेज़ों की दासता स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। सैनिक दृष्टि से यह अनोखी सफलता थी, क्योंकि जितनी लड़ाइयां लड़ी गईं, उनमें योद्धा अधिकतर भारतीय ही थे। किसी भारतीय सरदार की सेना का गठन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सैन्य-गठन से विशेष भिन्न न था। भारतीय सरदारों की सेना में, विशेषतः तोपखाने में, यूरोपीय अफसरों के नेतृत्व में कुछ यूरोपीय सैनिक, नानाविध संख्या में यूरोपियनों-द्वारा प्रशिक्षित भारतीय पैदल सैनिक और परम्परागत तरीकों के अनुसार भारी संख्या में भारतीय घोड़े और पैदल सेना होती थी। कम्पनी की सेना में भी यूरोपीय सैनिकों की टुकड़ी और यूरोपियनों-द्वारा प्रशिक्षित भारतीय पैदल सैनिक होते थे। भारतीय सरदारों की सेनाओं का तीसरा तत्व—अप्रशिक्षित पैदल सैनिक—कम्पनी की सेना में या तो था ही नहीं और यदि था भी, तो महत्वहीन सहायक सेना के रूप में। इस प्रकार, भारतीय नरेशों की सेना यूरोपीय और भारतीय अफसरों के संचालन में कम्पनी की उस सेना से लड़ती थी, जिसका संचालन भी यूरोपीय और भारतीय अफसरों के हाथ में रहता था और जिसमें यूरोपीय और भारतीय सैनिक होते थे। दोनों सेनाओं के बीच अन्तर यही था कि यूरोपीय अफसर और सैनिक अपने भारतीय स्वामियों के प्रति उतने वफादार और पक्के नहीं थे, जितने कि यूरोपीय कमांडरों के अधीन रहनेवाले भारतीय सैनिक थे।

दोनों पक्षों का साज़-सामान भी एक-जैसा ही था। दोनों ही तलवार, भाले और तीर कमान-जैसे परम्परागत हथियारों के अतिरिक्त तोप, तुपक, तोड़दार (बन्दूक), राकेट तथा अन्य बन्दूकों का प्रयोग करते थे।

फिर भी, दोनों के हौसले में अपार अन्तर था। भारतीयों के लिए आग्नेय अस्त्र नई चीज़ थे। उनके प्रयोग में अभी वे दक्ष नहीं हुए थे। विज्ञान की जानकारी की कमी के कारण वे बन्दूकों और गोला-बारूद की हानि की आसानी से क्षतिपूर्ति नहीं कर सकते थे। इसके लिए उन्हें विदेशियों पर निर्भर रहना पड़ा, जो विश्वसनीय नहीं थे। जो यूरोपीय अफसर भारतीय सेना में नियुक्त थे, वे धनलोलुप और दुस्साहसी थे। आरम्भ में वे भारतीय सरदारों की ओर से अच्छी तरह लड़ते रहे, क्योंकि वे समझते थे कि इस प्रकार वे अपने राष्ट्र की सेवा कर रहे हैं। लेकिन जब नेपोलियन-द्वारा शुरू की गई लड़ाइयां समाप्त हुईं, तब सेना से निकाले गए और राष्ट्रीयता-वंचित यूरोपीय सैनिक अपने लिए

धन बटोरने के विचार से भारतीय राजाओं की सेवा में आ गए। उनमें से कुछ में सैनिक प्रतिष्ठा की भावना थी, इसलिए वे खूब डट कर लड़े। परन्तु विजय की आशा क्षीण होती दीखने पर बहुतों ने अपने स्वामियों का साथ छोड़ दिया।

युद्ध-कौशल और रण-नीति में अंग्रेज भारतीयों की अपेक्षा कहीं आगे बढ़े हुए थे। पर यही अन्तर निर्णायक नहीं माना जा सकता। युद्ध-कौशल थोड़े समय में सीखा जा सकता है। लेकिन जो चीज़ आसानी से प्राप्त नहीं की जा सकती, वह है हौसला। भारतीय पक्ष की घातक दुर्बलता यही थी। कई लड़ाइयों में विजय केवल इसीलिए प्राप्त नहीं हुई कि सामान्यतः सैनिक असन्तुष्ट थे—या तो उन्हें बहुत समय से वेतन नहीं मिला था या उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया गया था। वित्तीय व्यवस्था भारतीय पक्ष की एक बड़ी राष्ट्रीय दुर्बलता थी। इसके कारण सरकारें संकट में पड़ जाती थीं और सैनिकों को नियमित रूप से वेतन का भुगतान नहीं हो पाता था।

भारतीय सिपाही कायर नहीं थे। कई अवसरों पर, भारी बाधाएं होते हुए भी, उन्होंने अपनी वीरता, सहनशीलता और निर्भीकता का पर्याप्त प्रमाण दिया। जो भारतीय सिपाही अंग्रेज कमांडरों के नीचे लड़े, उन्होंने प्रत्येक लड़ाई में अच्छे सैनिक लक्षणों का प्रदर्शन किया। वास्तव में, कमी तो भारतीय सेना के संचालन में थी। सैनिक अपने स्वामी के नाम पर लड़ता था—नमक के लिए; परन्तु स्वयं स्वामी के लिए युद्ध का प्रेरणा-स्रोत क्या था? समझ में तो यही आता है कि वह अपने व्यक्तिगत या पारिवारिक हित के अतिरिक्त और किसी कारण से नहीं लड़ता था। यह कोई ऐसा मजबूत आधार नहीं था, जिसके बल पर उन लोगों के विरुद्ध सेना का हौसला बनाए रखा जा सकता था, जो व्यक्तिगत आचरण या नैतिकता की दृष्टि से चाहे कितने भी हीन क्यों न हों, परन्तु जो अपने निजी स्वार्थ के लिए अपने देश के हित का बलिदान प्रायः नहीं करते थे। किसी अंग्रेज़ जनरल की पराजय एक व्यक्ति की अस्थायी पराजय-मात्र होती थी। उसकी स्थिति उस परिवर्तनीय वस्तु के समान थी, जिसका स्थान दूसरा व्यक्ति ले सकता था। दूसरी ओर, किसी भारतीय सरदार की हार से उसकी सारी नीति का ही अन्त हो जाता था। प्लासी के युद्ध का अर्थ हुआ, बंगाल-सरकार का अन्त; श्री रंगपट्टम के युद्ध का अर्थ हुआ, मैसूर राज्य का अवसान; अस्सई की लड़ाई से सिन्धिया की, अरगांव की लड़ाई से भोंसले की, महीदपुर की लड़ाई से होल्कर की और खिरकी की लड़ाई से बाजी राव पेशवा की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। अलीवाल और सोबरांव की लड़ाइयों से सिख-राज्य की शक्ति क्षीण हुई और बाद में गुजरात की लड़ाई से उसे निर्मूल कर दिया गया।

इसके विपरीत, हैदर अली की "तबाही करनेवाले बर्फ के तोदे-जैसी" विजय; या पश्चिमी घाट में मराठा सैनिकों की वह सफलता, जिससे अंग्रेज कमांडर को बाध्य होकर बड़गांव के अपमानजनक अभिसमय पर हस्ताक्षर करने पड़े, या भरतपुर में लेक की पराजय; या मुदकी और फिरोजशाह में सिखों-द्वारा अंग्रेज सेनाओं को दिए गए दण्ड, जहां सिखों ने उन्हें चिन्ताजनक और संकटपूर्ण स्थिति में डाल दिया; तथा चिलियांवाला में प्राप्त वह विजय, जिसमें अंग्रेजी दस्तों और तोप-बन्दूकों पर कब्ज़ा किया गया; केवल अस्थायी आकस्मिक घटनाएं ही रहीं, जिनका अन्तिम परिणाम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

इससे मिलनेवाली शिक्षा स्पष्ट है। जहां तक भारतीयों का सम्बन्ध था, राज्य

उस व्यक्ति में ही मूर्त होता था, जो सेना का संचालन करता था। अतः उसकी असफलता का अर्थ होता था, राज्य का अन्त। ऐसा कोई एक राज्य था नहीं, जिसके प्रति सारे देश की निष्ठा और आस्था हो। भारत तो लड़ाकू सरदारों का एक अखाड़ा था, जहां घर में ही फूट का बोलबाला था, एक सेना दूसरी से लड़ती रहती थी और अपनी अन्धता में वे सेनाएं भारतीयों और विदेशियों तक में भेद नहीं कर पाती थीं। अंग्रेज कमांडरों के पीछे सारा राष्ट्र होता था, जिसके सामने ऐसी विपत्तियां भले ही आ जाएं, जिनका थोड़े या अधिक समय तक प्रभाव बना रहे, परन्तु जिसे पराजित करके निर्मूल नहीं किया जा सकता था। व्यक्ति और राज्य के बीच ऐसे ही सम्बन्धों की स्थापना के लिए तथा यह जागरूकता पैदा होने के लिए कि राष्ट्र के अधिकार को व्यक्तिगत अधिकार की अपेक्षा प्राथमिकता दी जानी चाहिए, भारत को अभी एक शताब्दी से भी अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी थी।

सातवां अध्याय

अंग्रेजी प्रशासन का विकास—1793 तक

प्लासी-युद्ध-कालीन भारत

बंगाल पर विजय प्राप्त होने तथा शक्ति ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में आ जाने के कारण एक ऐसी स्थिति पैदा हो गई, जो भारतीय इतिहास में अभूतपूर्व थी। भारत विजेताओं के अधिकार में तो पहले भी आता रहा था, किन्तु वे लोग एशियायी थे और इसी कारण वे विचार तथा संस्कृति-सम्बन्धी विशेषताओं में भी भारतवासियों के समान थे और उन्हीं-जैसी सामाजिक परिस्थितियों में रहनेवाले भी थे। उन विजयों से मुख्यतः शासनकर्ता ही वदले, देश की सामाजिक परम्परा या अर्थ-व्यवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ—यहां तक कि दोनों के राजनीतिक संगठन और प्रशासनिक प्रबन्धों में भी आधारभूत अन्तर न रहे। जहां तक संस्कृति का सम्बन्ध है, इस प्रकार देश में विद्यमान वैविध्य में कुछ नई विशेषताएं और जुड़ गईं। प्रारम्भिक मुस्लिम विजेता अपने साथ नई भाषाएं, फारसी और अरबी; एक नया धर्म, इस्लाम; कला की एक नई शैली और कुछ नए हस्तशिल्प लेकर आए। उन्होंने अपने कुछ आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज और खाने तथा पहनने के तरीके भी प्रचलित कर दिए। देश की अर्थ-व्यवस्था—कृषि, उद्योग अथवा वाणिज्य—में कोई जबर्दस्त फेर-वदल नहीं हुआ। ग्राम-अर्थ-व्यवस्था का पुराना स्वरूप वना रहा। सामाजिक संगठन-विषयक कठोरता में और वृद्धि हुई। स्वयं मुसलमानों पर भी इसका प्रभाव पड़ा और वे भी जातिभेद-जैसे सामाजिक अन्तरों में ग्रस्त हो गए। दूसरी ओर, इस्लाम के प्रभाव से ऐसे अनेक हिन्दू समाज-सुधारकों का उदय हुआ, जो जातिभेद को तिरस्करणीय ठहराते थे।

परम्परागत राजनीतिक व्यवस्था

राजनीतिक शक्ति और उसकी मूलाधार तथा संरक्षिका, सेना, विजेताओं के हाथ में आती रही, किन्तु प्रशासन-तन्त्र, विशेषतः वित्तीय व्यवस्था, मुख्यतः हिन्दुओं द्वारा ही चलाई जाती रही।

मुगलों ने यहां आकर एक अधिक केन्द्रीकृत प्रशासन-पद्धति की नींव डाली। उन्होंने एक समरूप संस्कृति के विकास के लिए उपयुक्त अवसर उत्पन्न किए, जिससे जाति तथा प्रदेशगत विभिन्नताओं में कमी हुई और एकता की भावना का उदय हुआ। भूराजस्व-प्रशासन से सम्वद्ध उनकी नीति ने एकीकरण की शक्तियों को वहुत वढ़ावा दिया। साहित्य और कला को संरक्षण देकर उन्होंने एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण को जन्म दिया और धर्म के प्रति उनके दृष्टिकोण ने आपसी मतभेद नष्ट करने तथा सभी वर्गों और जातियों के हृदय में राज्याध्यक्ष के प्रति वफादारी का भाव पैदा करने में योग दिया।

पर भारतीय मस्तिष्क पुरानी लकीरों से हटने के लिए तैयार न हुआ। उसने अति चिन्तन-पद्धति से मुक्त होने से इन्कार कर दिया। हिन्दू और मुसलामान चिन्तक

प्राचीन दर्शनों, विधियों, विज्ञानों तथा धार्मिक सिद्धान्तों का ही चर्वण तथा पुनर्चर्वण करते रहे, किन्हीं नए विज्ञानों का विकास न हुआ। रसायन-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, प्राणिविज्ञान, शरीर-रचना-विज्ञान और क्रिया-विज्ञान के प्रारम्भिक सिद्धान्तों की भी लोगों को वहुत ही कम जानकारी थी। प्रकृति का अध्ययन करते समय वैज्ञानिक प्रयोगों, वस्तुनिष्ठ प्रेक्षण तथा मूल कल्पनाओं के परीक्षण की बात तो कोई स्वप्न में भी न सोच सकता था।

समाज के सभी अंगों पर व्यक्तित्ववाद का प्रभुत्व था। राज्य शासक के रूप में साकार था, वह समाज की सामूहिक इच्छा के द्योतक किसी सर्वोच्च सिद्धान्त का प्रतीक न था। राज्य के प्रति वफादारी का अर्थ था, व्यक्तिगत रूप से सम्राट् के प्रति वफादारी; इसीलिए वह क्षणभंगुर भी थी और आसानी से वदली जा सकने-योग्य भी। व्यक्तिनिष्ठ राज्य का अस्थिर होना अनिवार्य था। वह संकट और संताप सहने में असमर्थ था। दुर्दिन में उसकी नाव सम्भल नहीं पाती थी।

समाज के राजनीतिक वन्धन कमज़ोर थे। पड़ोसी के प्रति कर्तव्यों, प्रदेश-भक्ति के वन्धनों और मातृभूमि के प्रेम का कोई महत्व न था। इसके वदले, सगोत्रता और नातेदारी पर आधारित सम्वन्ध वहुत ही मजवूत थे। इस प्रकार, नातेदारी के लिए जो हित की वात थी, वही प्रादेशिक समाज के लिए अहितकर थी। समाज के प्रति धर्म का योगदान भी इतना ही विनाशकारी था, क्योंकि धर्म सामाजिक संगम और राष्ट्रीय एकता के उदय में बाधक था। धर्मनिष्ठा का अर्थ था, सहधर्मावलम्वियों के मार्ग का अनुसरण, और इस प्रकार वह धर्मनिरपेक्ष अथवा वहुधर्मी राज्य की संकल्पना की निषेधक थी। विधि व्यक्ति के धर्म-विश्वास की सहवर्तिनी थी, प्रादेशिक समाज के न्यायपरायण स्वभाव की नहीं। विधि-प्रक्रिया सम्वद्ध व्यक्ति की स्थिति पर निर्भर थी, प्रसंगाधीन विषय पर नहीं। प्रथा के आवरण ने कार्य-व्यापार को आच्छादित कर लिया था। काम और व्यवसाय इच्छा या योग्यता के वदले जन्म के आधार पर निर्धारित किए जाने लगे थे। विवाह में स्वाधीनता और प्रणय का मिलन किसी भी अंश में वाकी न रहा था। विवाह तो, वास्तव में, वंश-वृद्धि का आयोजन-मात्र वन गया था। कूटनीति और राजकौशल, तर्क और पूर्वानुमान, हानि-लाभ-विवेचन तथा कारण-कार्य-सम्वन्ध-स्थापन के सूचक न होकर व्यक्तियों की निजी विशिष्टताओं के प्रदर्शक वन गए थे। रहस्यात्मक, आत्मनिष्ठ तथा पारलौकिक प्रवृत्ति व्यक्तिगत आचरण की प्रधान धारा वन गई थी। इससे यथार्थ तथा स्पष्ट निर्वचन की प्रवृत्ति फीकी पड़ गई और शैथिल्य तथा अस्पष्टता को प्रोत्साहन मिला।

इस प्रकार, भारतीयों के व्यावहारिक जीवन में एक धूमिल उदासीनता की प्रधानता हो गई और वे महत्वपूर्ण समस्याएं हल करते समय तर्क के स्थान पर भावना पर भरोसा करने लगे। ऐसी दशा में, इसमें आश्चर्य की कोई वात नहीं है कि अठारहवीं शताब्दी के सरकारी कागज-पत्रों में, जिनका परिमाण कम नहीं है, नीति-विषयक विचार-विमर्श का लिखित विवरण अथवा राजदूतों को दिए गए किसी भी प्रकार के लिखित आदेश अथवा राज्य के वार्षिक आय-व्यय का कोई पूर्वानुमान उपलब्ध नहीं है। ओर्म ने लिखा है कि "महत्वपूर्ण मामलों में वे (भारतीय नरेश) कभी लिखित रूप में कुछ कहते ही नहीं थे। यदि अपवादतुल्य कुछ लिखा गया, तो वह नितान्त अस्पष्ट और दुविधा-

पूर्ण ही रहा।"[1] हमें उस समय के जो राजनीतिक और राजनयिक पत्र प्राप्त हैं, वे उनकी उन अस्पष्ट और शब्दाडम्बरपूर्ण लिखतों के उदाहरण हैं, जिनमें वास्तविक आशय दुरूह वाग्प्रपंच में छिप गया है। कहा जाता कि लिपिवद्ध करने से वात में यथार्थता आ जाती है। भारतीय राजनेता इस विशेषता की जान-बूझ कर उपेक्षा करते थे, क्योंकि वे मौखिक रूप से हिदायतें देने और विचार-विमर्श करने की ही विधि अधिक पसन्द करते थे, हालांकि उसमें अस्पष्टता और अलग-अलग ढंग से अर्थ लगाए जाने की सम्भावना बनी रहती थी। समग्रतः भारतवासी विनयशील, नम्र, धैर्यवान तथा लड़ाई-झगड़े की अपेक्षा दूसरे की वात मान लेने के ही अभ्यासी रहे थे। अठारहवीं शताब्दी का भारतीय असामान्य रूप से अहंकारी, अदूरदर्शी और नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ था—वह न अपने प्रति सच्चा था, न दूसरों के प्रति।

प्लासी-युद्ध और उसके बाद

प्लासी-युद्ध ने भारतीयों की सभी कमज़ोरियां प्रकट कर दीं। इसके वाद भारत का सबसे अधिक सम्पन्न और सुन्दर भाग विदेशियों के अधिकार में आ गया। इससे अंग्रेज़ों और भारतवासियों के सम्बन्धों में अकस्मात् एक ज़बर्दस्त परिवर्तन आ गया। अंग्रेज़ कृपाप्रार्थी न रह कर वरदाता वन बैठे। क्लाइव-द्वारा बंगाल के नवाब के साथ किए गए पत्र-व्यवहार में अंग्रेज़ों की उग्रता पहली बार प्रकट हुई। विजय ने क्लाइव के देश-वासियों को असह्य रूप से उद्धत, असहनशील और क्रूर वना दिया था। उसने विजेता जाति के चरित्र के भद्दे पक्ष उभार दिए और उनमें अपनी वात मनवाने की भावना जगा दी।

प्लासी-युद्ध ने बंगाल में सबसे अधिक विषम स्थिति पैदा की। वह विजित प्रदेश शासकविहीन रह गया। नवाब के सभी अधिकार छीन लिए गए। ईस्ट इण्डिया कम्पनी बहुत दूर थी और वैसे भी वह एक व्यावसायिक कम्पनी ही थी—उसका संगठन राज-नीतिक और प्रशासनिक कार्य पूरे करने के विचार से नहीं हुआ था। इंग्लैण्ड की सरकार को यह पता ही न था कि कम्पनी के एजेण्ट क्या कर रहे हैं और न ही वह विजित लोगों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों के लिए विशेष जागरूक ही थी। जैसा कि लेकी ने उल्लेख किया है, "शक्ति पर अलग-अलग रहनेवाले ऐसे वहुत-से अधिकारियों का एकाधिकार था····जो किसी भी तरह के नियन्त्रण से बहुत परे थे और अनुशासनबद्ध सैनिकों की बड़ी-बड़ी टुकड़ियां जिनके अधीन थीं।"[2]

उनमें से कुछ अधिकारी विनष्ट सम्पत्ति और कलंकित प्रतिष्ठावाले निराश उद्यमी थे। वे तो ऐसे समय में भारत आए थे, जब सर्वश्रेष्ठ यूरोपियनों में से भी वहुत ही थोड़े व्यक्तियों ने अपने से भिन्न रंगवाली एक विधर्मी जाति के लोगों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण नैतिक विधि का पालन करने के लिए अपने-आपको वाध्य समझा होगा।"[3] उन लोगों

---

1. देखिए, 'ए हिस्टरी आफ द मिलिटरी ट्रांजेक्शन्स आफ द ब्रिटिश नेशन इन हिन्दोस्तान', खण्ड 1, पृष्ठ 59

2. डब्ल्यू॰ ई॰ एच॰ लेकी, 'ए हिस्टरी आफ इंग्लैण्ड इन द एटीन्थ सेंचुरी' (नया संस्करण) खण्ड 4, पृष्ठ 262

3. वही

की लूट-खसोट टिड्डी-दल-द्वारा की गई हरे-भरे खेत की तबाही से भिन्न न थी। लेकी ने कहा है : 'वे पूरे-के-पूरे जिले, जो कभी धन-जनपूर्ण रहे थे, अन्ततोगत्वा बिल्कुल निर्जन हो गए और यह देखने में आया कि अंग्रेज व्यापारियों का कोई दल आता दिखाई पड़ने पर गांव एकदम खाली हो जाते थे, दुकानें बन्द कर दी जाती थीं और रास्ते भय-ग्रस्त शरणार्थियों से भर जाते थे।"[1]

किसी भी प्रकार के नैतिक संकोच कम्पनी के उन लालची अधिकारियों को धन बटोरने से नहीं रोक पाते थे। "इससे पहले कभी यहां के निवासियों को इतनी होशियारी से तथा ढूंढ़-ढूंढ़ कर किए गए इतने जबर्दस्त अत्याचार का शिकार नहीं बनना पड़ा।"[2] कम्पनी के मुंशी, गुमाश्ते और व्यवसायी अकस्मात् अत्यधिक शक्ति-शाली अधिकारी बन बैठे। उन्हें वेतन तो मामूली मिलता था, परन्तु निजी व्यापार-द्वारा अपनी आय बढ़ाने की उन्हें छूट थी। बंगाल-विजय से उन्हें मानो एक स्वर्णावसर मिल गया। अपनी सद्यःप्राप्त शक्तियों का प्रयोग उन्होंने भारतीय तथा अन्य प्रति-योगिताओं को व्यापार से निकाल बाहर करने के लिए किया। उन्होंने सीमा तथा परिवहन-शुल्क देने से इन्कार कर दिया; प्राप्त सुविधाएं बड़ी-बड़ी रकमें लेकर भारतीयों के हाथ बेच दीं; भारतीय अहलकारों को वे त्रास देने लगे; दूसरे लोगों को उन वस्तुओं का व्यापार करने से उन्होंने रोक दिया, जो वे स्वयं बेचते थे; तथा गांववालों को उनकी वस्तुएं बहुत अधिक दामों पर खरीदने और उनके हाथ अपनी वस्तुएं कम दामों पर बेचने के लिए विवश किया। जीवन के लिए अनिवार्य वस्तुओं के व्यापार पर उन्होंने एकाधिकार कर लिया और उन्हें वे अकाल के भाव पर बेचने लगे। अपनी आय बढ़ाने के लिए उन्होंने दूसरे साधन भी अपनाए। वे जुर्माने करने लगे, कर उगाहने लगे तथा धनहीन और अपव्ययी भारतीय कुलीनों तथा सरदारों को बहुत अधिक ब्याज पर रुपये उधार देने लगे। वे ज़बर्दस्ती रुपये ऐंठने लगे और बेईमानी तथा घूसखोरी करने लगे। मीर कासिम ने मई 1762 में अंग्रेज़ गवर्नर और उसकी कौंसिल से शिकायत की थी कि "यही वह तरीका है, जिससे आपके भद्रजन व्यवहार करते हैं। मेरे पूरे देश में उन्होंने ऊधम मचा रखी है। वे लोगों को लूट रहे हैं, मेरे कर्मचारियों को आहत तथा अपमानित कर रहे हैं।····कम्पनी के अनुमतिपत्र दिखा कर और बिल्ले लगा कर वे किसानों, व्यापारियों और अन्य देशवासियों को उत्पीड़ित करने के अधिकतम प्रयत्न करते हैं।··· प्रत्येक गांव और फैक्टरी में वे नमक, सुपारी, चावल, भूसा, बांस, मछली, बोरे, अदरक, चीनी, तम्बाकू, अफीम और अन्य अनेक वस्तुएं खरीदते-बेचते हैं।···व्यापारियों, किसानों, आदि का माल वे ज़बर्दस्ती चौथाई कीमत पर ले जाते हैं और अत्याचार तथा दमन-द्वारा किसानों को एक रुपये के माल के बदले पांच रुपये देने के लिए बाध्य करते हैं। पांच-पांच रुपये तक के लिए वे ऐसे व्यक्ति तक को बांध देते तथा अपमानित करते हैं, जो भू-राजस्व के रूप में सौ रुपये देता है, और मेरे कर्मचारियों को किसी भी प्रकार शक्ति-प्रयोग नहीं करने देते।"[3]

कम्पनी-कर्मचारियों-द्वारा किए जा रहे अत्याचारों का विरोध करने और अपने

1. डब्ल्यू० ई० एच० लेकी, पूर्वोल्लिखित ग्रन्थ, खण्ड 4, पृष्ठ 264
2. वही
3. फिलिप उडरफ, 'द मेन हू रूल्ड इण्डिया : द फाउण्डर्स', पृष्ठ 106

प्रजाजन की रक्षा के लिए किए गए प्रयत्नों के कारण मीर कासिम पर इतना अधिक दबाव पड़ा कि उसका धैर्य जाता रहा और उसे वाध्य होकर हिंसा और युद्ध का सहारा लेना पड़ा। इसमें अन्ततोगत्वा उसकी पराजय हुई और उसे देश छोड़ने के लिए विवश कर दिया गया।

उच्चतर अधिकारियों—गवर्नरों, जनरलों, कौंसिलरों, आदि—ने उन भारतीय राजाओं तथा अधिकारियों से उपहार ले-लेकर बहुत अधिक धन बटोरा, जो अपने वर्तमान तथा वांछित पदों के लिए उन्हीं की दयादृष्टि पर निर्भर थे। सन् 1757 से लेकर 1766 तक के वर्षों में बंगाल के शहज़ादों तथा वहां के अन्य वासियों ने इस तरह जो रकमें दीं, उनका विवरण जेम्स मिल ने प्रस्तुत किया है। इस रकम का कुल जोड़ लगभग 60 लाख पौंड स्टर्लिंग या 6 करोड़ रुपये की दहला देनेवाली रकम तक जा पहुंचता है।[1] इसमें क्लाइव की वह जागीर शामिल नहीं है, जिससे उसे प्रति वर्ष 30,000 पौंड की निश्चित आय हो जाती थी। क्लाइव 34 वर्ष की अवस्था में अपने लिए 40,000 पौंड से अधिक की वार्षिक आय और अपने सम्वन्धियों के लिए 50,000 पौंड की रकम साथ लेकर इंग्लैण्ड लौटा।[2]

कम्पनी के सामान्य कर्मचारी भी अपने-अपने ढंग से धन बटोरते रहे। इस देश में रहने की अपनी अस्थायी अवधि को वे, यहां के लोगों को होनेवाली हानि की कोई चिन्ता किए विना, स्वयं धनवान बनने का एक दुर्लभ अवसर मानते थे। डाइरेक्टरों को विवश होकर स्वीकार करना पड़ा: "हम समझते हैं कि देश के भीतरी व्यापार में जो अपार धनराशि कमाई गई, वह लगातार किए गए ऐसे अधिकतम क्रूर और दमनपूर्ण आचरण का परिणाम है, जिसकी मिसाल किसी देश या काल में उपलब्ध नहीं है।"[3]

इस प्रकार आसानी और जल्दी से अत्यधिक धन कमा सकने की सम्भावनाओं ने अन्य अंग्रेज़ों की भी धनलिप्सा जगा दी। कम्पनी के प्रोप्राइटरों और प्रभावशाली व्यक्तियों ने लाभप्रद पदों पर अपने युवा सम्बन्धियों तथा मित्रों को नियुक्त कराने के लिए कम्पनी पर दवाव डाला। धन के लोभी व्यक्तियों ने अंग्रेज़ी पत्रों में यह विज्ञापन दिया कि वे बंगाल में मुंशीगीरी का पद प्राप्त करने के लिए एक हज़ार गिन्नियां तक देने को तैयार हैं।

परिणामतः दफ्तरी अमले में बहुत विस्तार हुआ और अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तियों से सम्बद्ध इन धन-लोलुपों को करोड़ों भारतीयों का भाग्य-निर्णायक बना दिया गया। उनका एकमात्र लक्ष्य था, भारत-रूपी कल्पवृक्ष से जल्दी-से-जल्दी प्रभूत धन प्राप्त कर लेना और बूढ़ा होने से पहले ही भरपूर दौलत लेकर अपने घर लौट

---

1. मिल तथा विल्सन, 'द हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया' (पांचवां संस्करण), खण्ड 3, पृष्ठ 257-60

2. डब्ल्यू० ई० एच० लेकी, 'ए हिस्टरी आफ इंग्लैण्ड इन द एटीन्थ सेंचुरी', खण्ड 4, पृष्ठ 263; सर जान मैलकम, 'लाइफ आफ रावर्ट लार्ड क्लाइव', खण्ड 2 (लन्दन, 1836)

3. मिल तथा विल्सन, 'द हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया' (पांचवां संस्करण), खण्ड 3, पृष्ठ 279

जाना। कीथ ने लिखा है : "इन मांगों का परिणाम यह था कि वह श्रेष्ठ देश, जो अधिकतन स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश शासकों के समय में भी सम्पन्न बना रहा, प्रशासन में अंग्रेज़ों का भाग इतना बढ़ जाने पर विनाश के कगार पर जा पहुंचा।"[1]

धनलिप्सा की जिस भावना को क्लाइव ने खुल-खेलने दिया था, उसने अंग्रेज़-समाज के सभी वर्गों पर प्रभाव डाला। कम्पनी के प्रोप्राइटर अधिक लाभांश के लिए आग्रह करने लगे। सन् 1767 में लाभांश की दर बढ़ा कर दस प्रतिशत की गई और सन् 1771 में उसे बढ़ा कर साढ़े बारह प्रतिशत कर देने का प्रस्ताव सामने आया। इंग्लैण्ड की संसद् और मन्त्री भी इससे अछूते न रहे। "यह विचार असाधारण रूप से चित्ता-कर्षक था कि भारत से 'राष्ट्रीय ऋण' चुकवाया जा सकता है। वस्तुतः यह विचार पूर्व की धनसम्पन्नता की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रचलित धारणाओं के साथ जुड़ा था। क्लाइव ने पिट को लिखा कि बंगाल-विजय का उपयोग समय रहते इस व्यय के लिए किया जा सकता है। और, बेकफोर्ड का विचार था कि पूर्व प्रत्यक्ष राजस्व का एक स्रोत बन सकता है। एक लेखक ने दावा किया कि ब्रिटिश सम्राट् के प्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत आ जाने पर भारत उक्त ऋण चुकाने के लिए पर्याप्त लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।"[2]

अनुमान है कि कम्पनी की ओर से ब्रिटिश सरकार को राज-कर के रूप में प्रति वर्ष लगभग 20 लाख पौंड भेज दिए जाते थे। लेकी ने लिखा है : "शासपत्र की किसी व्यवस्था या लिखित कानून-द्वारा नाममात्र की भी सत्ता प्राप्त न होने पर भी मन्त्रियों ने कम्पनी के प्रादेशिक राजस्व और व्यापारिक राजस्व में अन्तर कर दिया। कम्पनी को भयभीत करके उन्होंने, उसके द्वारा शाही खज़ाने में जमा किए जानेवाले न्यायोचित शुल्कों के अलावा, एक ऐसे समय में प्रति वर्ष चार लाख पौंड तक की रकम और ऐंठ ली, जब कम्पनी में यह आर्थिक बोझ सहने की शक्ति बिल्कुल नहीं थी। यह राज-कर, जो कम्पनी के दिवालिएपन का वास्तविक कारण था, केवल ज़ोर-ज़बर्दस्ती की बात था। हिसाब लगाया गया कि इस प्रकार किसी-न-किसी रूप में पिछले कुछ अरसे से प्रति वर्ष 20 लाख पौंड स्टर्लिंग से कुछ ही कम रकम कम्पनी की ओर से सरकार को भेजी जाती रही है।"[3]

"क्लाइव ने कम्पनी को भ्रष्ट कर दिया था और चेथम को चिन्ता थी कि कहीं वह राष्ट्र को ही भ्रष्ट न कर दे।" यह भय वास्तविक था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में जनता का नैतिक स्तर निम्नतम था। भ्रष्टाचार का बोलबाला था। वे दूषित एकाधीन नगर, जो संसद्-सदस्य निर्वाचित करते थे, पण्य वस्तु बन गए थे। नरेश और विभिन्न पार्टियों के नेता उन्हें खरीदने के लिए उत्कण्ठित थे और इसीलिए वे कम्पनी से बड़ी-बड़ी रकमें ऐंठ लेने को आतुर थे। इसी तरह, कम्पनी के वे धनी कर्मचारी, जो 'नवाबों' के रूप में चुने जा चुके थे, विधानपालिका में अपना प्रभाव बनाने के लिए आतुर थ। सन् 1768 का आम चुनाव इन प्रवृत्तियों का प्रमाण था। उस समय ऐसे लोगों में से 21 व्यक्ति तक चुन लिए गए। "नई संसद् सही अर्थों में नवाबों

1. ए० बी० कीथ, 'ए कांस्टीट्यूशनल हिस्टरी आफ इण्डिया' (दूसरा संस्करण, 1937), पृष्ठ 57

2. जे० एम० हाल्जमन, 'द नवाब्स इन इंग्लैण्ड', (न्यूयार्क, 1926), पृष्ठ 21

3. लेकी, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 4, पृष्ठ 279-80

की एक मिलन-बैठक थी।"[1] उनमें से चार क्लाइव थे। अन्य व्यक्ति वे थे, जो भारत की हाल की घटनाओं में महत्वपूर्ण भाग ले चुके थे।

क्या इस प्रकार इंग्लैण्ड उसी रास्ते पर बढ़ रहा था, जो रोमन साम्राज्य ने उस समय अपनाया था, जब उसकी सीनेट (राज्य-परिषद्) पर प्रोकौंसल (प्रान्त-शासक) छा गए थे और उन्होंने रोमन गणराज्य को साम्राज्य का रूप दे डाला था? पीढ़ियों तक कष्टसहन और त्याग करने के बाद इंग्लैण्ड ने प्राचीन काल में जो स्वाधीनताएं प्राप्त की थीं, उन्हें दांव पर लगा दिया गया था।

इतने अधिक लोगों से भरे विशाल प्रदेश पर अधिकार हो जाने पर बहुत ही जटिल कानूनी तथा संवैधानिक समस्याएं सामने आईं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक वाणिज्यिक संस्था थी, जिसे इंग्लैण्ड की सरकार ने जन्म दिया था। वह उन्हीं कार्यों का पालन और उन्हीं अधिकारों का उपभोग करती थी, जो राज्याध्यक्ष-द्वारा स्वीकृत शासपत्रों में निहित होते थे। क्या वह अपनी उस मातृभूमि की राजनीतिक व्यवस्था में उथल-पुथल की आशंका उत्पन्न किए बिना, जिसका (ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड, दोनों का) क्षेत्रफल 1,20,000 वर्गमील से अधिक नहीं था और जिसमें लगभग केवल 90 लाख प्राणी[2] रहते थे, एक ऐसे भूभाग की सर्वोच्च सत्ताधारिणी बन सकती थी, जिसका क्षेत्रफल 1,50,000 वर्गमील था और जिसमें 3 करोड़ व्यक्ति रहते थे? साम्राज्य के भीतर साम्राज्य की स्थिति सदैव भयंकर सिद्ध होती है और उस दशा में तो यह और भी भयंकर हो जाती है, जब यह अधिकार एक व्यापारी-वर्ग के विवेकहीन तथा मुनाफाखोर सदस्यों के ठके-मुंदे धनिकतन्त्र को प्राप्त हो जाता है।

बंगाल के प्रान्त पर कम्पनी को जो अधिकार मिला था, उसका लज्जाजनक रीति से दुरुपयोग किया गया और इसीलिए प्लासी-युद्ध के बाद के 30 वर्ष इस देश के इतिहास की सबसे अधिक करुण और कलंकपूर्ण अवधि सिद्ध हुए। सन् 1757 से 1765 तक बंगाल को एक ऐसे विजित प्रदेश के रूप में बहुत बड़े पैमाने पर लूटा जाता रहा, जिसके निवासियों के प्रति मानो विजेताओं का कोई दायित्व अथवा कर्तव्य ही न था। किसी भी प्रकार के औचित्य के बिना नवाब बनाए और पदच्युत किए जाते थे और प्रत्येक अवसर का उपयोग कम्पनी के उच्चाधिकारियों—प्रेजिडेंट, कौंसिल-सदस्यों तथा सेनाध्यक्षों—के लिए अपरिमित उपहार बटोरने के लिए किया जाता था। छोटे-छोटे नगण्य व्यक्ति जिलों में तबाही मचा रहे थे। सन् 1765 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के प्रान्तों की दीवानी प्राप्त की गई और अगले सात वर्षों में क्लाइव-द्वारा प्रवर्तित दोहरी शासन-व्यवस्था लागू रही। इस प्रदेश की अर्थ-व्यवस्था कम्पनी के हाथों में आ जाने का परिणाम व्यापक भी हुआ और दुर्भाग्यपूर्ण भी। एक व्यापारिक प्रतिष्ठान के गुमाश्तों और व्यापारियों को बात-की-बात में ऐसे प्रशासकों तथा राजनेताओं का स्थान दे दिया गया,

---

1. ए० मरविन डेवीज, 'क्लाइव आफ प्लासी' (1939), पृष्ठ 462
2. जे० एच० क्लैफम, 'ऐन इकोनामिक हिस्टरी आफ माडर्न ब्रिटेन', खण्ड 1, अध्याय 4:—

1751 में आबादी 72,50,000 थी;

1781 में आबादी 92,50,000 थी; और

1801 में आबादी 1,09,43,000 थी।

जिन्हें ऐसे अत्यधिक जटिल प्रश्नों पर निर्णय देना था, जिनमें अप्रत्याशित और अपरिमित सम्भावनाएं निहित थीं। दुर्भाग्यवश, उन लोगों को भारत की भू-व्यवस्थाओं तथा सम्पत्ति-विषयक स्थितियों की जानकारी बहुत कम थी। इस दशा में उन्होंने अपनी पूर्वपरिचित अंग्रेज़ी राजनीतिक तथा आर्थिक धारणाएं भारत की सर्वथा भिन्न परिस्थितियों में भी लागू कर दीं।

पहले कुछ वर्षों में कम्पनी में इतना साहस न था कि वह दीवानी के हस्तान्तरण में निहित उत्तरदायित्व पूरी तरह सम्भाल लेती। अतः उन लोगों ने भारतीय सत्ता की अधीनता का अपना आवरण ज्यों-का-त्यों बनाए रखने का प्रयास किया। वे लोग मुगल प्रभुता की आड़ में काम करते रहे।[1]

इस अवधि में वास्तविक सत्ता का प्रयोग एक ऐसी व्यवस्था के अनुसार किया गया, जिसमें सत्ता की छाया कठपुतली-तुल्य भारतीय शासक के पास रह गई और

---

1. सिद्धान्त-रूप से तो मुगल-सम्राट सन् 1784 में पिट का भारत-विधेयक (इण्डिया बिल) पास होने तक सर्वोच्च शासक बना रहा, किन्तु सन् 1769 में भी कम्पनी के कर्मचारी इस सिद्धान्त का पालन जिस हद तक कर रहे थे, इसका पता निम्नोद्धृत पत्र से लग जाता है, जिससे गवर्नर हैरी वेरेल्स्ट ने अपनी कौंसिल के सदस्यों को विदाई दी थी :

> "हमारे सामने एक चट्टान है—एक भयंकर चट्टान, जिससे बचने के लिए अधिकतम सावधानी की आवश्यकता है। हम इतना आगे बढ़ चुके हैं, जिसकी पहले कोई मिसाल नहीं है। अपना यह आचरण उचित ठहराने के लिए हमारे पास अच्छे-से-अच्छे और अधिकतम सराहनीय तर्क मौजूद हैं। पर हमें यह याद रखना चाहिए कि हम उस अन्तिम सीमा-रेखा तक पहुंच चुके हैं, जिससे आगे बढ़ने का अर्थ होगा, प्रभुसत्ता की प्रत्यक्ष स्वीकृति। यह भी याद रखना चाहिए कि हम सुदृढ़ नीति-द्वारा निर्धारित सीमा से आगे बढ़े बिना इससे अधिक कुछ भी नहीं कर सकते। स्वदेश-स्थित हमारे नियोजकों के हित और उनके साथ ही विदेशों में हमारे राष्ट्रीय सम्बन्ध-सम्पर्क हमें ऐसा करने से रोकते हैं। यदि हम इस परिवर्तन से पहले यहां की देशी सरकार के मामले में हस्तक्षेप करने और विदेशियों की ईर्ष्या जगाने से बचते रहे हैं, तो हमें अपनी यह व्यवहारकुशलता अब दुगुनी कर देनी चाहिए। यह मान लेने पर भी कि इसके लिए हमारी ओर से अधिकतम धैर्य अपेक्षित है, यह परिवर्तन अपने-आपमें निज़ामत के नाम को नष्ट करने की एक अपरिहार्य प्रवृत्ति रहा है, जिसके द्वारा कम्पनी तथा राष्ट्र के लिए सबसे अधिक सुखद जान पड़नेवाली घटना भी उलझनों तथा ईर्ष्या-द्वेष का कारण बन सकती है। . . .बीच का एक रास्ता ऐसा भी है, जहां संयत आचार हमारा पथ-प्रदर्शन करके हमें आगे बढ़ाता रह सकता है, जिस पर हम बहुत अधिक स्वतन्त्रता या बहुत अधिक परतन्त्रता के भय के बिना सुरक्षित, लाभप्रद और अविचल रीति से बढ़ते रह सकते हैं। बाह्याचरण अनिवार्य माने जाने चाहिए। इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा जाना चाहिए कि प्रत्येक आदेश पर स्थानीय सरकार की मंजूरी की छाप अवश्य हो।" (वेरेल्स्ट, 'व्यू', आदि, परिशिष्ट, पृष्ठ 123; फर्मिंगर, 'फिफ्थ रिपोर्ट', खण्ड 1, पृष्ठ 11)

सर्वोच्च प्रभुसत्ता कम्पनी के हाथ में बनी रही। शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रखने का भार नवाब पर था, किन्तु वह धन और सेना, दोनों के लिए कम्पनी पर निर्भर था, क्योंकि सक्रिय सेना कम्पनी की नौकर थी और प्रान्तों के राजस्व उसी के पास उपलब्ध थे। कम्पनी ने भू-राजस्व-संग्रह में भी कोई फेर-बदल नहीं किया, क्योंकि वह पुराने राजस्व-निर्धारण के आधार पर ही होता रहा। खज़ाना मुर्शिदाबाद में ही रहा। राजस्व-संग्रह की देखभाल तथा नियन्त्रण के लिए, दिखावटी तौर पर नवाब के अधीन, परन्तु वास्तव में कम्पनी के प्रति उत्तरदायी एक नायब-दीवान की नियुक्ति कर दी गई।

ये प्रबन्ध असन्तोषजनक रहे। कम्पनी के लुटेरेपन और उसके कर्मचारियों की दुष्टता ने बंगाल को अव्यवस्था और अराजकता का क्रीड़ा-स्थल बना दिया। इसका परिणाम था सन् 1769-70 का वह अकाल, जिसने वहां की एक-तिहाई आबादी का संहार कर दिया।[1] हंटर ने एक समसामयिक को उद्धृत किया है, जिसका कथन है : "इसके उपरान्त दुख-दुर्दशा का जो दृश्य सामने आया और जो अभी मौजूद है, उसने मानवता को इतनी बुरी तरह दहला दिया है कि उसका वर्णन सम्भव नहीं। यह सच है कि अनेक इलाकों में लोग मुर्दों का मांस खाकर जिन्दा रहे हैं।"[2] फिर भी, कम्पनी ने अकाल के वर्ष में केवल पांच प्रतिशत भू-राजस्व माफ किया और उससे अगले ही वर्ष यह कर दस प्रतिशत बढ़ा दिया गया, ताकि "इतने व्यापक रूप से होनेवाली जनहानि से उत्पन्न क्षति की पूर्ति जीवित व्यक्तियों के मूल्य पर की जा सके।"

कम्पनी-द्वारा इन अमानवीय उपायों के अवलम्बन का कारण यह था कि बंगाल-विजय ने कम्पनी के हिस्सेदारों की धन-लिप्सा बढ़ा दी, जो अधिक लाभांशों और अधिकाधिक निवेशों की मांग करने लगे और इंग्लैण्ड के मन्त्रालय के सदस्य भी लोभवश इस लूट के माल में हिस्सा मांगने लगे। दोनों ने भारत को 'एल डोराडो' ही समझ लिया—दोनों इसके कभी समाप्त न होनेवाले स्वर्ण-संग्रहों में सहभागी होने की इच्छा करने लगे। वे क्लाइव और कम्पनी के दूसरे कर्मचारियों को भारत से बहुत अधिक धन लेकर लौटते देख चुके थे। अतः उनके हृदय में भारत के धन-वैभव के सम्बन्ध में अतिशयोक्तिपूर्ण धारणाएं होना आश्चर्य की बात नहीं है।

वास्तव में, आश्चर्य की बात यह है कि कम्पनी-कर्मचारियों के पास धन की राशि बहुत बढ़ने पर भी स्वयं कम्पनी बहुत अधिक वित्तीय कठिनाइयां अनुभव कर रही थी। कम्पनी पर 60,00,000 पौंड का ऋण था। उसने इंग्लैण्ड की सरकार को प्रति वर्ष 4,00,000 पौंड की रकम चुकाने का वचन दिया था। उसे सहायता के रूप में मुगल-सम्राट्, बंगाल के नवाब और भारतीय सरदारों को प्रति वर्ष कोई 10,00,000 पौंड देने होते थे; इसके अतिरिक्त, उसे 30,000 सिपाहियों की सेना का प्रबन्ध करना होता था।

---

1. आबादी के अनुमान 1 करोड़ से लेकर 3 करोड़ 60 लाख तक विभिन्न हैं। (देखिए, मिल-कृत 'हिस्टरी आफ इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 376)। रावर्ट्स ने यह संख्या 3 करोड़ मानी है और उसका विचार है कि उनमें से 1 करोड़ व्यक्ति मर गए। कीथ के मतानुसार, कुल आबादी के पांचवें भाग के बराबर लोग मर गए। (पी० ई० रावर्ट्स, 'हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया अण्डर कम्पनी ऐण्ड क्राउन' 1930, पृष्ठ 167; ए० बी० कीथ, 'ए कांस्टीट्यूशनल हिस्टरी आफ इण्डिया' (1937), पृष्ठ 58,

2. डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर, 'द ऐनल्स आफ रूरल बंगाल', पृष्ठ 410

इन सबसे बड़ी बात यह थी कि कम्पनी के प्रोप्राइटरों ने अपने लाभांश की दर 6 प्रतिशत से बढ़ा कर सन् 1767 में 10 प्रतिशत और 1772 में साढ़े बारह प्रतिशत कर दी थी। परिणाम यह हुआ कि कम्पनी को विवश होकर न केवल 4,00,000 पौंड की अदायगी स्थगित करनी पड़ी, बल्कि सरकार से वास्तव में 10 लाख पौंड के और ऋण की भीख भी मांगनी पड़ी। इसने, स्वभावतः ही, लोगों में घबड़ाहट पैदा कर दी और जब सन् 1769-70 के भयानक संकट के समाचार इंग्लैण्ड पहुंचे, तब कम्पनी की व्यवस्था ठीक करने के लिए तत्काल कदम उठाना अनिवार्य हो गया।

वारेन हेस्टिंग्स-द्वारा आवरण-मोचन

विभिन्न पदों पर रह कर बहुत समय तक कम्पनी की सेवा करनेवाले वारेन हेस्टिंग्स को सन् 1772 में बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया। उसने मुगल प्रभुसत्ता का आवरण उतार फेंका और कम्पनी को उसके सही—विजय के कारण देश पर अधिकार रखनेवाली एक सैनिक सत्ता के—रूप में प्रकट कर दिया। उसने एकपक्षीय तौर पर वह समझौता रद्द कर दिया, जो मुगल-सम्राट् और बंगाल के नवाब के साथ किया गया था। उसने नवाब से 'नाजिम' के अधिकार छीन लिए और दीवानी में ही 'निजामत' फौजदारी (न्याय-प्रशासन और पुलिस) को भी जोड़ दिया। उसने नायब-दीवानों को पदच्युत कर दिया, भू-राजस्व-विषयक काम का भार अपने ऊपर ले लिया और राजस्व-बोर्ड का कार्यालय तथा सरकारी खजाना मुर्शिदाबाद से हटा कर कलकत्ता ले आया। जिस राज-कर का वचन सम्राट् को दिया गया था, वह रोक लिया गया और राजस्व में नवाब का भाग कम कर दिया गया। इलाहाबाद और कोरा के सूबे, जो सम्राट् के अधिकार में थे, 50 लाख रुपये लेकर अवध के नवाब को सौंप दिए गए और रोहिल्लों का दमन करने के लिए 4,00,000 पौंड की रकम लेकर अंग्रेज सैनिकों की एक टुकड़ी की सेवाएं नवाब को सुलभ कर दी गईं। बर्क ने इन सौदों को "हृदय-विदारक, भयंकर तथा घोर विश्वासघातपूर्ण"[1] कह कर इनकी निन्दा की। गवर्नर-जनरल और उसके पक्षपोषकों ने 'मूल प्रयोजन-सिद्धि' का वही पुराना सिद्धान्त इसका कारण ठहराया।

कम्पनी की संवैधानिक, प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन होता जान पड़ने लगा, क्योंकि चेयम के शब्दों में, "भारत ऐसे निकृष्ट दुराचारों से भरा है, जिनकी दुर्गन्ध धरती से आकाश तक फैल रही है।"[2] एक निजी अभिकरण-द्वारा प्राप्त किए गए साम्राज्य की व्यवस्था के उत्तरदायित्व से बचे रहना अब सम्भव न रहा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक ऐसे राजनीतिक संगठन का रूप ले चुकी थी, जिसे कई लाख प्रजाजन पर सर्वोच्च अधिकार प्राप्त था। अतः यह आवश्यक हो गया कि राज्य तथा कम्पनी के इंग्लैण्ड-स्थित शासन-संगठन के पारस्परिक सम्बन्ध नए सिरे से निर्धारित किए जाएं और राज्य तथा कम्पनी के भारत-स्थित प्राधिकारियों के बीच के सम्बन्ध भी निर्धारित कर दिए जाएं, जिसका अर्थ था, कम्पनी के स्वदेश-स्थित डाइरेक्टरों और भारत-स्थित कर्मचारियों के आपसी सम्बन्धों पर पुनः विचार किया जाना।

---

1. 'द कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 216
2. वही, पृष्ठ 187

सन् 1773 का रेग्युलेटिंग ऐक्ट (विनियमन-अधिनियम) भारतीय समस्या के प्रति संसद् का उत्तर था। वस्तुतः वह एक समझौता था। उसमें कम्पनी के सम्पत्ति-विषयक अधिकारों में हस्तक्षेप करने से बचा गया। मुगल-सम्राट्-द्वारा सौंपा गया दीवानी अथवा भू राजस्व-प्रशासन का अधिकार कम्पनी के ही पास रहने दिया गया। उसमें अंग्रेज मन्त्रियों के हाथ में संरक्षण-शक्ति बढ़ने के कारण हो सकनेवाले खतरों से भी बचा गया। अतः कम्पनी के सम्पत्ति-विषयक अधिकार सुरक्षित रहने देकर भी युद्ध के फलस्वरूप कब्ज़े में आनेवाली बस्तियों तथा प्रदेशों की प्रभुसत्ता सम्राट् को सौंप दी गई। राजस्व-विषयक सभी वसूलियों की सूचना खज़ाने को देना और सभी सैनिक तथा असैनिक मामलों से सम्बद्ध बातों की जानकारी सेक्रेट्री आफ स्टेट को देना डाइरेक्टरों के लिए लाज़िमी कर दिया गया।

रेग्युलेटिंग ऐक्ट ने वारेन हेस्टिंग्स को गवर्नर-जनरल बना दिया और उसकी कौंसिल के चार सदस्य भी नियुक्त कर दिए। उसके अनुसार, एक सर्वोच्च न्यायालय तथा उसके मुख्य न्यायाधिपति और ऐसे तीन छोटे जजों की भी व्यवस्था कर दी गई, जिन्हें सम्राट् नियुक्त करनेवाला था। सुव्यवस्था और नागरिक प्रशासन के लिए नियम, अध्यादेश और विनियम बनाने का अधिकार सपरिषद् गवर्नर-जनरल को दे दिया गया।

इस प्रकार, राज्य की सभी गतिविधियों—विधायी, न्यायिक तथा कार्यकारी—के लिए व्यवस्था कर दी गई और एक नई शासन-पद्धति की नींव रखी गई। पर उस नींव पर नया भवन बनाना आसान काम न था, क्योंकि वारेन हेस्टिंग्स के सामने जो काम था, वह भगीरथ प्रयत्न से ही हो सकता था। उसे व्यापारियों, गुमाश्तों और मुंशियों की एक कम्पनी को शासनतन्त्र का रूप देना था और एक ऐसे विशुद्धतः वणिक्-समाज के माध्यम से एक मृतप्राय भारतीय शासन-पद्धति को बदलना था, जो "यहां के वासियों के रीति-रिवाजों, धर्मों और सामाजिक अभिरुचियों से अपरिचित था, जो प्रजाजन के प्रति न तो किसी प्रकार का दायित्व स्वीकार करता था, न उसे अनुभव ही करता था और फिर भी जो वास्तव में उन लोगों पर इतनी अधिक तथा अनियन्त्रित अधिकार-सत्ता का उपभोग कर रहा था, जो अधिकतम निरंकुश स्वेच्छाचारिता की स्थिति में ही सम्भव है।"[1]

परिणामतः, आपस में समझौता न कर सकनेवाले दो पक्षों का टकराव अनिवार्य हो गया, क्योंकि विजित और रक्तरंजित भारत को सम्राटोचित शक्ति तथा राज्याधिकार की उच्च स्थिति की ओर तेज़ी से बढ़ते हुए इंग्लैण्ड से अलग करनेवाली खाई भरी नहीं जा सकती थी। वारेन हेस्टिंग्स, जिसके आरम्भिक वर्ष भारत में ही बीते थे, भारत के परम्परागत तौर-तरीकों और शासन-पद्धतियों का आदर करता था और उसका दृष्टिकोण "जातीय श्रेष्ठता अथवा मिशन की भावना से धूमिल न था।" उसने "हमारे विनियमों को यहां के वासियों के आचार-व्यवहार तथा विचारों और इस देश की प्रबल आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला, और जहां तक हमारे लिए सम्भव था, वहां तक वह उन्हें यहां के प्राचीन रीति-रिवाजों से भी अभिन्न बनाए रहा।"[2]

---

1. एम० जोन्स, 'वारेन हेस्टिंग्स', पृष्ठ 105

2. जी० डब्ल्यू० फारेस्ट, 'सेलेक्शन्स फ्राम द स्टेट पेपर्स आफ द गवर्नर्स'-जनरल आफ इण्डिया : वारेन हेस्टिंग्स', खण्ड 2, परिशिष्ट क, पृष्ठ 277

फिर भी, एक ऐसे समय में, जब कि अमेरिकी महाद्वीप में ब्रिटिश साम्राज्य लड़खड़ा रहा था, वह भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के सामने उपस्थित भयंकर खतरा टालने में समर्थ हो गया और यद्यपि उसने उन रुकावटों पर भी विजय पा ली, जो रेग्युलेटिंग ऐक्ट ने उसके मार्ग में पैदा कर दी थीं, तथापि पूर्वी परम्परा और पश्चिमी मान्यताओं के सामंजस्य पर आधारित एक शासन-व्यवस्था की स्थापना की दिशा में उसे अधिक सफलता नहीं मिल पाई। उसने दोहरे शासन से उत्पन्न अव्यवस्था और दमन का अन्त कर दिया। यह अवश्य है कि उसे शासन के पुनर्गठन का यह काम ऐसी कठिनाइयों के बीच करना पड़ा, जो उससे कम नमनीयता और अचलता रखनेवाले व्यक्ति को पराभूत कर सकती थीं। भूराजस्व-प्रशासन और न्यायांग को व्यवस्थित करने, सैनिक तथा असैनिक अधिकारियों में समुचित अनुशासन और सुधार उत्पन्न करने और वित्त-व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने की दिशा में किए गए उसके प्रयत्न विफल ही रहे। हां, आगे चल कर उन्होंने एक स्थायी पद्धति की सृष्टि के लिए आधार अवश्य प्रस्तुत किया।

यह सच है कि वारेन हेस्टिंग्स ने उस द्वैधता का अन्त कर दिया, जिसने शासकीय प्राधिकार को कम्पनी तथा नवाब के बीच बांट रखा था, तथा पूरी शक्ति कम्पनी के हाथों में केन्द्रित कर दी। फिर भी, स्वयं कम्पनी की कार्यपद्धति में विद्यमान द्वैधता बनी रही। सर्वोच्च स्तर पर संसद् की प्रभुसत्ता पर तो बल दिया जाता था, किन्तु उसके कार्यान्वयन का कोई साधन नहीं बनाया गया था। भारत में गवर्नर-जनरल का प्राधिकार उसकी कौंसिल के सदस्यों तथा सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के प्राधिकारों-द्वारा परिमित था। गवर्नर-जनरल और मद्रास तथा बम्बई प्रेज़िडेंसियों के गवर्नरों के आपसी सम्बन्ध समुचित रूप से निर्धारित नहीं थे।

विधि-व्यवस्थाओं में भी यही द्वैधता विद्यमान थी। इंग्लैण्ड में बने कानून सर्वोत्तम न्यायालय लागू करता था और भारतीय दीवानी और फौजदारी कानून अथवा गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल-द्वारा बनाए गए विनियम 'सदर दीवानी अदालत और 'सदर निज़ामत अदालत' द्वारा लागू किए जाते थे। अधिकार-क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी विवाद था, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय किसी कानून का अर्थ इस तरह लगा सकता था, जिससे कम्पनी की अदालतों पर भी उसे दीवानी अधिकार प्राप्त हो जाए। दोनों तरह की अदालतों में अपनाई गई कार्य-पद्धतियां भी भिन्न थीं।

राजस्व इकट्ठा करने और शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए ज़िलों के लिए निर्धारित प्रशासन-पद्धति मुगल-व्यवस्था के ढंग पर बनाई गई थी और उसके कर्मचारियों में अंग्रेज़ तथा भारतीय अधिकारियों का सम्मिश्रण था। उधर कम्पनी का संविधान और उसके केन्द्रीय संगठन का कार्य-व्यवहार इंग्लैण्ड में बने कानूनों पर आधारित था।

अन्तिम बात यह थी कि कम्पनी के प्राधिकार के स्रोत दो थे और इसीलिए उसके उत्तरदायित्व भी दोहरे थे। उसे असैनिक अधिकार मुगल-सम्राट् की सनद के आधार पर प्राप्त थे और सामान्य प्राधिकार ब्रिटिश सम्राट् की ओर से। मुगल-सम्राट् के प्रति उसकी वफादारी का तकाजा था कि वह भारतीय कानूनों, धर्मों तथा प्रथाओं का आदर करे। दूसरी ओर, ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट के नाते उसके लिए ब्रिटिश तौर-तरीकों तथा सिद्धान्तों की हिमायत करना लाज़िमी था। इस प्रकार, एक ओर भारतीयकरण के

हामियों और दूसरी ओर अंग्रेज़ीकरण समर्थकों के बीच संघर्ष अनिवार्य हो गया।

वारेन हेस्टिंग्स की नियुक्ति के साथ परिवर्तन-क्रम आरम्भ हुआ। 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' ने भारत-स्थित प्रेज़िडेंट तथा कौंसिल को ये आदेश दे दिए थे कि वे दीवान बने रहें और कम्पनी के कर्मचारियों के माध्यम से राजस्व की पूरी व्यवस्था तथा ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लें।"[1] इस फैसले का ऐतिहासिक महत्व था और इसके प्रभावों का वर्णन सबसे अच्छे ढंग से जेम्स मिल के इन शब्दों में किया जा सकता है: "इससे बहुत अधिक परिवर्तन हुआ—वस्तुतः यह परिवर्तन उस आदेश की प्रकृति में ही निहित था। यह परिवर्तन इतना अधिक क्रान्तिकारी था कि पहले कभी शायद इसका अनुमान न लगाया जा सका था—हिन्दू शासकों के स्थान पर मुसलमानों के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी इतना बड़ा परिवर्तन न हुआ था। हिन्दू शासकों का स्थान मुसलमानों को प्राप्त होने पर केवल शासकों का परिवर्तन हुआ था—तलवार धारण करने तथा अनुकम्पा प्रदान करनेवाले हाथ ही बदले थे—परन्तु शासन-यन्त्र और उससे भी आगे बढ़ कर समाज के संगठन में बहुत ही मामूली फेर-बदल हुए थे तथा प्रशासन का दीवानी भाग सुविधा के लिए लगभग पूर्णतः हिन्दुओं के ही हाथ में रहने दिया गया था। राजस्व-प्रबन्ध में आमूल परिवर्तन का प्रभाव भारतवासियों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन पर जितना गहरा पड़ा, उसकी कल्पना करना यूरोपीय पाठक के लिए सहज नहीं है। यह एक नई रीति थी, जिससे देश की सम्पूर्ण सम्पदा और उसके साथ-साथ न्याय-प्रशासन को एक नया आधार प्रदान किया गया।"[2]

हेस्टिंग्स ने 13 अप्रैल को गवर्नर का कार्यभार सम्भाला। 14 अप्रैल को उसे कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के इस फैसले का पता चला कि नायब-दीवान का पद समाप्त कर दिया गया है। उस समय नवाब नाबालिग था, इसलिए नायब-दीवान के पद के समाप्त होने का परिणाम यह निकला कि कम्पनी इस देश की सर्वोच्च सत्ता के रूप में लोगों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ गई। सर्किट-समिति (कमिटी आफ सर्किट) के शब्दों में, "कोर्ट ने प्रसन्नतापूर्वक पद्धति में आमूल परिवर्तन करने का निदेश दे दिया है और उसके परिपालन की योजना बोर्ड की इच्छा पर छोड़ दी है। ऐसा करते समय उन विनियमों को औपचारिक रूप से रद्द नहीं किया गया है, जो उन्होंने पहले बनाए थे और जिन्हें दूसरी पद्धति के अनुकूल ढाल लिया गया था। उन्हें रद्द करने पर प्राचीन पद्धति से सम्बद्ध उन अनुषंगी संस्थाओं को भी रद्द करना अनिवार्य हो जाता, जो नई पद्धति से मेल नहीं खाती थीं।"[3]

राजस्व का पट्टा मौजदा ज़मींदारों के साथ किया जाए या नीलामी की बोली बोलनेवाले नए लोगों के साथ—इस प्रश्न पर एक ओर गवर्नर की कौंसिल के सदस्यों में और दूसरी ओर प्रेज़िडेंट और कौंसिल तथा 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' के बीच विस्तारपूर्वक विचार किया गया। अन्तिम निर्णय यह हुआ कि ज़मींदारों को पेंशन दे देने और रैयतों को उनकी जोतों का वास्तविक स्वामी बना देने के बजाय राजस्व-संग्रह के वर्तमान अभिकरण से

---

1. फर्मिगर, 'फिफ्थ रिपोर्ट', खण्ड 1, प्रस्तावना, पृष्ठ 212
2. मिल तथा विल्सन, 'द हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 3, पृष्ठ 365 (स्याही गहरी हमारी ओर से की गई है)
3. फर्मिगर, पूर्वोद्धृत रिपोर्ट, प्रस्तावना, पृष्ठ 212-13; 'सिलेक्ट रिपोर्ट आफ सीक्रेसी' 1772, पृष्ठ 18

ही काम लिया जाए। हेस्टिंग्स ने लिखा था : "ज़मींदारों और ताल्लुकेदारों को इस जोखिम में डाल देना न तो न्याय की हमारी धारणाओं के अनुकूल है और न ही आपके (अर्थात् डाइरेक्टरों के) आदेशों के, क्योंकि हमें आदेश यही प्राप्त हैं कि हमें न तो किसी आकस्मिक परिवर्तन-द्वारा संविधान में फेर-बदल करना है और न ज़मींदारों, आदि को उनके पुराने विशेषाधिकारों और छूटों से वंचित करना है।"[1] परन्तु, इसके साथ ही, राज्य के हितों की भी बलि नहीं चढ़ाई जा सकती थी। अतः यह निर्धारित किया गया कि यदि मौजूदा ज़मींदार और ताल्लुकेदार सुलभ हों, तो नए लगान-ठेकेदारों के बदले उन्हीं के साथ समझौता किया जाए। पर जहां ज़मींदार सुलभ न हों या वे राजस्व की वह रकम चुकाने के लिए राज़ी न हों, जिसके लिए बोली बोलनेवाले नए व्यक्ति तैयार हों, तो नए लोगों के साथ समझौता कर लिया जाए। इस तरह, केवल उस दशा में मौजूदा ज़मींदारों को प्राथमिकता दी जाती थी, जब वे राजस्व की उतनी रकम चुकाने के लिए तैयार हों, जो कम्पनी को उन लोगों से मिल सकती थी, जिनके पास राजस्व-संग्रह के अधिकार पहले से नहीं थे। सन् 1772 में यह फैसला हुआ कि राजस्व-विषयक एक पंचवर्षीय समझौता कर लिया जाए।

हेस्टिंग्स-द्वारा किए गए भूराजस्व-विषयक समझौते खेतिहरों और मालिकों के लिए तबाही का कारण बन गए, क्योंकि राजस्व-निर्धारण की अनिश्चयात्मकता ने खेती में सुधार करने की भावना का प्रतिरोध किया। उसके राजस्व-संग्राहकों को बहुत अधिक कानूनी और दण्डाधिकार प्राप्त थे। अतः भूस्वामी अधिकारियों के दमन के भय से मुक्त न रहे। बंगाल के मूक और असहाय किसानों को अनादि काल से भूमि-विषयक जो अधिकार प्राप्त थे, उनकी अबाध लूट-खसोट में स्वयं ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने खुल कर भाग लिया। हेस्टिंग्स के एक स्थानीय कर्मचारी कुन्तू बाबू के नाम किया गया एक बहुत बड़ी जागीर का अधिकार-दान उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। यह अधिकार-दान कुन्तू बाबू के दस-वर्षीय पुत्र के नाम से दर्ज किया गया था और हेस्टिंग्स ने यह कह कर उसका समर्थन किया था कि इस प्रकार उसने अपने कर्मचारी पर कृपा नहीं की, वस्तुतः वह तो किसी भी अधिकार-गृहीता-द्वारा निर्धारित की जा सकनेवाली श्रेष्ठतम शर्तों पर दिया गया है। इस प्रकार के सन्देहजनक सौदे केवल हेस्टिंग्स ने ही नहीं किए। कम्पनी-कर्मचारियों-द्वारा अपने स्थानीय कर्मचारियों या बनियों के नाम से ज़मींदारियां प्राप्त करने की प्रथा सन् 1773 और 1793 के बीच बहुत प्रचलित रही। उदाहरण के लिए, सर्किट-समिति ने बहुमत से यह लिखा कि "जब हम इस बात की पुष्टि करते हैं कि साढ़े तेरह लाख की वार्षिक रकम के खेत और कम्पनी-द्वारा 16 लाख के और निवेश का प्रबन्ध करनेवाले संविदे गवर्नर के बनिये या उसके पुत्र या उसके भाई पर केवल उन्हीं का हित ध्यान में रख कर नहीं लादे जा सकते थे, तब हम इस प्रकार मालिक और उसके कर्मचारियों में हितों की साझेदारी का ठोस और प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। कदाचित् यह असम्भव है। फिर भी 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' के सामने यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के जितने भी दुरुपयोग अब तक सिद्ध हो चुके हैं, उनमें सदैव बनिया ही वह दिखावटी व्यक्ति रहा है, जिसके नाम में मालिक खेत या संविदा रखता रहा है। श्री फ्लीटवुड का बनिया शारीगर का,

1. फर्मिगर, पूर्वोद्धृत रिपोर्ट, प्रस्तावना, पृष्ठ 217

श्री थैकरे का वनिया सिलहट का, श्री किस्टी का वनिया वंजोरा और अपोले का तथा श्री बार्टन का वनिया बेलोआ के नमक-फार्म का एक नाममात्र का किसान है। और, यह मानने का पर्याप्त कारण है कि **कम्पनी की इन प्रान्तों की कुल जमीन का एक-तिहाई भाग या तो अंग्रेज भद्रजनों के वनियों के पास मौजूद है, या कुछ ही समय पहले तक उनके पास रहा है।**"[1]

यह सन् 1775 की बात है। यह प्रथा उसके वाद तक चलती रही और सन् 1793 में स्थायी वन्दोवस्त होने तक वंगाल की आधी ज़मीन इस तरह वनियों-द्वारा अवश्य हड़प ली गई होगी।

वारेन हेस्टिंग्स ने भारतीय ग्राम-अर्थ-व्यवस्था के प्राचीन भवन पर भयंकर प्रहार किया। उसकी मान्यता थी कि सारी जमीन राज्य की सम्पदा है। अतएव उपज में खेतिहर का भाग केवल उसके श्रम की मजदूरी और उसके कृषि-विषयक स्टाक के मुनाफे तक सीमित है; विचौलिये का भाग वह कमीशन है, जो कर-संग्राहक को उसकी सेवा के लिए स्वीकार्य है; और उपज का वाकी सारा भाग सरकार का है। इस सिद्धान्त को अमल में लाने के भयंकर परिणाम सामने आए। वंशानुगत भूस्वामियों के अधिकार की उपेक्षा की गई थी। ज़मीनों को नीलाम कर दिया गया और वे सबसे ऊंची बोली बोलनेवाले उन व्यक्तियों को लीज पर दे दी गईं, जो लगान के लिए अभीप्ट ज़मानत पेश कर सकते थे। पहली नीलामी सन् 1772 में पांच वर्ष के लिए की गई। उसके वाद प्रतिवर्ष नीलामियां होती रहीं।

वारेन हेस्टिंग्स ने अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन सरकार की प्राप्तव्य रकमों की अदायगी करने के तरीके में किया। "देय रकमें वकाया रहने की दशा में उन्हें (ज़मींदारों को) अधिकारच्युत किया जा सकेगा और उक्त कमी पूरी करने के लिए उनकी ज़मींदारियां पूर्णत: या अंशत: वेच दी जाएंगी।"[2] इसने असंख्य बुराइयों—संग्राहकों की ओर से की जानेवाली सख्ती, ठेकेदारों की ओर से लगाई जानेवाली कमरतोड़ मालगुज़ारी और खेतिहरों की ओर से छिपाव-दुराव और अपवंचन को जन्म दिया।

इन वातों के सम्वन्ध में फिलिप फ्रांसिस ने अपने कार्य-विवरण में लिखा है कि अधिकतर ज़मींदार तवाह हो गए और सरकार ने निचले दर्जे के लोगों को कर-संग्रह के लिए नियुक्त कर दिया। कार्यवाही का विवेचन करते हुए रमेशचन्द्र दत्त ने कहा है: "राजस्व के वार्षिक निर्धारणों, जल्दी-जल्दी होनेवाली वृद्धियों और वसूलियों के ऐसे क्रूरतापूर्ण तरीके के कारण, जो पहले कभी अनुभव नहीं किया गया था, बंगाल के सभी ज़मींदारों तथा सभी प्राचीन परिवारों को कप्ट सहना पड़ा। पुराने परिवारों के वंशजों के देखते-देखते उनकी जागीरें कलकत्ते के साहूकारों और सट्टेवाज़ों के हाथों में चली गईं। विधवाओं और छोटे मालिकों की आंखों के सामने उनके शान्ति-प्रिय प्रजाजन कलकत्ते-द्वारा नियुक्त लुटेरे एजेण्टों-द्वारा सताए जाते रहे।"[3] अपनी

---

1. सर्किट-समिति का दिनांक 15 सितम्बर, 1775 का कार्य-विवरण, फमिगर, पूर्वोद्धत रिपोर्ट, पृष्ठ 226-27 (स्याही हमारी ओर से गहरी की गई है)

2. जे० डब्ल्यू० काये, 'द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द ईस्ट इण्डिया कम्पनी', पृष्ठ 172

3. आर० सी० दत्त, 'द इकोनामिक हिस्टरी आफ इण्डिया अण्डर अर्ली ब्रिटिश रूल', पृष्ठ 61

इन उक्तियों के उदाहरणस्वरूप उन्होंने बंगाल की तीन सबसे बड़ी जागीरों— बर्दवान, राजशाही और दिनाजपुर— के लोगों की यातनाओं के वर्णन प्रस्तुत किए हैं।[1]

पिट का इण्डिया ऐक्ट

कम्पनी की सामान्य स्थिति भी ठीक नहीं थी। उसकी आर्थिक स्थिति तो बहुत ही चिन्ताजनक थी। मैसूर के साथ की गई लज्जास्पद लड़ाइयों और मराठों के विरुद्ध होनेवाले महंगे अभियानों ने कम्पनी का खज़ाना खाली कर दिया था। विश्व-युद्ध के कारण—जिसमें इंग्लैण्ड भी उलझा हुआ था—जहाज़ों के किराए बढ़ गए थे, जिसका कम्पनी के व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। रेग्युलेटिंग ऐक्ट व्यवहारतः बेकार हो चुका था। वह अधिनियम सरकार, कम्पनी, कम्पनी के भारत-स्थित कर्मचारियों, गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल और तीनों प्रेज़िडेंसियों के अधिकार-क्षेत्रों तथा ज़िम्मेदारियों की स्पष्ट रूप से सीमा निर्धारित करने में असफल रहा। प्रशासन की दशा बहुत बुरी थी। स्वयं वारेन हेस्टिंग्स ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है: "ऐसी महंगी प्रबन्ध-व्यवस्था, जिसके अधीन काम करनेवाले असंख्य नौकर-चाकरों और कुनबापरवरी के अभिशाप ने उसमें सुधार करना असम्भव कर दिया था; ऐसी सरकार, जो अपनी पुरानी भोग-विलास की आदतों से कमज़ोर हो चुकी थी; ऐसा देश, जिसे लोग अपने निजी स्वार्थ के लिए दोनों हाथों लूट रहे थे और निजी सम्पत्ति के रूप में हर साल भारी मात्रा में जिसकी तत्कालीन मुद्रा बाहर भेज कर उसे उसके महत्वपूर्ण संसाधनों से वंचित कर रहे थे।"[2]

कम्पनी की परेशानियां भारत तक ही सीमित न थीं। पिछले बीस वर्षों से इंग्लैण्ड में भी विरोध बढ़ता जा रहा था। वारेन हेस्टिंग्स के कारण चिन्ता और आशंका पैदा हो गई थी, जो अमेरिकी उपनिवेशों के साथ होनेवाले युद्ध में अंग्रेज़ों की बिगड़ती हुई स्थिति और स्पेनिश-फ्रेंच आक्रमण की तैयारियों के कारण और भी बढ़ती जा रही थी। मन्त्री लोलुप दृष्टि से भारत की ओर ताक रहे थे, जहां कम्पनी ने ऐसे प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, जिनसे हर साल चालीस लाख पौंड की आय होती थी। भारतीय संरक्षण और भारतीय रुपये से उनकी अनेक समस्याएं हल हो सकती थीं। इंग्लैण्ड के सरकारी ऋण को कम करने के उपायों के विषय में चर्चा करते हुए ऐडम स्मिथ ने लिखा है: "ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जिन इलाकों पर कब्ज़ा किया है—जिन पर ब्रिटिश सम्राट् अर्थात् ब्रिटेन की सरकार और वहां की जनता का असन्दिग्ध अधिकार है—उन इलाकों को शायद उन सभी साधनों से प्राप्त होनेवाले राजस्व से अधिक राजस्व-प्राप्ति का साधन बनाया जा सकता है, जिसका पहले उल्लेख किया गया है। बताया जाता है कि वे प्रदेश बहुत उपजाऊ और बहुत बड़े हैं और अपने क्षेत्र-विस्तार के नाते ब्रिटेन से कहीं अधिक समृद्ध और अधिक जनसंख्यावाले हैं।"[3]

ब्रिटेन की संसद् में बड़ी बेचैनी थी और जनता सरकारी खर्च में कमी की मांग कर रही थी। हेस्टिंग्स का पक्का विरोधी फिलिप फ्रांसिस, गवर्नर-जनरल और कम्पनी पर

---

1. आर० सी० दत्त, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 61 और आगे
2. "द कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया' (भारतीय पुनर्मुद्रण) खण्ड 5, पृष्ठ 198
3. ऐडम स्मिथ, 'द वेल्थ आफ नेशन्स', (आधुनिक पुस्तकालय-संस्करण), पृष्ठ 898

तरह-तरह के आरोप लगा रहा था, राजनीतिज्ञों में उपद्रव की भावनाएं जोर पकड़ रही थीं और जार्ज तृतीय-द्वारा अपने शाही परमाधिकार को फिर से स्थापित करने और अपनी शाही सत्ता को फिर से जताने के उन्नत प्रयत्नों का आम तौर पर विरोध किया जा रहा था। ह्विग पार्टी का सम्राट् की पार्टी से मुकावला था। ह्विग पार्टी के नेता फाक्स तथा पिट के बीच—जिसे सम्राट् के कृपापात्रों का समर्थन प्राप्त था—व्यक्तिगत प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मामलों पर वहुत बुरा प्रभाव पड़ा। ऐडम स्मिथ-जैसे विचारकों ने साम्राज्य बनाने की दिशा में किए गए कम्पनी के कार्यों के प्रति असहमति प्रकट की। उसने लिखा है: "सम्राट् और व्यापारी से अधिक कोई और दो बेमेल व्यक्ति हो नहीं सकते। यदि अंग्रेजी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यापारिक प्रवृत्ति उसे निकम्मा शासक बना रही है, तो शासन-सत्ता की प्रवृत्ति उसे उतना ही निकम्मा व्यापारी बनाती जान पड़ रही है। कम्पनीवाले जब केवल व्यापार करते थे, तब इस दिशा में सफल रहे और अपने लाभ में से कम्पनी के हिस्सेदारों को काफी लाभांश भी देते रहे। जब से इन लोगों ने शासक का रूप धारण किया है, जिसकी आमदनी के बारे में कहा जा सकता है कि वह शुरू में ही तीस लाख पौंड से भी अधिक थी, तब से ये तात्कालिक दिवालिएपन से बचने के लिए सरकार से असाधारण सहायता लेने पर मजबूर हो गए हैं। पहली अवस्था में कम्पनी के भारत-स्थित कर्मचारी अपने को व्यापारियों के मुंशी समझते थे, जब कि वर्तमान अवस्था में वे अपने को सम्राटों के मन्त्री समझने लगे हैं।"[1]

इस प्रकार, जब कम्पनी को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उसने सरकार से सहायता की प्रार्थना की, तब कम्पनी की खूब आलोचना और भर्त्सना की गई। कम्पनी के कामों की जांच-पड़ताल के लिए प्रवर और गुप्त समितियां नियुक्त की गईं, जिन्होंने कई बड़ी-बड़ी रिपोर्टें प्रस्तुत कीं। संसद् के क्रोध की सीमा न रही। कम्पनी के कामों में सुधार करने के विचार से विभिन्न दलों ने अपनी-अपनी ओर से विधेयक पेश किए। अन्त में, सन् 1784 में पिट का इण्डिया ऐक्ट (भारत-विधेयक) स्वीकार कर लिया गया और इस प्रकार वे सिद्धान्त निश्चित हो गए, जिनके अनुसार आगे आनेवाले 75 वर्षों में भारत के मामलों का निवटारा किया जाना था। संसद् ने स्पष्ट रूप से भारतीय प्रदेशों पर अपना अधिकार जताया और अपने अधिकार का प्रयोग करने के लिए वित्त-मन्त्री, एक राज्य-मन्त्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट) और चार अन्य प्रिवी-कौंसिलरों का एक मण्डल (बोर्ड) बना दिया। व्यवहारत: नियन्त्रण-मण्डल को जो अधिकार प्रदान किया गया था, उसका प्रयोग वित्त-मन्त्री और राज्य-मन्त्री से भिन्न एक वरिष्ठ आयुक्त अथवा सीनियर कमिश्नर करता था। वह मण्डल के अध्यक्ष के नाम से जाना जाता था। इस मण्डल को उन सब गतिविधियों और मामलों की निगरानी, निदेशन और नियन्त्रण का अधिकार सौंप दिया गया था, जिनका ईस्ट इण्डीज़-स्थित ब्रिटिश प्रदेशों की असैनिक या सैनिक सरकार या राजस्व से किसी तरह का भी सम्बन्ध था। एक मन्त्री को मण्डल का अध्यक्ष बना दिया गया। उसे भारत-मन्त्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इण्डिया) कहा जाने लगा और उसमें उक्त मण्डल के सभी अधिकार निहित हो गए। इस तरह, कम्पनी को उसके राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, पर कम्पनी के संरक्षण और व्या-

1. ऐडम स्मिथ 'द वेल्थ आफ नेशन्स' आधुनिक पुस्तकालय-संस्करण, पृष्ठ 771

पारिक विशेषाधिकार उसके पास बराबर बने रहे। इस प्रकार, कम्पनी एक अधीनस्थ अभिकरण के रूप में काम करने लगी, जिसके माध्यम से संसद् भारत के मामलों की व्यवस्था करती थी।

कार्नवालिस और कम्पनी बहादुर

पिट के इण्डिया ऐक्ट ने रेग्युलेटिंग ऐक्ट की कमियां दूर कर दीं। इस अधिनियम ने कौंसिल के सम्बन्ध में, जिसके फैसलों को रद्द करने का गवर्नर-जनरल को अधिकार था, और बम्बई तथा मद्रास की प्रेजिडेंसियों के सम्बन्ध में, जो निश्चित रूप से कलकत्ता के अधीन कर दी गई थीं, गवर्नर-जनरल की प्रतिष्ठा और अधिकार बढ़ा दिए। गवर्नर-जनरल और प्रधान सेनापति के दोनों ओहदे कार्नवालिस को देकर उसके हाथ और भी मजबूत कर दिए गए।

कार्नवालिस के लिए जो काम निश्चित किया गया था, वह यह था: "एक कुशल प्रशासनिक तन्त्र का निर्माण, जो शान्ति की व्यवस्था कर सके, न्याय प्रदान कर सके, भ्रष्टाचार और कुशासन से नष्ट हुई कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुधार सके और अन्ततः आमदनी में से नियमित रूप से इतनी बचत करने का लक्ष्य पूरा कर सके, जिससे कम्पनी हर साल काफी मात्रा में भारत के बने कपड़े और चीन की चाय में निवेश कर सके।"[1] कार्नवालिस ने अपना काम एक कुलीन अंग्रेज जमींदार के विचारों के अनुसार किया। इंग्लैण्ड की प्रगति के मूल स्रोत ये जमींदार ही थे; इसलिए कार्नवालिस ने भारत में "यूरोप के नमूने पर कुलीनतन्त्र स्थापित करने का निश्चय किया था।"[2] कार्नवालिस ह्विग था और वह भारत का शासन भी ह्विग-सिद्धान्तों—अर्थात् कार्यकारी शक्तियों के परिसीमन, कार्यपालिका और न्यायपालिका के पृथक्करण, आर्थिक मामलों में सरकार के हस्तक्षेप में कमी और संविदा-स्वातन्त्र्य के प्रचलन—के अनुसार ही चलना चाहता था। दुर्भाग्यवश, वह भारतीय परिस्थितियों से अनभिज्ञ था और उसे भारतीयों तथा भारत के मामलों के बारे में कोई अनुभव नहीं था। उसके मन में भारतीय परम्पराओं और पद्धतियों के लिए कोई ऊंचा स्थान नहीं था। वह तो विजेता की जातीय श्रेष्ठता के नशे में चूर था और जैसे-जैसे भारत में अंग्रेजों की संख्या बढ़ती जाती थी, वैसे-वैसे भारतीयों के साथ उनका सम्पर्क कम होता जाता था।

ब्रिटिश शासन-पद्धति इन्हीं विचारों तथा परिस्थितियों के दबाव में रह कर बनी और बढ़ी। इसका दोहरा प्रभाव पड़ा—एक ओर तो इसने पुरानी पद्धति को समाप्त कर दिया और दूसरी ओर उन शक्तियों को जन्म दिया, जो अन्त में नए भारत के उदय में सहायक सिद्ध हुईं।

कार्नवालिस के कार्यकाल में विजेता शासन-व्यवस्था को एक निश्चित रंग और ढंग प्रदान किया गया। उसकी पद-मुक्ति के बाद के वर्षों में उसमें कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि शासन-पद्धति में छोटे-छोटे महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहे, तथापि सन् 1858 तक उसकी मुख्य रूपरेखा लगभग वही रही।

1· एरिक स्टोक्स, 'द इंग्लिश यूटिलिटेरियन्स ऐण्ड इण्डिया' (आक्सफोर्ड, 1959) पृष्ठ 25

2· मिल तथा विल्सन, 'द हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 341

जहां तक सर्वोच्च प्राधिकार का सम्बन्ध था, पिट के इण्डिया ऐक्ट ने वे अधिकार कम्पनी से लेकर ब्रिटिश संसद् को दे दिए थे। अब संसद् ही भारत के प्रशासन के लिए कानून बनाती थी और भारत में अंग्रेज़ों के अधिकृत क्षेत्रों के सैनिक तथा असैनिक मामलों का अधिकार भी उसी के अधीन था। नीतियों का अन्तिम रूप से संचालन करने और उन्हें निर्धारित करने का काम भी कम्पनी से ले लिया गया और नियन्त्रण-मण्डल के अध्यक्ष (या आयुक्तों) को सौंप दिया गया, जिसका ओहदा सेक्रेटरी आफ स्टेट के पद में मिला दिया गया था। सामान्यतः डाइरेक्टरों और प्रोप्राइटरों के कोर्ट अपने पुराने विशेषाधिकारों का प्रयोग करते रहे। संरक्षण के अधिकार उनके पास बराबर बने रहे—प्रबन्ध-सम्बन्धी ब्योरे भी वही तैयार करते थे। किन्तु वे मण्डल-द्वारा अनुमोदित आदेशों के सम्बन्ध में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे और उन्हें भारत के किसी भी देशी राजा या रियासत के साथ लड़ाई छेड़ने, शान्ति या समझौता करने या बातचीत करने से सम्बन्धित सभी मामलों से अलग कर दिया गया था। इन मामलों से सम्बद्ध सभी आदेश तीन डाइरेक्टरों की एक गुप्त समिति के माध्यम से आगे भेजे जाते थे। कम्पनी के किसी कर्मचारी को अलग करने या वापस बुला लेने का अधिकार ब्रिटिश सम्राट् को देकर कम्पनी के संरक्षण-अधिकार में अंशतः संशोधन कर दिया गया। नियन्त्रण-मण्डल को कम्पनी के सभी कागजात देखने का अधिकार मिल गया और व्यापारिक मामलों के अलावा सभी प्रकार के पत्र भेजने के लिए मण्डल की मंजूरी लेना अनिवार्य हो गया।

ये प्रबन्ध—जिन्होंने भारत की आन्तरिक सरकार (होम गवर्नमेंट) का रूप ग्रहण किया—कुछ जटिल-से थे, क्योंकि उनके अनुसार मण्डल और डाइरेक्टरों के प्राधिकार मिले-जुले थे और आरम्भ में यह कहना कठिन था कि मण्डल ने अपनी ज़िम्मेदारी का निर्वाह किस सीमा तक किया है। परन्तु जल्दी ही आन्तरिक प्रशासन और साथ ही विदेशी सरकारों से सम्बद्ध मामलों के बारे में सभी अधिकार राज्य-मन्त्री को दे दिए गए। इस प्रकार, कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की हैसियत नगर-निगमवाले किसी शहर के महापौर और उपनगरपालों की-सी हो गई। काये के शब्दों में, "भारत की जनता की सुख-शान्ति चौबीस अंग्रेज महानुभावों के एक विचार-विमर्श-निकाय के फैसले से कहीं अधिक ऐसे एक ही व्यक्ति की सनक पर निर्भर है, जिसे चाहे कल ही उसके पद से अलग किया जा सकता है, जो पन्द्रह दिन तक इण्डिया बोर्ड की अध्यक्षता करने और इस प्रकार भारत पर शासन करने के बाद संसदीय अनिश्चयात्मकता के किसी एक ही झोंके से, पार्टी के किसी अनुभवहीन नेता की भ्रान्त चालबाज़ियों से, या किसी अयोग्य 'राजनीतिक दल-परिचालक' की लापरवाही से अपने पद से अकस्मात् हटाया जा सकता है।"[1]

इस प्रकार, मण्डल के अध्यक्ष ने महान् मुगल का स्थान ले लिया, किन्तु एक अन्तर बना रहा : मुगल-सम्राट् दिल्ली में रहता था और उसका उत्तराधिकारी अपनी प्रजा से 6,000 मील दूर, लन्दन में, निवास करता था। उसका कार्यकाल भी प्रायः कम ही होता था। इस पद पर काम करनेवाले व्यक्ति पर उस अंग्रेज़-राष्ट्र के हित-साधन का

---

1. जे० डब्ल्यू० काये, 'द ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ द ईस्ट इण्डिया कम्पनी', पृष्ठ 133

भार था, जो अपने निर्वाचित संसद्-सदस्यों के माध्यम से उस पर कड़ी निगरानी रखता था और उसका प्रवन्ध सन्तोषजनक न होने पर उससे सख्ती से जवाबतलब करता था।

कम्पनी-शासन के सिद्धान्त

पिट के अधिनियम ने जिस प्रकार की सरकार स्थापित की, वह भारत के लिए एक बिल्कुल नई बात थी। नया शासक हाड़-मांस का वैसा ही कोई पुतला न था, जिससे भारतवासी चिरपरिचित रहे थे—वह तो वस्तुतः एक कल्पना-मात्र था। उसके अधीन आ जानेवाले भारतीय प्रजाजन अपने उस शासक को बहुत ही कम जानते-पहचानते थे। भारत में उस शासक के जिन अभिकर्ताओं के आदेशों का पालन भारत-वासियों को करना पड़ता था, उनका कार्यकाल कम होता था और वे बराबर बदलते रहते थे। इसी उलझन में पड़े भारतीयों ने अपने उस शासक को एक स्थूल आकार प्रदान कर दिया और उसे वे 'कम्पनी बहादुर' के नाम से पुकारने लगे।

वे कम्पनी बहादुर और उन व्यक्तियों के बीच अन्तर भी समझने लगे, जो अस्थायी तौर पर उसके प्राधिकार का प्रयोग करते थे। इस प्रकार, भारतीयों के मन में किसी व्यक्ति की सरकारी और गैर-सरकारी हैसियत में भेद का उदय होने लगा।

पिट के इण्डिया ऐक्ट से भारत-विषयक मामलों का पूरा नियन्त्रण ब्रिटिश संसद् के हाथ में आ गया। किन्तु पिट ने यह समझ लिया था कि लन्दन में बैठ कर ऐसे विशाल और दूरस्थ देशों का शासन-प्रवन्ध सुचारु रूप से नहीं चलाया जा सकता। इसलिए उसने राज्य-मन्त्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट) के अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण में सारा राज-काज गवर्नर-जनरल और भारत-स्थित 'कौंसिल' को सौंप दिया। उक्त अधिनियम के अधीन नियुक्त होनेवाले सर्वप्रथम गवर्नर-जनरल कार्नवालिस ने उसके उपबन्धों के बहुत ही व्यापक अर्थ लगाए और इस प्रकार अपना प्राधिकार-क्षेत्र अधिकतम सीमा तक बढ़ा लिया।

जहां तक कानून बनाने के काम का सम्बन्ध था, सन् 1773 के रेग्युलेटिंग ऐक्ट से गवर्नर-जनरल और कौंसिल को बंगाल में कम्पनी की फोर्ट विलियम की बस्ती और उसके अधीनस्थ सभी स्थानों में सुव्यवस्था और असैनिक प्रशासन बनाए रखने के लिए कानून, अध्यादेश और विनियम बनाने का अधिकार मिल गया था। सन् 1784 के अधिनियम से गवर्नर-जनरल और 'कौंसिल' को प्रान्तीय न्यायालयों और कौंसिलों के लिए भी विनियम बनाने का अधिकार मिल गया। इसके पश्चात् सन् 1793 में "बंगाल के अंग्रेज-अधीन इलाकों में आन्तरिक प्रशासन के लिए भविष्य में लागू किए जानेवाले सभी विनियमों की एक नियमित संहिता बनाने का विनियम" पास किया गया। यह विनियम भारतीय प्रजाजन के अधिकारों, जान और माल पर लागू होता था और इसके अनुसार न्यायालयों के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे अपने फैसले इस विनियम में दिए गए नियमों और अध्यादेशों के ही अनुसार करें। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि इस विनियम के अनुसार यह आवश्यक था कि व्यक्तियों और सम्पत्ति-विषयक अधिकारों से सम्बद्ध सभी कानून भारतीय भाषाओं में, उनके अनुवाद-सहित, छापे जाएं और उनमें उन सभी कारणों पर प्रकाश डाला जाए, जिनके आधार पर वे लागू किए गए हों, ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों, विशेषाधिकारों

और छूटों से परिचित हो सके। इन संहिताओं में अनुभव के आधार पर संशोधन और परिवर्तन करने की भी व्यवस्था थी।

इस प्रकार, सम्राट् की चिरप्रचलित व्यक्तिगत हुकूमत के स्थान पर इस देश में पहली वार लिखित कानूनों और विनियमों पर आधारित शासन-पद्धति की नींव रखी गई। सम्राट् की इच्छा अव विनियमों तथा अधिनियमों के रूप में व्यक्त होती थी, जिनके निर्वचन का काम अदालतों पर छोड़ दिया गया था। गवर्नर-जनरल को कानून बनाने का जो अधिकार दिया गया था, उसमें केवल एक अपवाद था। सन् 1793 के विनियम में यह व्यवस्था थी कि उत्तराधिकार, पैतृक सम्पत्ति, विवाह और जाति-विषयक मामलों तथा समस्त धार्मिक प्रथा-परम्पराओं से सम्वन्धित मुकदमों का फैसला करते समय न्यायाधीशों को हिन्दुओं के वारे में हिन्दू विधि-व्यवस्था को और मुसलमानों के वारे में मुस्लिम विधि-व्यवस्था को सामान्य नियमों के रूप में ग्रहण करना होगा।" इस प्रकार, उक्त विनियम में वताए गए इन प्रसंगों को छोड़ कर हिन्दू और मुस्लिम विधि-व्यवस्था के वाकी अंश अप्रभावी हो गए। साथ ही इन प्रसंगों में दी गई निषेधाज्ञाओं के निर्वचन से सम्वद्ध विवादों का फैसला करने का अधिकार न्यायाधीशों को मिल गया और इस प्रकार निर्वचन-द्वारा कानूनों में संशोधन करने—विधि-विकास के सुप्रसिद्ध ढंग—का अधिकार जन-प्रतिनिधियों से लेकर सरकारी कर्मचारियों को सौंप दिया गया। क्या यह भी माना जा सकता है कि इसके वाद ये कानून, चाहे इन्हें माननेवालों की दृष्टि में इनका कितना भी आदर हो, सरकारी मंजूरी—सन् 1793 के विनियम—पर ही आधारित रहते?

जहां तक फौजदारी कानून का सम्वन्ध है, सन् 1772 तक मुस्लिम संहिता लागू रही। सन् 1773 के रेग्युलेटिंग ऐक्ट में यह मान लिया गया था कि सरकार को उक्त संहिता में परिवर्तन करने का अधिकार है और उसी आधार पर इस संहिता के प्रयोग पर कुछ महत्वपूर्ण प्रतिवन्ध लग गए। वाद के विनियमों ने तो इस संहिता का कायाकल्प ही कर दिया।

सन् 1793 के बंगाल-विनियम के नमूने पर ही सन् 1802 में मद्रास के लिए और सन् 1799 तथा 1827 में वम्वई के लिए संहिताएं तैयार और लागू की गईं और हिन्दू तथा मुस्लिम विधि-व्यवस्थाओं से सम्बन्धित प्रतिवन्ध इन प्रेज़िडेंसियों पर भी लागू कर दिया गया।

भारतीय समाज पर उस समय जो कानून लागू थे, उनका ढांचा विदेशियों-द्वारा ही निर्धारित किया गया था। दीवानी और फौजदारी का समस्त क्षेत्र तो इसके अन्तर्गत आ ही गया था, इसमें उस सीमा तक निदेशन भी कर दिया गया था, जहां तक हिन्दुओं और मुसलमानों पर व्यक्तिगत रूप से लागू होनेवाले कानूनों का पालन किया जाना था। इसके अनुसार यह व्यवस्था भी कर दी गई थी कि जिन मामलों में प्रतिपक्षी अलग-अलग मत के अनुयायी हों, वहां हिन्दू अथवा मुस्लिम विधि-व्यवस्था के स्थान पर न्याय, औचित्य और सद्भावना के सिद्धान्तों के अनुसार फैसला किया जाएगा।

इन विनियमों में—उदाहरणतः खोजों, मेमनों और कुछ पंजावी मुस्लिम कवीलों के सम्वन्ध में—धार्मिक विधि-व्यवस्था के स्थान पर रीति-रिवाज को तरजीह दी गई।

इस प्रकार, पहली बार भारत के एक भाग में ऐसी सरकार की स्थापना हुई, जो अपना काम-काज नियमित कानूनों-द्वारा चलाती थी। भारत के इस भाग में एक ऐसी गतिशील वैधानिक शासन-पद्धति लागू थी, जिसके कानून पहले की भांति अपरिवर्तनीय, ईश्वर-निर्मित तथा पूजनीय न होकर, मनुष्य की इच्छा के अनुरूप संशोधनीय थे। इन कानूनों को अमल में लानेवाले भी न तो पादरी-पुजारी थे और न दिव्यज्ञान के पण्डित। यह काम तो उन धर्म-निरपेक्ष न्यायालयों पर छोड़ दिया गया था, जिनके अधिष्ठाता अलग-अलग जातियों के तथा भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी होते थे और जो धर्म को बीच में लाए बिना सबके साथ समान रूप से न्याय करते थे। किसी गैर-जिम्मेदार-सांसारिक या दैवी सत्ता-द्वारा किए गए मनमाने फैसलों और ऐसे विभेदकारी कानूनों के स्थान पर, जो अलग-अलग व्यक्तियों, जातियों या दलों पर अलग-अलग तरीके से लागू होते थे, एक ज़िम्मेदार, धर्म-निरपेक्ष मानवीय अभिकरण-द्वारा बनाए गए और बिना किसी जाति-भेद के सब पर समान रूप से लागू होनेवाली दीवानी विधि-व्यवस्था की स्थापना एक ऐसी क्रान्तिकारी घटना थी, जिसने लोगों के व्यक्तिगत तथा सामाजिक आचार-विचार पर गहरा प्रभाव डाला।

किसी देश का प्रशासनिक ढांचा इस तरह तैयार किया जाता है कि उस देश के शासकों के उद्देश्यों तथा लक्ष्यों की पूर्ति हो सके। जहां तक भारत का सम्बन्ध था, ये लक्ष्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी-द्वारा निर्धारित किए गए थे, जिसे, अपने विधान के अनुरूप, सबसे अधिक दिलचस्पी इस बात में थी कि अपने अधीनस्थ भारतीय प्रदेशों मे उसे अधिकतम लाभ कैसे हो सकता है। उक्त उद्देश्यों के सम्बन्ध में कम्पनी और उसकी मालिक अर्थात् इंग्लैण्ड की सरकार में कोई मतभेद न था। किन्तु ब्रिटिश संसद्-द्वारा सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग अपने हाथ में लिए जाने पर भी उसने सन् 1813 तक कम्पनी को अपनी वाणिज्यिक नीतियां निर्धारित करने और भारत-व्यापार के सम्बन्ध में एकाधिकार बनाए रखने की पूरी छूट दे रखी थी। यह बात अवश्य है कि उस समय भी, कम्पनी के हिस्सेदारों के मुनाफे की चिन्ताओं के अतिरिक्त, सरकारी नीति का निर्धारण भारतीय जनता के हितों की अपेक्षा इंग्लैण्ड के ही व्यापक राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रख कर किया जाता था।

स्थायी बन्दोबस्त

कार्नवालिस-द्वारा आरम्भ किए गए स्थायी बन्दोबस्त से भारतीय समाज के ढांचे और देश के गांवों की अर्थ-व्यवस्था में और अधिक बुनियादी परिवर्तन आ गया। इस बन्दोबस्त ने पुराने ग्रामीण समाज को नष्ट कर दिया, सम्पत्ति-विषयक सम्बन्धों में परिवर्तन ला दिया, नए सामाजिक वर्गों को जन्म दिया और भारत के गांवों में एक सामाजिक क्रान्ति पैदा कर दी।

वारेन हेस्टिंग्स ने बंगाल को एक बूचड़खाना बना दिया था। वह अपने पीछे "दुर्दशा, उपद्रवों और अकालों की एक शृंखला" छोड़ गया था। कार्नवालिस को यह निदेश दिया गया कि वह यह सारी गन्दगी दूर कर दे और ऐसा प्रबन्ध करे, जिसमें कम्पनी के हितों के साथ-साथ भारत के मूल निवासियों की खुशहाली और भूमिपतियों की सुरक्षा का भी ध्यान रखा जाए। भारत पहुंचते ही उसने भूमि-विषयक दस्तूरों, पट्टों और लगानों के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल करने का आदेश दे दिया।

जांच का यह काम जान शोर की अध्यक्षता में हुआ। उसने जून सन् 1789 में अपनी रिपोर्ट पेश की। भूमि-विषयक अधिकारों के सम्बन्ध में शोर ने जो निष्कर्ष निकाला, वह वारेन हेस्टिंग्स के निष्कर्ष से भिन्न था। उसने लिखा : "मैं ज़मींदारों को उस ज़मीन का मालिक समझता हूं, जो उन्हें उनके धर्मगत कानूनों के अनुसार उत्तराधिकार में मिली है। अतः विधिसम्मत उत्तराधिकारियों के होते हुए, सरकार न तो इन्हें उस अधिकार से वंचित कर सकती है और न ही उक्त उत्तराधिकार में किसी तरह का फेर-बदल कर सकती है। अपनी इस ज़मीन को बेचने या रेहन रखने का उन्हें बुनियादी अधिकार है और हमें दीवानी मिलने से पहले ही ये लोग उक्त विशेषाधिकार का प्रयोग करते रहे हैं।"[1]

शोर का निष्कर्ष भी उतना ही गलत था, जितना वारेन हेस्टिंग्स का। परन्तु कार्नवालिस ने, जो अंग्रेज़ी प्रणाली का पक्षपाती था और अपने पूर्वाधिकारियों के प्रयोगों की असफलता से सतर्क हो चुका था, शोर की रिपोर्ट पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। सन् 1789 में स्थायी बन्दोबस्त के प्रश्न पर विचार किए जाने तक लगान-ठेकेदारों का एक नया वर्ग सामने आ चुका था, जिसका उदय लगभग उसी समय हुआ था और जो वास्तव में अंग्रेज़ों का ही बनाया हुआ था। जैसा कि फ्लाउड-आयोग ने उल्लेख किया है,[2] बंगाल में ज़मींदारों के ऐसे चार वर्ग थे, जिनके साथ सन् 1793 में लगान का स्थायी बन्दोबस्त कर लिया गया था। उनमें से एक तो कूचविहार, असम और त्रिपुरा के राजाओं-जैसे वे मूलतः स्वतन्त्र सरदार थे, जो मुगल-सम्राटों को नज़राने के रूप में लगान देकर अपने-अपने इलाकों पर कब्ज़ा जमाए बैठे थे; दूसरे राजशाही, बर्दवान, दिनाजपुर, आदि के राजाओं-जैसे पुराने ज़मींदार-परिवार थे, जो स्वतन्त्र सरदारों की भांति सम्राट् को निश्चित भूमि-कर देते थे; तीसरे वे लगान-संग्राहक थे, जिन्हें मुगल-सरकार ने लगान वसूल करने का अधिकार दिया था और कई पीढ़ियों के बाद जिनका ओहदा पुश्तैनी हो गया था; और चौथे वे किसान थे, जिन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दीवानी के अधिकार प्राप्त हो जाने के बाद से लगान वसूल करने का काम सौंपा गया था और जिन्हें सामान्यतः 'ज़मींदार' कह कर पुकारा जाने लगा था। इस वर्ग में न केवल "कलकत्ते के अनेक बनिये" थे, जिन्होंने देय लगान की खुलेआम बोली देकर ज़मींदारी प्राप्त कर ली थी, बल्कि कम्पनी में काम करनेवाले ऐसे बहुत-से बेनामी पट्टेदार भी थे, जिन्होंने बनियों और भारतीय कर्मचारियों के नाम से ज़मीनें ले रखी थीं।

फ्लाउड-आयोग ने लिखा है : "स्पष्ट है कि यदि किसी के साथ समझौता करना ही अभीष्ट था, तो पहले दो वर्गों का पक्ष काफी मज़बूत था, तीसरे का उनसे कम, और चौथे का तो नहीं के बराबर था।"

यदि गांवों के उन छोटे-छोटे शिल्पकारों तथा नौकर-चाकरों की बात छोड़ दें, जिन पर कार्नवालिस-द्वारा की गई व्यवस्था का प्रभाव नहीं के बराबर पड़ा, तो भी

---

1. देखिए बंगाल प्रान्त की ज़मीनों के स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध में श्री शोर का दिनांक 18 जून, 1789 का कार्य-विवरण, पैराग्राफ 370; डब्ल्यू० के० फर्मिंगर, 'द फिफ्थ रिपोर्ट', खण्ड 2, पृष्ठ 80-81

2. 'रिपोर्ट आफ द बंगाल लैण्ड रेवेन्यू कमीशन', 1943, पैराग्राफ 34

भूमि की उपज के तीन भागीदार थे— सरकार, बिचौलिए या ज़मींदार और काश्तकार या रैयत। स्थायी बन्दोबस्त ने पहले दो भागीदारों की स्थिति निश्चित कर दी और भूमि की उपज में सरकार का भाग सदा के लिए निर्धारित कर दिया। इससे आशा के अनुरूप ही सरकार को अधिकतम लाभ हुआ। जहाँ तक इस व्यवस्था के आर्थिक पक्ष का सम्बन्ध था, इसके अनुसार इतना अधिक भू-राजस्व निर्धारित किया गया था, जितना पहले कभी नहीं हुआ था। भूमि के अनुमित लगान में सरकार का भाग 89 प्रतिशत निर्धारित किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि ज़मींदार के पास राजस्व-संग्रह से सम्बद्ध कामों के लिए केवल 11 प्रतिशत ही बाकी रहा।[1] इस तरह, सरकार अपनी आय में होनेवाली चिन्ताजनक घट-बढ़ से मुक्त हो गई और उसकी वाणिज्यिक तथा प्रशासनिक आवश्यकताओं—निवेश, भुगतान, सरकारी व्यय—की पूर्ति के लिए पर्याप्त आय सुनिश्चित हो गई। इसके अतिरिक्त, जोती गई भूमि का लगान तो निश्चित कर दिया गया था, पर खेती के विस्तार के साथ-साथ सरकार भी यह आशा कर सकती थी कि आनेवाले वर्षों में उसकी आमदनी और बढ़ जाएगी।

एक बात यह भी थी कि उस पूरी-की-पूरी कर-संग्रह-व्यवस्था का अन्त कर देने से अतिरिक्त आर्थिक लाभ भी था, जिसमें तहसीलदारों, कानूनगो, पटवारियों तथा अन्य राजस्व-अधिकारियों का समावेश था।

इस बन्दोबस्त के राजनीतिक लाभ आर्थिक लाभों से भी अधिक महत्वपूर्ण थे। मुगल-शासन-काल में ज़मींदारों के अधिकार बहुत अधिक थे। राजस्व-संग्रह के अतिरिक्त वे दण्डाधिकारों और कार्यकारी प्राधिकारों का भी प्रयोग करते थे। व्यावहारिक और प्रत्यक्ष रूप से इन ज़मींदारों को अपने-अपने इलाकों में प्रभुसत्ता के प्रायः सभी साधन सुलभ थे। साधारणतः उन पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं था और दुर्बल सरकारों के शासन में ये ज़मींदार अवज्ञा तक कर बैठते थे और विद्रोही हो जाते थे। कार्नवालिस ने उनके साथ एक सौदा किया। उसने उनके राजनीतिक अधिकार तो छीन लिए, पर उनके बदले ऐसी ज़मीनों के स्वामित्व के तथा इच्छानुसार उनका लगान बढ़ाने के अपरिमित अधिकार दे दिए, जो पहले उनके पास नहीं थे। इस प्रकार, ज़मींदारों की राजनीतिक सत्ता और अशान्ति पैदा करने की उनकी शक्ति तो समाप्त हो गई, पर किसानों पर उनके आर्थिक अधिकार बहुत बढ़ गए। इस प्रकार, उक्त सौदे के दोनों पक्षधर परस्पर-शान्तिपूर्वक सहयोग करने लगे। उनमें से एक अपनी राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने लगा और दूसरा आर्थिक अधिकारों का और दोनों का ही शिकार था वह गरीब किसान, जिसे वे पीस रहे थे। इस सम्बन्ध में सेटन-कार ने लिखा है : "पूर्णतः राजनीतिक दृष्टिकोण से तो यह व्यवस्था शंकाओं-आशंकाओं के निवारण का साधन-मात्र थी, पर वस्तुतः यह अच्छे आचरण और छल-प्रपंच तथा संकटपूर्ण काल में निष्क्रिय निष्ठा से कहीं अधिक ऊँचे गुण के लिए प्रबल प्रेरणा-स्रोत सिद्ध हुई।"[2]

1. देखिए, आर० रिकर्ड्स, 'इण्डिया आर फैक्ट्स', खण्ड 1 (1829 का संस्करण) पृष्ठ 360

2. डब्लू० एस० सेटन-कार, 'द मार्क्विस कार्नवालिस' (रूलर्स आफ इण्डिया सीरीज़), पृष्ठ 72

इस बन्दोबस्त से उस रैयत की बुरी तरह उपेक्षा की गई, जो अपने गाढ़े पसीने से वह धन पैदा करता था, जिससे ज़मींदारों का गुज़ारा चलता था और सरकार का खज़ाना भरता था। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने स्वीकार किया कि इस प्रकार "बंगाल की रैयत के अधिकार चुपचाप समाप्त हो गए और वे वास्तव में इच्छाधीन काश्तकार बन गए।"[1] काये के कथनानुसार, "यह बिल्कुल निश्चित नहीं कि वह ज़मींदार अधीन-काश्तकार से कितनी रकम की मांग कर सकता है" और "कुछ विशेष मामलों को छोड़ कर अन्य मामलों में ज़मींदार रैयतों से उतनी रकम ले लेते हैं, जितनी ऐंठी जा सकती है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन सब भुगतानों के बाद वास्तविक काश्तकार के पास जो-कुछ बचता है, वह उसे जीवित रख पाने-मात्र से अधिक नहीं होता।" उसने आगे यह भी कहा : "वास्तव में, यह तो निर्णीत हो ही गया था कि रैयत के कोई अधिकार नहीं हैं और इस प्रकार उसे इस सम्बन्ध में ज़मींदार के साथ झगड़ने के लिए छोड़ दिया गया था।"[2]

इस नियम के अपवाद थ वे तालुकेदार, जिन्होंने ज़मींदारों से भूमि ली होती थी, और वे खुदकाश्त किसान, जो मालिकों-द्वारा उनके लगान बढ़ाए जाने के भय से न्यूनाधिक रूप से संरक्षित थे। उनके अतिरिक्त और सभी, यहां तक कि वे खुदकाश्त किसान भी, जो सन् 1793 के बाद पट्टेदारी के अधिकार पा सकते थे, ज़मींदार की ही कृपा पर छोड़ दिए गए थे। ऐसी कोई बात नहीं थी, जिससे उनकी बेदखली रोकी जा सकती हो; क्योंकि शोर ने पहले ही यह एलान कर दिया था कि "रैयतों के लगानों का नियमन, वास्तव में, ज़मींदार और भूस्वामी तथा उसके काश्तकारों के बीच होनेवाला सौदा है, सरकार के बीच होनेवाला नहीं।"[3]

खेती-बाड़ी के विस्तार और आबादी में वृद्धि होने से तथा उद्योग का ह्रास होने और काम करनेवालों का रुझान व्यापार तथा उद्योग से हट कर कृषि की ओर हो जाने के कारण भूमि की मांग बढ़ गई, उसकी कीमतें ऊंची हो गईं और निष्ठुर लगान की सम्भावनाएं अधिक हो गईं।

भू-राजस्व की बहुत बढ़ी हुई दरों ने ज़मींदारों को इतना दबा दिया कि बताया जाता है कि बंगाल की लगभग आधी भूसम्पदा सन् 1793 से 1815 तक के बाईस वर्षों में बेच दी गई और इस प्रकार हस्तान्तरित हो गई। नए खरीदार के लिए यह अनिवार्य नहीं था कि वह काश्तकार से उतना ही लगान मांगे, जो पुराना भूस्वामी लेता था। नए भूस्वामियों ने अधिक लगान मांगे और उन्हें वे मिले भी। पुराने भूस्वामियों ने भी यही किया, क्योंकि, जैसा कि डा० फील्ड ने उल्लेख किया है, "प्रचलित लगान-दर इस तरह बढ़ जाने के बाद बाकी रैयतों का लगान भी उसी स्तर तक बढ़ा देने में अधिक कठिनाई नहीं हुई।"[4]

---

1. एस० रत्नस्वामी, 'सम इन्फ्लुएंसेज दैट मेड द ब्रिटिश ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम इन इण्डिया' (1939), पृष्ठ 252

2. जे० डब्ल्यू० काये, 'द ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ द ईस्ट इण्डिया कम्पनी', पृष्ठ 198

3. बी० एच० बेडन पावेल, 'द लैण्ड सिस्टम्स आफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 1, पृष्ठ 619, टिप्पणी 1

4. वही, पृष्ठ 625

यह सच है कि ज़मींदारों और काश्तकारों के बीच पट्टा लिखा जाना अनिवार्य था, जिसमें दस्तूरी देनदारियों (मान्यता-प्राप्त उपकरों) सहित लगान की ठीक-ठीक रकम, जोते जानेवाले इलाके का क्षेत्रफल और लगान की दरें लिखी जाती थीं और यह रोक भी लगा दी जाती थी कि यदि निश्चित रकम या लगाए जानेवाले नए उपकरों से अधिक कोई रकम वसूल की जाएगी, तो जुर्माना देना पड़ सकता है। परन्तु समझौता भंग किए जाने के विरुद्ध जो साधन सुलभ था, वह था अदालत में मुकदमा दायर करना; और यह काम अत्यन्त महंगा और देर तक चलनेवाला होने के कारण काश्तकार की शक्ति के बाहर था।

इसका परिणाम हुआ : किसी भी प्रकार के सुधारक उपायों के अभाव में पचास वर्ष तक सहन की जानेवाली अवर्णनीय कठिनाई और मुसीबत। बेडन पावेल ने खेदपूर्वक स्वीकार किया है कि "सन् 1800 या 1812 तथा 1845 के बीच का समय एक ऐसी अवधि है, जिसकी कानूनी प्रक्रिया का समर्थन कर पाना कठिन है। उस समय जो भूलें की गईं, वे घातक रहीं।"[1] सन् 1799 के कानून के बारे में उसने कहा है; "इसके दानवीय उपबन्धों को क्रुद्ध हुए बिना पढ़ पाना असम्भव है।"[2] सन् 1859 में जाकर कुछ राहत मिल पाई।

भारतीयों का शासन से बहिष्कार

नई व्यवस्था में भारतीयों को प्रभाव या प्राधिकार के सभी पदों से अलग रखा गया। सर्वोच्च सत्ता ब्रिटिश संसद् को प्राप्त थी, जो स्वदेश में राजनीतिक मामलों में बोर्ड आफ कण्ट्रोल के माध्यम से और वाणिज्य-विषयक मामलों में कम्पनी के डाइरेक्टरेट के माध्यम से काम करती थी। भारत में सर्वोच्च सरकार ब्रिटिश प्रशासन की ही एक आश्रित शाखा थी, जिसे वैधानिक, राजनीतिक और कार्यकारी क्षेत्रों में अधिकार सौंप दिए गए थे। ये तीनों—संसद्; आन्तरिक सरकार (होम गवर्नमेंट), जिसमें बोर्ड आफ कण्ट्रोल तथा डाइरेक्टरेट, दोनों शामिल थे; और भारत सरकार, जिसमें गवर्नर-जनरल और कौंसिल का समावेश था—पूर्णतः ब्रिटिश थीं, भारतीय जनता के प्रति सर्वथा उत्तरदायित्वहीन।

सरकारी सेवाओं का गठन करते समय कार्नवालिस ने सभी उच्चतर पदों से भारतीयों को अलग रखने का निश्चय किया। इस जातीय भेद-भाव के, जो भारत के इतिहास में बिल्कुल नई बात थी, अनेक कारण थे। अंग्रेज "न केवल भारत में अपनाए गए अपने दांव-पेंचों को, बल्कि समग्रतः अपने देश की परम्पराओं को आवश्यकता से अधिक बढ़ा-चढ़ा कर मानने लगे थे। इस सामान्य चांचल्य के प्रभाव से ग्रस्त होकर कि 'आत्म' तो श्रेष्ठ होता ही है और स्वाभिमान को प्रभावित करनेवाली प्रत्येक वस्तु असाधारण रूप से श्रेष्ठ होनी चाहिए, अंग्रेजी प्रथा-परम्पराओं को आम तौर पर प्रतिमान के रूप में ग्रहण कर लिया गया और उन्हीं की समानता या विषमता के आधार पर दुनिया की सभी बातों की अच्छाई-बुराई का निर्णय किया जाने लगा।"[3] इसका

---

1. बी० एच० बेडन पावेल, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, खण्ड 1, पृष्ठ 615
2. वही, पृष्ठ 636
3. मिल तथा विल्सन, 'दि हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 407

सहज निष्कर्ष यह निकाला गया कि ब्रिटिश मान्यताओं के अनुसार स्थापित होनेवाले प्रशासनतन्त्र में केवल ब्रिटिश कर्मचारी होने चाहिए।

इसके अतिरिक्त, ब्रिटिश शासक भारतीयों की योग्यता, वफादारी और चरित्र के सम्बन्ध में बहुत ही निकृष्ट धारणा रखने लगे थे। मिल के विचार से "भारत में सदाचारी व्यक्ति एक भी नहीं है। लोग नैतिक विवेक के बदले धर्म-भावना के आधार पर किसी से सहानुभूति या असहानुभूति रखते हैं।"[1] चार्ल्स ग्राण्ट ने, जो क्लेफम-सम्प्रदाय का सदस्य तथा विल्वरफोर्स का साथी था और जो कलकत्ता-स्थित व्यापार-मण्डल (वोर्ड आफ़ ट्रेड) का सदस्य, वोर्ड आफ डाइरेक्टर्स का अध्यक्ष और संसद्-सदस्य रह चुका था, भारत के लोगों को लांछित करते हुए उन्हें "एक ऐसी मानव-जाति बताया है, जो शोचनीय रूप से दुश्चरित्र और नीच है; जिसके हृदय में नैतिक दायित्व का भाव बहुत ही कम है, फिर भी जो उस बात के प्रति अश्रद्धा प्रकट करने के सम्बन्ध में दुराग्रही है, जिसे वह ठीक समझता है; जिस पर कुबुद्धि और लम्पट भावनाओं का शासन है; जो आचार की अत्यधिक तथा व्यापक भ्रष्टता के समाज पर पड़नेवाले प्रभावों का प्रबल प्रमाण है और जो अपने पाप-कर्म के कारण दुख-संताप में डूबी है।"[2] कार्नवालिस के मतानुसार "(मेरी यह निश्चित मान्यता है कि) भारत का प्रत्येक मूल निवासी भ्रष्ट (है)।"[3] सन् 1802 में प्रचारित एक प्रश्नावली का उत्तर देते हुए ढाका के श्री पेटरसन ने कहा था : "उनके मस्तिष्क नितान्त असंस्कृत हैं, नैतिकताजन्य कर्तव्यों का उनके मन में कोई विचार ही नहीं है। हां, वह निकृष्ट चालाकी उन्हें प्रभूत मात्रा में प्राप्त है, जो हृदय की कलुषता की सहज-संगिनी है। वे आलसी और बरी तरह से विषयासक्त हैं। वे क्रूर भी हैं और कायर भी; उद्दण्ड भी हैं और अधम भी। धर्म-भावना के बिना वे केवल अंधविश्वास के दास हैं। संक्षेप में, उन लोगों में असभ्य जीवन की बुराइयां तो सब मौजूद हैं, अच्छाई एक भी नहीं है।"[4]

इंग्लण्ड के धार्मिक सुधारकों—नियमवादियों (मेथाडिस्टों) तथा इंजीलवादियों (इवेंजेलिस्टों)—ने भी भारतीयों को गन्दे-से-गन्दे रूप में चित्रित किया। विल्वरफोर्स के मतानुसार, "हिन्दू उन देवताओं के उपासक थे, जो कामुकता, अन्याय, छल-छद्म और क्रूरता से भरे पूर्ण दानव थे। संक्षेप में, उनकी धर्म-विधि वस्तुतः एक बहुत बड़ा कलंक है।"[5]

ब्रिटिश शासन की जड़ें मज़बूत करने के लिए यह भी आवश्यक समझा गया कि भारतीयों को बिल्कुल असहाय कर दिया जाए और महत्वाकांक्षा के सभी बीज उनके मस्तिष्क से निकाल दिए जाएं। शोर के शब्दों में, "अंग्रेजों का बुनियादी सिद्धान्त रहा है पूरे-के-पूरे भारतीय राष्ट्र को, सभी सम्भव तरीकों से, हमारे हितों तथा लाभों के अधीन ले आना। भारतीयों को आदर, प्रतिष्ठा तथा ओहदे के उन अवसरों से भी

---

1. मिल तथा विल्सन, 'द हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 408
2. एरिक स्टोक्स, 'द इंगलिश यूटिलिटेरियन्स ऐण्ड इण्डिया', पृष्ठ 31
3. डब्ल्यू० एस० सेटन-कार, 'द मार्क्वेस कार्नवालिस', पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 121
4. जे० डब्ल्यू० काये, 'द ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ द ईस्ट इण्डिया कम्पनी', पृष्ठ 343, पादटिप्पणी
5. एरिक स्टोक्स, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 31

वंचित रखा गया है, जिन्हें स्वीकार करने के लिए निकृष्टतम अंग्रेज़ पर भी दवाव डालना होगा ।"[1]

समय का भी तकाज़ा यही था कि भारतीयों को अधिकारपूर्ण पदों से अलग रखा जाए। कार्नवालिस कम्पनी के उन यूरोपीय सैनिक अधिकारियों की शिकायतें दूर करने के लिए चिन्तित था, जिनके साथ शाही सेना के भारत-स्थित अधिकारियों ने उद्धत एवं घृणापूर्ण व्यवहार किया था। किन्तु कम्पनी की सेवाओं में कुछ ऐसे भारतीय अधिकारी भी थे, जिन्हें अत्यधिक आदर प्राप्त था। अनेक वहुत पुरानी पल्टनों के नाम भारतीय सेनानायकों के नाम पर रखे गए थे। मुहम्मद यूसुफ खां-जैसे भारतीय अधिकारियों ने कम्पनी की सेवा में विशेष ख्याति अर्जित की । यूसुफ खां की कमान में दो-तीन हज़ार व्यक्ति थे, जिसमें यूरोपियन सैनिक भी थे। वह कर्नाटक की प्रारम्भिक लड़ाइयों में लड़ा था। "उसने आक्रमणों का संचालन किया, किलों की रक्षा की और संकट-काल में वह शत्रु के प्रदेशों में से होकर सामान और सेनाएं ले जाता रहा ।" वीवरिज के मतानुसार, त्रिचनापल्ली में अतिरिक्त सैन्य-संघटन और श्रीरंगम के द्वीप में फ्रांसीसियों का आत्मसमर्पण यूसुफ खां की दक्षता के ही कारण सम्भव हो सका । मैलकम का कथन है, "इस महापुरुष का नाम—क्योंकि महापुरुष तो वह था ही—अंग्रेज इतिहास-कार (रावर्ट ओर्म) द्वारा लिखित पृष्ठों में उतनी ही प्रचुरता से आता है, जितनी प्रचुरता से लारेंस और क्लाइव का ।"[2] सर हेनरी लारेंस ने उसके लिए "वफादार, शूर-वीर और उद्यमी" जैसे शानदार शब्दों का प्रयोग किया है । एक ब्रिटिश लेखक के मतानुसार, इतिहास के जिस पृष्ठ पर मुहम्मद यूसुफ और जमाल साहेव, आदि के नाम छाए हुए हैं, वह पृष्ठ कदाचित् उन पृष्ठों से किसी भी अर्थ में कम अविस्मरणीय नहीं है, जिनमें हमारे अपने फोर्ड, कैलिआड और कूट के कारनामे अंकित हैं ।"[3]

अली खां, हुसैन अली तथा अन्य सूवेदारों ने तो मानो अपने व्यवसाय को आलोकित ही कर दिया था। कम्पनी के सेनानायकों को यदि शाही सेनाओं के स्तर तक ऊंचा उठाया जाता, तो इस कोटि के भारतीय अधिकारियों को शाही पल्टनों के अधिकारियों के समकक्ष स्थान अवश्य मिलता । किन्तु भारतीय सेना के संचालन के लिए भारतीय अधिकारियों पर भरोसा होना असम्भव था। सैनिक शक्ति पर आधारित सरकार के लिए भारतीयों तथा अंग्रेजों के मिले-जुले सेना-संवर्ग की उपस्थिति खतरनाक वात थी। कम्पनी के डाइरेक्टरों ने अपने 15 दिसम्वर, 1808 के पत्र में यह स्पष्ट कर दिया था। उन्होंने कहा था : "हमारे पास 1,50,000 आदमियों की सेना है । हम तो यही कह सकते हैं कि उन्हीं के वल पर सारा भारत कम्पनी के प्रति शान्तिपूर्ण वना हुआ है ।" कार्नवालिस-द्वारा कोर्ट के नाम लिखे गए पत्र में इसी वात पर काफी जोर दिया गया था। उसने लिखा था : "यह वात सार्वभौम रूप से स्वीकार करनी होगी कि वहुत संख्या में पूरी तरह नियमित-नियन्त्रित यूरोपियनों की सुलभता के विना उन मूल्यवान प्रदेशों पर हमारा कब्ज़ा अनिश्चित ही वना रहेगा । यह आशा

---

1. जे० शोर, 'नोट्स आन इण्डियन अफेयर्स', खण्ड 2, पृष्ठ 57
2. एस० सी० हिल, 'यूसुफ खां, द वलोच', परिशिष्ट 5
3. देखिए, एम० रत्नस्वामी, 'सम इन्फ्लुएंसेज दैट मेड द ब्रिटिश ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम इन इण्डिया', पृष्ठ 153

की ही नहीं जा सकती कि अच्छे-से-अच्छा बर्ताव करके भी हम उन लोगों के विशाल जन-समुदाय की हार्दिक आज्ञाकारिता सदैव सहज रूप से प्राप्त करते रहेंगे, जो विधि-व्यवस्थाओं, धर्मो तथा रीति-रिवाजों की लगभग सभी बातों में हमसे भिन्न हैं; और इसमें सन्देह नहीं कि कुछ व्यक्तियों के प्रति किया गया दमन-व्यवहार, अविवेकजन्य भूलें और ऐसे ही न-जाने कितने अप्रत्याशित कारण उनमें विद्रोह की भावना पैदा कर ही देंगे। ऐसे अवसरों पर इस विश्वास पर अधिक निर्भर रहना बुद्धिमत्तापूर्ण न होगा कि स्थानीय सिपाहियों की, उन्हीं के देशवासियों-द्वारा संचालित, पल्टनें अधीनस्थ बनी रहेंगी।"[1]

जहां तक असैनिक सेवाओं के लिए भर्ती का सम्बन्ध था, वहां भी प्रायः इन्हीं आधारों पर भारतीयों का तिरस्कार किया जाता था। ग्राण्ट ने कहा है: "बंगालियों के बारे में सामान्यतः यह सर्वाधिक सत्य है कि वे आश्चर्यजनक सीमा तक उन गुणों से रहित हैं, जो समाज की सुख-सुरक्षा के लिए अभीष्ट हैं। उनमें सचाई, ईमानदारी और सदाशयता की बहुत हद तक कमी है...विशेषतः सत्यप्रियता की कमी तो उनमें इतनी स्वाभाविक है कि यदि किसी व्यक्ति को किसी सत्य बात की पुष्टि करनी होती है, तो वह इसके लिए भी असत्य का सहारा लिए बिना नहीं रहता।" उसने आगे कहा है: "लोग एक-दूसरे के सामने, और कभी-कभी तो पिता पुत्र के सामने, जान-बूझ कर विद्वेष, झूठ, मिथ्या आरोपों और प्रत्यक्ष शत्रु-भाव का जो प्रदर्शन करते हैं, उससे मानवीय चरित्र का बहुत ही अपमान-संतापजनक दृश्य उपस्थित होता है।"[2]

परन्तु यह तर्क अधिकतम कुटिलतापूर्ण है कि चरित्रगत दोषों के कारण भारतीयों को ऊंचे पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था, क्योंकि भारत आनेवाले अंग्रेज भी सदाचार के अवतार नहीं होते थे। वास्तव में, वे तो किप्लिंग की उक्ति—"स्वेज के पूर्व में दस धर्मादेश कहीं नहीं हैं"—को बहुत ही ठीक सिद्ध करते थे। ब्रिटिश इतिहासकारों—थाम्पसन और गैरेट—ने लिखा है: "उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दिनों की ऐसी बहुत-सी सामग्री सुलभ है, जिससे उस समय भारत में रहनेवाले यूरोपियनों के जीवन का पूरा रेखाचित्र बनाया जा सकता है। उनमें से अधिकतर लोग सरलता से ही आलस्य तथा दुर्वृत्तिमूलक उन कुटेवों में पड़ गए थे, जो इस महाद्वीप में उत्तर से आनेवाले अनेक आक्रामकों को अपना शिकार बना चुकी थीं। प्रतिज्ञाबद्ध कर्मचारी सोलह-सत्रह वर्ष के लड़कों के रूप में सामने आते रहे और वेलेजली के समय तक उन्हें स्वयं अपने देश में या भारत में प्रशिक्षण देने का कोई प्रबन्ध न हुआ। कभी-कभी यह दावा किया जाता है कि वे लोग अपने उत्तराधिकारियों की अपेक्षा इस देश को अधिक अच्छी तरह जानते-समझते थे। भारत-विषयक जानकारी का एक स्रोत उन्हें अवश्य प्राप्त था। उन लोगों में भारतीय गृह-सेविकाएं रखने की प्रथा चल पड़ी थी। फिर भी, इस बात में तो सन्देह ही है कि इससे उनके हृदय में भारतीय जाति के

---

1. डब्ल्यू० एस० सेटन-कार, 'द मार्क्वेस कार्नवालिस', (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ), पृष्ठ 99-100

2. 'रिपोर्ट फ्राम द सेलेक्ट कमिटी आन द अफेयर्स आफ ईस्ट इण्डिया कम्पनी', 1833, सामान्य परिशिष्ट, पृष्ठ 20

प्रति अत्यधिक आदर-भाव अथवा यहां के रीति-रिवाजों के प्रति दिलचस्पी उत्पन्न होती हो।"[1] विलियमसन[2] के कथनानुसार, शिथिल चरित्रवाली उन स्त्रियों को उनकी सेवाओं के बदले प्रतिमास चालीस रुपये मिल जाते थे।

ट्रेवेलयन ने उन दिनों के यूरोपीय समाज की शानदार सुस्ती और निर्वीर्य कामुकता का वर्णन किया है। वह यहां उद्धृत किए जाने के योग्य है। उसने लिखा है: "अतिचार के परिणामों से आक्रान्त, हिन्दू स्त्रियों तथा जैतूनी रंग के बच्चों से घिरे अंग्रेज महानुभावों में भारत के समुद्र-तटों को छोड़ कर जाने की न तो शक्ति थी, न इच्छा. . . . बड़े आदमी राजकीय वाहनों में घूमते-फिरते थे और उनके आगे-पीछे दर्जनों ऐसे परिचारक होते थे, जो उनकी उपाधियों का बखान करते रहते थे। मामूली लोग या तो पालकियों में मटरगश्ती किया करते थे या ऐसी घोड़ागाड़ियों की सवारी करते थे, जिनका भाड़ा चुकाने का उनका कोई इरादा न होता था और जिनमें वे घोड़े जुते रहते थे, जिन्हें गुंडागर्दी या धोखाधड़ी से धनी बाबुओं के अस्तबलों से निकाल लिया जाता था। इन सब बातों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि एक समय ऐसा भी आ गया, जब पैंतीस साल से भी अधिक समय से यहां काम करनेवाले लगभग एक सौ असैनिक अधिकारी ऐसे हो गए कि अपने लेनदारों के प्रति वचनबद्ध होने के कारण यहीं टिके रहे, और इस प्रकार, जिन्होंने अपने से छोटों के सिद्धान्तों को दूषित कर दिया और अपने से बेहतर लोगों को प्रमुखता और उत्तरदायित्वपूर्ण पदों की प्राप्ति से वंचित रखा।"[3]

काये[4] के अनुसार, कार्नवालिस ने भारतीयों पर अविश्वास करने के कारण नहीं, बल्कि यूरोपियन अहलकारों पर उनसे भी अधिक अविश्वास रहने के कारण भारतीयों को नियुक्त करने से इन्कार किया।

इस बात के बहुत-से प्रमाण उपलब्ध हैं कि ब्रिटिश अधिकारियों में आम तौर से भ्रष्टाचार का बोलबाला था। मिसाल के लिए, बनारस का ब्रिटिश रेजिडेंट अपने निश्चित वेतन के रूप में प्रति मास 1,000 रुपये पाता था, पर व्यापार-विषयक एकाधिकार तथा अन्य स्रोतों से होनेवाली उसकी कुल वार्षिक आय चार लाख रुपये थी। राजस्व-संग्राहकों को वेतन तो 1,200 रुपये प्रति मास मिलता था, पर वे आम तौर पर इसके अतिरिक्त कोई एक लाख रुपये कमा लेते थे।

स्पष्ट है कि लाभप्रद पदों के विषय में अंग्रेजों की मांगें पूरी करने, विजित लोगों को उनकी वास्तविक स्थिति का बोध कराने, भूतपूर्व शासक-वर्ग की अवमानना करने तथा उन्हें पराश्रित और निर्धनता का जीवन बिताने का अभ्यासी बनाने और स्वाधीनता तथा स्वाभिमान के सभी चिह्न उनके मस्तिष्क से मिटा डालने के लिए

---

1. थाम्पसन तथा गैरेट, 'राइज ऐण्ड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (लन्दन, 1934), पृष्ठ 192

2. 'द ईस्ट इण्डिया कम्पनीज वादे मेकम', देखिए ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, टिप्पणी 2

3. सर जी० ओ० ट्रेवेलयन, 'द कम्पिटीशन वाला' (1864), थाम्पसन तथा गैरेट-द्वारा उपर्युक्त ग्रन्थ के पृष्ठ 193 पर उद्धृत

4. जे० डब्ल्यू० काये, 'द ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ द ईस्ट इण्डिया कम्पनी', पृष्ठ 420

ही वस्तुतः भारतीयों को पदाधिकार, आदि से पृथक् रखा गया था। अंग्रेज़ कर्मचारियों के लिए सरल-सुखद स्थितियां पैदा करने के सभी सम्भव उपाय किए गए। उन्हें अधिक वेतन दिए गए, ताकि इस प्रकार वे लालच में पड़ने से रुक जाएं और वाणिज्य में भाग लेने अथवा उपहार या रिश्वत लेने पर रोक लगानेवाले आदेशों का पालन करने के लिए उत्साहित हों। न्यायांग को भूराजस्व-प्रशासन से अलग करके तथा पुलिस को न्यायांग के अधीन करके उक्त अंग्रेज़ कर्मचारियों के कार्य स्पष्टतः निर्धारित कर दिए गए। संक्षेप में, उन्हें प्रचुरता, प्राधिकार और उत्तरदायित्व के रूप में वे साधन सुलभ कर दिए गए, जिनसे आत्मसम्मान, कार्यनिष्ठा और अपने को योग्य सिद्ध करने की भावना का उदय सबसे अच्छी रीति से हो जाता है।

न्यायांग

भारत के लोग न्याय-विभाग में मुंसिफ या सदर अमीन के, पुलिस में दारोगा के और किसी प्रशासनिक शाखा में डिप्टी कलेक्टर (उप-संग्राहक) के ओहदे से आगे नहीं बढ़ सकते थे। उस समय प्रतिज्ञावद्ध कही जानेवाली सेवाओं में उनका प्रवेश सर्वथा वर्जित था।

इन सभी विभागों का संगठन ब्रिटिश अधिकारियों के अधीन होने का परिणाम यह निकला कि भारतीय उत्तरदायित्व का प्रयोग करने के सभी अवसरों से वंचित रह गए। इससे केवल मनुष्य के नाते ही उनकी स्थिति निम्नतर न हुई, इससे भी बुरी बात यह हुई कि भारत का पुराना सामाजिक-राजनीतिक संगठन अस्त-व्यस्त हो गया। कार्नवालिस-द्वारा तैयार की गई योजना के अनुसार दीवानी तथा फौजदारी न्याय-प्रशासन का काम उन सभी से—ग्राम-पंचायत, जमींदार, फौजदार, सूबेदार, काज़ी और पण्डित, आदि से—छीन लिया गया, जो बहुत समय से उसे करते चले आ रहे थे, और उसे अधिकारियों की एक ऐसी शृंखला को सौंप दिया गया, जिसका गांव से कोई सहज-सम्बन्ध न था।

न्याय-प्रशासन की दिशा में ध्यान देने-योग्य पहली बात यह है कि भारत में ब्रिटिश कार्य-पद्धति ने जातीय भेद-भाव आरम्भ कर दिया। उसने भारत में रहनेवालों को दो वर्गों में बांट दिया: (1) ब्रिटिश यूरोपियन प्रजाजन और उनके औरस वंशज, और (2) हिन्दू, मुस्लिम, एशियन, आरमेनियन, ईसाई और अन्य लोग। इन दोनों वर्गों के न्याय-प्रशासन के लिए बिल्कुल अलग-अलग ढंग की दीवानी और फौजदारी अदालतें थीं। पहले वर्ग के लिए अदालतें ब्रिटिश सम्राट्-द्वारा प्रदान किए गए न्याय-विषयक शासपत्रों और अध्यादेशों के अधीन तथा उन्हीं के द्वारा स्थापित की जाती थीं। उसी प्राधिकारी-द्वारा नियुक्त न्यायाधीश इन अदालतों के अध्यक्ष होते थे। उन्हें "सम्राट् या महारानी की अदालतें" कहा जाता था। उनके अतिरिक्त, पुरशासक, मजिस्ट्रेट और कारोनर (अपमृत्यु-विचारक) भी होते थे।

दूसरे वर्ग के लिए ऐसी अदालतें थीं, जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी-द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों के प्राधिकार-द्वारा स्थापित की जाती थीं तथा वही उनकी अध्यक्षता भी करते थे। वे न्यायाधीश दो श्रेणियों—प्रतिज्ञावद्ध और प्रतिज्ञा-अवद्ध—में बंटे थे।

यहां पहले ढंग की अदालतों का वर्णन आवश्यक नहीं है, जिनमें से कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में स्थित सर्वोच्च न्यायालय सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे। रेग्युलेटिंग ऐक्ट

के अन्तर्गत कलकत्ते के सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के कारण पहले-पहल तो बड़ी उलझन पैदा हुई, लेकिन बाद में उस न्यायालय के अधिकारों को निश्चित तथा सीमित करनेवाले सन् 1781, 1786 और 1793 के अधिनियमों-द्वारा वह दूर हो गई। सर्वोच्च न्यायालय इंग्लैण्ड में बने सामान्य तथा अध्यादेशीय कानूनों, भारत में सपरिषद् गवर्नर-जनरल-द्वारा बनाए गए और सर्वोच्च न्यायालय में रजिस्टर किए गए विनियमों, और प्रतिवादी के हिन्दू अथवा मुस्लिम होने की स्थिति में हिन्दू तथा मुस्लिम विधि-व्यवस्था लागू किया करते थे।

कम्पनी की अदालतें तीनों प्रेजिडेंसियों में सन् 1793, 1802 और 1827 के विनियमों-द्वारा स्थापित की गई। एक सन्तोषजनक न्याय-व्यवस्था निर्धारित करने की दिशा में बहुत-से प्रयोग तो सन् 1772 से ही किए जाते रहे थे, पर सन् 1795 में जाकर इस दिशा में कुछ स्थिरता आई और न्याय करने के स्थूल सिद्धान्त निर्धारित किए गए। इस दिशा में आगे चल कर किए जानेवाले सभी कार्य कार्नवालिस की विनियम-संहिता के आधार पर ही हुए।

उक्त संहिता में सामान्यतः इन बातों पर ध्यान दिया गया था : (1) जमींदारों और अन्य परम्परागत अभिकर्ताओं को पुलिस तथा कानून-विषयक सभी कार्यभारों से अलग कर देना, (2) निदेशन और नियन्त्रण तथा उच्चतर पदों के एकीकरण का सन्निवेश उस प्रतिज्ञाबद्ध सेवा में कर देना, जिसमें केवल अंग्रेजों को स्थान प्राप्त था, और (3) भूराजस्व-संग्रह तथा न्याय-प्रशासन का काम अलग-अलग कर देना तथा राजस्व-विषयक अदालतें समाप्त कर देना।

इस पद्धति के अन्तर्गत दीवानी अदालतों का एक निश्चित क्रम-विधान रखा गया था। सबसे निचले स्तर पर स्थानीय आयुक्तों की अदालतें थीं। उन अदालतों में पहले-पहल पचास रुपये तक के मुकदमों की सुनवाई और फैसला किया जाता था। इनकी तीन श्रेणियां थीं—अमीन, सालिस और मुंसिफ। उनके फैसलों की अपील जिला या नगर-अदालत में की जाती थी। स्थानीय आयुक्तों से ऊंची अदालतें उन रजिस्ट्रारों की थीं, जो जिला तथा नगर-अदालतों के साथ संलग्न प्रतिज्ञाबद्ध कर्मचारी थे। वे 200 रुपये तक के मुकदमों की सुनवाई कर सकते थे। उनसे अगला स्थान जिला और नगर-अदालतों को प्राप्त था, जिनमें से प्रत्येक की अध्यक्षता एक-एक प्रतिज्ञाबद्ध न्यायाधीश करता था और कुछ हिन्दू तथा मुस्लिम विद्वान् और एक रजिस्ट्रार जिसके काम में सहायक होते थे। उन अदालतों में सभी तरह के दीवानी मुकदमों पर विचार हो सकता था और उनके फैसलों के विरुद्ध प्रान्तीय अदालतों में अपील हो सकती थी। बंगाल में 26 जिला-अदालतें थीं।

अपील सुन सकनेवाली प्रान्तीय अदालतें चार केन्द्रस्थलों—कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना—में खोली गई थीं। उनमें से प्रत्येक में तीन अंग्रेज न्यायाधीश, एक रजिस्ट्रार, एक काजी, एक मुफ्ती और एक पण्डित होता था। दो हजार रुपये तक के मामलों में उनका फैसला अन्तिम होता था, पर उससे अधिक रकम के मामलों में सदर दीवानी अदालत में अपील की जा सकती थी। उक्त विनियमों के अन्तर्गत स्थापित अदालतों में सदर दीवानी अदालत का स्थान सबसे ऊंचा था। उसमें गवर्नर-जनरल (अध्यक्ष) और उसकी परिषद् (कौंसिल) के सदस्य होते थे। वहां प्रान्तीय अदालतों, प्रान्तीय कौंसिलों और राजस्व-बोर्ड या राजस्व-समिति की अपीलें सुनी जाती थीं।

फौजदारी न्याय-प्रशासन का काम कम्पनी ने सन् 1790 के बाद उस समय सम्भाला, जब पुलिस तथा फौजदारी न्याय-प्रशासन के कार्यभारी अधिकारी बंगाल के डिप्टी गवर्नर से ये काम ले लिए गए और फौजदारी न्याय-प्रशासन-विषयक तीन श्रेणियों की अदालतें कायम की गईं।

ज़िला और नगर-अदालतों के न्यायाधीशों को मजिस्ट्रेट माना जाता था तथा उनके सहायक कर्मचारी हत्यारों, लुटेरों, चोरों, मकानों में सेंध लगानेवालों और अपराधों या दुराचरण के दोषी व्यक्तियों को हिरासत में ले सकते थे—मामूली मामलों में वे अन्तिम रूप से फैसला करके सज़ा भी दे सकते थे।

अपील सुननेवाली चार प्रान्तीय अदालतों को दौरा न्यायालय बना दिया गया था, जो छः-छः महीने बाद अधिकतर ज़िलों में जाकर जेल सुपुर्दगियां किया करती थीं। उन्हें मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास देने का अधिकार था, पर उसकी पुष्टि सदर निज़ामत अदालत-द्वारा होना अनिवार्य था।

सर्वोच्च फौजदारी अदालत में गवर्नर-जनरल और कौंसिल-सदस्य होते थे, जिनके सहायक मुख्य काज़ी और मुफ्ती होते थे। फौजदारी न्याय-प्रशासन और पुलिस से सम्बद्ध सभी मामले उस अदालत के अधिकार-क्षेत्र में आते थे। उस अदालत के फैसलों की अपील तो कहीं नहीं की जा सकती थी, पर दिए गए दण्ड को गवर्नर-जनरल माफ़ या कम कर सकता था।

पुलिस-विभाग में सरकार-द्वारा नियुक्त वे अधिकारी थे, जिन्होंने ज़मींदारों तथा अन्य लोगों को अपराध रोकने से सम्बन्धित सभी ज़िम्मेदारियों से मुक्त कर दिया था। ज़िले थानों में बांट दिए गए थे। प्रत्येक थाने का अधिकार-क्षेत्र लगभग बीस वर्गमील का था। थाने का कार्यभार दारोगा और उसके कुछ सहायकों पर था और वे सभी सरकार से वेतन पाते थे। नगरों का कार्यभार क़ोतवालों पर था। ज़िलों में दारोगाओं पर मजिस्ट्रेटों का नियन्त्रण था।

दीवानी और फौजदारी अदालतों की स्थापना होने, कार्यविधि के जटिल नियम प्रचलित हो जाने और एक के बाद दूसरी अदालत में अपील कर सकने की सम्भावनाएं पैदा हो जाने पर वकीलों का एक वर्ग अस्तित्व में आ जाना अनिवार्य ही था।

अंग्रेज़ों ने इस देश की पुरानी विधि-व्यवस्था के स्थान पर जिस कानूनी संगठन की स्थापना की, वह स्वरूप तथा आत्मा, दोनों के नाते पुरानी पद्धति से पूर्णतः भिन्न था। उसने पवित्रता की आभा से आलोकित पंच-परमेश्वरों के माध्यम से अनौपचारिक रूप से जल्दी और कम खर्च पर किए जानेवाले इन्साफ के स्थान पर एक ऐसी न्याय-व्यवस्था को ला बिठाया, जिसमें श्रद्धा के लिए कोई स्थान ही न था। उस धर्म-निरपेक्ष पद्धति ने वकीलों के वाक्छल में वृद्धि कर दी। ऐसी दशा में अदालतों में कानूनी छल-प्रपंच, झूठ और मक्कारी का बोलबाला हो जाना और मुकदमेबाज़ी की प्रवृत्ति का बहुत बढ़ जाना स्वाभाविक ही था।

फिर भी, अदालतों के अस्तित्व में आ जाने पर सीधे-सादे कर्तव्यपालन के दिन समाप्त हुए और अधिकार की भावना पनपने लगी। व्यक्तिगत विवेक, अलग-अलग समाजों, वर्गों और जातियों के लिए सापेक्ष और अलग-अलग प्रकार से न्याय करने और गरीबों तथा असहायों को न्याय से वंचित रखने का समय समाप्त हुआ। शासक-वर्ग के सदस्यों के अतिरिक्त सबके लिए समान रूप से न्याय करने तथा

विधिसम्मत रीति से राज करने की प्रवृत्ति भारत की मिट्टी में जड़ें जमाने लगी। यह परिवर्तन व्यक्तिगत नैतिकता की दृष्टि से भी अतिशय महत्वपूर्ण था और सार्वजनिक सम्बन्धों की दृष्टि से भी।

कार्नवालिस ने जो प्रशासनिक ढांचा खड़ा किया था, वह अपने बुनियादी सिद्धान्तों और कार्य-पद्धतियों के नाते इतना नया और अनजाना था कि लोगों को उसका अभ्यासी होने में अनेक वर्ष लग गए। आरम्भ में वह सब बहुत ही अप्रिय जान पड़ा। भारतीयों के जिन वर्गों को सैनिक तथा असैनिक विभागों के शक्ति तथा प्रभावपूर्ण पदों से अलग किया गया था, उनके मन में विक्षोभ भी था और विरोध भी। ज़मीनें धड़ाधड़ बिकने लगीं। काश्तकारों पर अत्याचार हो रहे थे और भूस्वामी तथा काश्तकार, दोनों ही उद्विग्न थे। न्याय की नई पद्धति ने एक ऐसी नई विधि-संहिता लागू की थी तथा कानूनी कार्रवाइयों का एक ऐसा नया तरीका चलाया था, जिसे लोग प्रायः समझ ही नहीं पाते थे। इससे मुकदमेबाजी बहुत बढ़ गई। परिणामतः पुराने सामाजिक बन्धन और रिवाज समाप्त होने लगे और अपराधों, पाप-कर्मों तथा हिंसा की बाढ़ आ गई।

ब्रिटिश अधिकारियों के व्यवहारों ने स्थिति और भी बिगाड़ दी। "जितनी दूरी और उद्दण्डता से कम्पनी के बहुत अधिक सैनिक तथा असैनिक कर्मचारियों ने यहां के उच्च और मध्यम वर्गीय लोगों के साथ व्यवहार किया"[1], उसने आग में घी का काम किया।

सेना

सशस्त्र सेनाओं का पुनर्गठन प्रशासन का एक अन्य पक्ष था, जिसकी ओर कार्नवालिस ने ध्यान दिया। किसी विदेशी हुकूमत को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए स्वभावतः ही शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में, जब अधिकांश भारत स्वाधीन था, जब ब्रिटिश शासन अपनी आरम्भिक अवस्था में ही था और जब भारतीय नरेशों के साथ सम्पर्क रखनेवाले फ्रांसीसी भयंकर धमकी दे रहे थे, यह स्पष्ट था कि "सभी प्रकार की शक्ति का आधार और साधन"[2] तलवार को ही माना जाता। तत्कालीन उच्चाधिकारियों को "कभी यह आभास ही न हुआ कि ब्रिटिश शासन लोगों के स्नेह-सद्भाव पर भी आधारित हो सकता है; उसकी सुरक्षा तो उसकी अजेयता की भावना पर ही निर्भर थी।"[3] और मुनरो "हमारी महान् सैन्य शक्ति और हमारी सरकार की सुदृढ़ता"[4] को ही ब्रिटिश-साम्राज्य के विस्तार के साधन बताता रहा।

ऐसी दशा में कार्नवालिस के लिए यह चिन्ता करना स्वाभाविक था कि सरकार की सैनिक प्रशाखा का संचालन योग्यतापूर्वक होना चाहिए। यद्यपि कम्पनी के अमले में उसके सैन्य विभाग को विशेष स्थान प्राप्त था—स्वयं कार्नवालिस को ही गवर्नर-जनरल तथा प्रधान सेनापति, दोनों के पद दे देना इसका पर्याप्त प्रमाण है—फिर भी सशस्त्र सेनाओं में काफी उद्वेग था। इसके अनेक कारण थे। पहली बात तो यह थी कि भारत

---

1. आर० रिकर्ड्स, 'इण्डिया आर फैक्ट्स', खण्ड 1, पृष्ठ 107
2. ड्यूक आफ वेलिंगटन का 'नैरेटिव आफ द मार्क्वेस आफ वेलेजलीज गवर्नमेंट आफ इण्डिया', देखिए, रैमजे म्यूर, 'द मेकिंग आफ ब्रिटिश इण्डिया', पृष्ठ 209
3. एरिक स्टोक्स, 'द इंग्लिश यूटिलिटेरियन्स ऐण्ड इण्डिया', पृष्ठ 16
4. ग्लीग, 'मेम्वायर्स', पृष्ठ 203

में कम्पनी की सरकार को जो सेना सुलभ थी, वह दो पृथक्तः संगठित भागों में बंटी थी—एक तो सम्राट् की सेना अथवा ब्रिटिश सेना की अंगभूत वे पल्टनें, जो कम्पनी की सेवा के लिए सौंप दी गई थीं, और दूसरे कम्पनी की वे सेनाएं, जिनमें अंशतः यूरोपियन और मुख्यतः भारतीय भर्ती किए गए थे। सम्राट् की सेनाओं की गिनती तो ब्रिटिश अमले में की जाती थी, पर उन पर होनेवाला सारा खर्च भारत में कम्पनी के राजस्व से ही चुकाया जाता था। अपनी सेनाओं का खर्च कम्पनी चुकाती थी। उन व्यवस्थाओं के अनुसार, इंग्लैण्ड की सरकार इस बात की चिन्ता किए बिना कि भारत भेजी जानेवाली सम्राट् की सब सेनाओं की कम्पनी को आवश्यकता है भी या नहीं, अपना भार कम्पनी पर डालने का प्रयत्न करती थी। तीव्र उद्वेग का वास्तविक कारण यह था कि सम्राट् की पल्टनों तथा कम्पनी की पल्टनों के अधिकारियों की पद-स्थिति में अन्तर था। सम्राट्-द्वारा कमीशन-प्राप्त अफसरों की, उनके ओहदे तथा वेतन से उत्पन्न श्रेष्ठता-भावना कम्पनी-द्वारा नियुक्त अफसरों को अखरती थी और इसी के कारण भद्दी स्थितियां पैदा हो जाती थीं।

स्वयं कम्पनी की सेनाओं में भी असन्तोष था। उन सेनाओं के यूरोपियन भाग में "वह तुच्छ कचरा" भरा था; "लन्दन की गलियों के वे नीचजन, जो सिपाही फंसानेवाले एजेण्टों और विभिन्न जेलों के निकृष्टकर्मियों-द्वारा इकट्ठे किए गए हैं। अधिकारी आम तौर से वे युवक हैं, जो अपने को नष्ट कर चुके हैं और इसीलिए जिन्हें अपने देश से भाग जाना पड़ा है अथवा उनमें ऐसे अत्यन्त निकृष्ट व्यक्ति हैं, जिन्हें केवल धन बटोरने के लिए भेजा गया है और इसीलिए जो धन कमाने के लिए और किसी भी बात का परित्याग कर सकते हैं।"[1]

दूसरी ओर, भारतीय सेना की स्थिति "कहीं अधिक अच्छी" थी। फिर भी, यूरोपियन तथा भारतीय सैनिक अधिकारियों की परिलब्धियों में काफी अन्तर था।[2]

1. ड्यूक आफ यार्क का कार्नवालिस के नाम पत्र; देखिए, थाम्पसन और गैरेट-कृत पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ 175

2. निम्नोद्धृत सारणी से वेतनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है :

अंग्रेज अधिकारी	वेतन
कप्तान (तोपखाना)	448 रुपये 8 आने प्रति मास
लेफ्टिनेंट (पैदल-सेना)	266 रुपये 8 आने प्रति मास
पाइलट (नौसेना)	700 रुपये प्रति मास
मास्टर (नौसेना)	270 रुपये प्रति मास
मेट (नौसेना)	156 रुपये प्रति मास
भारतीय अधिकारी	
सूबेदार	82 रुपये प्रति मास
जमादार	28 रुपये प्रति मास
हवलदार	19 रुपये प्रति मास
नायक	17 रुपये प्रति मास
सिपाही	8 रुपये 8 आने प्रति मास

देखिए, कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स-द्वारा बंगाल के गवर्नर-जनरल (पब्लिक डिपार्ट-मेंट) के नाम लिखे गए पत्र, दिनांक 31 अगस्त, 1801 और 13 मई, 1807

कम्पनी की पल्टनें मुख्यतः अपने भत्तों से असन्तुष्ट थीं। क्लाइव और हेस्टिंग्स को इस दिशा में बहुत परेशानी का सामना करना पड़ा था और जब कार्नवालिस भारत पहुंचा, तब अवज्ञा की यह भावना उग्र रूप धारण कर चुकी थी।

इसके अतिरिक्त, असैनिक प्राधिकार-प्राप्त व्यापारियों और क्लर्कों तथा उन सिपाहियों के बीच संघर्ष भी हो रहा था, जो न केवल व्यवसाय की दृष्टि से अपने को उच्चतर समझते थे, बल्कि जो अपने को कम्पनी के अधीनस्थ प्रदेशों का वास्तविक विजेता भी मानते थे। सैनिकों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ सेना का महत्व भी बढ़ गया था। प्लासी की लड़ाई लड़ते समय क्लाइव की कमान में 2,100 भारतीय सिपाही, 900 यूरोपियन और 200 अर्द्धशिक्षित पुर्तगाली थे। सन् 1794 में कम्पनी की सैन्य संख्या 70,000 हो गई, जिनमें से 13,500 ब्रिटिश थे।[1] उसके बाद यह संख्या बराबर तेज़ी से बढ़ती रही। यहां तक कि मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स-द्वारा की जानेवाली विजयों और स्वायत्तीकरणों के समय तक कम्पनी के पास इतनी अधिक स्थायी सेना हो गई थी कि उसे विश्व में दूसरा—रूस के बाद—स्थान प्राप्त था।

असन्तोष के कारण दूर करने के लिए किए गए प्रयत्नों में कार्नवालिस को मामूली सफलता ही मिल पाई। कम्पनी के अधिकारियों को भारत में सेवा करते समय, उन्हें कमीशन मिलने की तारीख के अनुसार शाही पल्टनों के समान ओहदे पाने की छूट दे दी गई। पर दूसरी शिकायतें बनी रहीं, जिसके कारण समय-समय पर उपद्रव और विद्रोह होते रहे। ऐसी दशा में ब्रिटिश साम्राज्य को विनाश से बचा ले जानेवाली बातें ये थीं: (1) संकट-काल आ जाने पर ब्रिटिश अधिकारियों की अपनी शिकायतें भूल जाने तथा अपने देश के हितों की रक्षा में एक साथ खड़े हो जाने की असाधारण क्षमता, और (2) अपने सामान्य शत्रु का मुकाबला करने के लिए एक होकर अपनी सेनाएं संगठित करने में भारतीयों की नितान्त अक्षमता।

कार्नवालिस कम्पनी की सेनाओं में सुधार करने की अपनी योजनाएं कार्यान्वित न कर सका। वास्तव में, उसके भारतीय-विरोधी कामों ने उसकी योजनाओं को कमज़ोर बना दिया। उसने भारतीय अधिकारियों को अपमानित किया, उनके वेतन कम रखे, उन्हें उन्नति करने का कोई मौका न दिया और उनकी संख्या कम कर दी। इसका नतीजा यह हुआ कि जब सन् 1857 में विद्रोह हुआ, तब ऐसे अधिकार-सम्पन्न भारतीय अधिकारी पर्याप्त संख्या में मौजूद नहीं थे, जो अनुशासन बनाए रख सकते।

कार्नवालिस ने एक ऐसी शासन-पद्धति का प्रासाद निर्मित कर दिया, जिसके अधीन भारत को अगले डेढ़ सौ वर्षों तक ब्रिटेन के शासन में रहना था। नया प्रशासन-तन्त्र दो सिद्धान्तों—अर्थात् विदेशी शासन के स्थायित्व और शासक-वर्ग के जन-समाज के लाभ के लिए प्रजाजन की सम्पत्ति के शोषण—पर आधारित था। पिट के इण्डिया ऐक्ट और कार्नवालिस-द्वारा तैयार किए गए प्रशासन-तन्त्र ने इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति प्रशंसनीय ढंग से की। ब्रिटिश संसद् भारत-स्थित अपनी सम्पत्ति की सर्वोच्च स्वामिनी बन गई। स्थानीय प्राधिकारी अर्थात् गवर्नर-जनरल और कौंसिल तथा प्रान्तीय गवर्नर उस सर्वोच्च प्राधिकारी की इच्छाओं तथा आदेशों को क्रियान्वित

---

1. देखिए, एन० रत्नस्वामी, 'सम इन्फ्लुएंसेस दैट मेड द ब्रिटिश ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम इन इण्डिया' (1939 का संस्करण), पृष्ठ 125

करनेवाले एजेण्ट ही थे। सैनिक तथा असैनिक प्रशासन के सभी महत्वपूर्ण पदों पर शासक-जाति के व्यक्ति नियुक्त किए गए। विदेशी केवल अपने सैनिक बल-बूते पर प्राधिकार का प्रयोग कर रहे थे। भारत में इकट्ठा होनेवाले राजस्व का उपयोग इस देश की कृषि और उद्योग में सुधार करने और यहां उत्पादन बढ़ाने के लिए न करके सर्वोच्च सत्ता को राज-कर चुकाने के लिए किया जाता था।

इन परिवर्तनों का लोगों की नैतिक तथा भौतिक स्थितियों पर घातक प्रभाव पड़ा। लोग खिन्न, उदासीन, हतोत्साह और अनुद्यमी हो गए। उनमें वे सभी बुराइयां और नैतिक दोष आने लगे, जो स्वातन्त्र्य-दमन और दासता के सहज प्रसाद हैं।

आठवां अध्याय

अंग्रेजी प्रशासन का विकास—1793 से 1857 तक

1. यूरोप की आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियों का प्रभाव

कार्नवालिस की प्रशासन-पद्धति में चाहे जो भी बुराइयां रही हों, यह बात असंदिग्ध है कि उसने अव्यवस्था को व्यवस्था में बदल दिया। प्लासी की लड़ाई के बाद कब्जे में आनेवाले प्रदेशों की अराजकता का अन्त हुआ और बंगाल में जीवन नई किन्तु व्यवस्थित दिशाओं की ओर अग्रसर हो गया। आगे चल कर ब्रिटिश शासन का पूरे भारत में प्रसार होने पर प्रशासन-विषयक वैसी ही समस्याएं सामने आईं, जैसी बंगाल में उपस्थित हुई थीं। उन्हें हल करते समय कार्नवालिस की पद्धति ने एक नमूना पेश किया, यद्यपि उसकी कुछ विशेषताएं स्वीकार की गईं और कुछ अन्य में संशोधन किया गया तथा उसके अन्तर्निहित विचारों को चुनौती दी गई। इस सारी प्रक्रिया में पचास वर्ष लग गए। इस अवधि में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार तथा प्रशासन-पद्धति के विकास का काम पूरा हो गया।

यूरोप और इंग्लैण्ड

उधर, यूरोप में इस अवधि में बहुत उथल-पुथल हो चुकी थी और भारत-स्थित प्रशासकों के स्वभाव और दृष्टिकोण में भी नयापन आ गया था। इंग्लैण्ड में व्यवहार और विचार, दोनों ही के क्षेत्र में असाधारण परिवर्तन हो रहे थे। अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध—अंग्रेजी-संसद् के इतिहास का सबसे अधिक घृणास्पद और उत्कोच्य काल—समाप्त हो रहा था। नई समस्याएं पैदा हो रही थीं। नई शक्तियां सक्रिय होने लगी थीं। बड़े पैमाने पर धनोत्पादन के नए तरीकों का प्रचार हो रहा था। उनके साथ-साथ नई मनःस्थितियां, नए व्यवहार और नए आचार अस्तित्व में आ रहे थे। जीवन की धारा में स्पन्दन उत्पन्न करनेवाली नई चेतना का प्रभाव भारत पर भी पड़ना अनिवार्य था, क्योंकि भारत पश्चिमी जगत् में होनेवाली हलचल के परिणामों से नहीं बच सकता था।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में आरम्भ होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति का वेग बढ़ता जा रहा था। इंग्लैण्ड तेजी से एक औद्योगिक देश बन रहा था और उसे विज्ञान, टेक्नोलाजी तथा उद्योग की दिशा में यूरोप का नेतृत्व प्राप्त होता जा रहा था। कारखाना-पद्धति के विकास और धन की वृद्धि के कारण अंग्रेजी समाज का स्वरूप बदल रहा था। विज्ञान और टेक्नोलाजी-द्वारा मनुष्य को प्राकृतिक शक्तियों पर अभूतपूर्व अधिकार प्राप्त हो रहा था। मानव-समाज के सामने प्रगति का असीम क्षेत्र उपस्थित हो रहा था। इंग्लैण्ड का यह सौभाग्य ही था कि औद्योगिक क्रान्ति ने उसे वे उपाय तथा संसाधन सुलभ कर दिए थे, जिनकी उसे यूरोपीय प्रतियोगियों की चुनौती का सामना करने के लिए आवश्यकता थी।

इंग्लिश चैनल के उस पार एक नई क्रान्ति हो रही थी, जिसने फ्रांस में एक नए युग का सूत्रपात किया और यूरोप में प्रगति को प्रोत्साहन दिया। उसने पुरानी सामन्ती-प्रथा का अन्त और पूंजीवादी-वर्ग की विजय का शंखनाद कर दिया। उसकी सशस्त्र सेनाओं ने—जिनके ध्वजों पर समानता, स्वाधीनता और बन्धुत्व के मूलमन्त्र अंकित थे—यूरोप के पुराने तथा जर्जर शासन समाप्त कर दिए। उत्कृष्ट सैनिक प्रतिभा के धनी नेपोलियन के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेनाओं ने यूरोप को रौंद डाला, ब्रिटेन को चुनौती दी और एशिया-भर में उनका जयनाद होने लगा।

इन दोनों क्रान्तियों से उन शक्तियों का उदय हुआ, जिन्होंने अन्ततः निर्धनता, बौद्धिक दासता और सत्ता के बन्धन काट डाले और राष्ट्रीयता के युग का श्रीगणेश किया।

यूरोप महाद्वीप में वाल्तेयर, रूसो, विश्वज्ञानवादी और काण्ट आचार-विचार तथा भावना के क्षेत्रों में होनेवाली क्रान्ति के उन्नायक बने। इस नई चेतना ने वर्ड्सवर्थ-जैसे कवियों, ऐडम स्मिथ-जैसे अर्थशास्त्रियों और बेंथम-जैसे दार्शनिकों को अनुप्राणित किया। बर्क तो उस समाज की कल्पना से ही मुग्ध हो गया, जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य का संगम होना था और कला, नैतिकता तथा पूर्णता को साकार रूप ग्रहण करना था। बर्क ने यदि परम्परा और सातत्य का समर्थन किया, तो बेंथम ने अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख का भव्य उदार उपदेश दिया; एक ने यदि इतिहास की संरक्षण और रहस्य-भावना का पोषण किया, तो दूसरे ने प्रगतिवादियों को छत्रछाया प्रदान की। दोनों ने ही अंग्रेज़ों के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला।

दार्शनिक आन्दोलन के अतिरिक्त, धार्मिक जीवन में भी गहरी हलचल पैदा हो गई थी। हेनोवरीय युग की शिथिलता और नैतिक भ्रष्टता के विरुद्ध ज़ोरदार प्रतिक्रिया हो रही थी। नियमवाद (मेथाडिज़्म) के नाम से प्रसिद्ध होनेवाले धार्मिक पुनरुत्थान के दो लक्ष्यनिष्ठ नेता, वेज़्ली और वेकफील्ड, उस प्रतिक्रिया का नेतृत्व कर रहे थे। वे गांवों और छोटे-छोटे नगरों में जाकर जनसाधारण—कोयला खोदनेवालों, कारखानों के मजदूरों, मछेरों, व्यापारियों, दुकानदारों और कारीगरों—को उपदेश दे रहे थे। वे मनुष्यों के दुराचार की निन्दा करते थे, लोगों को इच्छापूर्वक धर्म-परिवर्तन तथा आत्मशोधन के लिए आमन्त्रित करते थे और उन्हें परिशुद्धि तथा अनुकम्पा का विश्वास दिलाते थे। उनकी प्रखर वाक्पटुता और सदाचारपूर्ण जीवन का लोगों पर असीम प्रभाव पड़ा। उक्त आन्दोलन के अधुनातन इतिहासकारों का कथन है कि "इसमें सन्देह नहीं कि उसके (नियमवाद के) अथवा उसी तरह के किसी नवजीवनदायी साधन के अभाव में इंग्लैण्ड अवश्य ही घातक ह्रास के युग में प्रविष्ट हो जाता।"[1]

उन्हीं से सम्बद्ध वे इंजीलवादी (इवेंजेलिकल्स) थे, जो आंग्ल धर्म-व्यवस्था (चर्च) की सीमा में रह कर भी एक दल के रूप में अधिक सुगठित थे····अपने मनोभावों को अधिक अच्छी तरह जानते थे और····ईसाई धर्म-व्यवस्था के और

1. डब्ल्यू० जे० टाउनसेंड, एच० बी० वर्कमैन और जार्ज एन्जिज, 'ए न्यू हिस्टरी आफ मेथाडिज्म', पृष्ठ 375

किसी भी सम्प्रदाय की अपेक्षा अधिक आक्रमणशील थे।"[1] वे समाज के उच्च और उच्च-मध्य-वर्गों पर प्रभाव डाल रहे थे और जनता पर भी उनका ज़बर्दस्त असर था। उनका एक वर्ग क्लेफम-सम्प्रदाय कहलाता था। गुलामों के व्यापार के अन्त का प्रबल समर्थक विल्बरफोर्स और कवि कूपर इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे। कहा जाता है कि "उन लोगों में प्रत्येक मानव-हित का संरक्षक भी मौजूद था और विश्व के प्रत्येक धर्म का प्रतिनिधि भी।"[2]

भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव

क्रान्तिमूलक और नेपोलियन की लड़ाइयों ने भारत में इंग्लैण्ड की अग्रगामिनी नीति को प्रोत्साहन दिया। भारतीय मामलों में फ्रांसीसियों के हस्तक्षेप की अतिरंजित आशंकाओं ने लार्ड वेलेज़ली और मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स की साम्राज्यवादी योजनाओं को बल प्रदान किया। नेपोलियन-द्वारा ब्रिटिश व्यापार के विरुद्ध निर्णयादेश दिए जाने और महाद्वीपीय बन्दरगाहें बन्द हो जाने के कारण ब्रिटेन को अपनी नई मिलों और कारखानों में तैयार होनेवाली वस्तुओं के लिए नई मंडियां खोजने के लिए बाध्य होना पड़ा।

अंग्रेज़ी अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति ही बदल डालनेवाली औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव इंग्लैण्ड और भारत के आर्थिक सम्बन्धों पर भी पड़ा। उस समय तक व्यापार का मुख्य आधार था, ब्रिटेन की चांदी के बदले भारतीय सूती कपड़े का निर्यात। जैसा कि वेरा एन्स्टे ने उल्लेख किया है: "अठारहवीं शताब्दी तक आर्थिक स्थिति की दृष्टि से भारत अपेक्षाकृत आगे ही था और उत्पादन तथा वाणिज्यिक संगठन के भारतीय तरीके विश्व के किसी भी भाग में प्रचलित तरीकों का मुकाबला कर सकते थे।"[3]

परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड में बड़े पैमाने पर सूती कपड़ा और दूसरा सामान बनने लगा। अतः इन दो देशों में विनिमय की जानेवाली वस्तुओं का क्रम उलट गया। हाथ से बना भारतीय कपड़ा इंग्लैण्ड में मशीनों से बने कपड़े की प्रतियोगिता में न ठहर पाया। अतः भारत का सूती वस्त्र-उद्योग नष्ट हो गया। ग्रामीण कारीगरों और बुनकरों को आजीविका के उस साधन से हाथ धोना पड़ा और शीघ्र ही उनकी स्थिति भूमिहीन श्रमिकों की-सी हो गई। सरकार की भूराजस्व-सम्बन्धी नीति और ग्रामोद्योग के विनाश ने मिल कर भारत के गांवों की प्राचीन अर्थ-व्यवस्था को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया।

औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैण्ड की पुरानी वाणिज्यवादी नीति को अलाभप्रद बना दिया और इसीलिए अर्थशास्त्री यह ज़ोर देने लगे कि व्यापार को प्रतिबन्धों तथा एकाधिकारों से मुक्त कर दिया जाना चाहिए। उद्यम-विषयक इस स्वाधीनता ने व्यापार और उद्योग पर बिजली का-सा प्रभाव डाला। धन तेज़ी से बढ़ने लगा।

---

1. जे० के० ओवरटन, 'द इवेंजेलिकल रिवाइवल इन द एटीन्थ सेंचुरी', पृष्ठ 159
2. वही, पृष्ठ 148
3. देखिए, 'द इकोनामिक डेवलपमेंट आफ इण्डिया', पृष्ठ 5

औद्योगिक प्रगति से उत्पन्न प्रचुरता ने आचार का परिष्कार किया। नेपोलियन के साथ किए जानेवाले संघर्षों ने अंग्रेजों के चरित्र को परख कर उसे वज्र-तुल्य बना दिया और धर्म तथा नैतिकता के क्षेत्रों में होनेवाले सुधारों के विस्तार ने गुरुता-गम्भीरता की वृद्धि में योग दिया। अभिमान और पूर्वाग्रह अंग्रेज़ी चरित्र की विशेषताएं बन गए। जातिगत श्रेष्ठता की भावना और गोरे लोगों के दायित्व की अनुभूति ने उन्हें तदनुकूल आचरण के लिए प्रवृत्त कर दिया। इसके अतिरिक्त, आर्थिक लाभ के लिए भी इंग्लैण्ड की चिन्ता कम नहीं हुई। "सन् 1800 के बाद भारत में ब्रिटिश सत्ता को एक ऐसे उपकरण या साधन से अधिक और कुछ नहीं माना जाता था, जिससे ब्रिटिश उद्योग के लिए विशाल सम्भावनाओं से युक्त भारतीय मंडी पर अधिकार कर लेने के लिए आवश्यक शान्ति तथा सुव्यवस्थापूर्ण स्थितियां सुनिश्चित की जा सकें।"[1]

प्रशासन में नई चेतना

पहले कहा जा चुका है कि कार्नवालिस की योजनाएं ह्विग-सिद्धान्तों, अर्थात् समाज के मामलों में राज्य के हस्तक्षेप के परिसीमन, अवैयक्तिक कानून की सर्वोच्चता, कार्यकारी और वैज्ञानिक शक्तियों के पृथक्करण और न्याय की प्रमुखता पर आधारित थीं। ह्विगों का यह भी विश्वास था कि समाज के स्थायित्व के लिए सम्पत्ति आवश्यक है, क्योंकि वह स्वतन्त्रता और सुव्यवस्था में सन्तुलन बनाए रखती है।

नए युग में इन सभी सिद्धान्तों पर प्रहार हुए। बेंथम के अनुयायी आमूल परिवर्तनवादियों (रेडिकल्स) ने—जिनमें जेम्स मिल बेंथम के अनुयायी-वर्ग तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अमले, दोनों में ही प्रभावशाली होने के कारण प्रमुख था—कम्पनी की सरकार के विकास तथा कार्नवालिस की पद्धति के संशोधन पर बहुत प्रभाव डाला। इंजीलवादी अनेक बातों में आमूल परिवर्तनवादियों का समर्थन करते थे, किन्तु उनकी कार्य-पद्धति भिन्न थी। फिर भी, संसद् के माध्यम से दबाव डाल कर उन्होंने कम्पनी से अपनी कुछ इच्छाएं मनवा लीं, और उच्च वर्गों में उनके विचारों का प्रचार होने पर भारत में अनेक उच्चतर अधिकारी उनसे प्रभावित होने लगे। अंग्रेज़ों का वह वर्ग उन लोगों से भिन्न था, जो बर्क के अनुदारवादी दर्शन की मूल भावना का अनुयायी था। वे लोग कार्नवालिस के उदारतावाद के भी विरोधी थे और मिल तथा उसके सम्प्रदाय की आमूल परिवर्तनवादी प्रवृत्तियों के भी। उनमें उस समय के कुछ योग्यतम प्रशासक—जैसे मुनरो, मैलकम, एलफिंस्टन और मेटकाफ़—भी थे।

2. ब्रिटिश शासन का ढंग

अधिकाधिक भारतीय प्रदेश ब्रिटेन के अधिकार में आ जाने और उन नवविजित इलाकों तक ब्रिटिश प्रशासन को विस्तृत करने की समस्या अधिकारियों के सामने उपस्थित होने पर कार्नवालिस की पद्धति के गुण-दोषों पर वाद-विवाद आवश्यक हो गया।

---

1. एरिक स्टोक्स, 'द इंग्लिश युटिलिटेरियन्स ऐण्ड इण्डिया', पृष्ठ 13

परन्तु प्रशासन-विषयक समस्याओं के पीछे भारत में ब्रिटिश शासन के स्वरूप तथा उद्देश्य की बुनियादी बात छिपी थी। इस तरह की बात उठना अनिवार्य था। विजय की प्रक्रिया, वास्तव में, नदी की उस बाढ़ के समान होती है, जो धरती के सीमाचिह्न मिटा देती है और सब ओर विनाश-ही-विनाश कर डालती है। विजय-अभियान इसी अर्थ में एक भद्दी बात है, क्योंकि अन्याय, छल, क्रूरता और हिंसा के साथ उसका अभिन्न नाता है। यह एक ऐसी बुराई है, जो विजित को पतित, विनत तथा धनरहित, और विजेता को निकृष्ट तथा भ्रष्ट बना देती है। लड़ाई समाप्त हो जाने पर दोनों पक्षों को आत्मविश्लेषण के लिए बाध्य होना पड़ता है—विजित को अपनी पराजय के समुचित कारण समझने तथा आत्मसम्मान पुनः प्राप्त करने के लिए, और विजेता को अपनी हिंसा के औचित्य-स्थापन तथा अपनी आत्मा की संतुष्टि के लिए।

उपर्युक्त तीनों विचार-सम्प्रदायों—बेंथम के अनुयायी आमूल परिवर्तनवादियों, इंजीलवादियों और परम्परावादियों—ने यह आवश्यक काम अपने-अपने ढंग से पूरा किया।

आमूल परिवर्तनवादी

आमूल परिवर्तनवादियों का दृष्टिकोण पार्थिव था। उनके मतानुसार, अंग्रेज़ों की विजय तथा उनके शासन का औचित्य इसी बात में था कि उसके द्वारा ऐसे देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना हो सकेगी, जो आपसी झगड़ों तथा बन्धुघातक लड़ाइयों से क्षत-विक्षत होकर नवाबों तथा राजाओं के कुशासन के कारण कराह रहा था। वे ऐसे विधिनिष्ठ शासन के विश्वासी थे, जो अराजकता का स्थान ले सके और ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर सके, जिनमें लोग सुखपूर्वक जीवन बिता सकें, क्योंकि उन्हें सर्वाधिक आवश्यकता स्वाधीनता या स्वशासन की न होकर सुख-शान्ति की ही थी। सर्वशक्तिमान प्राधिकारवादी कार्यांग के माध्यम से काम करने-वाली एक सर्वाधिकृत सरकार ही शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रख सकती है, अधिकारों का निर्धारण तथा संरक्षण करने के लिए आवश्यक कानून सुलभ कर सकती है, उन्हें बनाए रखने के लिए कम खर्च तथा कम समय की अपेक्षा रखनेवाले कानूनी तौर-तरीके आरम्भ कर सकती है और एक ऐसी राजनीतिक तथा आर्थिक पद्धति की स्थापना कर सकती है, जिससे किसी व्यक्ति के लिए, पूंजीवादी समाज के एक सदस्य के नाते, स्वानुभूति के अवसर सुनिश्चित हो सकें।

आमूल परिवर्तनवादी उस समष्टिवादी गतिहीन भारतीय सभ्यता को बिल्कुल सहन नहीं करते थे, जो मध्यकालीन रीति-रिवाजों में उलझी थी और जाति की लौह शृंखलाओं में कठोरतापूर्वक जकड़ी थी—जो एक ऐसा समाज था, जिसमें जनता को भूस्वामी और धर्माचार्य, दोनों ने पीस रखा था। इसका इलाज था यूरोपीयकरण-द्वारा उसका आमूलचूल परिवर्तन; क्योंकि केवल इसी प्रकार सामाजिक स्थितियों में सुधार हो सकता था तथा राजनीतिक क्रान्ति को रोका जा सकता था।

आर्थिक मामलों में वे मालथस और रिकार्डो के अनुयायी थे। व्यक्तिगत उद्यम और स्वतन्त्र व्यापार में वे निर्बाधता के सिद्धान्त के हामी थे और राज्य-द्वारा किए जानेवाले हस्तक्षेप अथवा दी जानेवाली सहायता के विरोधी। भूराजस्व-प्रशासन के

सम्बन्ध में वे भारत में अंग्रेज़ी ढंग का भूस्वामित्व लागू करने या उसका विस्तार करने का विरोध करते थे और सरकार तथा काश्तकारों के बीच प्रत्यक्ष लेन-देन के समर्थक थे। रिकार्डो की, ज़मीन के किराए से सम्बद्ध, उपपत्ति का जेम्स मिल प्रबल समर्थक था। उसका आग्रह था कि सरकार को भूस्वामी के रूप में सामने आकर ज़मीन का वह पूरा आर्थिक किराया स्वयं ले लेना चाहिए, जिसकी परिभाषा करते हुए तत्कालीन अर्थशास्त्रियों ने उसे एक ओर कुल उपज और दूसरी ओर मज़दूरों की मज़दूरी तथा स्टाक के मुनाफ़े के जोड़ का अन्तर ठहराया था।

इंजीलवादी

इंजीलवादियों का दृष्टिकोण धार्मिक था। उनका कहना था कि सांसारिक सुख और शाश्वत मुक्ति, दोनों केवल ईसाई-मत को अंगीकार करने से ही सम्भव हैं। अंग्रेज़ों की भारत-विजय को वे विधि का विधान, "भारतीय मूर्तिपूजा की अथाह गहराइयों के कारण लोगों के पापों का दण्ड और किसी भी देश-काल से अधिक एक जन-समाज को अपने चंगुल में जकड़नेवाली भ्रष्ट और क्रूर अंधविश्वासी पद्धति"[1] से मुक्ति दिलानेवाला आश्वासन मानते थे। स्वभावतः ही, इस प्रकार वे भारतीयों का धर्म-परिवर्तन करा कर उन्हें यूरोप के ईसाई तौर-तरीकों में शामिल करना चाहते थे, पर उनकी रुचि केवल काफिरों की आत्मा की ही रक्षा करने में नहीं थी, उनका यह मानना भी बुद्धिसंगत था कि आंग्लीकरण के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में बनी वस्तुओं की मांग बढ़ेगी। ईसाई तौर-तरीकों के प्रचार से ईसाइयों-द्वारा बनी वस्तुओं की मांग बढ़ना अनिवार्य था। इन सराहनीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक था कि अंग्रेज़ अधिवासियों और धर्मप्रचारकों तथा अंग्रेज़ व्यापारियों और माल के उन्मुक्त भारत-प्रवेश पर लगे प्रतिबन्ध हटा दिए जाएं।

ईसाई धर्म के प्रचार के लिए यह आवश्यक था कि ईसाई सरकार बनी रहे तथा वह शान्ति और सुव्यवस्था बनाए रहे, ताकि ईसाई मिशन का लक्ष्य पूरा करने के लिए आवश्यक स्थितियां उत्पन्न हो सकें। हां, शिक्षा पर वे बहुत अधिक ज़ोर देते थे, क्योंकि मस्तिष्क पर प्राप्त विजय, वास्तव में, और सभी प्रकार के उद्यम में सफलता की कुंजी थी।

परम्परावादी

जहां तक उद्देश्यों का सम्बन्ध था, परम्परावादियों तथा अन्य दोनों वर्गों में विशेष अन्तर न था। उन सभी का उद्देश्य ब्रिटिश शासन की जड़ें मज़बूत करना था। उनमें से कुछ को यह आभास भले ही हुआ हो कि भविष्य में कभी ऐसा दिन भी आ सकता है, जब भारत आज़ाद होगा, और मैकाले-जैसे व्यक्ति ने उस दिन को इंग्लैण्ड के इतिहास का भव्यतम दिन भी भले ही कह दिया हो, पर उन्होंने ऐसी कोई कल्पना नहीं की थी कि वह पवित्र सपना निकट भविष्य में सत्य हो सकता है। भारतीय मामलों को व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर उनका विचार था कि भारत के लिए पैतृकवादी शासन सबसे अधिक अनुकूल है, उनकी

1. आर० कपलैन्ड 'विल्बरफोर्स, पृष्ठ 317

यह उपपत्ति कि शक्ति वास्तव में विधाता-द्वारा सौंपी गई थाती है, इस विचार का पोषण करती थी कि ब्रिटिश अधिकारी—कलेक्टर, गवर्नर, गवर्नर-जनरल—मानव-रूपधारी देवता हैं और उसे प्रजाजन-द्वारा परिरक्षण, पोषण और विनाश की दिव्य विशेषताओं का साकार रूप समझा जाना चाहिए, क्योंकि इस तरह की सरकार भारतीय परम्परा के अनुरूप होगी। आंग्लीकरण के वे विरोधी थे; उसे वे अव्यवहार्य और अवांछनीय मानते थे। बर्क की भांति, वे अमूर्त सिद्धान्तों के प्रति शंकालु थे। इतिहास और संस्कृति के सततता में उन्हें विश्वास था और विध्वंसात्मक परिवर्तन उन्हें अप्रिय थे। माउण्टस्टुअर्ट एल्फिंस्टन ने गवर्नर-जनरल को चेतावनी देते हुए कहा था: "परन्तु याद रखना चाहिए कि लोगों के स्वभाव और चरित्र के प्रतिकूल होने पर किसी न्यायोचित सरकार को भी वरदान नहीं माना जा सकता।"[1] ग्राम-पंचायत-द्वारा न्याय किए जाने का औचित्य-स्थापन उसने इन शब्दों में किया: "सदस्यों को विवाद के विषय और बहुत-से मामलों में दोनों पक्षों के चरित्रों की घनिष्ठ जानकारी होने के कारण उनके द्वारा दिए गए फैसले प्राय: ठीक रहे होंगे और उस तरह के मुकदमों में यह बात असामान्य रूप से मूल्यवान रही होगी कि स्वयं लोगों में से बनाए गए वे न्यायाधीश ऐसे किन्हीं सिद्धान्तों का पालन नहीं कर सकते थे, जो लोगों की समझ के बाहर हों, क्योंकि यह एक ऐसी स्थिति है, जो कानून की अस्पष्टता तथा अनिश्चितता पर रोक लगा कर मुकदमेबाजी की जड़ पर ही प्रहार कर देती है।"[2]

सहायकों और अधिकारियों को हिदायतें देते हुए मैलकम ने उल्लेख किया कि "भारत में हमारी शक्ति इस बात पर आधारित है कि इस सम्बन्ध में यहां के लोग अपने शासकों की तुलना में हमें सद्भावना, बुद्धि और शक्ति की दृष्टि से श्रेष्ठ समझें। यहां के लोगों के स्वभाव, परम्पराओं और धर्म का हम जितना अधिक लिहाज करेंगे, उनके साथ हम जितने अधिक संयम, शील और कृपा के साथ व्यवहार करेंगे, हमारे प्रति उनकी इस महत्वपूर्ण धारणा में उतना ही अधिक सुधार होगा और उनके विश्वास या अविश्वास को ठेस पहुंचानेवाले प्रत्येक काम से, व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों के प्रति प्रदर्शित अवहेलना या उपेक्षा-भाव से, अथवा ऐसे प्रत्येक काम से उक्त धारणा को चोट पहुंचेगी, जिससे यह पता चले कि विजयोन्माद में हम उन्हीं सिद्धान्तों को भुला बैठे हैं, जिनके द्वारा इस विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई है और जिनकी सहायता से इसकी रक्षा सम्भव है।"[3]

पैतृक शासन की उनकी संकल्पना में ये बातें निहित थीं: कार्यकारी और वैधानिक शक्तियों का एकीकरण, सामूहिक मण्डलों के स्थान पर व्यक्तिगत अभिकरण की स्थापना और भूप्रबन्ध की रैयतवारी-प्रथा।

---

1. जी० डब्ल्यू० फारेस्ट, 'सिलेक्शन्स फ्राम द मिनट्स ऐण्ड अदर आफिशल राइटिंग्स आफ द आनरेबल माउण्टस्टुअर्ट एल्फिंस्टन' (लन्दन, 1884), पृष्ठ 57

2. वही, पृष्ठ 355

3. जे० मैलकम, 'ए मेम्वायर आफ सेंट्रल इण्डिया', खण्ड 2 (1880 का संस्करण), पृष्ठ 358

प्रशासनिक विकास का इतिहास

विभिन्न पक्ष-पोषकों-द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों अथवा इन सभी बातों से सम्बद्ध दिलचस्प वाद-विवादों का विस्तृत विवेचन तो यहां आवश्यक नहीं है, पर उन सब बातों के निष्कर्ष पर दृष्टि डाल लेना और कार्नवालिस से लेकर कैनिंग तक पल्लवित प्रशासन का वर्णन समीचीन जान पड़ता है।

1813 का अधिनियम :

कम्पनी के मामलों की छानबीन सन् 1808 में आरम्भ हुई, जब इस काम के लिए हाउस आफ कामन्स-द्वारा एक जांच-समिति नियुक्त की गई। उसने चार वर्ष बाद अपनी रिपोर्ट दी और सन् 1813 का अधिनियम, जिसने कम्पनी के शासपत्र का नवीकरण किया, उसी पर आधारित था। उस समय होनेवाले परिवर्तन की मुख्य विशेषताएं ये थीं : (1) चीन के साथ व्यापार और चाय के अतिरिक्त कम्पनी का व्यापार-विषयक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया ; (2) 'चर्च' का अमला एक बिशप के अधीन कर दिया गया और उसका खर्च भारतीय राजस्व में से चुकाया जाने लगा ; (3) धर्म-प्रचारकों को लाभप्रद ज्ञान का परिचय देने तथा धार्मिक एवं नैतिक सुधार के प्रचार के लिए और व्यापारियों को उनके विधिसम्मत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंग्रेज़ों को एक लाइसेंस-पद्धति के अन्तर्गत भारत में बसने और यहां ज़मीन लेने की अनुमति देने की व्यवस्था कर दी गई।

1833 का अधिनियम :

बीस वर्ष बाद, सन् 1833 में, संविधान में फिर परिवर्तन किया गया। चीन के साथ व्यापार और चाय-व्यापार-विषयक एकाधिकार कम्पनी से ले लिया गया और उससे कहा गया कि वह अपना वाणिज्यिक कारोबार समाप्त कर दे। फिर भी, उसकी प्रशासनिक तथा राजनीतिक शक्ति और भारतीय नियुक्तियों पर उसका संरक्षण बना रहने दिया गया।

जहां तक भारत-सरकार का सम्बन्ध था, वैधानिक कामों के लिए गवर्नर-जनरल की कौंसिल में एक चौथा सदस्य और जोड़ दिया गया। यह एक महत्व-पूर्ण कदम था। यह मानो केन्द्रीय सरकार के विधानांग तथा कार्यांग के कामों के पृथक्करण की भूमिका थी। इसने कानून बनानेवाले उन प्राधिकारियों तथा न्यायांगों की विविधता का अन्त कर दिया, जिनके कार्यक्षेत्र भलीभांति निर्दिष्ट नहीं थे। उन प्राधिकारियों में सपरिषद् गवर्नर-जनरल और बम्बई तथा मद्रास की प्रेज़िडेंसियों के सपरिषद् गवर्नर शामिल थे, जिनके, प्रायः परस्पर-विरोधी, विनियम कम्पनी की अदालतों में ही लागू हो सकते थे।

इनके अतिरिक्त, हिन्दू तथा मुस्लिम विधि-व्यवस्थाएं थीं, जिनके विविध मूलपाठ और विभिन्न निर्वचन थे; और फिर वे अंग्रेज़ी अधिनियम, सामान्य कानून और न्याय-साम्य थे, जिनका उपयोग सम्राट् की अदालतें—सर्वोच्च न्यायालय और महापौरीय न्यायालय—किया करती थीं। सन् 1833 के अधिनियम ने विधान-निर्मात्री शक्ति पूर्णतः सपरिषद् गवर्नर-जनरल को सौंप दी और प्रेज़िडेंसियों की सरकारों को उनके विधान-निर्माण-विषयक कामों से वंचित कर दिया; गवर्नर-

जनरल को सभी व्यक्तियों, चाहे वे ब्रिटिश हों या भारतीय, विदेशी हों या कोई और; सभी कानूनी अदालतों, चाहे वे किसी शासपत्र के आधार पर स्थापित हुई हों या किसी और तरह; और ब्रिटिश शासन के अधीनस्थ समस्त भूभाग के लिए कानून और विनियम बनाने का अधिकार दे दिया गया। हां, इससे भारत के लिए कानून बनाने के ब्रिटिश संसद् के स्थायी अधिकार में कोई अन्तर नहीं आया। गवर्नर-जनरल को निदेश दिया गया कि वह न्याय-प्रशासन तथा सभी कानूनों के कार्यान्वयन के स्वरूप की जांच करने के लिए एक भारतीय विधि-आयोग की स्थापना करे। मैकाले को कौंसिल का चौथा सदस्य और उक्त आयोग का अध्यक्ष बना दिया गया। इस आयोग-द्वारा किए गए विचार-विमर्श के परिणामस्वरूप भारतीय दण्ड-संहिता, दीवानी तथा फौजदारी प्रक्रिया-संहिताएं तथा मौलिक एवं वैशेषिक कानूनों की अन्य संहिताएं अस्तित्व में आईं। एकीकृत विधि-पद्धति, समान वैधानिक प्रक्रिया और समरूप न्यायांग के उदय ने भारत में एकता के विकास में अत्यधिक योगदान किया।

1853 का अधिनयम :

सन् 1853 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासपत्र का अन्तिम बार नवीकरण किया गया। विधान-निर्माण के लिए गवर्नर-जनरल की परिषद् के सदस्यों की संख्या बढ़ा कर बारह कर दी गई। वे सब वैतनिक अधिकारी थे। गवर्नर-जनरल और चार पार्षदों (कौंसिलरों) के अतिरिक्त शेष सदस्य थे—प्रधान सेनापति, बंगाल का मुख्य न्यायाधिपति, एक छोटा न्यायाधीश, और बंगाल, मद्रास, बम्बई तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (उत्तरप्रदेश) का प्रतिनिधित्व करनेवाले चार सदस्य। विधान-परिषद् (लेजिस्लेटिव कौंसिल) की बैठकें सार्वजनिक बना दी गईं और उनकी कार्यवाहियां सरकारी तौर पर प्रकाशित की जाने लगीं।

सन् 1833 के बाद कम्पनी एक वाणिज्यिक प्रतिष्ठान न रही, वह भारत का शासन चलाने के लिए ब्रिटिश सम्राट् का एक साधन-मात्र रह गई। एक विशाल साम्राज्य पर परोक्ष रूप से शासन करने का यह तरीका इतना असंगत था कि 75 वर्ष तक इसका बना रहना अचम्भे की ही बात है। सन् 1857 के विद्रोह ने इस पर घातक प्रहार किया और सन् 1858 में ब्रिटिश सम्राज्ञी ने भारत के शासन का भार प्रत्यक्ष रूप से अपने ऊपर ले लिया।

प्रशासनिक परिवर्तनों के प्रभाव

कम्पनी-शासन के अन्तिम पचास वर्षों में प्रशासन-रूपी प्रासाद पूरा बन गया था। कार्नवालिस ने बंगाल के लिए जो विनियम बनाए थे, उन्होंने उक्त प्रासाद के लिए नींव का काम किया। यह अवश्य है कि विभिन्न प्रान्तों में नई सरकारें स्थापित करते समय नए विचारों और नई परिस्थितियों के दबाव से तथा नए अनुभव के आधार पर उनमें संशोधन किया जाना अनिवार्य था।

ब्रिटिश प्रशासकों के सामने आनेवाली समस्याएं बहुत ही जटिल थीं। उन्हें, स्वभावत: ही, सबसे पहली चिन्ता अपने देशवासियों के हितों की रक्षा करने और साम्राज्य को स्थायी बनाने की थी। शासकों और शासित जातियों के आपसी

सम्बन्धों से जुड़े प्रश्न हल करना आवश्यक था। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न ये थे: भारतीय परम्पराओं को किस सीमा तक स्वीकार या अस्वीकार किया जाए; प्रशासन में भारतीयों को कितना हिस्सा लेने दिया जाए; और शासक तथा शासित के आपसी सामाजिक सम्बन्धों की सीमा क्या हो?

कार्नवालिस की पद्धति-द्वारा इन प्रश्नों को हल करने का प्रयास किया गया था। भूमि-व्यवस्था के कारण प्रशासन और निवेश, इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि के लिए पर्याप्त राजस्व सुनिश्चित हो गया था। भारतीयों को प्रभावशाली वनने के ऐसे सभी अवसरों से वंचित रखा गया था, जिससे वे शासन-सत्ता के लिए भय का कारण वन जाते। परन्तु स्थायी वन्दोवस्त से नई समस्याएं पैदा हो गई थीं। उसने एक ऐसे धनी-वर्ग को जन्म दिया था, जो ब्रिटिश शासन के लिए भय का सम्भावित कारण वन सकता था और कामों के बंटवारे की नीति का फल यह हुआ कि कार्यकारी अधिकारियों की सत्ता कमज़ोर पड़ गई और सरकार की प्रतिष्ठा में भी कमी आ गई।

1793 के वाद अंग्रेज़ों के रुख में परिवर्तन

जहां तक सांस्कृतिक तथा सामाजिक सम्पर्कों का सम्बन्ध था, आरम्भिक अंग्रेज़ ऐसे व्यापारी और राजदूत थे, जो अपने और भारतीयों में अन्तर तो समझते थे, पर जातीय औद्धत्य से पीड़ित नहीं थे। उनमें से अनेक ने भारतीय भाषाएं सीखीं, भारतीय तौर-तरीके अपनाए और उनके साथ मित्रता का सम्वन्ध स्थापित किया। वारेन हेस्टिंग्स फारसी और वंगला वहुत अच्छी जानता था और सर विलियम जोन्स् संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् था, जिसने कालिदास-कृत 'शकुन्तला' का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। धनी भारतीयों, नवावों और राजाओं-द्वारा आयोजित आमोद-प्रमोद-कार्यक्रमों में वे खुल कर भाग लेते थे। स्पीयर का कथन है, "दोनों ओर से पर्याप्त आदान-प्रदान होता था" तथा "अंग्रेज़ों को नाच का शौक तो पहले ही हो गया था, अव वे हाथी लड़ाने और हुक्का पीने के नए शौकों में भी दिलचस्पी लेने लगे थे; उधर नवाव भी अंग्रेज़ी खानों, आदि का रसास्वादन करने लगे थे।"[1] मुसलमानों को सूअर का मांस खाना रुचिकर लगने लगा; उसे वे 'विलायती हिरन' का नाम देकर खाने लगे। मैत्री-सम्वन्ध भी वढ़े। हेस्टिंग्स की मित्र-मण्डली में वेनीराम, उसका भाई विशम्भर पण्डित, गंगा गोविन्द सिंह और अली इब्राहीम खां शामिल थे।

परन्तु कार्नवालिस के समय में स्थिति वदल गई। आमोद-प्रमोद के लिए किए जानेवाले आयोजन-प्रत्यायोजन कम हो गए, मैत्री-सम्वन्ध स्थापित होने वंद हो गए और उच्चतर पद अंग्रेज़ों के लिए सुरक्षित कर दिए गए। सरकार के मंसूवे "अधिक शाही हो गए, उनके व्यवहार में गर्मी और एकान्तिकता आ गई।"[2] आमूल परिवर्तनवादी और इंजीलवादी विचारों के प्रचार के कारण अंग्रेज़ों का रुख विल्कुल वदल गया। सहनशीलता का स्थान घृणा और विद्वेष ने ले लिया। उनमें "स्वयं को श्रेष्ठ समझने की भावना पैदा हो रही थी, जिसके कारण वे भारत को न केवल एक

1. टी० जी० पी० स्पीयर, 'द नवाव्स', पृष्ठ 131
2. वही, पृष्ठ 136

ऐसा देश समझते थे, जिसकी प्रथा-परम्पराएं बुरी थीं और लोग भ्रष्ट थे, अपितु ऐसा देश भी मानते थे, जो स्वभावतः कभी बेहतर बनने के योग्य ही नहीं था।"[1] इस भावना ने व्यक्तिगत रूप से और समग्रतः भारतीयों पर हीनता की मुहर लगा दी।

नई भूमि-व्यवस्थाएं

प्रशासन के तरीकों से सम्बद्ध परिवर्तन नए विचार-परिवेश में हुए। साम्राज्य के विस्तार के कारण भूराजस्व-प्रबन्ध की एक भिन्न रीति पर आधारित एक नए प्रकार का प्रशासनिक संगठन आवश्यक हो गया। बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त लागू करने के निश्चय से पहले उसके विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत वाद-विवाद हो चुका था। परन्तु, इस बात में कभी सन्देह नहीं रहा कि यह व्यवस्था ज़मींदारों के साथ ही की जानी चाहिए। अतएव जब दक्षिण में लड़ी गई लड़ाइयों से ऐसे कुछ प्रदेशों पर कब्ज़ा हुआ, जहां ज़मींदारी-प्रथा का आमतौर पर चलन नहीं था—वह अलग-अलग स्थित कुछ भागों और स्थानीय सरदारों तक ही सीमित थी—तब बंगाल के नमूने पर भू-व्यवस्था करने की उपयुक्तता पर गम्भीर रूप से सन्देह प्रकट किया गया। मराठों की पराजय और दक्कन में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार से इस प्रदेश में भी यही समस्या पैदा हो गई।

ज़मींदारी-प्रथा से जो आशाएं की गई थीं, वे भी पूरी नहीं हुईं। कहा गया था कि भूस्वामी सुव्यवस्था और स्थायित्व की प्राचीर सिद्ध होंगे और उनके हृदय में स्वयं उन्हीं के हितों के सुदृढ़ आधार पर स्थापित सरकार के प्रति हार्दिक तथा उत्साहपूर्ण अनुराग होगा।[2] वास्तव में, स्थिति इसके ठीक विपरीत थी। स्थायी बन्दोबस्त के एकदम बाद बंगाल में उत्तरी सरकारों में भी स्थानीय सरकारों तथा ज़मींदारों के बीच एक संघर्ष आरम्भ हो गया, जो सदैव एक ओर दावछल, झूठ और भाग-दौड़ तक और दूसरी ओर असैनिक सख्तियों के अधिकतम प्रयोग तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि कर-संग्राहकों के कारिन्दे अपनी सशस्त्र सेना और कभी-कभी नियमित पल्टन लेकर और ज़मींदार अपनी अदालतें, पुलिस तथा निजी सुरक्षा-साधन लेकर एक-दूसरे का मुकाबला करने लगे। प्रशासन के मामले में सहयोग देने की बात तो दूर, ज़मींदार सम्राट् को भी परेशानी में डालने से नहीं हिचकते थे। ज़मींदार काश्तकारों के प्रति अपने सम्बन्धों के विषय में की जानेवाली जांच-पड़ताल का विरोध करते थे, उनके अधिकार निर्धारित करने के लिए किए जानेवाले प्रयासों को विफल कर देते थे और रैयतों पर यह अंकुश लगा देते थे कि वे उनकी अदालतों से बाहर जाकर कहीं और इन्साफ कराने का प्रयत्न न करें। वे रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते थे और अपराधों की ओर से आंख मूंद लेते थे। ज़मींदारियों के इलाके लुटेरों और डाकुओं के दलों से आक्रान्त थे। उत्तरी सरकारों में ज़मींदार प्रायः विद्रोही हो रहे थे।

---

1. टी० जी० पी० स्पीयर, 'द नवाब्स'

2. एच० कोलब्रुक का 'मिनट', पैरा 37, देखिए, 'सिलेक्शन्स आफ पेपर्स फ्राम रेकार्ड्स एट ईस्ट इण्डिया हाउस', खण्ड 1 (1820), पृष्ठ 50

ज़मींदारी-प्रथा सरकार और जनता के आपसी सम्बन्ध शिथिल करने का भी कारण बनी। ज़मींदार जब तक निर्धारित राजस्व चुकाता रहता था, तब तक सरकार उसकी मनमानी में किसी तरह रोक नहीं लगाती थी और संग्राहक "केवल पृष्ठभूमि में रह कर काम करनेवाली नियति के समान बना रहता था, जिसकी दैनन्दिन जीवन में कोई परवाह नहीं की जाती थी।" भीतरी बातों की जानकारी और जनता के साथ वास्तविक सम्बन्ध के अभाव का सरकार की देश पर नियन्त्रण करने की क्षमता पर कुप्रभाव पड़ा और उसकी सत्ता कमज़ोर पड़ गई।[1]

दूसरी बुराइयों को भी जल्दी ही अनुभव किया जाने लगा। स्थायी बन्दोबस्त ने लगान की उस वृद्धि में सरकार को उसके भाग से वंचित कर दिया, जो आर्थिक स्थितियों में होनेवाले सामान्य सुधार का पुरस्कार थी, और अर्नाजित लाभ की यह पूरी रकम ज़मींदार के हाथ में पहुंचा दी। दूसरी बात यह कि बन्दोबस्त थोड़े-से भूस्वामियों के लिए तो अनुकूल रहा, पर उसने उन असंख्य अत्याचारग्रस्त काश्तकारों के हितों की पूरी तरह उपेक्षा की, जिनके प्रतिरोध तथा असन्तोष के प्रति किसी ने कोई सहानुभूति दिखाई ही नहीं। मुनरो ने लिखा है, "यह बात असामान्य जान पड़ती है कि कभी यह भी सोचा जा सकता है कि कोई देश सरकारी लगान का एक भाग ज़मींदारों या मूटादारों को देकर भी उतना ही लाभान्वित हो सकता है, जितना ... उन रैयतों को देकर, जिनसे वह सारा लगान वसूल होता है।"[2]

स्थायी बन्दोबस्त पर किए जानेवाले प्रहार में रीड तथा मुनरो अगुआ थे। उन्होंने धीरे-धीरे अपने देश के प्राधिकारियों को विश्वास दिला दिया कि भारत के दूसरे भागों में भी उसे लागू करना मूर्खतापूर्ण होगा। सन् 1813 में कम्पनी के शासपत्र का नवीकरण होने से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के मामलों पर विचार करने के लिए हाउस आफ कामन्स-द्वारा बनाई गई प्रवर-समिति ने रैयतवारी-प्रथा के ही पक्ष में फैसला दिया।

मुनरो ने इस बात पर ज़ोर दिया कि "जब किसी बड़े प्रान्त के बारे में कोई बन्दोबस्त किया जाना हो, तब वहां के लोगों की खुशहाली ही वह महालक्ष्य होना चाहिए, जिसके सामने और सब बातों का स्थान गौण हो।"[3] मुनरो का विचार था कि यह उद्देश्य रैयतवारी-प्रथा से सबसे अच्छी तरह पूरा हो सकता है। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कि रैयतवारी-प्रथा में काश्तकार तथा राजस्व-अधिकारी के बीच और कोई व्यक्ति नहीं होता, मुनरो ने कहा : "यह आक्षेप भारतीय कृषक की स्थिति न जानने के कारण ही उठाया जाता है, क्योंकि इस देश में भूस्वामी और काश्तकार को, इंग्लैण्ड की भांति, स्थायी रूप से कभी अलग नहीं किया जा सकता। सम्पत्ति के सूक्ष्म वितरण के कारण, बहुत थोड़े अपवाद होने पर भी ये दोनों स्थान एक ही व्यक्ति को मिले रहेंगे। भूस्वामी को सदैव स्वयं अपने

---

1. देखिए, आर० कार्सटेयर्स, 'द लिटिल वर्ल्ड आफ़ ऐन इण्डियन डिस्ट्रिक्ट आफ़िसर' (मैकमिलन, 1912), खण्ड 1, 2 और 4
2. फर्मिगर, 'फ़िफ़्थ रिपोर्ट', खण्ड 3, पृष्ठ 504
3. वही

खेत जोतने होंगे; अतः लगान की रकमें सीधे काश्तकार से ही वसूल की जानी चाहिए, जो भूस्वामी के रूप में भुगतान करेगा और ऐसी दशा में ऐसे ज़मींदारों की सृष्टि किए बिना काश्तकार और राजस्व-अधिकारी के बीच कोई और आदमी हो ही नहीं सकता, जो स्वयं भी कालान्तर में या तो छोटे-मोटे राजा बन जाएंगे या काश्तकार।"[1] अतः उन ठेकेदारों—ज़मींदारों—का एक अलग वर्ग बनाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, "जो सरकार के लिए रैयतों से इतना अधिक लगान स्थायी रूप से लेने का भार उठाते हैं, जितना किसी और तरीके से सम्भव नहीं है।"[2]

यह माना जाता था कि दक्कन की रैयतवारी-प्रथा कृषि-विषयक उन सम्बन्धों को चिरस्थायी बना देगी, जो शताब्दियों से विद्यमान रहे हैं। उसके अन्तर्गत इस शर्त पर भूमि पर काश्तकार के स्वामित्व-अधिकार की पुष्टि की व्यवस्था थी कि वह सरकार की लगान-विषयक मांग पूरी करता रहेगा और इस तरह मज़दूर, किसान और भूस्वामी, तीनों का समाहार एक ही व्यक्ति में कर दिया गया था। यह तरीका सरकार के लिए भी लाभप्रद था और काश्तकार के लिए भी। जहां तक सरकार का सम्बन्ध था, इस तरीके में यह बात सुनिश्चित थी कि और अधिक इलाके में कृषि होने तथा कृषि-उपज की कीमतें बढ़ जाने पर भविष्य में सरकारी राजस्व में भी वृद्धि होती रहेगी। एक अन्य लाभ यह था कि यह प्रथा खेती करनेवाले जनसमुदाय को कुछ गिने-चुने बड़े ज़मींदारों की अधीनता से मुक्त करने तथा ब्रिटिश शासन के प्रति उनका समर्थन प्राप्त करने में भी सहायक थी। यह अनुभव किया जाने लगा था कि ब्रिटिश शासन की शक्ति खेतिहरों का शोषण करनेवाले कुछ गिने-चुने लोगों की वफ़ादारी की अपेक्षा सामान्य जन-समुदाय की सन्तुष्टि पर ही अधिक आश्रित है। खेती की भावी प्रगति की दृष्टि से भी रैयतवारी-प्रथा में उसकी प्रतियोगिनी ज़मींदारी-प्रथा में कहीं अधिक सम्भावनाएं निहित थीं। इस सम्बन्ध में तर्क यह दिया जाता था कि यदि एक बार भूमि पर किसान के पैतृक अधिकारों की पुष्टि कर दी गई, तो वह खेती में विस्तार करने में अपने सभी साधन तथा पूरी शक्ति लगा देगा। सम्पत्ति का जादू उद्यम को बढ़ावा देगा और इस प्रकार खेती का स्तर सुधरने में सहायता मिलेगी।

रैयतवारी-प्रथा का पक्ष-समर्थन मुनरो ने, संक्षेप में, इन शब्दों में किया : "यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रथा से देश के उद्योग का विकास और उत्पादन में संवर्द्धन अधिक अच्छे ढंग से हो सकता है, क्योंकि ज़मींदारी या मूटादारी-प्रथा की तुलना में इस प्रथा से मालिकों और किसानों की संख्या बढ़ जाती है और सामान्य श्रमिकों की संख्या कम हो जाती है; क्योंकि किसी ज़मींदार के असामी की तुलना में स्वयं मालिक के नाते रैयत सम्भवतः अपनी ज़मीन के सुधारने में अधिक उत्साह दिखाता है; और चूंकि उसे छूट बिल्कुल न मिलने या बहुत कम मिलने के बदले पूरी मिलेगी, इसलिए वह और अधिक उत्साह दिखा सकेगा; और वह छोटा मालिक बेहतर प्रबन्ध और किसान होने तथा बड़े मालिक के

1. फर्मिगर, 'फ़िफ़्थ रिपोर्ट', खण्ड 3, पृष्ठ 505
2. वही, पृष्ठ 504

मुकाबले ज़मीन की खेती में अधिक प्रत्यक्ष रूप से रुचि रखने के कारण उसके लिए अधिक मेहनत करेगा और उससे अधिक उपज प्राप्त करेगा; और यदि सम्पत्ति का परिमाण एक ही मान लिया जाए, तो यह अधिक अच्छा है कि वह चार-पांच सौ बड़े मालिकों के बदले चालीस या पचास हज़ार छोटे मालिकों के हाथ में रहे; इस छूट से लाभ सीधे तौर पर रैयत को होने के कारण इससे उस वर्ग की परिस्थितियां बेहतर हो जाएंगी, जिनसे मुख्यतः राजस्व प्राप्त होता है और इससे वे अधिक अनाज पैदा कर सकेंगे तथा यह स्थिति आबादी की वृद्धि के लिए अनकूल रहेगी। इस प्रथा के अन्तर्गत जोती जानेवाली भूमि के आकार के अनुसार राजस्व में घट-बढ़ होने की गुंजायश के कारण इससे, सरकार को कुछ वर्षों की औसत में कोई हानि हुए बिना, किसान का बोझ हल्का हो जाता है; रैयत जैसे-जैसे धनी होंगे, वैसे-वैसे यह घट-बढ़ कम होती जाएगी और अन्ततोगत्वा यह घट-बढ़ केवल तालाब वाली ज़मीनों तक सीमित रह जाएगी; रैयतवारी-प्रथा में सारी अनधिकृत ज़मीन पर सरकार का हक बना रहने के कारण उसे यह सामर्थ्य मिल जाती है कि वह, देश में एक एकड़ भी व्यर्थ ज़मीन बाकी रहने तक, रैयतों पर कोई नया बोझ डाले बिना राजस्व में क्रमिक वृद्धि कर सकती है।"[1]

रैयतवारी पट्टेदारी एकमात्र ऐसी भू-व्यवस्था थी, जो बंगाल से बाहर विद्यमान परिस्थितियों में सम्भव थी। पुनः मुनरो के शब्दों में: "यही वह व्यवस्था है, जो भारत में सदा से बनी रही है—कोई और व्यवस्था स्थायी हो ही नहीं सकती; और कोई नई व्यवस्था इससे कितनी भी भिन्न क्यों न हो, उसे अन्ततः इसी के अनुरूप होना पड़ता है, क्योंकि छोटी व्यवस्था में सभी बच्चों के विवाहित होने, सभी पुत्रों में समान बंटवारा होने और पुत्र न होने की स्थिति में गोद लेने का चलन होने के कारण किसी भी परिवार में सम्पत्ति बहुत समय तक बड़ी मात्रा में नहीं रह पाती; यह प्रथा मूटादारी-प्रथा के मुकाबले अधिक सरल है, क्योंकि इसमें प्रचलित तौर-तरीकों के विरुद्ध कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाने और जागीरों का विभाजन रोकने के लिए उत्तराधिकार-विषयक कानूनों की आवश्यकता नहीं होती और इस प्रथा में छोटे और बड़े खेतों का क्रम-निर्धारण भी सम्भव है।"[2]

ज़मींदारी की तुलना में रैयतवारी-प्रथा की यह विशेषता है कि उसने बहुत अधिक भूस्वामियों का स्थान एक ज़मींदार, अर्थात् सरकार, को दे दिया। इसके अन्तर्गत काश्तकार उस सरकार के सीधे सम्पर्क में आ गए, जो एकमात्र भूस्वामी के रूप में काम कर रही थी। इसके बाद धरती पर काम करनेवाले मज़दूरों और देश के शासकों के बीच कोई बिचौलिया न रहा। हां, इसके अन्तर्गत उस भूमि पर काश्तकार का स्वामित्व-अधिकार मान लिया गया, जिसमें वह खेती करता था।

रैयतवारी-प्रथा ने जनता और सरकार के बीच घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित कर दिए, क्योंकि इसके अनुसार कर्मचारी प्रत्येक जोत से सीधे लगान उगाहते थे। इसके अनुसार यह आवश्यक था कि प्रत्येक खेत को नापा जाए, उसका सर्वेक्षण हो, उसकी सीमाएं निर्धारित हों और उसकी हदबंदी कर दी जाए। इसमें खेत

1. फर्मिगर, 'फिफ्थ रिपोर्ट', खण्ड 3, पृष्ठ 503
2. वही

के नक्शे, गांव के नक्शे, ताल्लुके के नक्शे तैयार करने की, और यह सब काम पूरा करने के लिए महासर्वेक्षक के एक पूरे विभाग की जरूरत थी।

सर्वेक्षण तो प्रत्येक जोत का लगान निर्धारित करने के लिए प्रारम्भिक कदम होता है। किन्तु देय रकम का निर्धारण उपज के आकलन पर निर्भर रहता है। उपज के परिणाम का अनुमान लगाने से पहले मिट्टियों का वर्गीकरण—गीली या खुश्क, खेती-योग्य या बागवानी-योग्य—करना तथा सम्बन्धित ज़मीनों पर मकानों, पेड़ों, तालाबों, नदियों, नालों, पहाड़ियों, सड़कों, बंजर भूमि, कुओं और कब्रों, आदि घिरे स्थानों का विस्तृत विवरण प्राप्त करना आवश्यक होता है। उस सारी जानकारी के आधार पर एक समझौता किया जाता है और सरकार तथा रैयत के बीच एक पट्टा लिखा जाता है।

प्रत्येक काश्तकार से निर्धारित रकम उगाहना भी एक अन्य विस्तृत प्रक्रिया है, जिससे कर्मचारी और किसान घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं। यदि इस बात पर ध्यान दिया जाए कि सर्वेक्षणों तथा समझौतों का प्रतिवर्ष पुनरीक्षण तथा संशोधन होता है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह व्यवस्था कितनी अधिक विस्तृत और घनिष्ठतामूलक होती है।

यह माना जाता है कि मद्रास तथा बम्बई प्रेजिडेंसियों में जो रैयतवारी पट्टेदारी लागू की गई, वह उन इलाकों में प्रचलित प्राचीन भारतीय पद्धति से बहुत मिलती-जुलती थी। पर वास्तविकता यह है कि वह बुनियादी बातों में इस देश की प्राचीन प्रथा-परम्पराओं से उतनी ही भिन्न थी, जितनी बंगाल की ज़मींदारी प्रथा थी। इसके कारण ज़मीन निजी सम्पत्ति बन गई, ग्राम-जीवन की एकता और संगति अस्त-व्यस्त हो गई और खेतिहर उन राजस्व-अधिकारियों के निर्दयतापूर्ण अत्याचारों का शिकार हो गया, जो ऐसे वर्षों में भी भूराजस्व की मांग करते थे और उसके भुगतान के लिए आग्रह करते थे, जब सूखा पड़ने के कारण ज़मीन में अनाज होता ही नहीं था और सरकारी देनदारियां चुकाने के लिए खेतिहर के पास कोई साधन नहीं होता था।

अन्तिम मराठायुद्ध में मार्क्विस हेस्टिंग्स की विजय से गंगा घाटी का इलाका अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया और बाद में पंजाब, अवध और नागपुर पर उनका अधिकार हो जाने पर तो भारत में ब्रिटिश अधिराज्य का काम पूरा ही हो गया।

इन इलाकों में भी भू-व्यवस्था करना स्वाभाविक था। यहां ऐसी नई पद्धतियों का प्रयोग किया गया, जिनमें कुछ तत्व बंगाल की ज़मींदारी प्रथा से लिए गए थे, कुछ दक्कन की रैयतवारी-प्रथा से और कुछ तत्व मौलिक भी मौजूद थे।

गंगा-घाटी के इलाके में, जिसका नाम उस समय उत्तर-पश्चिम प्रान्त था (अब उत्तरप्रदेश), सरकार ने गांवों के साथ समग्रतः राजस्व की अदायगी के लिए समझौते किए। हाल्ट मेकेन्ज़ी के निदेशानुसार, सन् 1822 का विनियम जारी किया गया, जिसके द्वारा उक्त ग्राम-पद्धति लागू हो गई। उस पद्धति की बुनियादी बात यह थी कि उसमें सरकार व्यक्तिगत रूप से काश्तकार के साथ समझौता करने के स्थान पर समग्रतः पूरे ग्राम-समाज के साथ समझौता करती थी। इसी तरह, प्रत्येक गांव का कर-निर्धारण कर लिया जाता था और किसी एक उत्तरदायी व्यक्ति के माध्यम से उसकी अदायगी का भार गांव पर डाल दिया जाता था। महाल (जागीर) के

अलग-अलग भागों के मालिक अपनी-अपनी जमीन के लिए निर्धारित राजस्व का अंश आपसी समझौते के अनुसार अपने प्रतिनिधि को दे देते थे। निश्चित अवधि, प्राय: तीस वर्ष, के बाद कर-निर्धारण का पुनरीक्षण किया जाता था। इस सम्बन्ध में सरकार के साथ कार्रवाई करनेवाला व्यक्ति मुकद्दम कहलाता था। इस काम में पटवारी उसका सहायक होता था। वह रजिस्टर और हिसाब रखता था। कलेक्टर और तहसीलदार सावधिक समझौतों का काम पूरा करते थे और वे कानूनगो, पटवारी तथा गांववालों-द्वारा दी गई जानकारी के अनुसार काम करते थे।

उन सावधिक समझौतों के कारण जनता तो सरकारी कर्मचारियों के सम्पर्क में अवश्य आती थी, पर समझौता किसी व्यक्ति के साथ न होकर पूरे गांव के साथ होने के कारण उससे पूरे समाज के संगठन में कोई व्यतिरेक नहीं आता था।

पंजाब में एक संशोधित महालवारी-प्रथा लागू की गई। जान लारेंस के शब्दों में, "जमीनों के मालिक समग्रत: गांव की ओर से सरकार के साथ समझौता करते थे, व्यक्तिगत रूप से नहीं। गांव की बिरादरी, अपने मुखिया या प्रतिनिधि के माध्यम से, निश्चित अवधि तक निश्चित रकम चुकाए जाने का भार अपने ऊपर ले लेती थी और फिर सारी देनदारी आपस में बांट कर सबके अंश निर्धारित कर दिए जाते थे। इस व्यवस्था में मुख्यत: प्रत्येक व्यक्ति खेती करके अपने ही लिए निर्धारित रकम चुकाता है, पर अन्तत: वह अपने साथियों के अंश के लिए और वे सब उसके अंश के लिए उत्तरदायी होते हैं; और इस प्रकार वे सब एक सम्मिलित दायित्व-सूत्र में बंधे रहते हैं।"[1]

असैनिक प्रशासन और न्यायांग

कार्नवालिस के उत्तराधिकारियों ने अधिकारों के न्याय-निर्णय के स्थान पर सुव्यवस्था बनाए रखने, व्यक्ति-निरपेक्ष न्याय-प्रशासन के स्थान पर व्यक्तिगत विवेक के प्रयोग, और असैनिक शासन के स्थान पर सैनिक शासन पर अधिक ज़ोर दिया। इसका परिणाम था सत्ता का ऐसा केन्द्रीकरण, जिसने वस्तुत: सैनिक अनुशासन का ही रूप ले लिया था।

कार्नवालिस ने ज़िले का दण्डाधिकार तथा पुलिस-नियन्त्रण न्यायाधीश-दण्डनायक (जज-मजिस्ट्रेट) को सौंप दिया था और राजस्व-संग्रह का भार कलकत्ता-स्थित राजस्व-मण्डल की देखरेख में संग्राहक (कलेक्टर) को। इस पद्धति में पहला व्यवधान सन् 1829 में उपस्थित हुआ, जब आयुक्त (कमिश्नर) का पद बनाया गया और उसे अत्यधिक शक्तियां दे दी गई। संग्राहकों के काम की देखरेख करने और न्यायाधीशों, दण्डनायकों और पुलिस का अधीक्षण करने के लिए प्रत्येक आयुक्त को एक डिवीजन का कार्यभार सौंप दिया गया। वह एक न्यायिक अधिकारी भी बन गया, क्योंकि दौरा न्यायाधीश और प्रान्तीय अपील-अदालतों का कार्यभार भी उसी को सौंप दिया गया। प्रान्तीय राजस्व-मण्डल और प्रान्तीय अपील-अदालतें समाप्त कर दी गई।

दो वर्ष बाद, यह अनुभव होने पर कि आयुक्त पर कार्यभार बहुत अधिक है,

---

1. देखिए, 'रिपोर्ट आन द ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ पंजाब टेरिटरीज़', 1854-55 से 1855-56, पैरा 39

कुछ परिवर्तन किए गए, आयुक्त का फौजदारी अधिकार-क्षेत्र जिला-न्यायाधीश को सौंप दिया गया और न्यायाधीश का दण्डाधिकार संग्राहक को दे दिया गया। इस प्रकार, सन् 1831 तक, हालांकि न्यायांग ने प्रशासन की एक स्वतन्त्र शाखा का रूप ग्रहण कर लिया था, कार्यांग "एक ही कमान की जंजीर में बंधा था।" लगान और राजस्व-विषयक मामलों में संग्राहक को दण्डनायक, पुलिस और न्यायांग, तीनों के अधिकार प्राप्त थे। संग्राहक की सहायता के लिए अधीनस्थ कर्मचारियों की एक पूरी शृंखला थी।[1]

इस तरह, शक्तियों के एकीकरण और व्यक्तिगत तथा निजी उत्तरदायित्व के पैतृकवादी सिद्धान्तों ने शक्तियों के पृथक्करण और मण्डलों-द्वारा कार्यान्वित की जानेवाली सामूहिक जिम्मेदारी की भावनाओं का स्थान ले लिया। "प्रभागीय आयुक्त और जिला-अधिकारी पद की दोहरी स्थापना ने कार्नवालिस-द्वारा निर्धारित ढांचे में स्थायी संशोधन कर दिया और यही पद्धति अंग्रेजों की भावी औपनिवेशिक प्रशासन-व्यवस्था के लिए परम्परागत प्रतिमान बनी।"

जहां तक न्यायांग का सम्बन्ध था, उसका महत्व तो बना रहा, पर उसकी सर्वोपरिता कम हो गई। सन् 1793 के बाद होनेवाले मुख्य परिवर्तनों ने सदर न्यायांग की सभी कोटियों पर प्रभाव डाला। सन् 1801 में सदर दीवानी अदालत और निजामत अदालत सपरिषद् गवर्नर-जनरल से पृथक् हो गईं। सन् 1811 में सदर दीवानी अदालत का गठन किया गया, जिसमें एक मुख्य न्यायाधिपति और कम्पनी के प्रतिज्ञाबद्ध कर्मचारियों में से छांटे गए तीन छोटे न्यायाधीश थे। सन् 1831 में प्रान्तीय अपील-अदालतें समाप्त कर दी गईं और जिला-अदालतों की शक्तियां बढ़ा दी गईं। वे 5,000 रुपये से अधिक के मुकदमों पर आरम्भ से ही विचार कर सकती थीं और सदर अमीनों की अदालतों की अपीलों की सुनवाई कर सकती थीं। उनके फैसलों की अपील सदर दीवानी अदालत में हो सकती थी।

फौजदारी के क्षेत्र में, सदर निजामत अदालत का पुनर्गठन किया गया। सपरिषद् गवर्नर-जनरल ने अदालत के रूप में काम करना बंद कर दिया और उसका स्थान चार न्यायाधीशों ने ले लिया, जिनकी सहायता प्रधान काजी और दो मुफ्ती करते थे। सन् 1831 के सुधारों में सर्किट न्यायालय समाप्त कर दिए गए। दौरा-न्यायालयों के काम करने और जेल-सुपुर्दगियां करने का भार पहले आयुक्तों को सौंपा गया, फिर जिला-न्यायाधीशों को।

दीवानी और फौजदारी, दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय न्यायिक अधिकारियों का क्षेत्र बढ़ाया गया। दीवानी क्षेत्र में एक मुख्य सदर अमीन का पद बनाया गया, जो 5,000 रुपये तक के मुकदमों और निम्नतर अदालतों की अपीलों की सुनवाई कर सकता था। फौजदारी क्षेत्र में मुख्य सदर अमीन, मुंसिफों और सदर अमीनों, दण्डनायकों तथा उनके सहायकों को अधिकार दे दिया गया कि वे सिद्धदोष अपराधियों को दण्डादेश दे सकते थे।

सन् 1832 के बाद यह अनुमति दे दी गई कि दीवानी और फौजदारी के मुकदमों पर विचार करते समय भारतीय पंचों, कर-निर्धारकों या जूरी-सदस्यों की

---

1. एरिक स्टोक्स, 'द इंग्लिश यूटिलिटेरियन्स ऐण्ड इण्डिया', पृष्ठ 164

सहायता ली जा सकती है। अब काज़ी और मुफ्ती अनावश्यक जान पड़ने लगे, उनकी सेवाओं के बिना भी अब काम चल सकता था—विशेषतः इसलिए कि गैर-मुसलमानों को मुस्लिम विधि-व्यवस्था के अन्तर्गत विचारणा से छूट मिल गई थी।

पुलिस-व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन हुए। गांव के चौकीदार, जिन्हें अपनी आजीविका के लिए ज़मींदार पर निर्भर करना पड़ता था और जो अपने कर्तव्यों के सम्बन्ध में थाने के दारोगाओं के प्रति उत्तरदायी थे, अपने कार्य-भार के लिए उपयुक्त सिद्ध न हुए। वे अपराधों को न रोक पाए और गांववाले लुटेरों के दलों से आक्रान्त होते रहे। दारोगाओं की सहायता के लिए कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों को अमीन के रूप में नियुक्त कर देने का प्रयास किया गया, पर उन्हें कुछ पारिश्रमिक नहीं मिलता था और वे शीघ्र ही ओझल हो गए। ज़मींदारों से उनकी सत्ता छीन ली गई थी और वे अपराधों का पता लगाने या उन्हें रोकने का लाभ-विहीन काम अपने ऊपर लेने को राज़ी न थे। सन् 1808 में प्रान्तीय पुलिस-अधीक्षक का पद बनाया गया, पर सन् 1829 में वह समाप्त कर दिया गया। तब यह काम आयुक्तों को सौंपा गया। दो वर्ष बाद पुलिस-व्यवस्था की देखभाल का काम ज़िलों के संग्राहक दण्डनायकों (कलेक्टर-मजिस्ट्रेटों) को मिल गया, किन्तु अपराधों की रोकथाम का वास्तविक कार्यभार ज़िला-पुलिस-अधीक्षकों पर ही रहा, जिन्हें इस काम में दारोगा सहायता देते थे।

सेना

अधिराज्य का विस्तार और उसकी तुलना में अंग्रेज़ों के अभाव का फल यह हुआ कि कार्यांग की शक्ति बढ़ाई गई और अधीनस्थ पदों पर बड़े पैमाने पर भारतीयों को नियुक्त किया गया। इन्हीं आवश्यकताओं से प्रेरित होकर सेना का विस्तार किया गया। मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स ने सेना के निम्नलिखित काम बताए :

(1) लोगों में होनेवाले उत्पातों से रक्षा करना और असैनिक सत्ताधारियों को समय पर सहायता पहुंचाने के लिए देश-भर में सैनिक केन्द्र बनाए रखना;

(2) संरक्षित भारतीय नरेशों को उनकी प्रजा-द्वारा किए जानेवाले आन्दोलनों से बचाने में सहायक होना;

(3) सड़कों को डाकुओं-लुटेरों से मुक्त रखना और व्यापारियों की रक्षा करना;

(4) सेवामुक्त असख्य भारतीय सैनिकों को काम पर लगाना; और

(5) स्वतन्त्र नरेशों, मिसाल के तौर पर अवध के नरेश और पंजाब तथा ग्वालियर के महाराजाओं, की सेनाओं का प्रतिसंतुलन बनाए रखना।

ब्रिटिश सम्राट् की सेना में से पर्याप्त संख्या में यूरोपीय सैनिक भारत ले आना स्पष्टतः असम्भव था। इसका कारण केवल यही नहीं था कि विश्व के दूसरे भागों में कार्यरत पर्याप्त यूरोपीय सैनिक वहां से हटाए नहीं जा सकते थे—विशेषतः इसलिए कि नेपोलियन की लड़ाइयां अभी समाप्त नहीं हुई थीं और यूरोप में हंगामा मचा हुआ था—बल्कि इसलिए भी कि यूरोपीय सेनाएं बहुत

महंगी थीं और कम्पनी, स्वयं उसी के खर्च पर, भारत में उन सेनाओं के ठूंसे जाने का बराबर विरोध कर रही थी।

भर्ती के दृष्टिकोण से भारत में परिस्थितियां बहुत अनुकूल थीं। भारत उत्कृष्ट कोटि के सैनिकों का अक्षय भण्डार था। उनमें अनेक जातियों तथा कबीलों के वे लोग भी थे, जिनका व्यवसाय ही लड़ना था और सेवामुक्त वे असंख्य सैनिक भी थे, जो विजित भारतीय नरेशों की सेना में काम कर चुके थे। वे लोग साहसी योद्धा थे, उनमें सहन-शक्ति थी और उन्हें अनुशासित तथा प्रशिक्षित करना सहज था। नमक की वफ़ादारी की परम्पराओं ने उनकी कर्तव्यनिष्ठा और आज्ञाकारिता में कोई बाधा नहीं पड़ने दी थी। वे सस्ते भी थे।

कार्नवालिस के प्रस्थान के समय कम्पनी के सैनिकों की संख्या 70,000 थी जिनमें से केवल 13,500 ब्रिटिश थे। सन् 1826 तक सैनिक-संख्या बढ़ कर लगभग 2,81,000 हो गई, जिनमें से 10,541 व्यक्ति कम्पनी की सेना के यूरोपीय सैनिक थे और लगभग 22,000 व्यक्ति ब्रिटिश सम्राट् की सेना के थे। सन् 1857 के विद्रोह के समय सेना में 3,11,374 व्यक्ति थे, जिनमें से 45,522 यूरोपीय थे।[1] भारतीय सैनिकों के सस्तेपन का अनुमान इसी बात से लग जाता है कि सिपाही को प्रतिमास 7 रुपये मिलते थे और कमीशन न पाए हुए उसके भारतीय अधिकारियों को प्रतिमास 25 रुपये और 67 रुपये मिलते थे। सन् 1856 में भारतीय सेना में, जिसमें 2,75,000 सैनिक थे, प्रतिमास 300 रुपये वेतन पानेवाले केवल तीन भारतीय अधिकारी थे।

कार्नवालिस की भारतीय-विरोधी नीति को सबसे अधिक प्रश्रय सेना में मिला। सन् 1784 के बाद भारतीय सैन्य-गुल्मों की कमान के लिए उनके साथ यूरोपीय अवर अधिकारी जोड़ दिए गए। सन् 1790 और 1796 के बीच पुनर्गठन हुआ, जिसमें यूरोपीय तत्व बढ़ा दिया गया और सिपाहियों की प्रत्येक पल्टन के साथ नौ यूरोपीय अधिकारी लगा दिए गए। सन् 1848 में साढ़े सात-आठ सौ पैदल सैनिकों की एक सिपाही-रेजिमेंट में 25 यूरोपीय अधिकारी होते थे और अश्वसेना की एक रेजिमेंट में 20 यूरोपीय अधिकारी। सन् 1826 तक कोई भारतीय सैनिक कमान के अधिकारी के पद तक नहीं उठ सकता था। सर हेनरी लारेंस ने एक भारतीय रिसालदार को यह कहते सुना कि "हम जी रहे हैं और आशा के बिना ही लड़ते रहते हैं।" और-तो-और, स्वयं कर्नल वेलेज़ली (बाद में ड्यूक आफ़ वेलिंगटन) ने भी भारतीय अधिकारियों के विस्थापन पर खेद प्रकट किया था।

ब्रिटिश शासन का अर्द्ध-सैनिक स्वरूप

यह बात ब्रिटिश शासन के सामान्य स्वरूप के अनुकूल ही थी कि भारत के शासन में सेना का योगदान ऊपरी न होकर वास्तव में बुनियादी था। नवविजित प्रदेशों का तात्कालिक नियन्त्रण और प्रशासन, जैसा कि उन परिस्थितियों में सम्भावित था, सैनिक अधिकारियों को सौंप दिया गया था और इसमें अचम्भे की कोई बात नहीं कि

---

1. एम० रत्नस्वामी, 'सम इन्फ्लुएंसेज़ दैट मेड द ब्रिटिश ऐडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम इन इण्डिया', पृष्ठ 127, आदि

पंजाब, सिन्ध और उससे पहले उत्तर, दक्षिण तथा मध्य-भारत के एकीभूत होनेवाले ज़िलों का कार्यभार सैनिक अधिकारियों को सौंपा गया। विशेष रूप से दिलचस्प बात यह है कि बहुत-से असैनिक विभागों को भी सैनिक अधिकारी चला रहे थे। भारतीय रियासतों के सम्बन्ध में कारवाई करनेवाले राजनीतिक विभाग पर तो मानो उनका पूरी तरह एकाधिकार था। रेज़िडेंसियां और एजेंसियां पूर्णतः उनकी मुट्ठी में थीं।

सेना के प्रति विशेष रूप से झुका हुआ दूसरा महकमा था, पुलिस-विभाग। सरकार-द्वारा इस आशय की गश्ती चिट्ठियां जारी की जाने पर भी कि असैनिक उत्पातों का दमन करने के लिए सेना बुलाना उचित नहीं है, दण्डनायक बराबर ऐसे अवसरों पर सेना बुलाते रहे। पुलिस के कामों का भार सेना पर इतना अधिक हो गया कि सैनिक मुख्यालय में स्थायी रूप से आधी बटालियन भी नहीं रह पाती थी। छावनियों की संख्या बढ़ती जाती थी और आश्रित केन्द्र भी सेना से भरे रहते थे। खज़ाना एक जगह से दूसरी जगह और सरकारी माल कलकत्ते से अन्य नगरों में ले जाए जाते समय सैनिक कर्मचारी चौकसी के लिए साथ रहते थे। उन्हें कैदियों को हिरासत में भी रखना पड़ता था। बंगाल में उस समय तक पुलिस के साथ 'प्रान्तीय बटालियनें' रहा करती थीं, जब तक यह प्रथा बेंटिक ने बंद न कर दी। बम्बई प्रेज़िडेंसी में उत्तरी तथा दक्षिणी खानदेश में सनिक संरक्षक तैनात किए जाते थे। पंजाब में 8,100 व्यक्तियों की सेना—जिनमें से दो-तिहाई पैदल सेना थी और एक-तिहाई अश्वारोही—पुलिस के कर्त्तव्यों का पालन करती थी। सिन्ध में भी पुलिस का काम सेना-द्वारा किया जाता था।

इन आधारभूत विभागों के अलावा सेना पर और भी अनेक महत्वपूर्ण कामों का भार था। सर्वेक्षण-विभाग उन्हीं के द्वारा निर्मित था और वही भूराजस्व-अधिकारियों को सर्वेक्षण-कार्य सिखाते थे। वे सड़कें बनाते थे, और संचार-साधन के रूप में रेलों की व्यवस्था का दायित्व तो मुख्यतः सेना पर ही था। पंजाब की सड़क-व्यवस्था का आरम्भ सिखों की गतिविधियों पर नज़र रखने के लिए हुआ था और डलहौज़ी ने प्रतिरक्षा के ही कारणों से प्रेरित होकर ग्रैंड ट्रंक रोड का विस्तार लाहौर से पेशावर तक किया था। पूर्व-भारतीय रेलवे के निर्माण का काम और उसके मुनाफे की गारण्टी एक कम्पनी को इस शर्त पर दे दी गई थी कि सेनाओं तथा सैनिक साज-सामान लाने-ले-जाने को प्राथमिकता दी जाएगी। उत्तर-पश्चिमी रेलवे को सैनिक तथा राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता था। इस प्रत्यक्ष तथ्य पर अधिक ज़ोर देना आवश्यक है कि साम्राज्य का एकीकरण और सेना की प्रभावशाली शक्ति का विकास मूलतः संचार के उत्कृष्ट साधनों पर ही निर्भर था।

स्वास्थ्य और सफाई, वनों के उपयोग, सिंचाई-साधनों के विकास और सरकारी निर्माण-कार्यों, आदि के सम्बन्ध में भी सेना से सहायता ली जाती थी। भूराजस्व-प्रशासन में भी सैनिक अधिकारियों की सेवाएं काम में लाई जाती थीं। वारेन हेस्टिंग्स ने प्रायः ऐसे अनेक लोगों को लगान-ठेकेदारों के रूप में नियुक्त किया था। रीड और मुनरो रैयतवारी-प्रथा के प्रणेता थे; राबर्टसन, ब्रिग्स, पाटिंगर, विनगेट, बारवेल और साइक्स ने दक्कन में बन्दोबस्त किए थे और जैकब ने सिन्ध में। यद्यपि ऐसे व्यक्तियों की नियुक्तियों को हतोत्साहित ही किया जाता था, तथापि पंजाब, सिन्ध और मध्यप्रान्त मध्यप्रदेश में अधिकतर वही लोग भूराजस्व-संग्रह-अधिकारी थे।

इन प्रशासनिक व्यवस्थाओं से ब्रिटिश सरकार का अर्द्ध-सैनिक स्वरूप पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। ड्यूक आफ वेलिंगटन ने इसकी पुष्टि करते हुए कहा है : "भारत में शासन का जो तरीका है, सत्ता का जो आधार है, और उसे बल प्रदान करने तथा शासन-कार्य चलाने के जो तरीके हैं, वे उन्हीं प्रयोजनों की सिद्धि के लिए यहां यूरोप में अपनाए जानेवाले तौर-तरीकों से सर्वथा भिन्न हैं ······ वहां तो सम्पूर्ण शक्ति का मूलाधार तथा साधन तलवार है।"[1]

गवर्नर-जनरलों की नियुक्ति से भी यही बात परिलक्षित होती है। कार्नवालिस व्यापक सैनिक अनुभव-सम्पन्न सिपाही था। उसने अमेरिकी स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया था और पराजित होने पर भी उसने अपनी प्रतिष्ठा नहीं गंवाई थी। मार्क्विस आफ हेस्टिंग्स भी अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम में और फलैंडर्स में होनेवाली क्रान्तिमूलक लड़ाइयों में लड़ चुका था। बेंटिक नीदरलैण्ड्स में, आस्ट्रियायी सेनाओं के साथ इटली में, और स्पेन के प्रायद्वीपीय युद्ध में सैनिक सेवा का अनुभव प्राप्त कर चुका था। हार्डिंग नेपोलियन के विरुद्ध किए गए संघर्ष में अनेक लड़ाइयों में ख्याति पा चुका था और वह सिख-युद्ध में भारतीय सेना के प्रधान सेनापति ह्यू गोग के नेतृत्व में वास्तव में सेना में रह भी चुका था। वेलेज़ली, आकलैण्ड और एलेनबरो व्यावसायिक सिपाहियों से भी अधिक सैनिक दृष्टिकोण-सम्पन्न व्यक्ति थे। वे केवल साम्राज्यवादी अग्रगमन-नीति के पक्षपोषक ही नहीं थे, बल्कि सैनिकों पर इतने अधिक कृपालु भी थे कि हेनरी टारेंस ने व्यंग्यपूर्ण तुकबन्दी-द्वारा यह प्रतिवाद किया था कि :

ब्रिटिश-सिविल-सेवा-संग्राहक काफी उनके दफ्तर को!
मुंसिफ-सब अकलंक योग्यतामुक्त सभी जज रहे अहो!
स्नेहपात्र सैनिक (स्थिति चाहे जो हो) कैसे भूल करे!
तोप-तुपक के 'कर्नल' विधि से सहज 'कमिश्नर' बना धरे !![2]

असैनिक सेवा

इतना होने पर भी प्रशासन-रूपी भवन मुख्यतः असैनिक सेवाओं के खम्भों पर ही टिका था। आरम्भ में जब कम्पनी विशुद्धतः वाणिज्यिक संस्थान थी, तब उसके कर्मचारी मध्य और निम्नतर वर्गों में से भर्ती किए जाते थे। बाद में 'सभ्यजन'—कुलीन, सामन्त तथा भूस्वामी—कम्पनी के सदस्य बने और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक ऊंचे कुल के व्यक्ति इसकी सेवा में भर्ती किए जाने लगे। वे छोटी ही अवस्था में किसी विशेष योग्यता के बिना शिक्षार्थियों के रूप में भर्ती हो जाते थे और सात साल की नौकरी के बाद मुंशी के पद-क्रम में पदोन्नति के पात्र हो जाते थे। मुंशी के पद-क्रम से आगे छोटे गुमाश्ते (परवर्ती कनिष्ठ व्यापारी) और बड़े गुमाश्ते (परवर्ती वरिष्ठ व्यापारी) के पद-क्रम थे। उनके वेतन कम थे। प्रशिक्षार्थी को प्रति वर्ष पांच पौंड वेतन मिलता था, मुंशी को दस पौंड, छोटे गुमाश्तों को बीस पौंड और बड़े गुमाश्तों को तीस से चालीस पौंड तक। हां, उन्हें हिस्सों में निवेश करके या व्यक्तिगत व्यापार-द्वारा अपनी आय बढ़ाने की छूट थी।

---

1. द ड्यूक आफ वेलिंगटन, 'द मार्क्विस वेलेज़लीज़ गवर्नमेंट आफ इण्डिया', रैम्ज़े म्यूर-द्वारा 'द मेकिंग आफ ब्रिटिश इण्डिया' के पृष्ठ 209 पर उद्धृत
2. एल० एस० एस० ओ' मैले, 'द इण्डियन सिविल सर्विस', पृष्ठ 51

सन् 1744 और 1765 के बीच व्यापारियों की यह कम्पनी दक्कन और बंगाल में होनेवाली लड़ाइयों के फलस्वरूप प्रान्तीय शासकों के रूप में परिणत हो गई। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिल जाने से उसकी व्यापारिक गतिविधियों में शासनिक कार्यकलाप जुड़ गए। यह सारा काम कम्पनी के उन मुंशियों, गुमाश्तों और व्यापारियों पर आ पड़ा, जो इस तरह के कामों के योग्य न थे। प्लासी की लड़ाई के बाद के तीस वर्ष वास्तव में अस्त-व्यस्तता की अवधि रहे थे, जिसमें आत्मस्तुति की निकृष्ट भावना ज़ोरों पर रही। इसके परिणाम भयानक रहे। बंगाल का प्रान्त तबाह हो गया और कम्पनी-कर्मचारियों के पास धन बढ़ जाने के बावजूद स्वयं कम्पनी को भयंकर हानियां सहनी पड़ीं। इससे भी बुरी बात यह हुई कि उसके भावी हित खतरे में पड़ गए।

क्लाइव के समय से लेकर लगातार हालात ठीक करने की कोशिश की गई। घूसखोरी, भ्रष्टाचार और अवैध व्यापार की बुराइयां दूर करने के लिए यह आवश्यक था कि वेतन बढ़ाए जाते और नियुक्तियां करने में प्रभावशाली व्यक्तियों का दबाव रोका जाता। क्लाइव ने वेतन बढ़ाने के लिए नमक के एकाधिकार से प्राप्त रकम में से एक निधि स्थापित करने की जो योजना पेश की थी, उसे डाइरेक्टरों ने अस्वीकार कर दिया; पर उन्होंने स्वयं वरिष्ठ अधिकारियों के वेतन बढ़ा दिए। सन् 1772-73 में निर्धारित वेतनों के अनुसार बंगाल के गवर्नर की परिलब्धियां बढ़ कर 23,000 पौंड प्रति वर्ष हो गई और कौंसिल के सदस्यों की परिलब्धियां उनके ओहदे के अनुसार 1,500 पौंड से 3,000 पौंड तक हो गई।

सन् 1793 में यह प्रश्न स्थायी रूप से हल कर दिया गया। अवर पद-क्रमोंवाले सहायकों को प्रति मास 300, 400 और 500 रुपये दिए जाने लगे और संग्राहक को 1,500 रुपये के साथ-साथ उसके द्वारा संग्रहीत राजस्व पर लगभग 1 प्रतिशत—प्रति वर्ष अधिक-से-अधिक 27,500 रुपये—कमीशन मिलने लगा।

कार्नवालिस ने सेवाओं की शुद्धि के लिए ज़बर्दस्त कोशिश की। विख्यात और प्रभावशाली व्यक्तियों के अयोग्य कृपापात्रों को पद दिए जाने की दोषपूर्ण प्रथा का उसने डट कर विरोध किया। वेलेज़ली युवक असैनिक कर्मचारियों का स्तर सुधारना चाहता था और इसीलिए उसने कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की थी। विचार यह था कि वहां उन विषयों में तीन वर्ष के एक व्यापक पाठ्यक्रम की व्यवस्था की जाए, जो प्रशिक्षार्थियों के लिए आवश्यक समझे जाएं। दुर्भाग्यवश, वेलेज़ली ने डाइरेक्टरों को अप्रसन्न कर दिया था, अतः उसकी योजना को बदल कर ऐसा रूप ग्रहण करना पड़ा, जिससे उक्त कालेज प्राच्य भाषाओं का एक शिक्षालय बन गया। किन्तु डाइरेक्टरों ने उच्चतर शिक्षा के महत्व को अनुभव किया और हैलेबरी कालेज स्थापित किया गया, जिसमें दो वर्ष के एक पाठ्यक्रम की व्यवस्था थी। आरम्भ में कालेज में प्रवेश करने की वय पन्द्रह वर्ष थी, पर सन् 1833 में उसे बढ़ा कर सत्रह वर्ष कर दिया गया। अधिकतम वय इक्कीस वर्ष नियत की गई। इस कालेज का उद्देश्य ऐसे अफसर तैयार करना था, जो यह अनुभव करें कि "ऐसी कुछ परम्पराएं हैं, जो अपनाई जाने और दूसरों को सौंपी जाने-योग्य हैं ...... एक ऐसा राजनीतिक विश्वास है, जिसे संजोया जा सकता है, और सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रतिष्ठा की एक संहिता है, जिसका दृढ़तापूर्वक पालन किया ही जाना चाहिए।"[1] ब्लंट ने आगे लिखा है : "जब तक भारतीय असैनिक सेवा

---

1. सर ई० ब्लंट, 'द आई० सी० एस०' (लन्दन, 1937), पृष्ठ 35-36

हैलेबरी की परम्परा का पालन करती रहेगी, तब तक वह अधिक भूल से बची रहेगी।"[1] पर सन् 1853 में मेकाले के प्रस्ताव के अनुसार असैनिक सेवाओं की नियुक्तियों का अधिकार डाइरेक्टरों से ले लिया गया और यह निश्चय हुआ कि इन पदों के लिए चुनाव केवल प्रतियोगितामूलक परीक्षाओं-द्वारा किया जाए। पहली परीक्षा सन् 1855 में हुई। सन् 1857 में कालेज बंद हो गया।

इन सुधारों ने, वास्तव में, वह फौलादी ढांचा तैयार किया, जो डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक समय तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सम्भाले रहा। यह सेवा वस्तुतः अंग्रेज जाति की व्यवहारकुशल मेधा की अनोखी सूझ थी। यह महंगी अवश्य थी, क्योंकि यह विश्व की उच्चतम वेतनवाली स्थायी सेवा थी, फिर भी यह आत्माभिमान से ओतप्रोत थी, इसकी शक्तियां और जिम्मेदारियां महान् थीं और इसके सदस्यों से जिस सर्वतोमुखी प्रतिभा की आशा की जाती थी, वह सचमुच आश्चर्यजनक थी। वे लोग लक्ष्य-निष्ठा से आप्लावित होते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि उन्हें 'शान्तिप्रिय बर्तानिया' की बरकतों का विस्तृत भू-प्रदेशों और असंख्य मानवों के बीच प्रचार-प्रसार करने के लिए दिव्यतः नियोजित किया गया है। इसके कारण भारत को एक ऐसी शासन-पद्धति प्राप्त हुई, जो 'संगठन का चमत्कार' कही जा सकती है।

ब्रिटिश शासन के परिणाम

नई प्रशासन-पद्धति के तात्कालिक परिणाम अधिकतम निराशाजनक रहे। उच्चतर सेवाओं में भारतीयों के पूर्ण बहिष्कार और शासन में किसी भी प्रकार की सहभागिता से उन्हें वंचित रखने के घोर अप्रिय परिणाम तात्कालिक होने के साथ-साथ दीर्घकालीन भी सिद्ध हुए। इस तरह की व्यवस्था के अनौचित्य और असंगति से कम्पनी के कुछ ऊंचे अधिकारी अवगत थे। वेलेज़ली ने कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स को लिखा: "हमारे भारत-स्थित प्रतिष्ठानों के संविधान की यह एक भयंकर अपूर्णता है कि कदाचित् हमने अपने उन प्रजाजन का सद्भाव प्राप्त करने अथवा उनके असन्तोष का नियन्त्रण करने के विचार से कोई भी वैसी पद्धति नहीं अपनाई, जिन्हें हमने हुकूमत करते पाया था और जिनकी प्रतिष्ठा, धन और शक्ति की हानि के कारण उठनेवाली भावनाओं का उचित शमन करने के लिए कोई व्यवस्था किए बिना हमने जिन्हें परिलब्धि, प्रतिष्ठा और शक्ति की सहभागिता से बिल्कुल अलग कर दिया है।"[2]

12 अगस्त, 1817 को लार्ड हेस्टिंग्स को भेजे गए 'मिनट' में मुनरो ने लिखा था कि "ब्रिटिश सरकार की शक्ति ने उसे इस योग्य बना दिया है कि वह प्रत्येक विद्रोही का दमन कर सकती है, प्रत्येक विदेशी आक्रान्ता को खदेड़ सकती है और अपने प्रजाजन को उस कोटि का संरक्षण प्रदान कर सकती है, जिसका उपभोग किसी भी स्थानीय नरेश की प्रजा नहीं कर पाई। इनके कानून और परम्पराएं प्रजाजन को भीतरी दमन से भी वह सुरक्षा प्रदान करती हैं, जो इन रियासतों में पहले कभी दिखाई नहीं पड़ी।

---

1. सर ई० ब्लंट, 'द आइ० सी० एस०' (लन्दन, 1937), पृष्ठ 36

2. वेलेज़ली-द्वारा 22 अप्रैल, 1799 को कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के नाम लिखा गया पत्र। देखिए, थाम्पसन और गैरेट-कृत 'द राइज़ ऐण्ड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (1958 का संस्करण), पृष्ठ 207

परन्तु इन लाभों के लिए वहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ा है। इसके मूल्य में राष्ट्रीय चरित्र की स्वाधीनता की वलि चढ़ानी पड़ी है और वह सव-कुछ त्याग देना पड़ा है, जो किसी राष्ट्र को आदरणीय वनाता है। ब्रिटिश प्रान्तों के देशवासी निर्भय होकर अपने स्वतन्त्र व्यवसाय जारी रख सकते हैं और अपने परिश्रमों के फलों का शान्तिपूर्वक उपभोग कर सकते ह, पर उनमें से कोई भी व्यक्ति शान्तिमय जीवन विताने की उस पशु-सुलभ स्थिति से अधिक की कामना नहीं कर सकता; उनमें से कोई भी अपने देश के विधान-निर्माण या सैनिक अथवा असैनिक शासन में कोई भाग लेने की आशा नहीं कर सकता। देशवासी अपने चरित्र के लिए प्रेरणा उन्हीं लोगों से ग्रहण करते हैं, जो या तो सरकारी पदों पर होते हैं या उन पदों के योग्य होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के अभाव में उस समाज के किसी और वर्ग में क्षमता होना सम्भव ही नहीं। इस वस्तु-स्थिति का प्रभाव उन सभी ब्रिटिश प्रान्तों में देखा जा सकता है, जिनके वासी निश्चित रूप से भारत की सवसे अधिक अधम जाति हैं। ऐसे लोगों में चरित्र की किसी भव्यता की आशा नहीं की जा सकती, जो सैनिक क्षेत्र में सूवेदार के पद से आगे नहीं वढ़ सकते, और इस प्रकार जो वहां झंडावरदार से उतने ही नीचे हैं, जितना नीचे स्वयं झंडावरदार प्रधान सेनापति से हैं; और जो असैनिक क्षेत्र में मामूली न्यायिक या राजस्व-अधिकारी के उस पद से आगे वढ़ने की आशा नहीं कर सकते, जिस पर रह कर वे भ्रष्ट उपायों-द्वारा अपने मामूली वेतन की कमी पूरी करते हैं।" उसने यह भी कहा : "अतः ब्रिटिश सेनाओं की भारत-विजय का परिणाम यह होगा कि वहां के सभी लोग ऊंचे उठने के वदले भ्रष्ट हो जाएंगे। ब्रिटिश भारत में वहां के देशवासियों को शासन में भाग लेने से जैसे पूरी तरह अलग रखा गया है, वैसी विजय का कदाचित् कोई और उदाहरण कहीं प्राप्त नहीं है।"

इसके वाद उसने 12 नवम्वर, 1818 को लिखा था : "विदेशी आक्रान्ताओं ने यहां के देशवासियों के साथ हिंसा, प्रायः अत्यधिक क्रूरता, का तो व्यवहार किया है, पर किसी ने भी हमारे-सदृश घृणा का वर्ताव उनके साथ नहीं किया; उनमें से किसी ने भी उनके पूरे समाज को अविश्वसनीय, ईमानदारी के अयोग्य और केवल उन स्थानों पर नियुक्ति के योग्य घोषित नहीं किया, जहां उनके विना काम चल ही नहीं सकता हो। हमारे अधिराज्य के अन्तर्गत आनेवाली जाति के चरित्र की इतनी अवमानना केवल अनुदार ही नहीं, अविनयपूर्ण भी है।" उसने निष्कर्ष-रूप में कहा : "विश्वसनीय और परिलव्धियों वाले पदों से उनका वहिष्कार हमारी शासन-व्यवस्था का एक अंग वन गया है और इसका कोई अच्छा फल भी नहीं निकला।"[1]

कुछ वर्ष वाद मुनरो ने यह कल्पना की कि यदि ब्रिटेन को वैसी ही हुकूमत के अधीन होना पड़ता, जैसी स्वयं उनके कारण भारत में उपस्थित हुई, तो ब्रिटेन की सम्भाव्य दशा क्या होती। उसी के शव्दों में : "कल यदि ब्रिटेन किसी विदेशी शक्ति के अधीन हो जाए, वहां के लोगों को शासन में किसी तरह की सहभागिता, सार्वजनिक प्रतिष्ठा और अधिक विश्वास या परिलव्धि के प्रत्येक पद से विल्कुल अलग रखा जाए और उन्हें प्रत्येक स्थिति में अविश्वसनीय समझा जाए, तो आप देखेंगे कि उनका समस्त ज्ञान और लौकिक तथा अलौकिक साहित्य एक या दो पीढ़ी

1. एडवर्ड थाम्पसन, 'द मेकिंग आफ द इण्डियन प्रिंसेज', पृष्ठ 273

में ही उन्हें निकृष्ट विचारोंवाली, छली और बेईमान जाति बनने से नहीं रोक सकेगा।"[1]

एलफिन्स्टन ने लिखा है, "अधिक न्यायपूर्वक हम पर यह अभियोग लगाया जा सकता है कि हमने यहां के लोगों की प्रतिभा के स्रोत सुखा दिए हैं और हमारी विजय का स्वरूप ही कुछ ऐसा रहा है कि उससे न केवल ज्ञान के विकास के लिए प्रोत्साहन समाप्त हो गया है, बल्कि यह भी सम्भव है कि इस राष्ट्र का वास्तविक ज्ञान भी नष्ट हो जाए और प्राचीन प्रतिभा की कृतियां भी भुला दी जाएं।"[2]

मराठा-युद्धों की समाप्ति पर मैलकम ने कहा : "हमारी वर्तमान स्थिति देखने में तो विश्राम की है, पर यह खतरों से भरी है।" उसने आगे कहा : "इस जैसी अवधि को अल्पकालीन बनानेवाले अनेक कारण हैं और एक अधिक शीतल नीति-व्यवस्था के रूप में होनेवाले परिवर्तन तथा तत्काल हम पर ही निर्भर रहनेवाले देशों में हमारे कानूनों और विनियमों के प्रचलन का विरोध होना और उनसे घबराहट पैदा हो जाना स्वाभाविक है। यह वह घड़ी है, जिसमें लोग स्वप्न से जागते हैं। आतंक और सराहना का स्थान घृणा और असन्तोष ने ले लिया और राजाओं, सरदारों तथा ओहदेदार और प्रभावशाली सभी व्यक्तियों को यह सब-कुछ एक ऐसा तरीका-भर जान पड़ता है, जिससे उनका अविलम्ब ह्रास होगा और अन्त में वे बिल्कुल मिट जाएंगे।

"मध्य-भारत पर ब्रिटिश सत्ता की स्थापना को यद्यपि लगभग सभी वर्गों ने आरम्भ में एक वास्तविक वरदान ही माना था, क्योंकि उसने उन्हें असहनीय बुराइयों से राहत दिला दी थी, तथापि नरेश, सरदार और समाज के सैनिक-वर्ग उसके प्रति मिली-जुली भावनाएं व्यक्त करने लगे हैं, जिनमें इस बात की आशंकाएं सबसे ज़ोरदार हैं कि उनकी वर्तमान स्थिति स्थायी रह सकेगी या नहीं।

"उन्हीं वर्गों के लोग हमारी सरकारों के अधीन समाज में उन्हीं स्थानों पर काम नहीं करते, जिन पर वे देशी नरेशों के समय से किया करते थे और न ही वे उन उद्देश्यों से प्रेरित हैं। हमारा प्रशासन न्यायपूर्ण होकर भी भावनाशून्य तथा कठोर है। इससे घबराहट चाहे न भी पैदा होती हो, पर उसके अनुकरण की इच्छा भी प्रायः पैदा नहीं होती। लोगों को संरक्षण तो प्राप्त है, पर न तो उनमें जीवन है, न अनुराग। इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि हमारे प्रशासन के अधीन रहनेवाले किसी भारतीय को कहीं बुराई या चोट सहनी पड़े, पर इससे भी कम सम्भावना इस बात की है कि उस अनुकम्पा अथवा प्रमुखता के आधार पर उसे उत्साहित किया जाए या ऊंचा उठाया जाए।"[3]

कीर्ति, धन या शक्ति के सभी मार्ग भारतीयों के लिए बंद थे। उन्हें न तो जन-सेवा के अवसर प्राप्त थे, न नागरिक के कर्तव्य पूरे करने के, न देश-रक्षा के और न ही उसकी सम्पन्नता-वृद्धि के। मुनरो ने पहले ही कह दिया था कि "इस प्रकार के बहिष्कार

1. रेजिनाल्ड रेनाल्ड्स-द्वारा 'द ह्वाइट साहब्स इन इण्डिया' के पृष्ठ 65 पर उद्धृत; साथ ही, रमेश दत्त, 'द इकोनामिक हिस्टरी आफ इण्डिया अण्डर अर्ली ब्रिटिश रूल' (छठा संस्करण), पृष्ठ 163

2. जी० डब्ल्यू० फारेस्ट, 'सेलेक्शन्स फ्राम द मिनट्स ऐण्ड अदर आफिशल राइटिंग्स आफ एलफिन्स्टन', पृष्ठ 102

3. एडवर्ड थाम्पसन, 'द मेकिंग आफ द इण्डियन प्रिन्सेज़', पृष्ठ 272

से असन्तोष तथा विरोध की भावना पनपेगी और यदि ऐसा न हुआ, तो लोग चरित्र की दृष्टि से गिर जाएंगे ...... और ऐसी आलसी तथा अधम जाति में परिणत हो जाएंगे, जो अपनी क्षुधा-निवृत्ति-मात्र से अधिक किसी भी उच्चतर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वथा अयोग्य हो जाएगी।"[1]

उसका यह विचार ठीक ही था कि "जो व्यक्ति अपनी स्वाधीनता खो बैठता है, उसके आधे गुण नष्ट हो जाते हैं ..... पराधीन राष्ट्र राष्ट्र के विशेषाधिकारों से हाथ धो बैठता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे एक दास स्वाधीन व्यक्ति के अधिकारों से वंचित हो जाता है। उसे न अपने देश में कर लगाने का अधिकार रहता है, न अपने कानून बनाने का, न प्रशासन या देश के सामान्य शासन में कोई भाग लेने का। ब्रिटिश भारत के लोगों को ऐसा कोई भी विशेष अधिकार प्राप्त नहीं है।"[2]

सारे भारत पर भयंकर कफन-सा पड़ा हुआ था, जिसके नीचे जनता के विभिन्न वर्ग ठंडे पड़ गए थे और जन-समाज का दम घुट रहा था। मुस्लिम और हिन्दू नरेशों को शस्त्रविहीन और अलग-अलग कर दिया गया था; जिन मुस्लिम और हिन्दू परिवारों, कबीलों और जातियों ने सैनिक, प्रशासक और नेता प्रदान किए थे, उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण पदों से वंचित करके परजीवियों के रूप में निकृष्ट जीवन बिताने के लिए छोड़ दिया गया था। मुसलमानों और हिन्दुओं के पण्डित-वर्गों को संरक्षण से वंचित कर दिया गया था। अतः वे धीरे-धीरे अपने धंधों से विरत हो रहे थे। जहां तक जनता का सम्बन्ध था बहुत ही अधिक कर-निर्धारण, सख्ती के साथ करों की वसूली, आबादी में वृद्धि और ज़मीन पर अधिक दबाव होने के कारण किसानों का जीवन-स्तर बहुत ही गिर गया था और शासकों की आर्थिक नीतियों के कारण भारतीय कारीगर और शिल्पकार तबाह हो गए थे। उनमें से बहुतों को भूमिहीन श्रमिकों की स्थिति में आ जाना पड़ा था और औद्योगिक विकास के मार्ग में डाली गई बाधाओं ने नियोजन के नए मार्ग सुलभ करना बंद कर दिया था। इंग्लैण्ड की वाणिज्य-नीति के सम्बन्ध में मांटगुमरी मार्टिन ने सन् 1837 में लिखा था : "अंग्रेज़ी वाणिज्य के निष्ठुर स्वार्थ के कारण विपन्न व्यक्तियों को और अधिक निर्धन बनाने के लिए हमने सभी सम्भव उपाय किए हैं।"[3]

कदाचित् नवीन को जन्म देने के लिए प्राचीन को घोंट-घोंट कर मार डालना आवश्यक हो गया था।

---

1. रमेश दत्त-द्वारा 'द इकोनामिक हिस्टरी आफ इण्डिया अण्डर अर्ली ब्रिटिश रूल', पृष्ठ 163 पर उद्धृत
2. वही, पृष्ठ 165
3. वही, पृष्ठ 289

नौवां अध्याय

अंग्रेजी शासन के सामाजिक और आर्थिक परिणाम : ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का विघटन

अंग्रेजों की भारत-विजय इस देश पर पहले औरों-द्वारा पाई गई सभी विजयों से भिन्न प्रकार की थी। पहले शासकों के परिवर्तन का अर्थ होता था, लोगों पर राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करनेवाले वंश का परिवर्तन-मात्र। उससे समाज के गठन, उत्पादन-व्यवस्था, धन-सम्पत्ति-विषयक सम्बन्ध अथवा प्रशासन-पद्धति पर प्रभाव नहीं पड़ता था। अंग्रेजी शासन में यह सब बदल गया और ऐसी सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ, जिसने पुरानी परम्पराओं को मिटा दिया और नए सामाजिक वर्गों तथा शक्तियों को जन्म दिया।

भूमि की पट्टेदारी

जिन देशों की अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः कृषि-प्रधान है, वहां लोगों की आय का मुख्य स्रोत भूमि है और वे लोग अपनी उपज का एक भाग, शान्ति और सुव्यवस्था, सुरक्षा और संरक्षण-विषयक सेवाओं के बदले में अपने शासकों को दे देते हैं। भारतीय समाज की पूर्व-पूंजीवादी परिस्थितियों में यह भुगतान गांव और सरकार के बीच उपज के अंश-विभाजन के रूप में होता था। उस समय गांव एक ऐसे सहकारी समुदाय का प्रतीक था, जिसमें सबके काम प्रथा और परम्परा-द्वारा निर्धारित थे और व्यक्ति समुदाय में विलीन था। शासक और ग्रामवासी, दोनों ही मुख्यतः भूमि के उपयोग में दिलचस्पी रखते थे और उनमें से किसी को भी भूमि के स्वामित्व की चिन्ता न थी, क्योंकि बिना जोती गई बंजर भूमि पानी और हवा की तरह निःशुल्क सुलभ थी; उन परिस्थितियों में व्यक्तिगत अधिकार की समस्या प्रायः उठती ही नहीं थी, लगान और राजस्व देना प्रथा बन गया था और कराधान की संकल्पना अनुपस्थित थी। भूमि के उपयोग और उससे होनेवाली उपज के विभाजन पर आधारित सम्बन्ध लोगों के कार्य-कलाप और उनके आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करते थे। इसीलिए समाज का स्वरूप और शासन की पद्धति तथा उसके कार्यों का निर्धारण भी उन्हीं के द्वारा होता था।

कृषिमूलक अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक ढांचा और धन का उत्पादन तथा वितरण भूमि की पट्टेदारी-द्वारा शासित होता है। अपनी आरम्भिक बस्तियां बसाते समय अंग्रेजों ने भारत में भूमि की पट्टेदारी के नए ढंग प्रचलित किए, जिनसे गांवों में आर्थिक तथा सामाजिक सम्बन्धों में क्रान्ति उत्पन्न हो गई।

सन् 1765 में, जब निम्नतर प्रान्तों की दीवानी अर्थात् भूराजस्व-प्रशासन का भार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को सौंपा गया, तब कम्पनी के व्यापारी इस प्रकार के प्रशासनिक कार्य करने के लिए बिल्कुल तैयार न थे। क्लाइव को राजस्व-संग्रह की पुरानी व्यवस्था ही बनाए रखनी पड़ी और उसने यह काम बंगाल के नवाब के डिप्टी दीवान पर छोड़ दिया।

यह तरीका असन्तोषजनक सिद्ध हुआ और वारेन हेस्टिंग्स ने इस प्रेज़िडेंसी का गवर्नर बनने पर सन् 1772 में डिप्टी दीवान से ये अधिकार छीन लिए। इस प्रकार, भूराजस्व की सन्तोषजनक पद्धति खोज निकालने और उसकी अदायगी के लिए उत्तरदायित्व निश्चित कर देने की दिशा में परीक्षण और भूल-सुधार की अवधि का आरम्भ हुआ। विचार-विमर्श के दौरान अनेक सूक्ष्म प्रश्न उठाए गए—उदाहरणार्थ, भारत में कृषि-योग्य भूमि का मालिक किसे माना जाए, सरकार को राजस्व चुकाने के लिए अन्तिम रूप से उत्तरदायी किसे बनाया जाए, भूमि की उपज में सरकार का हिस्सा कितना हो, मुगल-काल के ज़मींदार या लगान-ठेकेदार भूमि के स्वामी हैं या खेतिहरों और सरकार के बीच के बिचौलिये-मात्र ?

वारेन हेस्टिंग्स यह मान कर चला कि समस्त भूमि सम्राट् की है और बिचौलिये ऐसे एजेंण्ट-मात्र हैं, जिन्हें खेतिहरों से लगान वसूल करने के बदले केवल कुछ कमीशन लेने का अधिकार है। इसका नतीजा यह हुआ कि विद्यमान ज़मींदारों को उसी स्थिति में ज़मींदार बने रहने दिया जा सकता था, जब वे भूराजस्व की उतनी रकम देने के लिए तैयार हों, जितनी रकम उस ज़मीन के भूराजस्व की बोली लगानेवाले व्यक्ति खुलेआम देने के लिए तैयार थे। इन नीलामियों में पुराने ज़मींदारों को बोली लगानेवाले नए व्यक्तियों के समान स्तर पर ही रखा गया, ताकि भूराजस्व के रूप में यथासम्भव अधिक रकम वसूल की जा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि बंगाल की अधिकतर भूमि नए लोगों को मिल गई। इस प्रकार, अनेक पुराने ज़मींदार-परिवार अलग हो गए, सरकार और खेती करनेवाले के बीच का पूर्व-स्थापित सम्बन्ध-सूत्र टूट गया और ज़मींदारों तथा उनके काश्तकारों के बीच के पुराने सम्बन्ध बुरी तरह विनष्ट हो गए।

ज़मींदारों की परेशानी इस बात से और भी बढ़ गई कि सरकारी आदेशों के अन्तर्गत राजस्व-संग्रह करनेवाले व्यक्ति अत्यधिक मांग करने लगे और उसकी पूर्ति के लिए कठोर तरीके अपनाने लगे। खेतिहर भी इससे बचे न रह सके, क्योंकि अन्ततः वही अधिक कर-निर्धारण तथा नए किसानों की धन-लिप्सा के शिकार होते थे। इसका फल हुआ, किसानों-द्वारा रैयतों का पूर्णतः निष्कासन और दमन—"कर्तव्यच्युत ज़मींदार, फरार होते किसान और काम से भागते हुए रैयत। यह भारत के ग्रामीण संगठन में पहली दरार थी।

हेस्टिंग्स ने जो कदम उठाए, उनसे उत्पन्न खेदजनक स्थितियों ने भूमि के स्वामित्व-विषयक धारणाओं को सार्वजनिक चर्चा का विषय बना दिया। फिलिप फ्रांसिस ने इस मत का प्रतिपादन किया कि भूमि का वास्तविक स्वामी ज़मींदार है, सम्राट् नहीं। वारेन हेस्टिंग्स ने इसका विरोध किया। इस वाद-विवाद का प्रभाव यह हुआ कि सन् 1777 से 1783 तक ऐसी कुछ नई योजनाएं बनाई गई, जिनके कारण खेतिहर के मूल्य पर ज़मींदार का महत्त्व बढ़ गया। इसके उपरान्त सन् 1793 में कार्नवालिस ने बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त की घोषणा का निश्चय कर लिया।

सन् 1793 के स्थायी बन्दोबस्त के अनुसार ज़मींदार को उसकी जागीर का पूर्ण स्वामी और स्वत्वाधिकारी घोषित कर दिया गया। उसे यह अधिकार दे दिया गया कि सरकार की देनदारियां चुका कर लगान की पूरी रकम अपने पास रख ले। आरम्भ में उसका भाग कम था—वह लगान के केवल ग्यारह प्रतिशत का ही अधिकारी था—

अतः, उसे अपनी आय का अधिकांश सरकार को देना पड़ता था। किन्तु भूराजस्व की सरकारी मांग निर्धारित कर दी जाने पर भी भूस्वामी-द्वारा खेतिहर से लिया जानेवाला लगान अनिश्चित और अनिर्णीत ही रहने दिया गया। इससे ज़मींदार को खेतिहर से यथासम्भव अधिक लगान ऐंठने की सुविधा मिल गई। इस तरह भूमि से आर्थिक किराया वसूल करने के तात्कालिक सरकारी लक्ष्य की सिद्धि हो गई।

लेकिन वास्तव में स्थायी बन्दोबस्त का लाभ सरकार की अपेक्षा ज़मींदार को ही अधिक हुआ, क्योंकि जनसंख्या बढ़ने, खेती का विस्तार होने, कीमतें ऊंची होने और भूमि की कमी होती जाने के कारण ज़मींदार की स्थिति में सुधार हो गया। जागीर का उत्तराधिकारी बनने का अधिकार पाने के लिए उसे पहले की तरह जागीरनामा नहीं भरना पड़ता था और न ही पेशकश या नज़राना भेंट करके उसकी पुष्टि करानी होती थी। किसी अधिकारी की अनुमति लिए बिना वह अपनी भूसम्पत्ति हस्तान्तरित कर सकता था, बेच सकता था, गिरवी रख सकता था, या उपहार के रूप में दे सकता था। उसे मुगल-प्रशासन के उन जटिल विनियमों से मुक्ति मिल गई थी, जिनके अनुसार उसकी सत्ता तो सीमित थी, किन्तु उसे भूराजस्व से भी अधिक रकमें उगाहनी पड़ती थीं तथा सभी वसूलियों और भुगतानों का हिसाब पेश करना होता था। यह अवश्य है कि अंग्रेज़ों-द्वारा बनाए गए ज़मींदारों को सभी राजनीतिक और सरकारी कर्तव्यों से मुक्त रखा गया। अब वह मुगल-काल का सामन्ती कुलीन न रह कर एक छोटा-सा पूंजीपति, एक नया भद्रजन, बन गया।

पुराने लगान-ठेकेदार अंग्रेज़ों की शब्दावली में जागीरों के मालिक या भूस्वामी बन गए, जिन्हें भारत में भूमि-विषयक वही अधिकार प्राप्त थे, जिनका प्रयोग ब्रिटेन में भूस्वामी किया करते थे। मिसाल के तौर पर, भारत में सरकार और लगान-ठेकेदार को उपज का एक भाग ले लेने का अधिकार तो था, पर उन्हें खेतिहर से भूमि छीन लेने या मनमाने ढंग से लगान बढ़ा देने का अधिकार न था। सच तो यह है कि अंग्रेज़ों की भारत-विजय से पहले भूस्वामियों को चुकाए गए लगान और सरकार-द्वारा एकत्र भूराजस्व में देश के किसी भी भाग में अन्तर नहीं किया जाता था। स्थायी बन्दोबस्त ने पुराना सम्बन्ध नष्ट कर दिया और ज़मींदारों को स्वत्वाधिकार दे दिया।

भूस्वामी या ज़मींदार की स्थिति और उसके कार्यों में होनेवाले परिवर्तन ने भारतीय गांवों के सामाजिक-राजनीतिक संगठन पर भी प्रभाव डाला और अन्ततोगत्वा उनकी एकान्तशीलता और आत्मनिर्भरता का अन्त कर दिया। इस परिवर्तन के दो मुख्य परिणाम थे: (1) भूमि का सम्पूर्ण स्वत्वाधिकार तथा उसके हस्तान्तरण का अधिकार एक ऐसे नए धनी-वर्ग को प्राप्त हो जाना, जिसे अपने उन निवेशों से अधिकतम लाभ प्राप्त करने तक के अलावा भूमि में और कोई दिलचस्पी न थी, और (2) जागीरों और जोतों का उपस्वामियों में विभाजन, जिसके कारण भूमि के लिए प्रतियोगिता बढ़ जाने पर मूल भूस्वामी और खेतिहर के बीच लगान उगाहनेवाले दलालों और बिचौलियों की एक शृंखला-सी बन गई।

ये परिवर्तन मुर्शिद कुली खां से आरम्भ हुए थे, जिसने बहुत-से पुराने जागीरदारों और तालुकेदारों को बदल कर उनका स्थान नए किसानों—मुख्यतः हिन्दुओं—को दे दिया। अतः, अंग्रेज़ों की बंगाल-विजय के समय इस प्रान्त के अधिकतर ज़मींदार-परिवार अपना उद्गम केवल उसके शासन के आरम्भिक दिनों तक ही बता सकते थे, यद्यपि

उनमें से कुछ ऐसे भी थे, जो अपनी जागीरों पर सौ-डेढ़ सौ वर्ष पुराने अनवरत अधिकार का दावा कर सकते थे। वारेन हेस्टिंग्स ने अपने भूराजस्व-विषयक वन्दोवस्तों से इस वर्ग की संरचना में और भी क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किए। उसने ज़मींदारियों की नीलामी करके लगान निर्धारित करने का तरीका चलाया। इस तरह के निर्धारणों के वोझ और कर-संग्रह की कठोरता ने इस प्रक्रिया में पूर्णाहुति दे दी। वन्दोवस्त के बाद बाईस वर्षों में यह हुआ कि वंगाल की आधी भू-सम्पत्ति विक्री-द्वारा हस्तान्तरित हो गई और उस भूमि का अधिकांश नए खरीदारों—कलकत्ता के व्यापारी तथा धनिक-वर्गों—के हाथ में चला गया।

इस प्रकार, स्थायी वन्दोवस्त के कारण अस्तित्व में आनेवाली ज़मींदारों की पहली पीढ़ी को चैन का अधिक समय न मिल पाया। कर-निर्धारण का वोझ और विक्री का कठोर नियम उनके लिए अत्यन्त विनाशकारी सिद्ध हुआ। निम्नलिखित आंकड़ों से अंग्रेज़ों के प्रारम्भिक शासन-काल में वंगाल में भूराजस्व की स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है :

		भूराजस्व-निर्धारण
टोडरमल-द्वारा निर्धारित	(1596)	107 लाख रुपये
मुर्शिद कुली खां-द्वारा निर्धारित	(1722)	145 लाख रुपये
अल्ला वर्दी खां-द्वारा निर्धारित	(1755)	186 लाख रुपये
मीर कासिम-द्वारा निर्धारित	(1763)	256 लाख रुपये
कार्नवालिस-द्वारा निर्धारित	(1793)	286 लाख रुपये

इस सारणी की व्याख्या करते समय यह याद रखना आवश्यक है कि नवावों के समय में पूरी निर्धारित रकम प्रायः वसूल नहीं हो पाती थी, एक के वाद दूसरे वर्ष के हिसाब में वड़ी-वड़ी रकमें वकाया चली आती थीं। दूसरी ओर, कम्पनी की वसूलियां कभी भी ढाई प्रतिशत से अधिक वकाया नहीं रहीं। उदाहरण के लिए, "मुगल-एजेण्टों ने सन् 1764-65 में वंगाल में 8,18,000 पौंड का भूराजस्व एकत्र किया था और 1765-66 में, अर्थात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रथम वित्तीय प्रशासन-वर्ष में, यह रकम वढ़ कर 14,70,000 पौंड हो गई थी। सन् 1790-91 तक उसे 28,60,000 पौंड तक वढ़ा दिया गया था और उसी वर्ष एकत्र रकम के आधार पर स्थायी वन्दोबस्त किए गए थे।"[1]

सन् 1793 में ज़मींदारों-द्वारा एकत्र कुल लगान में कम्पनी का भाग 89 प्रतिशत था और उसी रकम में, इंग्लैण्ड में, सरकार शुद्ध (नेट) लगान के 5 से 10 प्रतिशत तक की मांग कर रही थी। वास्तव में, लगान में भारतीय ज़मींदार का भाग इतना कम था कि वह कर-संग्रह-विषयक परेशानियों की क्षतिपूर्ति, सरकारी दायित्वों का निर्वाह और व्यक्तिगत खर्चों की पूर्ति-मात्र कर पाता था।

वसूली के इस तरीके का सवसे वुरा पहलू यह था कि ज़मींदार को समय की सख्त पावन्दी के साथ, निर्धारित दिन को सूरज छिपने से पहले, सरकारी राजस्व अवश्य जमा करा देना होता था। यदि निर्धारित घंटे की टंकार पर अदायगी नहीं हो पाती थी, तो ज़मींदार को अधिकारविहीन कर दिया जाता था और उसकी पूरी या आंशिक जागीर

1. जे० व्योशेम्प, 'व्रिटिश इम्पीरियलिज़्म इन इण्डिया', पृष्ठ 24

ज़ब्त करके सार्वजनिक नीलाम-द्वारा बेच दी जाती थी। इस सम्बन्ध में न तो कोई कारण स्वीकार किया जाता था और न किसी कठिनाई की परवाह की जाती थी। इस तरह, सरकार तो तलवार की धार-द्वारा अपनी प्राप्तव्य रकमें वसूल कर लेती थी, लेकिन ज़मींदार के पास ऐसी कोई ताकत न थी, जिसके बल पर वह खेतिहर से ठीक समय पर वसूली कर लेता। मिदनापुर के कलेक्टर के शब्दों में, "वे सभी (ज़मींदार) कहते हैं कि इस देश में इतना कठोर और कष्टप्रद तरीका पहले कभी नहीं अपनाया गया······जागीर की बिक्री और कुर्की के तरीके ने कुछ ही वर्षों में बंगाल के अधिकतर बड़े-बड़े ज़मींदारों को इतना अधिक निर्धन और भिक्षुक बना दिया है और बंगाल की भू-सम्पत्ति के सम्बन्ध में इतने बड़े परिवर्तन ला दिए हैं, जितना, केवल आन्तरिक विनियोगों के फलस्वरूप, इतने कम समय में पहले कभी तथा किसी देश में नहीं हुआ है।"[1]

स्थायी बन्दोबस्त के पहले कुछ वर्षों में, तत्कालीन ज़मींदारों-द्वारा जागीरों के अन्तरण के मामले चिन्ताजनक स्तर तक जा पहुंचे। सन् 1796 में, एक ही वर्ष में, 28,70,061 रुपये के सूचीबद्ध लगानवाले और तीनों प्रान्तों के एक-तिहाई के बराबर कुल आकार के भूभाग बिक गए।[2] बेडन पावेल के अनुसार, सन् 1796-97 और 1797-98 के दो वर्षों में ही क्रमशः 14 लाख और 22.7 लाख रुपये का राजस्व देने-वाली जागीरें बिक गईं और "उस शताब्दी के अन्त तक नदिया, राजशाही, बिशनपुर और दिनाजपुर के राजाओं की अधिकांश जागीरों का हस्तान्तरण हो गया। बर्दवान की जागीर बहुत कमजोर पड़ गई और बीरभूमि के ज़मींदार पूर्णतया विनष्ट हो गए। छोटी-छोटी और भी अनेक ज़मींदारियों का यही हाल हुआ। वास्तव में, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि स्थायी बन्दोबस्त के तत्काल बाद के दस वर्षों में उन जागीरों की संरचना और स्वामित्व में आमूल परिवर्तन हो गया, जो बन्दोबस्त का मूल विषय थीं।"[3]

इस संकट में ज़मींदारों की सहायता करने के विचार से सरकार ने सन् 1799 के कुख्यात विनियम पारित कर दिए। उस नए कानून ने ज़मींदारों को इस बात के मनमाने अधिकार दे दिए कि वे खेतिहर को बेदखल कर सकते थे, बकाया रकमों की अदायगी न होने पर उसके पशु तथा कृषि-उपकरण बेच सकते थे और उस पर अधिकतम सम्भव दबाव डालने के विचार से उसके विरुद्ध अन्य प्रकार की भी कार्रवाइयां कर सकते थे। सन् 1799 के कानून ने एक ओर असहाय किसानों के शोषण का द्वार खोल दिया और दूसरी ओर लगान-ठेकेदार के जागीर पर पूर्ण स्वत्वाधिकार की पुष्टि कर दी।

स्थायी बन्दोबस्त-द्वारा होनेवाले परिवर्तनों का दूसरा परिणाम था, ज़मींदारी अधिकारों का उपस्वामित्व। यह काम तेजी से हुआ। बंगाल और बिहार के 39 ज़िलों में बीस वर्ष में जागीरों की संख्या बढ़ कर 1,10,456 हो गई। उनमें से 0.4 प्रतिशत जागीरें बड़ी (प्रत्येक 20,000 एकड़ से अधिक की) थीं, 11 प्रतिशत बीच के आकार की

1. 12 फरवरी, 1802 को लिखा गया पत्र, देखिए फर्मिगर, 'फिफ्थ रिपोर्ट', खण्ड 1, पृष्ठ 108

2. मिल, 'हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 367

3. जे० मेकनील, 'मेमोरेंडम आन द रेवेन्यू ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ द लोअर प्राविंसेज आफ बंगाल' (कलकत्ता, 1873), पृष्ठ 9

(500 और 20,000 एकड़ के बीच की) थीं और 88 प्रतिशत छोटी (500 एकड़ से कम की) थीं। इसके विपरीत, इंग्लैण्ड में 2.4 प्रतिशत जागीरें 13 एकड़ के औसत आकार की थीं, 12 प्रतिशत 180 एकड़ की और 85.6 प्रतिशत 4,260 एकड़ की।[1] बीस वर्ष में जागीरों की संख्या पटना डिवीज़न में दुगुनी और तिरहुत डिवीज़न में तिगुनी हो गई।

उपविभाजन की इस प्रवृत्ति को विनियमों ने और बढ़ावा दिया। मुगलों के समय में परिवार का प्रधान व्यक्ति ज़मींदार चुन लिया जाता था। अंग्रेज़ों ने यह तरीका छोड़ दिया और निजी भू-सम्पत्ति की सम्भावना स्वीकार कर ली, जिस पर उत्तराधिकार के भारतीय कानून लागू थे। शीघ्र ही इसका यह नतीजा सामने आया कि सम्पत्ति सह-उत्तराधिकारियों में बंटने लगी। जोतों के छोटा हो जाने और उन पर खेती करना आर्थिक दृष्टि से अलाभकर होने के भय का अनुभव तो सन् 1808 में ही कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने कर लिया था, किन्तु उस समय उसका इलाज कुछ न किया गया। ज़मींदार के छोटे बच्चों को काम पर लगाने का कोई और उपाय न होने के कारण भारत में अग्रजाधिकार को प्रचलित नहीं किया जा सकता था और इसीलिए सम्पत्ति का विभाजन भी नहीं रोका जा सकता था।

यह विभाजन खेतों का ही नहीं, राजस्व-संग्रह-अधिकारियों का भी हुआ। ज़मींदारी के नए अधिकार मूल्यवान सम्पत्ति सिद्ध हो रहे थे और स्थायी बन्दोबस्त के केवल बीस वर्ष बाद ज़मींदार के लाभाधिकार, जो वास्तव में निर्धारित लगान के 11 प्रतिशत से अधिक न थे, करीब 28 वर्ष की खरीद के बराबर मूल्य पर बिकने लग गए थे। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने लिखा : "इसका अर्थ यह निकलता है कि आरम्भ से ज़मींदारों के भत्ते उनकी सामान्य निर्धारित रकमों से बहुत बढ़ गए होंगे, या मनचाही वसूली करने के कारण उनकी परिलब्धियां बढ़ गई होंगी, या बीच की अवधि में देश की कृषि-विषयक सम्पन्नता और भू-सम्पत्ति के मूल्यों में कदाचित् अतुलनीय तेज़ी के साथ वृद्धि हो गई होगी।"[2] कारण चाहे जो रहा हो, वस्तुस्थिति यह है कि उस समय राजस्व-संग्रह-अधिकारों का मूल्य इतना अधिक हो गया, जितना पहले कभी न था और वे एक ऐसी वस्तु बन गए, जिसे खुलेआम आसानी से खरीदा और बेचा जा सकता था। भूमि ने खतिहर के लिए उत्पादन और आजीविका का स्रोत न रह कर सट्टे पर आधारित निवेश और धनी-वर्ग के लाभ-स्रोत का रूप ग्रहण कर लिया। ज़मींदार निश्चित धन लेकर अपना राजस्व-संग्रह-अधिकार एक बिचौलिये (पटनीदार) को सौंप देता था, जो उनका ठेका एक उपकृषक (दर पटनीदार) को दे देता था और उपकृषक अनेक छोटे-छोटे अनुजीवियों के साथ उनका सौदा कर लेता था। इस तरह, लगान उगाहने-वालों की एक शृंखला-सी बन गई और यह बुराई इस हद तक बढ़ गई कि, बताया जाता है, ज़मींदारी-उन्मूलन के समय बंगाल में कुछ जोतों के सम्बन्ध में मूल भूस्वामी

1. एच० ए० डी० फिलिप्स, 'आवर ऐडमिनिस्ट्रेशन आफ इण्डिया' (1886), पृष्ठ 5, पादटिप्पणी, सारणी (प्रतिशत लेखक-द्वारा निकाले गए हैं।)

2. 28 अक्तूबर, 1814 को बंगाल के प्रति लिखा गया राजस्व-विषयक पत्र, पैराग्राफ 39, देखिए, 'सेलेक्शन आफ पेपर्स फ्राम रिकार्ड्स ऐट ईस्ट इण्डिया हाउस' (1820), खण्ड 1, पृष्ठ 166

और वास्तविक खेतिहर के बीच डेढ़-डेढ़ सौ विचौलिये मौजूद थे। प्रत्येक परवर्ती विचौलिया अपने से अगले व्यक्ति को चूसने में कसर न उठा रखता था और यह सारा भार अन्त में खेतिहर पर आकर पड़ता था।

सम्पत्ति-विषयक सम्बन्धों में होनेवाला यह क्रान्तिकारी परिवर्तन इस देश के लिए अत्यन्त प्रभावपूर्ण रहा। उसमें दो नए सामाजिक वर्ग अस्तित्व में आए : (1) धनी भूस्वामी, जो धन को ऐसी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझते थे, जिसका उपयोग अधिकतम आर्थिक लाभ के लिए किया जा सकता था, और (2) अधिकारच्युत खेतिहर, जिनके पास जीविका कमाने के लिए मेहनत वेचने के अलावा और कुछ न रह गया था।

सभी विचौलिये भी धनवान नहीं थे। उगाही में प्रत्येक का भाग मामूली था और जहां तक आय का सम्बन्ध है, उनकी आर्थिक स्थिति खेतिहर से कुछ ही बेहतर थी। इस तरह उप-स्वत्वाधिकार की प्रक्रिया ने जमींदार, विचौलिये और खेतिहर, तीनों को समान स्तर पर पहुंचा दिया था। इस स्थिति पर विचार व्यक्त करते हुए सर एच० स्ट्रेशी ने कहा है, "हमने चुपचाप सव-कुछ वदल दिया है। विनियमों की सवको वरावर करनेवाली ताकत ने किसान, जमींदार और गुमाश्ता, सभी को वहुत हद तक समान स्तर पर पहुंचा दिया है।"[1]

इसके फलस्वरूप उक्त दोनों वर्गों के वीच स्वार्थों का टकराव उत्पन्न हो गया। इससे भी वड़ी वात यह थी कि उन दोनों के वीच समान वात कुछ भी न थी। नए भूस्वामियों में अधिकतर वे व्यवसायी लोग थे, जिन्होंने अपनी फालतू रकमों के लाभदायक निवेश के लिए वे जमीनें खरीदी थीं। उन्हें खेती से सम्बन्धित वातों की जानकारी विल्कुल न थी और कृषि-सुधार-कार्य में भी उन्हें कोई दिलचस्पी न थी। ये काम तो उस खेतिहर पर छोड़ दिए गए थे, जिसके पास उन्हें पूरा करने के न साधन थे, न समझ थी और न इच्छा।

यूरोप में उद्यमी भूस्वामियों-द्वारा किए गए निवेशों और भूमि-सुधारों ने कृषि में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिखाए थे। भारत में भूस्वामी लगान वसूल करनेवाले कार्यविरत व्यवसायी थे, जो कृषि-सुधारों की अपेक्षा अपने लाभ की चिन्ता अधिक करते थे। ग्रामीण जनता के सहज नेता वनने के स्थान पर कम्पनी के समय में भारत के भूस्वामियों ने विदेशी राजनीतिक शक्ति के दलालों की भांति काम किया। सरकार को भूराजस्व के रूप में नियमित रूप से एक निश्चित रकम देते रहने की गारण्टी देकर उन्होंने इस वात का अधिकार खरीद लिया कि वे राजनीतिक दृष्टि से असहाय और आर्थिक दृष्टि से कमजोर किसान से चाहे जो ऐंठ सकते हैं।[2] प्राचीन काल में भारत में

---

1. मिल, 'हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया', खण्ड 5, पृष्ठ 371-72

2. सरकारी राजस्व निश्चित रूप से प्राप्त करने के विचार से ही भारत में भूमि को निजी सम्पत्ति वनाने की प्रथा और एक नए भूस्वामी-वर्ग को जन्म दिया गया, इसकी पुष्टि अधीनता स्वीकार कर लेनेवाले जिलों के प्रमुख कलेक्टर, टामस मुनरो, के निम्नलिखित वक्तव्य से हो जाती है (देखिए, 15 अगस्त, 1807 को लिखे गए पत्र का दूसरा पैराग्राफ ; फोर्ट सेंट जार्ज में 4 फरवरी, 1808 को हुई राजस्व-मण्डल की वैठक की कार्यवाही का सार ; 'सेलेक्शन आफ पेपर्स फ्राम द रिकार्ड्स ऐट ईस्ट इण्डिया हाउस', खण्ड 1, 1820, पृष्ठ 94-95) :

किसान, मज़दूर, खेतिहर और भूस्वामी, तीनों के रूप में काम किया करता था; अंग्रेज़ों की भूराजस्व-पद्धति ने उसके श्रमिक तथा खेतिहर-रूपों को भूस्वामी-रूप से अलग करके शोषित और शोषक नामक दो वर्ग उत्पन्न कर दिए।

किसानों का शोषण और खेती का पिछड़ापन

नए विनियमों का एक बहुत बुरा परिणाम यह हुआ कि खेतिहर को अकथनीय कष्टों से ग्रस्त होना पड़ा। नए भूस्वामी पुराने ज़मींदारों-जैसे न थे। गांव से उनका कोई सहज सम्बन्ध न था। वे तो उस लाभांशभोगी-वर्ग के लोग थे, जिनकी एक-मात्र रुचि अपने निवेशों पर मुनाफा कमाने में थी। अपने रैयतों के प्रति उनका व्यवहार अन्यायपूर्ण था। एक ही बार में उन्होंने दखल का वह अधिकार किसानों से छीन लिया, जो उन्हें परम्परा से प्राप्त था, उन्हें इच्छाधीन लगानदारों के स्तर पर ला पटका और उन्हें बेदखली और लगान के शिकंजे में कस दिया। ज़मीन की उपज का सम्पूर्ण अधिशेष वे स्वयं हड़प जाते थे और लगानदारों के पास इतना अंश छोड देते थे, जिससे उनके प्राण-भर बचे रह सकें।

संक्षेप में, कार्नवालिस ने जो तरीका चलाया, उससे भूमि पाश्चात्य अर्थ में सम्पत्ति बनने लगी। जागीरों की बिक्री जल्दी-जल्दी होने के कारण भूमि-विषयक प्राचीन विभक्त भूमि-अधिकार ऐसी पण्य वस्तु बन गए, जिसे लोग निजी तौर पर अपने ही स्वामित्व में रख सकते थे; किन्तु, जागीरों के ये नए मालिक अब ऐसे लोग नहीं रहे थे, जिनके हित उनके गांवों तथा उनके रैयत के हितों से जुड़े थे। इन जागीरों के बहुत-से खरीदार तो नगरों में रहनेवाले ऐसी दूरवासी भूस्वामी थे, जो अपनी जागीरों तक कभी आते ही न थे और जिनके एजेण्ट लगानदारों की जीवनचर्या में सहभागी न थे।

साहूकार और रैयतवारी-बन्दोबस्त

मद्रास और बम्बई, दोनों स्थानों पर रैयतवारी-बन्दोबस्त लागू करने के परिणाम समान रूप से क्रान्तिकारी थे। केवल ज़मींदार के स्थान पर किसान ज़मीन का मालिक बन गया। भूमि को निजी सम्पत्ति के रूप में स्वीकार कर लेने पर उसे ज़मीन पट्टे पर देने, गिरवी रखने और बेचने के वे अधिकार मिल गए, जो पहले उसे प्राप्त न थे या जो बहुत ही सीमित थे। दुर्भाग्यवश, उन मूल्यवान अधिकारों की उपलब्धि भी उसकी दशा सुधारने में असमर्थ रही, क्योंकि सरकार ने उस पर ऐसी भारी मांगों का बोझ

"यह निर्धारित कर सकना कुछ कठिन है कि भूमि की कुल या शुद्ध उपज का कितना अंश भूमिधारी का बना दिया जाए, जिससे भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा बिक्री-योग्य हो जाए और इस तरह वह सरकारी लगान की ज़मानत का रूप ले सके। ज़मीन के मालिक यदि व्यक्तिगत रूप से कभी भारत में सरकारी राजस्व चुकाते रहे होते, तो लगान की वर्तमान मांग का नियन्त्रण करने के लिए उसी अंश को आधार बना दिया जाता, जो उस समय सम्राट् को प्राप्त हुआ होता, लेकिन इससे अधिक साफ बात और कुछ नहीं है कि मालाबार के समुद्र-तट को छोड़ कर भारत में और कहीं व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति का अस्तित्व कभी रहा ही नहीं है।"

डाल दिया कि उसका अपना प्रतिफल बहुत कम रह गया। अतः सबसे पहली बात तो यह हुई कि भू-सम्पत्ति का मूल्य उस सीमा तक गिर गया, जिस मूल्य पर उसे बाज़ार में ख़रीदने से कोई लाभ न रहा।

लेकिन जल्दी ही सरकार को यह अनुभव हो गया कि बहुत अधिक लगान लगाना मूर्खता है। अतः, उसने लगान घटाने की प्रक्रिया आरम्भ की। इस तरह, अन्ततोगत्वा भूमिधारी को, सरकारी राजस्व चुकाने के बाद, कुछ लगान बचने लगा। फलतः ज़मीन के मूल्य तुरन्त बढ़ने लगे और भू-सम्पत्ति से लाभ दिखाई पड़ने के कारण निवेशक इस ओर आकृष्ट होने लगे। बंगाल में धनी-वर्ग ने सीधे तौर पर ज़मींदारी-अधिकार ख़रीद लिए। बम्बई और मद्रास में खेतिहर को निकाल बाहर करना उपयुक्त न था, अतः, साहूकार ने क़र्ज़ों के द्वारा ज़मीनों और फसलों पर अपना कब्ज़ा कर लिया। यह इसलिए सम्भव हुआ कि राजस्व-संग्रह-विषयक सख़्ती के कारण खेतिहर को ख़राब फसल के वर्ष में भी सरकार को लगान चुकाना पड़ता था। खेतिहर के अज्ञान और अदूरदर्शिता से लाभ उठा कर साहूकार ने उसे ऐसी शर्तों पर ऋण की सुविधाएं प्रदान कर दीं, जिनके कारण वह कभी ऋणमुक्त नहीं हो सकता था।

किसान जैसे ही एक बार चंगुल में फंसता था, साहूकार अपनी सारी छल-चातुरी उसे अपने जाल में फंसाए रखने में लगा देता था। ब्याज की दरें इतनी ऊंची रखी जाती थीं कि किसान अधिक-से-अधिक अपने ऋण का ब्याज चुका सकता था, क्योंकि कम तथा घटती-बढ़ती आमदनी होने के कारण मूलधन चुका पाना तो प्रायः उसके वश की बात नहीं थी। यदि कोई कर्ज़दार असाधारण उद्यम और सूझ-बूझ के बल पर ऋण चुका कर अपने को मुक्त करने का प्रयत्न करता भी था, तो उसे ऐसा करने नहीं दिया जाता था, क्योंकि उसका हिसाब कुछ ऐसे ढंग से रखा जाता था और नकली कागज-पत्र तैयार कर लिए जाते थे कि जिस चाल से कर्ज़दार अपना कर्ज़ चुकाता था, उससे कहीं अधिक तेज़ी के साथ ब्याज की बकाया रकमें बढ़ती जाती थीं। ऐसी दशा में किसान अपने को असहाय पाता था, क्योंकि ऐसा कोई स्थान न था, जहां उसे आश्रय मिल जाता। यह सत्य है कि वह अदालत का द्वार खटखटा सकता था, लेकिन अंग्रेज़ों-द्वारा चलाई गई न्याय-पद्धति में उसके लिए अपने लेनदार पर सफलता पा सकना असम्भवप्राय था। बहुत समय तक चलनेवाला मुकदमा लड़ने के साधन उसके पास न थे और यदि वह ऐसा दुस्साहस कर भी लेता था, तो ऐसे कागज-पत्र उसके आड़े आ जाते थे, जिन पर अंगूठा तो उसी का लगा होता था, किन्तु जिन पर लिखी बातों से वह प्रायः अनभिज्ञ ही होता था। ब्रिटिश न्याय-पद्धति में डूबी अदालतें उन्हीं कागज-पत्रों तथा साहूकार की खाता-पुस्तकों को ऋण का वैध प्रमाण मान लेती थीं और उन झूठी गवाहियों पर ही खेतिहर के खिलाफ़ फैसला सुना देती थीं, जो लेनदार अदालत के सामने पेश करता था। यदि किसान अदालती कार्रवाई नहीं करता था, तो साहूकार उसकी उपज पर अपना पूर्वाधिकार स्थापित कर लेता था, जिसे वह देनदार से बाजार-भाव से कम कीमत पर खरीद लेता था। दूसरी ओर, यदि किसान अदालती कार्रवाई करता था, तो साहूकार का ऋण चुका देने के लिए उसे अपनी जोत से ही हाथ धोना पड़ता था। ज़मींदारी-व्यवस्था ने भू-स्वामियों (लगान-ठेकेदारों) और लगानदारों के आपसी सम्बन्धों में क्रान्ति उपस्थित की थी; रैयतवारी-व्यवस्था ने लेनदार और देनदार के आपसी सम्बन्धों में क्रान्ति उत्पन्न

कर दी और इस तरह ग्रामीण समाज में एक और लोलुप तथा शोषक तत्व का जन्म हो गया।

उसी समय से इन दोनों वर्गों—साहूकार और किसान—के बीच एक शाश्वत संघर्ष आरम्भ हो गया और साहूकार किसान की मेहनत के वार्षिक फल का अधिकांश हड़प लेने का प्रयत्न करने लगा। अंग्रेज़ी नियमों तथा अंग्रेज़ी कानूनों[1] की सहायता पाकर साहूकार ने अपने इस उद्देश्य की पूर्ति सरलता से कर ली। जैसा कि कैप्टेन

---

1. बम्बई के राजस्व-सर्वेक्षण-आयुक्त, कैप्टेन विनगेट, ने यह स्पष्ट करके कि अंग्रेज़ी शासन के अन्तर्गत किस तरह दक्कन में किसानों के ऋणों में वृद्धि हुई, लेनदारों और देनदारों के बिगड़ते हुए सम्बन्धों की समस्या के प्रति उल्लेखनीय दूरदर्शिता प्रकट की (देखिए, 24 सितम्बर, 1852 को कैप्टेन जी० विनगेट-द्वारा बम्बई की सदर दीवानी अदालत के रजिस्ट्रार के नाम लिखा गया पत्र, संख्या 319) : "अस्तु, यह मानना होगा कि व्यावहारिक रूप से मराठों के समय में लेनदार और देनदार के आपसी सम्बन्ध ऋणों की अदायगी के लिए किसी तरह के कानूनी उपायों की सहायता के बिना ही निर्धारित होते थे। ऋणदाता मुख्यतः ऋणी की ईमानदारी और सद्भावना पर ही भरोसा करता था। अतः, सम्पत्ति की जमानत के बिना—उदाहरणार्थ गहने, आदि रहन रखाए बिना, या ज़मीन, मकान या खड़ी फसलें गिरवी रखाए बिना—बहुत ही कम ऋण दिए जाते थे। कृषि-प्रधान गांवों में साहूकार और किसानों के सम्बन्ध आपसी हित तथा विश्वास पर आधारित थे। बनिया उतनी रकम किसान को उधार दे देता था, जितनी वह जानता था कि किसान लौटा सकेगा और लौटा देगा, उससे अधिक नहीं। और, वह उस दर से अधिक ब्याज भी नहीं लेता था, जिसका समर्थन प्रथा या लोकमत-द्वारा हो जाता था। यदि बनिया ब्याज की इतनी ऊंची दर का आग्रह करता, जो उचित न मानी जा सकती हो, तो यह सम्भव नहीं था कि उसके देनदार बराबर नियमित रूप से अपनी किस्तें चुकाते रहते और उन्हें इसके लिए बाध्य करने के कोई साधन उसके पास सुलभ नहीं थे। ऐसी परिस्थितियों में गांव का साहूकार और उसकी रैयत मेल-मिलाप के साथ रहा करते थे, दोनों सुख तथा दुख में सहभागी थे।

"हमारी व्यवस्था ने इस सुखप्रद और परस्पर-हितकर वस्तुस्थिति को बिलकुल उलट दिया है। अब गांव के साहूकार की सम्पन्नता के लिए रैयत की सम्पन्नता अनिवार्य नहीं रही। साहूकार को रैयत की ईमानदारी और सद्भावना पर भरोसा करने की आवश्यकता ही नहीं रही। आपसी भरोसे और सदाशय का स्थान पारस्परिक अविश्वास और घृणा ने ले लिया है। कर्ज़दार और उसके धन पर पूरा अधिकार प्राप्त करने के लिए साहूकार को अब अदालती कार्रवाई का सहज सुलभ अस्त्र प्राप्त है। साहूकार का हित इसी बात में है कि वह किसान को कभी दूर न हो सकनेवाली ऋणग्रस्तता में जकड़ दे, ताकि वह उसे प्राणरक्षा-मात्र के साधन देकर उसकी मेहनत का सारा प्रतिफल स्वयं हथिया सके। ऐसा करने में उसके लिए कोई कठिनाई नहीं है। जब तक रैयत किसी तरह के अपव्यय का शिकार नहीं होता; तब तक साहूकार उसे ऋण की रकम की वापसी की चिन्ता से भी मुक्त रख कर उसे अपव्यय के साधन सुलभ करने के लिए तत्पर रहता है। ऐसी दशा में ऋण चाहे जब तक टाला जा सकता है और कर्ज़दार चाहे जितने समय बाद उसे चुका सकता है। भोला-भाला और विवेकहीन किसान

विनगेट ने सन् 1852 में कहा था : "ऋणी और ऋणदाता के बीच का यह दुर्भाग्य-पूर्ण संघर्ष दोनों के पतन का कारण बन रहा है·····यह सोचना खेदजनक तो है, पर इस सत्य को छिपाना भी दुर्बलता होगी कि वर्गों की यह शत्रुता और लोगों का यह पतन, जो तेज़ी के साथ देश में फैल रहा है, हमारे कानूनों और हमारे शासन का परिणाम है। केवल कुछ व्यक्तियों को धनवान बनाने के लिए जनसमुदाय को निर्धन तथा भ्रष्ट बनाने की यह प्रक्रिया कुछ ज़िलों में शोचनीय ढंग से बढ़ चुकी है और सभी ज़िलों में फैलती जा रही है और जहां तक मेरा विचार है, इस बुराई का स्पष्ट कारण है वह अत्यधिक शक्ति, जो कानून ने ऋणदाताओं के हाथ में सौंप दी है।" जहां तक साहूकारों का सम्बन्ध है, कैप्टेन विनगेट ने आगे चल कर यह पुष्टि की है कि "निचले दर्जे के सूदखोरों का एक ऐसा वर्ग पनप रहा है, जो थोड़े समय के लिए थोड़ी-थोड़ी रकमें बहुत अधिक ब्याज पर अत्यन्त निम्न वर्ग के उन लोगों को दे देता है; जिनकी साख इतनी नहीं है कि वे गांव के अधिक प्रतिष्ठित साहूकारों से रुपया उधार ले सकें।"[1]

दक्कन के कुछ ज़िलों और उत्तर-भारत में पहले के बन्दोबस्त-अधिकारियों ने महालवारी-बन्दोबस्त (या संयुक्त ग्राम-व्यवस्था) चलाया था। इस तरह का बन्दोबस्त इस देश की प्राचीन प्रथा के अनुकूल था। परन्तु, आरम्भ से ही इस तरह की व्यवस्था के बारे में यह विचार रहा था कि इसे संक्रान्तिकालीन माना जाए और अन्त में इसके स्थान पर रैयतवारी-प्रथा लागू कर दी जाए। जैसा कि मद्रास के राजस्व-मण्डल ने सन् 1818 में कहा था, "वैसे तो गांव के बन्दोबस्त का आरम्भ प्रत्येक गांव पर लगान की निश्चित रकम निर्धारित करके तथा गांव की भूमि सामूहिक रूप से लोगों को या गांव के मुखिया को सौंप कर ही किया गया था, लेकिन उसमें क्रमिक उपविभाजन और वितरण का विचार स्पष्टतः निहित था। इस वितरण का प्रभाव प्रत्येक खेत पर नहीं, अपितु प्रत्येक रैयत की पूरी जमीनों पर होना था और इसके परिणामस्वरूप उन सभी स्थानों पर सामूहिक बन्दोबस्त को व्यक्तिगत बन्दोबस्त का रूप दिया जाना अभीष्ट था, जहां ग्राम-समाज के हित इस परिवर्तन की अनुमति देते हों। इस तरह ग्राम-व्यवस्था में रैयतवारी-बन्दोबस्त का एक प्रमुख लाभ शामिल कर लिया गया था, लेकिन यह तरीका न तो एकदम लागू किया जाना था, और न सब जगह। लोगों को एक ऐसी व्यवस्था

आसानी से इस जाल में फंस जाता है और उसे अपनी मूर्खता का पता तब लगता है, जब वह अच्छी तरह फंदे से फंस जाता है और उससे निकलना असम्भव हो जाता है। उसी दिन से वह ऋणदाता का क्रीत दास बन जाता है। ऋणदाता इस बात का ध्यान रखता है कि उसे कभी-कभी अपने ऋण का ब्याज कम कर देने से अधिक कुछ न करना पड़े। निर्धन किसान चाहे लाख कोशिश करे, वह मूल धन कभी नहीं चुका पाता। बस, वह दूसरों को आराम देने के लिए परिश्रम करता रहता है, दूसरों को फल खिलाने के लिए पेड़ लगाता रहता है।" (देखिए, 'डेक्कन रैयत्स कमीशन रिपोर्ट', खण्ड 2, पृष्ठ 87-88)

1. बम्बई की सदर दीवानी अदालत के रजिस्ट्रार के नाम 24 सितम्बर, 1852 को लिखा गया पत्र, संख्या 319—देखिए, 'डेक्कन रैयत्स कमीशन रिपोर्ट', खण्ड 2, पृष्ठ 88-89

अपनाने का कष्ट देना अभीष्ट नहीं था, जो सूक्ष्मतः चाहे कितनी भी उचित क्यों न हो किन्तु अधिकतर मामलों में ज़मीन की पट्टेदारियों, प्राचीन परम्पराओं और वहां के वासियों की परिस्थितियों से मेल नहीं खाती थी। यह आशा की गई थी कि जैसे-जैसे लोगों के साधन बढ़ेंगे, वैसे-वैसे इस व्यवस्था की कठिनाइयां दूर होती जाएंगी और इसीलिए संग्राहकों को इस व्यवस्था के प्रचलन की अपेक्षा इसके प्रोत्साहन का भार ही अधिक सौंपा गया था।"[1]

भारतीय मध्यम वर्ग का उदय

रैयतवारी-व्यवस्था का जो राजनीतिक परिणाम अभीष्ट था, उसे सर्वश्रेष्ठ ढंग से ठैकरे के शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस पद्धति का समर्थन करते हुए उसने कहा था : "चूंकि हम भारतीय मामलों को प्रायः अंग्रेजी आंखों से देखते हैं, और भारतीय प्रथाओं में यूरोपीय मान्यताओं का समावेश कर देते हैं, इसलिए ओहदों की उस घट-बढ़ के बारे में या दूसरे शब्दों में परिस्थितियों की उस असमानता के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है, जिसे कुछ लोग सुव्यवस्थित समाज के लिए आवश्यक मानते हैं।......

"अतः, भू-सम्पत्ति के सम्बन्ध में स्थितियों की यह समानता, भूस्वामियों के बीच भूमि का यह सामान्य वितरण यदि कृषि-विषयक सुधार के अधिकतम अनुकूल नहीं रहता, तो सम्पत्ति, आचार-व्यवहार और परम्पराओं की उस स्थिति में सुधार करने के लिए अधिकतम अनुकूल सिद्ध होता है, जो इस समय भारत में मौजूद हैं। ऐसे देश की स्थिति में तो यह और भी अधिक अनुकूल रहता है, जिस पर कुछ गिने-चुने अजनबियों का शासन होता है और जहां अहंकार, उच्च विचार और महत्त्वाकांक्षापूर्ण भावनाओं का दमन करना पड़ता है। यह सर्वथा उचित है कि इंग्लैण्ड में भूमि की उपज का काफी बड़ा भाग राज्य की सेवा तथा रक्षा के लिए राजसभासद, संत तथा वीर सैनिक उत्पन्न करने के हेतु कुछ सम्पन्न परिवारों के पालन-पोषण के लिए अलग रख दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, लगान का वह बड़ा भाग उन सम्पन्न कुलीनों तथा सभ्यजनों के लिए निर्धारित कर दिया जाता है, जिन्हें संसद्, स्थलसेना, जलसेना तथा वैज्ञानिक एवं सभ्यजनोचित व्यवसायों के विभिन्न विभागों में रह कर अपने देश की सेवा करनी होती है। इस लगान के उपभोग से उन्हें जो आराम, आज़ादी और उच्चाधिकार प्राप्त हुए हैं, उनसे वे ब्रिटेन को गौरव के सर्वोच्च शिखर पर आसीन करने में समर्थ हुए हैं। हमारी कामना है कि वे सदैव उसका उपभोग करते रहें। किन्तु भारत में उस उग्र प्रकृति, स्वच्छन्दता और चिन्तनशीलता का दमन आवश्यक है, जो कभी-कभी धन की उपलब्धि से उत्पन्न हो जाती है। वे हमारी शक्ति तथा हितों के सर्वथा प्रतिकूल ठहरती हैं। प्रस्तुत वस्तुस्थिति के स्वरूप और इस दिशा में प्राप्त सभी सरकारों के अनुभव के कारण इस विषय में अधिक विस्तार से कुछ कहना अनावश्यक है। यहां हमें न तो सेनानायकों की आवश्यकता है, न राजमर्मज्ञों की और न विधिकारों की; हमें तो परिश्रमी किसानों की आवश्यकता है।......अतः

1. दिनांक 5 जनवरी, 1918 का कार्य-विवरण, पैराग्राफ 286—देखिए, 'सेलेक्शन आफ पेपर्स फ्राम द रेकार्ड्स ऐट ईस्ट इण्डिया हाउस' (1820), खण्ड 1, पृष्ठ 946

राजनीतिक दृष्टि से विचार करने पर, सरलता से सरकार के विरुद्ध संगठित न हो सकनेवाले अनेक छोटे मालिकों में ज़मीन का सामान्य वितरण एक महत्त्वपूर्ण बात है।"[1]

जैसा कि ठैकरे ने लिखा है, अंग्रेज़ों की यह इच्छा न थी कि एक ऐसे वर्ग को जन्म या प्रोत्साहन दिया जाए, जिससे राज्य की रक्षा के लिए "राजसभासद, संत तथा वीर" उपलब्ध हो सकें। किन्तु कानून सदा अपने निर्माताओं की इच्छा के अनुसार ही काम नहीं करते। अंग्रेज़ी शासन ने भूमि तथा नागरिक जीवन से सम्बन्धित नए कानून अपना कर एक ऐसे सामाजिक वर्ग को जन्म दे दिया, जिसने अन्ततोगत्वा उसी शक्ति का अन्त कर दिया, जिसने उसे पैदा किया था।

अस्तु, प्राचीन कृषि-व्यवस्था के विघटन तथा एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के सृजन का दायित्व अंग्रेज़ों-द्वारा प्रचलित भूमि-विषयक कानूनों पर ही रहा। लगान उगाहने वाले नए भूस्वामी, साहूकार और वणिक्-व्यापारी ही उस नवीन मध्यम वर्ग के उद्गम-केन्द्र सिद्ध हुए, जिसका उदय उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। उन्होंने तथा परम्परागत रूप से अध्ययन-अध्यापन और सरकारी सेवाओं में लगी जाति के लोगों ने सबसे पहले अंग्रेज़ी शिक्षा का लाभ प्राप्त किया। उन्नीसवीं शताब्दी के वकील, अध्यापक, असैनिक कर्मचारी, व्यापारी और उद्योगपति इसी वैविध्यपूर्ण शिक्षित-वर्ग से उत्पन्न हुए। वही लोग देश के वे बुद्धिजीवी थे, जिन्होंने पूर्व और पश्चिम के बीच सम्बन्ध-सूत्र का काम किया और भारतीयों को राजनीतिक नेतृत्व प्रदान किया। उन्हीं की आशा-आकांक्षाएं भारत की आशा-आकांक्षाएँ बनीं।

दूसरी ओर, उन अधिकारच्युत खेतिहरों, ग्रामीण कारीगरों और नौकर-चाकरों ने भूमिहीन मज़दूर-वर्ग—देश के श्रमजीवी-वर्ग—का निर्माण किया, जिन्हें ग्रामीण समाजों का ह्रास होने और वर्गों के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्धारण में प्रथा के स्थान पर होड़ का प्रचलन हो जाने के कारण, कृषक-समाज से परम्परागत सम्बन्ध छोड़ देने पड़े थे। कार्ल मार्क्स के मतानुसार, "उत्पादन के स्वरूप और स्थितियां सामाजिक संरचना की मूल निर्धारक हैं और सामाजिक संरचना प्रवृत्तियों, कार्य-कलाप और सभ्यताओं को जन्म देती है।"[2] लेकिन भारत में सम्पत्ति-विषयक सम्बन्ध में होने वाला परिवर्तन 'सामाजिक क्रान्ति' का कारण बना।[3]

अतः, ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय मध्यम वर्ग की उत्पत्ति पश्चिम के मध्यम वर्ग से भिन्न प्रकार से हुई। पश्चिम में मध्यम वर्ग में मुख्यतः व्यापारी और उद्योगपति थे तथा उनमें बुद्धिजीवी तथा पाण्डित्य-प्रधान व्यवसायवाले व्यक्ति भी शामिल थे। वे लोग अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर तो नहीं थे, पर उनमें से कुछ

---

1. मालाबार, कनारा और अधीनता स्वीकार कर लेनेवाले ज़िलों के बारे में श्री ठैकरे की रिपोर्ट, दिनांक 4 अगस्त, 1807; देखिए, फर्मिंगर, 'फिफ्थ रिपोर्ट', खण्ड 3, पृष्ठ 575-76

2. देखिए, शुम्पीटर, 'कैपिटलिज़्म, सोशलिज़्म ऐण्ड डेमोक्रेसी' (दूसरा संस्करण, 1947), पृष्ठ 12

3. कार्ल मार्क्स, 10 जून, 1853 के 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' में प्रकाशित लेख 'ब्रिटिश रूल इन इण्डिया', मार्क्स एंजेल्स, 'सेलेक्टेड वर्क्स', खण्ड 1 (मास्को-संस्करण), पृष्ठ 317

लोग अपनी प्रतिष्ठा तथा लाभ के लिए जागीरें भी खरीद सकते थे। इसके विपरीत, भारत में मध्यम वर्ग का मूल देश की कृषि-व्यवस्था में निहित था और वह प्रधानतः कृषि-उद्योग के फल पर ही जीवित था। जहां तक किसानों के शोषण का सम्बन्ध था, उस नए वर्ग ने शासन-सत्ता का समर्थन किया और वह उसके आश्रित अभिकरण के रूप में सेवा करके सन्तुष्ट रहा।

ब्रिटिश शासन के आरम्भिक वर्षों, उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक की अवधि, की उल्लेखनीय बात थी, ब्रिटिश शासकों तथा धनवानों—भूस्वामियों, व्यापारियों और साहूकारों—की परस्पर-सहयोग-भावना। परन्तु यह सहयोग दीर्घजीवी न हो सका। इस वर्ग की स्वाभाविक इच्छा यह थी कि वाणिज्य, उद्योग और असैनिक सेवाओं के क्षेत्र में आगे बढ़ने के अवसरों की खोज की जाए, पर इस दिशा में उसे ब्रिटेन के उन मध्यम वर्गों के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा, जो भारत में ब्रिटिश शासन को आधार प्रदान करनेवाली मुख्य शक्ति थे। भारत का स्वाधीनता-संग्राम दोनों देशों के उन मध्यम वर्गों के बीच के संघर्ष का प्रतीक था, जिनमें से एक धन तथा प्रभाव का आकांक्षी था और दूसरे को वे पहले से ही प्राप्त थे।

यूरोपीय मध्यम वर्ग की भांति भारतीय मध्यम वर्ग भी मुनाफे की भावना से अनुप्राणित था। परन्तु उस लक्ष्य की प्राप्ति में व्यापार तथा व्यवसाय-विषयक ब्रिटिश एकाधिकार और औद्योगिक विकास के लिए उपयुक्त उपायों और स्थितियों के अभाव ने वाधा डाली। वह मुख्यतः शहरी हितोंवाला शहरी वर्ग था। उन लोगों के हृदय में पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्ति की प्यास, सरकारी नौकरियों की चाह और पाण्डित्यपूर्ण व्यवसायों के प्रति लगन पैदा हो गई। उस वर्ग ने अपने शासकों के पाश्चात्य तौर-तरीकों, प्रथाओं और चाल-ढाल का अन्धानुकरण किया, पर उसे न तो शासकों का आदर-भाव प्राप्त था और न ही उस ग्रामीण जनता का प्रेम, जिसके कल्याण और उन्नति के लिए उसने कुछ भी नहीं किया। फिर भी, उसी वर्ग ने वह शक्ति सुलभ की, जिसने प्रथा-रूपी पिण्ड को चूर कर दिया। उसी में से उन पढ़े-लिखे लोगों की पल्टन तैयार हुई, जो भारत के मुक्ति-आन्दोलन के अगुआ बने। यह बात अवश्य है कि अंग्रेजों-द्वारा आरम्भ किए गए भूमि-विषयक कानूनों का यह सर्वथा अप्रत्याशित परिणाम था।

ग्राम-समाजों का विघटन

अंग्रेजों-द्वारा भारत में आरम्भ की गई भूराजस्व-व्यवस्थाओं के प्रचलन और सभी वैधानिक तथा प्रशासनिक कामों का भार सरकारी अधिकारियों-द्वारा ग्रहण कर लिए जाने के कारण पुराने विचौलियों—ज़मींदारों और किसानों तथा ग्राम-पंचायतों—की शक्तियों का नाश हो गया। परिणामतः वह प्राचीन सामाजिक ढांचा छिन्न-भिन्न हो गया, जिसमें इस देश का कृषक-समाज शताब्दियों से रहा था। बाद के प्रशासकों ने इस स्थिति को नापसन्द किया और सर चार्ल्स मेटकाफ ने अपने प्रसिद्ध 'मिनट' में उत्तर-भारत में ग्राम-समाजों के संरक्षण की ज़ोरदार शब्दों में वकालत की। उसने लिखा: "ग्राम-समाज छोटे-छोटे गणराज्य हैं, जिनमें लगभग ऐसी प्रत्येक वस्तु है, जो वे चाहते हैं, और वे प्रायः किसी भी प्रकार के विदेशी

सम्बन्ध-सम्पर्क से भी मुक्त हैं····वे तो वहां भी बने रहते जान पड़ते हैं, जहां और कुछ बना नहीं रह पाता।" उसने यह भी कहा: "मैं समझता हूं कि उन ग्राम-समाजों की एकता ने, जिनमें से प्रत्येक ने अपने भीतर ही मानो एक छोटा-सा पृथक् राज्य बना लिया था, किसी और साधन की अपेक्षा उन सब क्रान्तियों और परिवर्तनों के बीच भारत के लोगों की रक्षा कहीं अधिक की है, जिनका सामना उन्हें करना पड़ा है, और यह एकता उनकी प्रसन्नता और बहुत हद तक उनकी स्वाधीनता-स्वतन्त्रता के आनन्दोपभोग का भी कारण रही है। अतः, मैं चाहता हूं कि गांवों की संरचना में कभी कोई फेर-बदल न किया जाए। उस संरचना में तोड़-फोड़ करनेवाली प्रत्येक प्रवृत्ति से मैं डरता हूं।"[1] राबर्ट बर्ड ने उत्तर-भारत में की गई अपनी प्रबन्ध-प्रक्रियाओं-द्वारा इसे कार्य-रूप देने का प्रयास किया। परन्तु, महालवारी-प्रथा देश के इस भाग में ग्राम-समाजों के विनाश की प्रक्रिया रोक सकने में असमर्थ रही, क्योंकि कर-निर्धारण समग्रतः पूरे गांव पर ही किए जाने पर भी सरकारी तौर पर ज़मीन के व्यक्तिगत अधिकार मान लिए गए थे और उनकी गारण्टी कर दी गई थी। खेती पर निर्भर रहनेवालों की संख्या लगातार बढ़ती जाने के कारण ज़मीन मूल्यवान सम्पत्ति बन गई थी और उसकी कीमत क्रमशः बढ़ रही थी। कृषि-उपज के लिए खरीदार सुलभ हो जाने और किसान-द्वारा नगदी फसलों की वृद्धि कर दी जाने के भी ऐसे ही प्रभाव पड़े। इन घटनाओं ने ग्राम-संगठन पर बहुत बोझ डाल दिया और वे ग्राम-गणतन्त्र, जो मेटकाफ को ऐसे जान पड़ते थे कि "वे वहां भी बने रह सकते थे, जहां और कुछ बना नहीं रह सकता"—उत्तर के महाल-वारी-इलाकों में वैसे ही मिट गए, जैसे वे बंगाल में ज़मींदारी-प्रथा के अन्तर्गत और दक्षिण में रैयतवारी-प्रथा के अन्तर्गत मिट गए थे।

प्राचीन ग्राम-संगठन के विघटन के साथ वे सामाजिक बन्धन भी टूट गए, जिन्होंने ग्राम-समाज के विभिन्न तत्वों को बांध रखा था। इससे सम्मिलित परिवार-प्रथा और पंचायतों पर ज़ोरदार प्रहार पड़े। सहयोग का स्थान प्रतियोगिता ने ले लिया। कीमतें, किराये और मज़दूरी, सभी का निर्धारण विक्रेता और ग्राहक के आपसी इकरार के आधार पर होने लगा। ग्राम का सामूहिक जीवन व्यक्तिवाद में परिणत हो गया।

उत्पादन-पद्धतियों और ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के स्वरूप में भी बुनियादी फेर-बदल हुए। कृषि-उत्पादन गांववालों की आवश्यकताएं पूरी करने के बदले बाहरी मंडी की आवश्यकताओं के अनुसार किया जाने लगा। किसान को अधिक रुपये की आवश्यकता पड़ने लगी और रुपये पाने के लिए वह नगदी फसलें पैदा करने लगा। पहले तो किसान की आय में जलवायु-विषयक कारणों से ही घट-बढ़ होती थी, अब उसे बाज़ार-भाव में होनेवाली घट-बढ़ के कारण उत्पन्न भाग्य के सभी उलट-फेर सहने पड़ते थे। अब दुनिया के किसी भी भाग में कृषि-उपज की कीमतों में गिरावट उसके लिए उतनी ही चिन्ता की बात थी, जितनी सूखा पड़ने के कारण होनेवाली उसकी अपनी फसलों की हानि। निश्चित समय पर राजस्व की रकम अदा करने की

1. दिनांक 7 नवम्बर, 1830 का 'मिनट' (रमेशचन्द्र दत्त-कृत 'इकोनामिक हिस्टरी अण्डर अर्ली ब्रिटिश रूल' के पृष्ठ 386-87 पर उद्धृत)

अनिवार्यता और नगद रुपये की उसकी अपनी अन्य वार्षिक आवश्यकताएं उसे इस बात के लिए बाध्य कर देती थीं कि वह खेती के तुरन्त बाद ही उपज को अपने से अलग कर दे। इस तरह, कृषक मुद्रा पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के चक्र में तो आ गया, पर कुछ तो उसकी जोत छोटी होने के कारण, कुछ भारी कर-निर्धारणों के कारण और कुछ भूस्वामी-द्वारा कठोरतापूर्वक लगान लिए जाने तथा साहूकार-द्वारा सूदखोरी की जाने के कारण कृषक उस परिवर्तन से लाभ न उठा पाया। इस स्थिति का लाभ मुख्यत: गांव के अनाज-व्यापारी और उस उपज की मंडी के आढ़तिए को ही हुआ।

देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में होनेवाले परिवर्तनों के दुष्प्रभावों का शिकार केवल किसान न हुआ; विदेशी माल गांव तक पहुंच जाने से गांव के शिल्प तथा उद्योग पर भी घातक प्रभाव पड़ा। गांव के शिल्पकार के ग्राहक छिन गए, उसके सामान की बिक्री समाप्त हो गई—औद्योगिक मज़दूर की स्थिति से हट कर वह एक ऐसा भूमिहीन श्रमिक बन गया, जो कभी लगानदार के रूप में और कभी वेतनभोगी मज़दूर के रूप में खेतों पर काम की तलाश किया करता था। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यहां के गांवों के श्रमिक-समाज में उन विस्थापित किसानों के बाद बुनकरों तथा गांव के अन्य कारीगरों का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था।

भारी कर-निर्धारण और कृषि का पिछड़ापन

एक ओर अंग्रेज़ों-द्वारा लागू की गई भूमि-विषयक पट्टेदारियों ने गांवों का प्राचीन संगठन छिन्न-भिन्न कर दिया; दूसरी ओर भारी कर-निर्धारण ने कृषि की उन्नति रोक दी और खेती करनेवाले वर्गों को निर्धनता तथा साधनहीनता की स्थिति में ला गिराया।

प्रारम्भिक ब्रिटिश शासकों की मान्यता थी कि यूरोप से भिन्नतया, भारत में कृषि-योग्य भूमि का मालिक सम्राट् था, विजयाधिकार के बल पर भारत की सारी ज़मीन ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बन गई थी और प्रधान स्वामी होने के नाते सरकार को वह पूरा आर्थिक किराया या रिकार्डो द्वारा बताया गया वह अधिशेष पाने का अधिकार था, जिसका हिसाब लगाने के लिए किसी भू-खण्ड की उपज के मूल्य में से उसका उत्पादन-व्यय घटा दिया जाता है।

बंगाल में स्थायी बन्दोबस्त के समय सरकार ने अनुमित वार्षिक किराये के 89 प्रतिशत की मांग निर्धारित की थी। बाकी 11 प्रतिशत रकम भूस्वामियों के लिए—भूराजस्व-संग्रह में किए जानेवाले श्रम के पारिश्रमिक के रूप में—छोड़ दी गई। उत्तर-भारत में, सन् 1822 के सातवें विनियम के उपबन्धों के अधीन राजस्व की मांग ज़मीन के शुद्ध परिसम्पदों के 80 प्रतिशत के बराबर निर्धारित की गई।[1]

बम्बई प्रेज़िडेंसी में, सन् 1824-28 की प्रथम नियमित व्यवस्था से पहले की गई परीक्षणात्मक व्यवस्थाओं की अधीन, कर की मांग इतनी अधिक रखी

---

1. गवर्नर-जनरल-द्वारा कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के नाम लिखा गया पत्र, दिनांक 7 अप्रैल, 1831, पैराग्राफ 107; देखिए, रमेशचन्द्र दत्त-कृत 'द इकोनामिक हिस्टरी अण्डर अर्ली ब्रिटिश रूल', पृष्ठ 384-85

गई कि गवर्नर तक को भड़ोच के सम्बन्ध में लिखना पड़ा कि "यहां अपनाई गई योजना के अनुसार किया गया ...... कर-निर्धारण सर्वथा असम्भव है। साढ़े चार लाख की वृद्धि अभी पिछले ही वर्ष हो चुकी है। यह एक ऐसी स्थिति है, जिसकी कल्पना मैं प्रसन्नतापूर्वक नहीं कर सकता और विशेष बात यह है कि ये बातें बिल्कुल अन्धकार में छिपी हैं कि उक्त राजस्व के स्रोत क्या रहे हैं और यह वृद्धि किन सिद्धान्तों के आधार पर हुई है।"[1] अहमदाबाद ज़िले में सबसे अधिक बोली लगानेवाले को गांव सौंप देने का परिणाम था "राजस्व पर अधिकतम कोटि तक दबाव डालने की प्रवृत्ति।"[2] भूराजस्व के भार के सम्बन्ध में दक्कन और खानदेश के ज़िलों को भी यही कथा थी। प्रिंगल ने सन् 1824 में व्यवस्थित रीति से सर्वेक्षण और बन्दोबस्त के काम आरम्भ किए। सन् 1828 में यह काम छोड़ दिया गया। भूराजस्व की मांग निर्धारित करते समय यह सिद्धान्त मान लिया गया कि सरकार का भाग शुद्ध उपज के 55 प्रतिशत से अधिक न रखा जाए। पर यह सिद्धान्त सिद्धान्त-मात्र ही रहा, क्योंकि वास्तव में वह मांग शुद्ध परिसम्पदा के उक्त अनुपात से कहीं अधिक निर्धारित की गई। इसका कारण यह था कि ज़मीन की पैमाइश "सर्वथा दोषपूर्ण" थी और "उपज के अनुमान", जिन पर उक्त मांग आधारित थी, बहुत ही बढ़े-चढ़े थे।[3] सर्वश्री गोल्डस्मिथ और विनगेट-द्वारा सन् 1835 में आरम्भ किए गए पुनर्सर्वेक्षण में कर-निर्धारण का आधार ही बदल दिया गया। सरकार भूमि की उपज में हिस्सा मांगने के बदले ज़मीन के अनुमित मूल्य पर कर लगाने लगी।

पहले की गई व्यवस्थाओं के अनुसार मद्रास में सरकारी मांग ज़मीन की कुल उपज के 45 से 55 प्रतिशत भाग तक निर्धारित की गई थी। यदि यह मान लें कि उत्पादन-व्यय कुल उपज के आधे भाग के बराबर रहता था, तो इसका अर्थ यह होता है कि इस प्रेज़िडेंसी में निर्धारण-द्वारा पूरा-का-पूरा आर्थिक किराया ले लिया जाता था। यह स्थिति दमनकारी जान पड़ी और मद्रास-सरकार ने कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स से सिफारिश की कि कर-निर्धारण को कुल उपज के एक-तिहाई के बराबर सीमित कर दिया जाए। किन्तु कोर्ट ने "यह सन्देह प्रकट किया कि उपज का एक-तिहाई या कोई और भाग कर-निर्धारण का अपरिवर्तनीय प्रतिमान माना जा सकता है।"[4] कुल उपज के एक-तिहाई भाग को भूराजस्व की सीमा बना देने का सिद्धान्त अन्ततोगत्वा इस प्रेज़िडेंसी के लिए मान लिया गया। परन्तु उत्पादन-व्यय कुल उपज के लगभग आधे भाग के बराबर मान लेने पर कर की दर ज़मीन के आर्थिक किराये की दो-तिहाई बैठती है। छोटे खेतों में, जहां

---

1. दिनांक 25 अप्रैल, 1821 का 'मिनट', 'सेलेक्शन आफ़ पेपर्स फ्राम रिकार्ड्स ऐट ईस्ट इण्डिया हाउस', खण्ड 3 (1826), पृष्ठ 662

2. बम्बई के गवर्नर (एलफिन्स्टन) का 'मिनट', दिनांक 6 अप्रैल, 1821, पेराग्राफ 45; देखिए, पूर्वोक्त 'सेलेक्शन आफ...', पृष्ठ 686

3. 'बम्बई ऐडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट', 1872-73, पृष्ठ 41

4. कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स-द्वारा मद्रास के नाम लिखा गया राजस्व-विषयक पत्र, दिनांक 12 दिसम्बर, 1821, पैराग्राफ 34, 'सेलेक्शन आफ पेपर्स फ्राम द रिकार्ड्स ऐट ईस्ट इण्डिया हाउस', खण्ड 3 (1826), पृष्ठ 523

उत्पादनव्यय अपेक्षाकृत अधिक रहा, यह रकम कुछ अधिक रही; कभी-कभी तो किसान की पूरे-के-पूरे शुद्ध परिसम्पद की मांग कर ली गई।

करों की दर इतनी ऊंची होने पर यह सम्भव न रहा कि कृषि के क्षेत्र में पूंजी का संचय होता, या भूस्वामी के लिए जमीन में कोई सुधार करने का उत्साह बना रहता। जिन इलाकों में स्थायी बन्दोबस्त हो गया था, उनमें जमींदार वह लगान-मात्र इकट्ठा करना अपना काम समझता था, जिसका जमीन की उपज से कोई सम्बन्ध न था। इन इलाकों में लगान भूमि की उपज में होनेवाली वृद्धि की अपेक्षा इस बात पर अधिक निर्भर रहता था कि काश्तकारों से कितनी सौदेबाजी की जा सकती थी। भूस्वामी काश्तकारों से निष्ठुरता-पूर्वक लगान वसूल करता था और वह सारा आर्थिक अधिशेष स्वयं हड़प जाता था। इस तरह, मौसम या दुर्भाग्य के प्रहार सहन करने के लिए कुछ नहीं बच पाता था। रैयत-वारी-इलाकों में निष्ठुरतापूर्ण लगान वसूल करनेवाले भूस्वामी का काम सरकार करती थी। मद्रास तथा बम्बई प्रेज़िडेंसियों और उत्तर-भारत के उन महालवारी-इलाकों में, जहां यह व्यवस्था अस्थायी रूप से की गई थी, भूराजस्व की मांग इतनी अधिक थी कि उसमें भूमि की पूरी अतिरिक्त उपज समा जाती थी।[1] इस तरह, खेती करनेवालों के हाथ में पूंजी का अभाव होने के कारण कृषि-विषयक प्रगति रुक गई थी।

भूराजस्व के सम्बन्ध में दमनकारी नीति अपनाई जाने के कारण बता सकना कठिन नहीं है। इसकी वजह थी, अपनी विजयों और महंगी प्रशासन-व्यवस्था का खर्च पूरा करने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी की चिन्ता। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कुल व्यय सन् 1799-1800 में 1 करोड़ पौंड और सन् 1801-2 में 1 करोड़ 24 लाख पौंड था। उसके बाद वह लगातार बढ़ता रहा; यहां तक कि सन् 1825-26 में 2 करोड़ 42 लाख पौंड तक जा पहुंचा। सन् 1828 में भारत में लार्ड विलियम बेंटिक के आ जाने पर अगले छः वर्ष तक छंटनी और व्यय में किफायत की नीति अपनाई गई और वार्षिक व्यय कम करके सन् 1835-36 में 1 करोड़ 60 लाख पौंड तक ले आया गया। उसके बाद खर्च फिर बढ़ने लगा और सन् 1857 के विद्रोह तक 3 करोड़ 20 लाख पौंड पर पहुंच गया।

भारत को अपने ह्रासमान संसाधनों से प्रशासन का यह भारी व्यय सहने के लिए बाध्य किया गया। विदेशी विजेता-द्वारा[2] उसका व्यापार और उद्योग नष्ट हो जाने के कारण कर का अधिकतर भार असम्पन्न किसान को ही झेलना पड़ा। सन् 1792-93 में बंगाल प्रेजिडेंसी की भूराजस्व की मांग 31 लाख पौंड थी। सन् 1835-36 में वह बढ़ कर 33 लाख हो गई। चूंकि उस प्रान्त में स्थायी बन्दोबस्त लागू था, इसलिए यह वृद्धि मुख्यतः खेती के विस्तार के कारण हुई। परन्तु मद्रास, बम्बई और उत्तर-पश्चिमी

---

1. "रैयतवारी-व्यवस्था लागू हो जाने से बिचौलिये—गरीब किसान के मुख्य आश्रय—अपनी पूंजी के साथ ही गायब हो गए हैं··· हां, भूमि की अतिरिक्त उपज की एकमात्र स्वामिनी और विनियोजक सरकार है और रैयतवारी किसानों को उस दुख-वेदना के भरोसे छोड़ दिया गया है, जिससे पूंजी के अभाव में बचना सम्भव नहीं।"—'कलकत्ता रिव्यू', खण्ड 75 (1863), पृष्ठ 119

2. व्यापार और उद्योग के ह्रास के विस्तृत विवरण के लिए दसवां अध्याय देखिए।

प्रान्तों में वृद्धि अधिक कर-निर्धारण के कारण हुई। मिसाल के तौर पर, सन् 1810-11 में मद्रास में राजस्व के रूप में 10 लाख पौंड से कुछ ही अधिक रकम वसूल की गई थी। सन् 1825-26 में यह रकम बढ़ कर 40 लाख पौंड से कुछ ही नीचे रही। दूसरे शब्दों में, पन्द्रह वर्ष की अवधि में चार-गुनी वृद्धि हो गई। बम्बई प्रेज़िडेंसी में भी यही बात रही। उस प्रेज़िडेंसी में सन् 1817 में 8,00,000 पौंड भूराजस्व वसूल किया गया था; यह रकम सन् 1818 में बढ़ कर 11,50,000 पौंड और 1837-38 में 18,60,000 पौंड हो गई।[1] ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दिनों में भूराजस्व ही भारतीय वित्त-व्यवस्था का मेरुदंड था और उसकी दर किसानों की कर चुका सकने की क्षमता से अधिक सरकार की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर निर्धारित की जाती थी। अतः, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि कराधान की ऐसी अन्यायपूर्ण पद्धति ने किसानों को तबाह कर दिया और खेती को अधिकतम पिछड़ी हुई स्थिति तक ला गिराया।

"कृषि-विषयक परेशानियां प्रायः दूषित भूमि-व्यवस्था और भूमि के उस लोभ के बीच होनेवाले संघर्ष से उत्पन्न होती हैं, जिससे कृषि-प्रधान समाज के अधिकतम अमित-व्ययी वर्ग मुक्त नहीं होते।"[2] भारतीय किसान ऐसी विषम परिस्थितियों में भी धरती का साथ बनाए रहा और अपने इस प्रतिफलविहीन व्यवसाय में भी जीवन-रक्षा के लिए खून-पसीना एक करता रहा। उसने भूमि के लोभ की भावना की अपेक्षा पूर्णतः समझ में आ सकनेवाले इस कारण के वशीभूत होकर ही यह काम किया कि उसके पास कोई और वैकल्पिक काम नहीं था। फलतः बढ़ती हुई आबादी घटती हुई खेती पर निर्भर रहने को बाध्य थी। इस पद्धति के अनिवार्य परिणाम थे, जनसाधारण का दुख-संताप, अकाल और बीमारी के अवसरों की अधिकता और देश में संक्रामक रोग की भांति फैली बेकारी।

अंग्रेज़ों की वित्तीय नीति और भूमि-व्यवस्था ने उन प्राचीन परम्पराओं और ग्रामीण ढांचे का नाश कर दिया, जिनमें भारतीय किसान शताब्दियों से रहता चला आ रहा था। इस तरह, इस देश की सामाजिक व्यवस्था को समस्त बाहरी प्रभावों से बचाए रखनेवाला रक्षा-कवच टूट गया और निजी सम्पत्ति, व्यक्तिगत उद्यम, पूंजी के संग्रह और प्रौद्योगिक प्रगति के आधार पर संगठित समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो गया।

1. रमेशचन्द्र दत्त, 'इकोनामिक हिस्टरी आफ इण्डिया', पृष्ठ 357
2. 'कलकत्ता रिव्यू', खण्ड 38 (1863), 'द लैंड सिस्टम आफ इण्डिया', पृष्ठ 111

दसवां अध्याय

अंग्रेज़ी शासन के सामाजिक और आर्थिक परिणाम : व्यापार और उद्योग का ह्रास

1. सत्रहवीं शताब्दी में भारत की औद्योगिक और वाणिज्यिक सर्वोच्चता

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में, जब अंग्रेज़ों के फैशनों और उनकी वेश-भूषा के ढंगों में उल्लेखनीय परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप भारतीय सूती कपड़े की मांग में अचानक बहुत वृद्धि हो गई थी, औद्योगिक क्षेत्र में भारत की सर्वोच्चता अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी। अंग्रेज शताब्दियों से पहने जाते मोटे ऊनी कपड़ों के बदले हल्के ऊनी कपड़े पहनना पसन्द करने लगे। अंग्रेज महिलाएं भारत में बने छींटदार और बिना छापे के सूती कपड़े के लिए उत्कंठित रहने लगीं। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रकाशित एक रिपोर्ट में इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है, "अकस्मात् हमें अपनी स्त्रियां—निर्धन तथा धनवान, सभी—सफेद छींटदार तथा छापेदार कपड़े पहने दिखाई पड़ने लगीं; कपड़ा जितना खुशनुमा और भड़कीला होता था, उतना ही अधिक पसन्द किया जाता था।" भारत में बने मोटे तथा घटिया कपड़े का तो पहले भी इंग्लैण्ड में आयात किया जाता था, पर वस्त्रों के लिए उसका प्रयोग कम ही होता था। वेश-भूषा-विषयक परिवर्तन का फल यह हुआ कि "छींट का कपड़ा फर्श पर ही न बिछा रह कर परदों के रूप में और पांव-वस्त्र से लेकर पेटीकोट तक काम में आने लगा।"[1]

डीफो ने इस तथ्य के प्रति खेद-मिश्रित चिन्ता व्यक्त की थी कि "यह (भारतीय सूती कपड़ा) हमारे घरों, निजी कमरों और शयन-कक्षों तक में प्रवेश पा गया; हमारे परदों, गद्दों, कुर्सियों और यहां तक कि हमारे बिस्तरों पर भी भारतीय कपड़े के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया था।" इसका परिणाम यह हुआ कि "हमारी स्त्रियों की वेश-भूषा या हमारे घरों के फर्नीचर से सम्बन्धित जो भी वस्तुएं ऊन या रेशम से तैयार होती थीं, वे सब भारतीय व्यापार-द्वारा भेजी जाने लगीं।"[2]

इस नई मांग से अवसरोचित लाभ उठा कर ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत से बहुत अधिक परिमाण में सूती कपड़ा मंगाने लगी। जैसा कि सर्वविदित है, सन् 1600 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना गोलमिर्च के व्यापार में डचों की प्रतियोगिता के लिए की गई थी और इसीलिए बहुत समय तक कम्पनी मुख्य रूप से गोलमिर्च तथा अन्य मसालों का ही इंग्लैण्ड में आयात करती रही। सन् 1670

---

1. 'ए ब्रीफ डिडक्शन आफ द आरियंटल प्रोग्रेस ऐण्ड इमेन्स इन्क्रीज़ इन वुलेन -मैन्युफैक्चर्स' (लन्दन, 1727), पृष्ठ 50 ; पी० जे० टामस-द्वारा 'मरकेंटाइलिज्म ऐण्ड ईस्ट इण्डिया ट्रेड' में पृष्ठ 26 पर उद्धृत

2. 'वीकली रिव्यू', 31 जनवरी, 1708; पी० जे० टामस-द्वारा पूर्वोक्त ग्रन्थ के पृष्ठ 30 पर उद्धृत

के आस-पास सूती कपड़े की मांग सहसा बढ़ गई। यह वृद्धि कम्पनी के निदेशकों-द्वारा भारतीय माल की खरीद के लिए दिए गए आर्डरों में तत्काल प्रतिबिम्बित हुई। यह भारतीय माल इंग्लैण्ड में लोकप्रिय होने के कारण सन् 1684 में वहां उस पर से आयात-शुल्क हटा दिए गए। इससे उनकी मांग और बढ़ गई। अन्त में सन् 1688 में फ्रांस से होनेवाले आयात पर रोक लग जाने के कारण कम्पनी-द्वारा भारत से किए जानेवाले आयात में भारतीय सूती कपड़े का स्थान सर्वोपरि हो गया। उस समय तक कम्पनी मुख्यतः शोरा, नील, गोलमिर्च, और अन्य वस्तुएं ही भारत से मंगाती थी। किन्तु सन् 1688 के बाद कम्पनी की आयात-सूची में विभिन्न प्रकार के सूती कपड़े ने लगभग सम्पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया; नील और गोलमिर्च एक कोने में ही सीमित रह गए।[1]

भारतीय व्यापार के स्वरूप-गठन में होनेवाले इस परिवर्तन के कारण ब्रिटेन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का विरोध फिर भड़क उठा। यह विरोध दो दिशाओं से हुआ—वाणिज्यवादियों की ओर से और ऊनी तथा रेशमी वस्त्र-निर्माताओं की ओर से। उनमें से प्रथम वर्ग ने भारत के साथ किए जानेवाले व्यापार का विरोध इस आधार पर किया कि उसके परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड की दौलत भारत जाती थी कारण इंग्लैण्ड को अपने सोने-चांदी के बदले जो वस्तु मिलती थी, वह भारतीय मलमल थी, जो कि "वस्तु की छायामात्र थी"। डेवनेंट ने लिखा है, "यूरोपीय देश यदि भारतीय माल का व्यापार न करने के लिए सहमत हो जाएं, तो विश्व का यह भाग अपनी दौलत के बहुत बड़े और लगातार होनेवाले व्यय से बच सकता है।" एक अन्य लेखक ने तो बाइबिल की-सी शैली में इस प्रकार अपना आक्रोश प्रकट किया है, "अरे यरुशलम, अरे यरुशलम, अपने विनाश का कारण तू स्वयं है····अरे इंग्लैण्ड, अजनबी व्यक्ति तुझे निगल रहे हैं, विदेशी तुझे नोच-खसोट रहे हैं, तू उन नई वस्तुओं से प्यार कर रहा है, जो तेरा सर्वनाश कर देंगी।"[2]

दूसरा वर्ग भारत के साथ कम्पनी के व्यापार का विरोध इस आधार पर कर रहा था कि भारत से सूती कपड़ों का आयात इंग्लैण्ड के प्राचीन ऊनी वस्त्र-उद्योग और नवोदित रेशमी वस्त्र-उद्योग के लिए घातक सिद्ध हो रहा था और इस प्रकार वह बुनकरों की बेकारी और कष्टपूर्ण स्थिति का कारण बन रहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इंग्लैण्ड और अन्य यूरोपीय मंडियों में ब्रिटेन के बने सूती कपड़े का स्थान भारतीय सूती कपड़े को प्राप्त हो जाने के कारण वहां के वस्त्र-उद्योगों को बेकारी का सामना करना पड़ा, फिर भी उस समय प्रकाशित पुस्तिकाओं के लेखकों ने कारीगरों की व्यथा का वर्णन कदाचित् अतिशयोक्तिपूर्ण और आवश्यकता से अधिक निराशाजनक ढंग से ही किया। भारत से होनेवाले आयात पर प्रतिबन्ध लगाने की बात को एक राष्ट्रीय प्रश्न बनाने में वे सफल भी हो गए। कहा गया कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक कपड़ा बुनने में लगे आधे कारीगर "रोटी की तलाश में अपनी राष्ट्रभूमि पर भटकते हुए कैंटरबरी से लन्दन और लन्दन से नारविच के चक्कर लगा रहे थे।"[3]

---

1. पी० जे० टामस, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 38
2. वही, पृष्ठ 47
3. वही, पृष्ठ 55

यह कष्टपूर्ण स्थिति बुनकरों तक ही सीमित न थी; इसका प्रभाव सरकारी वित्त-व्यवस्था पर भी पड़ रहा था; क्योंकि इस प्रकार राजस्व में कमी हो रही थी और निर्धन-कल्याण की मद में होनेवाला खर्च बढ़ रहा था।"[1] ज़मीन और मकानों का किराया कम हो जाने के कारण भूस्वामियों का लाभ कम हो गया था। ऐसी दशा में इस आन्दोलन का राष्ट्रव्यापी हो जाना स्वाभाविक ही था। इस आन्दोलन का एक आरम्भिक परिणाम यह हुआ कि कम्पनी ने उन बुनकरों, नमूना-निर्माताओं और कलाकारों को वापस बुला लिया, जिन्हें भारतीय बुनकरों को यूरोपवासियों की रुचियों तथा फैशनों की जानकारी प्रदान करने और उस तरह के कपड़े तैयार करने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए यूरोप से भारत भेजा गया था, जिस तरह के कपड़ों की यूरोप में बहुत मांग थी। पर इस साधारण-सी सुविधा से लोग सन्तुष्ट न हुए। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय उद्वेग इतना बलवान था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी-द्वारा किए जानेवाले भारतीय सूती वस्त्र के आयात को बन्द करने या उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता को बहुत समय तक टाला न जा सका।"[3]

बंगाल-विजय से पूर्व अंग्रेजी संरक्षणवाद

तदनुसार ही, सन् 1700 में एक अधिनियम पारित हुआ, जिसमें यह व्यवस्था थी कि (29 सितम्बर, 1701) से "फारस, चीन या ईस्ट इण्डीज़ में बने सभी तरह के उत्पादित रेशम, बंगाला और रेशम या घास-मिश्रित माल और उक्त देशों में छापा या रंगा गया वह कपड़ा, जो इंग्लैण्ड के राज्य, वेल्स के अधिराज्य और बरविक-आन-ट्वीड के नगर में आयात किया जाता है या किया जाएगा, वह इस हुकूमत के क्षेत्र में न तो पहना जा सकेगा और न किसी अन्य प्रकार के काम में लाया जाएगा।"[2] इंग्लैण्ड में छापा या रंगा जानेवाला कपड़ा इस अधिनियम की प्रभाव-सीमा से मुक्त रखा गया था, ताकि उन विभिन्न आश्रित उद्योगों की रक्षा हो सके, जो भारतीय सूती कपड़े को ही रंगने पर निर्भर थे। उक्त अधिनियम में ऐसे बन्धक-मालगोदामों की स्थापना की भी व्यवस्था थी, जो कारोबार चलाने के विचार से किए गए आयातों और स्वदेश में खपत के विचार से किए गए आयातों को पृथक् कर देते थे। इस तरह, न केवल चालू व्यापार का मुनाफा वहां बना रहने दिया गया, बल्कि ब्रिटिश नौपरिवहन और जहाजरानी-उद्योग को भी निश्चित रूप से प्रोत्साहन दिया गया।"[4]

---

1. उस समय निर्धन-कल्याण का काम खैराती हल्कों (पेरिशों) के कर्तव्यों में शामिल था। कुछ पेरिशों, मिसाल के तौर पर ग्लासेस्टर, में भूमि के कुल वार्षिक मूल्य का पांचवां भाग क्षुधातुर गरीबों में बांट दिया जाता था। देखिए, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 56

2. मुक्त व्यापारियों और संरक्षणवादियों के बीच होनेवाले संघर्ष तथा भारतीय माल के विरुद्ध कानून बनाने के सम्बन्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी-द्वारा की जानेवाली टालमटोल का रोचक तथा विस्तृत वर्णन पढ़ने के लिए पूर्वोक्त ग्रन्थ के पृष्ठ 67 से 117 तक देखिए।

3. वही, पृष्ठ 115

4. वही

किन्तु सन् 1700 का अधिनियम इंग्लैण्ड में भारतीय सफेद सूती कपड़े का आयात पूरी तरह बन्द करने में असफल रहा। अतः, सन् 1702 में सादे सूती कपड़े पर 15 प्रतिशत आयात-शुल्क लगा दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मोटे और घटिया सूती कपड़े के स्थान पर अच्छी और बारीक मलमल आदि की मांग बढ़ गई।

सन् 1719 में भारत से मंगाए गए सफेद सूती कपड़े के परिमाण में असाधारण रूप से वृद्धि हो गई। उस वर्ष सूती कपड़े के 20,88,451 थानों का आयात किया गया, जबकि सन् 1698 में 2,47,214 थान मंगाए गए थे, सन् 1701 में 9,51,109 थान और सन् 1718 में 12,20,324 थान आयातित कपड़ा बिक्री के लिए इंग्लैण्ड में रंगा और छापा जाता था। अतः, वहां रंगाई और छपाई का ज़ोरदार उद्योग विकसित हो गया। संरक्षण से यदि किसी को लाभ हुआ, तो उस नए ब्रिटिश उद्योग को ही हुआ। जिन बुनकरों ने अपना परम्परागत ऊनी वस्त्र-उद्योग छोड़ कर इंग्लैण्ड में स्थापित हो रहे नए उद्योग (सूती कपड़ा बुनने का काम) को स्वीकार कर लिया, उनके अतिरिक्त अन्य बुनकरों को कोई लाभ न हुआ।

भारत में बनी वस्तुओं के विरुद्ध आन्दोलन सन् 1719 में फिर जाग उठा और सन् 1720 में एक नया अधिनियम पारित किया गया। इसके अनुसार, इंग्लण्ड में रंगे या छापे जानेवाले भारतीय रेशमी या सूती कपड़े के उपयोग पर रोक लगा दी गई और इसके विरुद्ध आचरण करनेवाले उपभोक्ता पर प्रति बार 5 पौंड और विक्रेता पर प्रति बार 20 पौंड के हिसाब से जुर्माना निर्धारित कर दिया गया।

यह नया अधिनियम भी पूर्ववर्ती अधिनियम से अधिक सफल न हो सका। सन् 1722 में सूती कपड़े के कुछ कम अर्थात् 7,18,678 थानों का आयात किया गया, लेकिन सन् 1723 में यह संख्या बढ़ कर 11,15,011 थान और सन् 1724 में 12,91,614 थान हो गई।[1] इसी तरह, सन् 1721 में आयातित बंगाल सिल्क के 55,491 थानों की तुलना में सन् 1722 में कम—18,439—थान मंगाए गए, लेकिन सन् 1723 में यह संख्या बढ़ कर 58,729 थान तक पहुंच गई और सन् 1727 में 79,602 थान तक। प्रचार-पुस्तिकाओं के लेखकों ने फिर भारतीय सूती कपड़े के प्रयोग की निन्दा आरम्भ कर दी। भारतीय वस्तुओं का आयात रोकने में कानून की विफलता पर खेद प्रकट करते हुए 'ए प्लान आफ द इंगलिश कामर्स' के विचक्षण लेखक ने सन् 1728 में लिखा : "हमारी दो बातें—हमारी वासनाएं और हमारे फैशन—अदम्य हैं।"[2]

भारतीय माल के विरुद्ध संरक्षणात्मक नीति अपनानेवालों में केवल इंग्लैण्ड ही न था। वाणिज्यवादी प्रवृत्ति उस समय ज़ोरों पर थी और हालैंड के अलावा यूरोप के और सभी देशों ने भारतीय सूती माल के आयात पर या तो बहुत अधिक शुल्क लगा दिए या उसे बिल्कुल बन्द कर दिया। पन्द्रहवें लुई-द्वारा सन् 1726 में दिया गया आदेश उस समय की प्रवृत्ति का प्रतीक है। इस कानून-द्वारा फ्रांस में

---

1. देखिए, बालकृष्ण-कृत पूर्वोद्धृत ग्रन्थ के सातवें अध्याय का परिशिष्ट ग (तालिका) पृष्ठ 308-9

2. थाम्पसन-द्वारा 'सिक्स लेक्चर्स आन द रिसोर्सेज आफ इण्डिया' (लन्दन, 1842), पृष्ठ 48 ; और बालकृष्ण, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ के पृष्ठ 263-64

भारतीय सूती माल के प्रयोग और विक्री पर किए जानेवाले जुर्माने और भी सख्त कर दिए गए। लुके-छिपे माल मंगाने पर रोक लगाने के लिए इस कानून में यह व्यवस्था की गई कि तीन वार ऐसा करनेवाले को मृत्यु-दंड दे दिया जाए।

इसी अरसे में, इंग्लैण्ड में सूती वस्त्र-उद्योग का विकास बड़ी तेज़ी से हो रहा था। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक वह भली-भांति स्थापित हो गया। सन् 1744 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशकों ने भारत लिख भेजा, "छापे के काम में यहां इतनी अधिक प्रवीणता प्राप्त कर ली गई है कि यदि आप इन हिदायतों का पालन करने में असमर्थ हों, तो आपको परिमाण घटा देना चाहिए।"[1] अंग्रेज़ छापियों की श्रेष्ठता के बारे में उस समय कहा गया, " भारत में छापे गए सर्वश्रेष्ठ कपड़ों की नकल का साहस करना और इस काम में अकल्पनीय स्तर तक प्रवीणता प्राप्त कर लेना अंग्रेज़ों के ही वश की बात थी।"[2] सन् 1754 में एक व्यापारी ने वेल्स की राजकुमारी को जो छापेदार कपड़ा भेंट दिया था, वह, कहा जाता है कि, कारीगरी में भारतीय छापेदार वस्त्र से भी आगे बढ़ गया था।"[3]

यूरोप में भारतीय माल के आयात पर प्रतिबन्ध लगने और इंग्लैण्ड में ही इस उद्योग के विकास के कारण अठारहवीं शताब्दी के मध्य से भारत और यूरोप के सूती वस्त्र-व्यापार में कमी आने लगी। फिर भी, भारतीय उद्योग के लचीलेपन और उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं की उच्चकोटि का ही यह प्रमाण है कि सन् 1750 के बाद भी उल्लेखनीय मात्रा में सूती तथा रेशमी कपड़ा भारत से इंग्लैण्ड मंगाया जाता रहा। सन् 1760 के वर्ष में, जिसे प्लासी की लड़ाई के बाद का पहला सामान्य वर्ष माना जा सकता है, केवल इंग्लैण्ड ने भारत से 9,88,709 थान सफेद सूती कपड़ा, 51,108 थान बंगाल का कामदार रेशम, 2,12,910 थान छापा सूती वस्त्र और 665 थान सूसियां मंगाई। उसी वर्ष निम्नलिखित अन्य वस्तुएं भी भारत से इंग्लैण्ड भेजी गईं: गोलमिर्च 31,33,884 पौंड, काफी 186 पौंड (उससे पहले वर्ष 9,71,464 पौंड काफी भेजी गई थी), ऊन 75,543 पौंड और शोरा 37,780 हंडरवेट।"[4]

फिर भी, भारतीय उद्योगों का उस समय तक आमूल विनाश नहीं हुआ, जब तक विदेशी शासन की जड़ें भारत में नहीं जम गईं और नए शासक शासितजनों के कला-कौशल का गला घोंटने के लिए अपनी राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग नहीं करने लगे। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले दशक तक भारतीय उद्योगों की स्थिति बनी रही। सन् 1820 के बाद उनके द्वारा बनाई गई वस्तुओं की मांग विदेशों में कम हो जाने के कारण उन्हें जबर्दस्त चोट पहुंची। सन् 1795-96 और 1829-30 के बीच के 35 वर्षों में भारतीय सूती वस्त्र-निर्यात में होनेवाली गिरावट इस तालिका"[5] में दिखाई गई है:

1. देखिए, पी० जे० टामस, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 163
2. बेन्स, 'हिस्टरी आफ काटन मैन्युफैक्चर्स', पृष्ठ 261
3. पी० जे० टामस, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 163-64
4. देखिए, बालकृष्ण-कृत पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 308-310
5. 'सेलेक्ट कमिटी रिपोर्ट,' 1833, खण्ड 2, भाग 2, पृष्ठ 883-87

कलकत्ता बन्दरगाह से सूती कपड़े का निर्यात

(थानों में)

वर्ष	ब्रिटेन	अमेरिका	हेम्बर्ग	कोपनहेगन	पुर्तगाल	सभी देशों का जोड़
1795-96 . .	1,98,750	4,34,412½	3,44,286	1,86,549	5,27,068	21,22,089½
1796-97 . .	1,62,195	5,22,692	1,04,574	3,07,073	1,85,077	17,12,247
1797-98 . .	1,61,276	4,57,945	28,532	64,374	4,01,391	14,66,142
1798-99 . .	1,77,197	2,39,928	86,277	8,415	1,83,125	14,54,463
1799-1800 . .	3,05,119	7,76,919	8,744	1,69,473	11,22,853	30,26,253
1823-24 . .	1,06,516	38,440	—	—	—	21,89,929
1824-25 . .	1,67,524	1,23,748	—	9,178	1,12,165	15,43,095
1825-26 . .	1,11,295	1,46,184	—	1,646	1,23,415	12,56,573
1826-27 . .	47,652	21,648	—	—	83,867	9,70,223
1827-28 . .	50,654	10,521	—	—	54,002	9,78,858
1828-29 . .	32,626	23,780	—	—	20,045	8,19,170
1829-30 . .	13,043	3,771	—	—	—	6,95,725

2. भारत का औद्योगिक ह्रास

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में तत्कालीन आयात-शुल्कों और इंग्लैण्ड में वाष्पचालित मशीनों के प्रयोग के कारण कम लागत पर सूती कपड़ा बनने के बावजूद इंग्लैण्ड यूरोप की मंडियों में बने माल से होड़ न लगा पाया। भारतीय माल की कीमतें विलायती माल की कीमतों की तुलना में 50 से 60 प्रतिशत तक कम बनी रहीं। इसलिए अपने माल के अनुकूल परिस्थितियां पैदा करने के लिए ब्रिटेन ने अपने विजित प्रतियोगी के उत्पादनों का विनाश करने के विचार से अपनी राजनीतिक शक्ति का उपयोग किया। भारतीय माल के आयात पर इतना अधिक शुल्क लगा दिया गया कि उसका आयात ही न हो सके और भारतीय उत्पादकों पर असहनीय भार डाल दिया गया। सन् 1812 में इंग्लैण्ड में भारत से मंगाई जानेवाली कुछ वस्तुओं पर आयात-शुल्क की दरें निम्नलिखित थीं"[1] :

सूती कपड़ा—सादा, सफेद डोरिया—सादा, सफेद	मूल्यानुसार 68 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस प्रतिशत और इसके अतिरिक्त 3 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस का गोदाम-शुल्क
पूर्णतः या अंशतः निर्मित, सूती कपड़े की बनी वे वस्तुएं जिन पर अन्यथा शुल्क नहीं लगा था	मूल्यानुसार 27 पौंड 6 शिलिंग प्रतिशत और उसके अतिरिक्त 10 पौंड
मैट और मैटिंग	मूल्यानुसार 68 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस प्रतिशत और उसके अतिरिक्त 2 पौंड 13 शिलिंग 4 पेंस
रेशमी माल	देश में उपयोग के लिए निषिद्ध
दरियां और अन्य प्रकार का बिना बूटी का या बूटीदार रेशमी कपड़ा, जिसका अन्यथा उल्लेख नहीं है	देश में उपयोग के लिए निषिद्ध
उपर्युक्त वस्तुएं पुनर्निर्यात के लिए आयातित करने की दशा में गोदाम-शुल्क	मुल्यानुसार 3 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस प्रतिशत
घटिया साबुन	मूल्यानुसार 68 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस के साथ-साथ 2 पौंड 13 शिलिंग 4 पेंस प्रतिशत
चीनी	1 पौंड 13 शिलिंग प्रति हंडरवेट
नील	प्रति 100 पौंड भार पर 14 शिलिंग 4 पेंस के साथ-साथ मूल्यानुसार 2 पौंड 13 शिलिंग 4 पेंस प्रतिशत

विल्सन ने लिखा है कि "फलतः यह अनिवार्य हो गया कि उनके (ब्रिटेन में बनी वस्तुओं के) मूल्य पर सत्तर और अस्सी प्रतिशत शुल्कों-द्वारा या प्रत्यक्ष पाबन्दी-द्वारा उनका संरक्षण किया जाए।"[2] उसने आगे कहा है: "यदि ऐसा न होता, तो पेसले

1. 'सेलेक्ट कमिटी रिपोर्ट', भाग 2, परिशिष्ट 5, पृष्ठ 592-607
2. जेम्स मिल, 'हिस्टरी आफ ब्रिटिश इण्डिया', (विल्सन-द्वारा जारी), खण्ड 7, (लन्दन, 1858) पृष्ठ 385, टिप्पणी 1

और मांचेस्टर की मिलें अपने आरम्भिक दिनों में ही बन्द हो जातीं और फिर कदाचित् भाप की शक्तियां भी उन्हें कभी न चला पातीं। उनका निर्माण भारत की बनी वस्तुओं की बलि चढ़ा कर ही किया गया। यदि उस समय भारत स्वतन्त्र होता, तो वह इसका विरोध करता, ब्रिटेन में बने माल पर निरोधक शुल्क लगा देता और इस तरह अपने उत्पादक उद्योग को विनाश से बचा लेता। आत्मरक्षा का यह काम उसे नहीं करने दिया गया; वह दूसरों की दया का दास था। ब्रिटेन में बना माल किसी तरह का शुल्क चुकाए बिना भारत पर लाद दिया गया और विदेशी उत्पादक ने अपने उस प्रतियोगी को दबा रखने और आखिरकार उसका गला घोंट देने के लिए राजनीतिक अन्याय का सहारा लिया, जिसका सामना वह समानता की शर्तों पर नहीं कर सकता था।"[1]

अतः, सन् 1813 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार-विषयक एकाधिकार समाप्त हो जाने और भारतीय व्यापार की सुविधा सबको मिल जाने के बाद ब्रिटेन में बनी वस्तुओं के भारत-निर्यात में होनेवाली अत्यधिक वृद्धि का कारण केवल ब्रिटेन में बनी वस्तुओं की कीमतें कम होना नहीं था, जैसा कि प्रवर-समिति"[2] के सम्मुख दी गई कुछ साक्षियों में कहा गया; उसका मुख्य कारण था ब्रिटेन की व्यावसायिक नीति और भारत पर ब्रिटन का राजनीतिक प्रभुत्व।

उद्योग के विनाश के लिए राजनीतिक शक्ति का प्रयोग

शक्तिशाली शासक के नाते ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इस बात में था कि वह अपने प्रजाजन की उत्पादक गतिविधियों को प्रोत्साहित करके उनके धन में वृद्धि करे, किन्तु एक व्यापारी कम्पनी होने के नाते उसे अपना लाभ बढ़ाने में विशेष रुचि थी। ऐडम स्मिथ ने लिखा है : "शासक होने के नाते ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हित इसमें है कि उसके भारतीय अधिराज्यों में यूरोप का बना जो माल भेजा जाता है, वह वहां यथासम्भव सस्ते दामों पर बेचा जाए और भारत से लाए जानेवाले भारतीय माल की यूरोप में अच्छी-से-अच्छी कीमत मिले, अर्थात् यहां वह महंगे-से-महंगा बेचा जाए। व्यापारी होने के नाते उसका हित इससे विपरीत स्थिति में है। शासक के नाते उसका हित वास्तव में उसी बात में है, जिसमें उसके द्वारा शासित देश का हित-साधन हो; व्यापारी के नाते उसका हित इससे सर्वथा विपरीत स्थिति में है।"[3] कम्पनी माल के दाम इस तरह रखती थी, जिससे कारीगरों को नुकसान पहुंचता था। वह बुनकरों का दमन करती थी और ऐसी अनेक प्रतिषधात्मक नीतियों का भी पालन करती थी, जिससे भारतीय उद्योगों, विशेषतः बंगाल के सूती वस्त्र-उद्योग, का विनाश हो रहा था। जैसा कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक समकालीन समीक्षक, विलियम बोल्ट्स ने सन् 1767 में कहा था, "आजकल जिस ढंग से देश का आन्तरिक व्यापार चल रहा है, वह सारा-का-सारा व्यापार और एक विशिष्ट माला

1. जेम्स मिल, पूर्वोक्त ग्रन्थ
2. 'सेलेक्ट कमिटी रिपोर्ट', 1833, खण्ड 2, थो मैकिलाप की साक्षी, पृष्ठ 516
3. ऐडम स्मिथ, 'द वेल्थ आफ नेशन्स' (आधुनिक पुस्तकालय-संस्करण), पृष्ठ 602-3

में इस देश-द्वारा यूरोप के लिए किया गया निवेश, वास्तव में, अनवरत दमन का ही दृश्य प्रस्तुत करता रहा है। देश के प्रत्येक बुनकर और वस्तु-निर्माता ने इसके कठोर घातक प्रभावों को अनुभव किया है। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन को एकाधिकार का रूप दे दिया गया है, जिसमें अंग्रेज़ बनियों और काले गुमाश्तों के साथ मिल कर मनमाने ढंग से यह फैसला कर लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु-निर्माता कितने-कितने परिमाण से माल देगा और उसके बदले वह कितनी कीमतें वसूल करेगा।"[1]

भारतीय माल खरीदने और भारत में कम्पनी की पूंजी लगाने का तरीका कुछ ऐसा रखा गया था, जिससे गरीब बुनकर के साथ धोखा होता था और उसका दमन किया जाता था। कम्पनी प्राय: मासिक वेतन पर ऐसे एजेंट नियुक्त करती थी, जिन्हें 'गुमाश्ता' कहा जाता था। प्रत्येक गुमाश्ता, एक क्लर्क और एक खज़ांची के साथ, नियमित अवधि के बाद खरीदारी के लिए देश के भीतरी भागों में जाता था। सन् 1757 में जब मीर जाफर को सिंहासन पर बैठाया गया, तब तक अंग्रेज़ों के गुमाश्ते इतने शक्तिशाली हो चुके थे और उनका अधिकार-क्षेत्र इतना बढ़ गया था कि "इस देश में राजाओं और ज़मींदारों की भी सत्ता उनका सामना नहीं कर सकती थी। सन् 1765 के बाद, जब बंगाल में नवाब की प्रभुसत्ता का आवरण पूर्णत: हटा दिया गया, तब उन्हें देश के सर्वोच्च शासक से सीधे तौर पर सत्ता प्राप्त हो गई और वे उसकी ओर से शक्ति का प्रयोग करने लगे। वे वाणिज्यिक एजेन्ट-मात्र न थे, वे तो विधिकर्त्ता और दंडनायक भी थे, जिनके फैसले की कहीं अपील नहीं हो सकती थी। विलियम बोल्ट्स ने कहा है: "आमतौर पर बुनकरों की सहमति आवश्यक नहीं समझी जाती, क्योंकि कम्पनी की ओर से नियुक्त गुमाश्ते प्राय: उनसे जहां चाहते हैं, हस्ताक्षर करा लेते हैं और बताया जाता है कि जितने रुपये दिए जाते हैं, उतने लेने से इन्कार करने पर वे रुपये उनकी कमरबंद में बांध दिए जाते हैं और फिर कोड़ों से मार-पीट कर उन्हें भगा दिया जाता है।"[2]

कम्पनी की किताबों में बहुत-से बुनकरों के नाम भी दर्ज कर लिए गए थे और उन्हें किसी और के लिए काम करने से रोक दिया गया था। उन्हें कम्पनी के एक गुमाश्ते से दूसरे गुमाश्ते के पास भेज दिया जाता था; वे मानो "ऐसे दास थे, जिन्हें प्रत्येक परवर्ती गुमाश्ते के अत्याचार तथा दुष्टता का शिकार होना पड़ता था।"[3] उन पर निगाह रखने के लिए चपरासी और चौकीदार नियुक्त कर दिए गए थे, ताकि वे कम्पनी के गुमाश्तों के अलावा और किसी के हाथ माल न बेच सकें और बुनकर की ऐसी इच्छा का आभास-मात्र मिलने पर उसका कपड़ा पूरी तरह तैयार होने से पहले ही खड्डी पर काट डाला जाता था।[4] इस चौकसी के बावजूद यदि कोई बुनकर दलालों की सहायता से किसी और के हाथ अपना माल बेचने का साहस करता था, तो दलाल और बुनकर, दोनों को "पकड़ लिया जाता था और जेल में बंद कर दिया जाता था। उन पर काफी जुर्माना होता था और अपनी जिस जाति-प्रतिष्ठा को वे सबसे अधिक

1. विलियम बोल्ट्स, 'कन्सिडरेशन आफ इण्डियन अफेयर्स', पृष्ठ 191
2. वही, पृष्ठ 193
3. वही
4. वही

मूल्यवान समझते थ, उसी से उन्हें वंचित कर दिया जाता था।"[1] गुमाश्ते कम्पनी के कारोबार के साथ ही अपने निजी और वैयक्तिक कारोबार मिला देते थे और जिन अनुकूल शर्तों पर वे कम्पनी के लिए माल खरीदते थे, उन्हीं शर्तों पर स्वयं अपने लिए माल खरीदने में मनमाने अधिकारों का प्रयोग कर लिया करते थे। विलियम वोल्ट्स ने निष्कर्ष-स्वरूप कहा है: "इस विभाग में प्रचलित दुष्टता कल्पना से परे की बात है। किन्तु इस सबका अन्त गरीब बुनकर को धोखा देने में ही होता है, क्योंकि उसके माल के जो दाम कम्पनी का गुमाश्ता और उसी की सलाह से फचेनदार निश्चित करता है, वह सब जगह उस दाम से कम-से-कम 15 प्रतिशत और कहीं-कहीं 50 प्रतिशत कम होता है, जो उक्त माल को खुले तौर पर बाज़ार में बेचने पर बुनकरों को मिल सकता है।"[2]

दूसरा कठोर तरीका था कच्चे माल का ऐसे ढंग से मूल्य-निर्धारण, जो भारतीय उत्पादकों के लिए हानिकर हो। यहां एक ऐसा उदाहरण दिया जा सकता है। बंगाल में बढ़िया किस्मों की कपास बम्बई और सूरत से जाती थी। उस कपास की आपूर्ति अपनी मुट्ठी में लेने और बंगाल में उसकी कीमतें बढ़ाने के लिए कम्पनी के कर्मचारियों ने एक निजी कम्पनी खोल ली, जिसमें कलकत्ता-स्थित कौंसिल के सदस्य शामिल थे। उन्होंने सूरत से 25 लाख रुपये की कपास खरीद ली और इसका नतीजा यह हुआ कि उसकी कीमतें तत्काल 16 से 18 रुपये तक प्रति मन से बढ़ कर 28 से 30 रुपये प्रति मन तक बढ़ गईं। बुनकरों के लिए यह स्थिति अत्यन्त घातक थी। बुनकर अपने माल को तो महंगा बेच नहीं सकता था, क्योंकि वे दाम कम्पनी के खरीद-एजेंटों-द्वारा मनमाने ढंग से निर्धारित कर दिए जाते थे और वह अपने लिए आवश्यक कच्चे माल के लिए बहुत अधिक दाम देने के लिए बाध्य था।

कम्पनी और उसके कर्मचारियों-द्वारा अपनाए गए तौर-तरीकों का विनाशक प्रभाव होना अनिवार्य था। शिल्पकार तबाह हो गए। कम्पनी की सेवा में लगे कुछ उद्यमियों ने, निस्सन्देह, बहुत अधिक धन बटोर लिया और वैभव तथा सुख का जीवन बिताने के लिए वे सेवानिवृत्त होकर इंग्लैण्ड लौट गए; परन्तु उन्होंने सोने के अंडे देनेवाली प्रसिद्ध मुर्गी को मार कर ही वह धन कमाया। भारत में बनी वस्तुओं के दाम तो बढ़ गए, पर मज़दूर की मज़दूरी में तदनुसार कोई वृद्धि नहीं हुई। भारत में बनी वस्तुओं का स्तर गिर गया। इस प्रकार, भारत में ब्रिटिश शासन की आरम्भिक अवधि का इतिहास, वास्तव में, भारतीय हस्तशिल्प और भारतीय उत्पादनों के विध्वंस, लूट, दमन और विनाश की ही करुण कथा कहता है। किसी समय ,जन-धन, से भरपूर औद्योगिक नगर निर्जन हो गए और कारीगरों को अपने परम्परागत व्यवसाय छोड़ कर मज़दूरी पर काम करनेवाले श्रमिकों के रूप में खेती का सहारा लेना पड़ा।

सन् 1769 में कम्पनी के मुर्शिदाबाद-स्थित रेज़ीडेंट, श्री बेचर, ने लिखा: "यह उत्कृष्ट देश, जो अधिकतम निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासकों के समय में भी वैभवपूर्ण बना रहा, अब ऐसे समय में विनाश की ओर अग्रसर हो रहा है, जब वास्तव में इसके प्रशासन में अंग्रेज़ों का हाथ बहुत अधिक हो गया है।.....मुझे परितापपूर्वक इसकी वर्तमान उजड़ी हुई दशा देखनी पड़ रही है, जिसके सम्बन्ध में मेरा निश्चित

---

1. वही, पृष्ठ 194
2. वही, पृष्ठ 193

मत है कि वह उस एकाधिकार के कारण है, जो कम्पनी के नाम पर भारत के लगभग सभी उत्पादनों के सम्बन्ध में पिछले कुछ वर्षों में प्राप्त कर लिया गया है।"[1] ब्रिटिश संसद् के एक ज़िम्मेदार सदस्य, विलियम फुलरटन, ने इससे भी अधिक खुले तौर पर बंगाल में कम्पनी की हुकूमत की निन्दा की। सन् 1787 में उसने कम्पनी की 20 वर्ष की हुकूमत के बाद होनेवाले बंगाल के रूप-परिवर्तन का वर्णन इन शब्दों में किया : "पहले बंगाल के इलाके राष्ट्रों के अनाज-भंडार थे; वे पूरब में वाणिज्य, धन-सम्पत्ति और वस्तु-उत्पादन के आधार-स्थल थे······पर हमारे कुशासन की निर्दय शक्ति इतनी तेज़ रही है कि बीस वर्ष की छोटी-सी अवधि में ही इन प्रदेशों के अनेक भाग वीरान-से हो गए हैं। खेतों में अब हल नहीं चलते, दूर-दूर तक झाड़ियां-ही-झाड़ियां खड़ी हैं, कृषक लुट गए हैं, वस्तु-निर्माताओं का दमन कर दिया गया है, बार-बार अकाल की स्थिति सहन करनी पड़ती है और बसे हुए इलाके निर्जन हो गए हैं।"[2] सन् 1789 तक बंगाल का वैभव-सम्पन्न प्रान्त इतना उजड़ गया था कि लार्ड कार्नवालिस के मतानुसार, "हिन्दुस्तान में कम्पनी का एक-तिहाई प्रदेश एक ऐसे जंगल में परिणत हो गया है, जिसमें केवल जंगली जानवर रह रहे हैं।"[3]

आर्थिक ह्रास के आन्तरिक कारण

देश का औद्योगिक संगठन चाहे कितना ही मज़बूत होता, वह देश के विदेशी शासकों की शत्रुता का मुकाबला शायद ही कर सकता था। किन्तु सच तो यह है कि इस देश के औद्योगिक संगठन में भी कुछ ऐसी कमज़ोरियां थीं, जिन्हें उद्योगों के ह्रास के लिए आंशिक रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। पहली बात तो यह कि भारतीय अपने माल की बिक्री के लिए मंडियां बढ़ाने में कोई रुचि नहीं दिखाते थे। जैसा कि ऐडम स्मिथ ने कहा है, "यह एक ऐसा कारण है, जिससे श्रम का विभाजन सीमित हो जाता है और उसी के परिणामस्वरूप औद्योगिक विकास भी सीमित हो जाता है।" इससे भी बुरी बात यह थी कि अंग्रेज़ों की भारत-विजय से पहले ही भारत का अधिकतर विदेशी व्यापार विदेशियों के हाथों में जा चुका था। इसके परिणामस्वरूप, जहां तक विदेशी मंडियों में माल की बिक्री का सम्बन्ध था, भारतीय कारीगर और वस्तु-उत्पादक विदेशी व्यापारियों की दया पर निर्भर थे।

दूसरे, पश्चिम के आक्रमणशील वाणिज्यवाद के मुकाबले में भारत की कोई अपनी राष्ट्रीय वाणिज्य-नीति नहीं थी। अपनी सत्ता के उत्कर्ष-काल में भी मुग़ल-सम्राट् कोठियों की स्थापना और भारतीय व्यापार तथा मंडियां हस्तगत करने के लिए यूरोपीय शक्तियों के बीच होनेवाले संघर्ष को मौन तथा तटस्थ भाव से देखते रहे थे। जिस समय सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में इंग्लैण्ड में भारतीय वस्तुओं पर कड़े आयात-शुल्क लगाए जा रहे थे, उस समय स्वयं सर्वोच्च सत्ताधारी होने पर भी भारत ने इंग्लैण्ड का कोई प्रतिरोध नहीं किया। सच तो यह है कि उस समय तक

---

1. देखिए, आर० पी० दत्त-कृत 'इंडिया टुडे' (बम्बई, 1947), पृष्ठ 92
2. वही, पृष्ठ 93
3. लार्ड कार्नवालिस का 'मिनट', दिनांक 18 सितम्बर, 1789; देखिए, फर्मिगर की 'फिफ्थ रिपोर्ट', खंड 2, पृष्ठ 512

भारत में आर्थिक प्रश्नों का विवेचन राष्ट्रीय दृष्टिकोण से होना आरम्भ ही नहीं हुआ था और यह बात भी सन्देहास्पद है कि यदि राजनीतिक परिस्थितियां बिगड़ी न होतीं, तो भी इस देश में विदेशी व्यापार के प्रश्न पर उस ढंग से कुछ भिन्न रीति से विचार किया जाता, जैसा वास्तव में किया गया।

तीसरे, समुद्र-यात्रा की दिशा में भारतीयों की कमज़ोरी देश की राजनीतिक पराधीनता की भांति उनके औद्योगिक ह्रास का भी कारण बनी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में यूरोपीय शक्तियों ने समुद्री व्यापार को समुद्री लूट-मार के साथ जोड़ दिया था। अतः, किसी भी व्यापारी के लिए यह बात खतरनाक हो गई थी कि वह माल-सामान लेकर, समुद्री लूट-मार के लिए पर्याप्त शस्त्रास्त्र से सज्जित हुए बिना, एक देश से दूसरे देश की यात्रा कर ले। भारत के पास समुद्री शक्ति न होने के कारण वह समुद्र-पार-स्थित मंडियों पर काबू रखने में असमर्थ हो गया; यूरोपीय राष्ट्रों ने बलपूर्वक वे मंडियां भारत से छीन लीं। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस समय यूरोप तेज़ी के साथ औद्योगिक क्रान्ति में से गुज़र रहा था, उस समय भारत औद्योगिक ह्रास का शिकार होकर एक पिछड़ा हुआ कृषि-प्रधान देश-मात्र बनता जा रहा था।

चौथे, उस वणिक्-संघ-व्यवस्था की दृष्टि से भी भारत बहुत कमज़ोर पड़ता था, जो मध्यकालीन यूरोपीय उद्योग तथा वाणिज्य की प्रमुख विशेषता थी। वणिक्-संघ-व्यवस्था के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर देनेवाली जाति-प्रथा उद्योग को बाहरी हमलों से न बचा सकी। जिस समय विदेशी व्यापारी औद्योगिक वस्तुएं खरीदने के लिए व्यापार-मंच पर उदित हुआ, उस समय उन विदेशी ग्राहकों के एकाधिकारपूर्ण संगठनों के मुकाबले में अकेला कारीगर बहुत ही तुच्छ रह गया। अपने ग्राहकों के आदेशों के अनुसार माल सुलभ करने के लिए उसे प्रायः उसी से अग्रिम धन लेना पड़ता था। स्वतन्त्र वणिक्-संघ-व्यवस्था और वित्तीय संगठन के अभाव में भारतीय उत्पादक न तो कीमतें निश्चित करने में अपनी बात मनवाने में समर्थ था और न विदेशियों से पेशगी रकम लिए बिना उनके आर्डरों का माल तैयार करने में।

अन्तिम कारण यह था कि भारत में उस तरह का औद्योगिक उद्यमी वर्ग न था, जैसा इंग्लैण्ड में था। भारत में आविष्कार-सम्बन्धी तथा औद्योगिक प्रगति न होने का कारण यह नहीं था कि यहां के लोग अयोग्य अथवा प्रतिभाहीन थे। इसका कारण तो यह था कि भारत में वैसा प्रगतिशील वर्ग उपस्थित नहीं था, जिसने पश्चिम में पहले मंडियों पर अधिकार किया और फिर अपने ही देश में बनी वस्तुएं उन मंडियों में बेचने के विचार से वस्तु-उत्पादन को संगठित कर लिया।

कृषि का ह्रास

औद्योगिक ह्रास के साथ-साथ भारत के वाणिज्य और कृषि का भी भारी ह्रास हुआ। इसके कारण मुख्यतः राजनीतिक थे।

कृषि की क्षति का कारण यह था कि राज्य ने कमरतोड़ भूराजस्व लगा दिया था और कम्पनी के कर्मचारी गांववालों को ऐसी फसलें बोने के लिए बाध्य करते थे, जिनसे किसानों का नहीं, कम्पनी का हितसाधन होता था। डचों के बारे में कहा जाता था कि "गर्म मसालों के द्वीपों में वे भरी-पूरी फसल के दिनों में गर्म मसालों के उतने परिमाण से अधिक सभी संग्रह जला देते थे, जितना वे इच्छानुसार पर्याप्त लाभ पर यूरोप में बेच

सकने की आशा करते थे।"[1] अंग्रेजी कम्पनी ने बंगाल में भी इसी विनाशक नीति का पालन किया। ऐडम स्मिथ ने लिखा है: "मुखिया, अर्थात् किसी कोठी के प्रधान लिपिक, द्वारा किसान को यह आदेश दिया जाना कोई असामान्य बात न थी कि वह पोस्ते का भरा-पूरा खेत उखाड़ कर उसके स्थान पर चावल या कोई और विशेष अनाज वो दे। कहने को तो इसका कारण खाद्य सामग्री में कमी न होने देना ही वताया जाता था, लेकिन वास्तविक कारण यह था कि इस तरह मुखिया को अफीम के वे बड़े-वड़े संग्रह अधिक महंगे दाम पर वेचने का अवसर मिल जाता था, जो उस समय उसके अधिकार में होते थे। कभी-कभी यह क्रम उलट दिया जाता; क्योंकि जव मुखिया यह देखता कि अफीम से असाधारण लाभ की सम्भावना है, तो पोस्ते की खेती के लिए चावल और दूसरे अनाजों के भरपूर खेत नष्ट करवा देता।"[2]

व्यापार का विध्वंस

कृषि और उद्योग के समान ही भारत के व्यापार को भी हानि पहुंची। इस विनाश का कारण था, कम्पनी के कर्मचारियों-द्वारा एकाधिकार प्राप्त कर लेना—जिनमें से कुछ कानूनी तौर पर प्राप्त किए गए थे, किन्तु अधिकतर गैर-कानूनी तौर पर—और भारतीय व्यापार की सहज धाराओं का दिशा-परिवर्तन।

(क) आन्तरिक व्यापार: फर्रुखसियर के समय से ईस्ट इंडिया कम्पनी को परिवहन तथा सीमा-शुल्कों की अदायगी से छूट मिल गई थी; लेकिन कम्पनी के कर्मचारियों ने इस रिआयत का दुरुपयोग किया। कम्पनी-कर्मचारी अपने निजी माल पर लगे शुल्क भी न चुका कर राजकोष को विधिसम्मत राजस्व से वंचित करने लगे, क्योंकि वे प्रायः अपने हस्ताक्षरों से ये परवाने जारी कर दिया करते थे कि वह माल परिवहन-शुल्क चुकाए विना देश के एक भाग से दूसरे भाग में चला जाने दिया जाए। कम्पनी-कर्मचारियों के वे 'दस्तक' (हस्ताक्षरित अनुमतिपत्र) बिक्री-योग्य वस्तु वन गए; यहां तक कि भारतीय व्यापारी भी शुल्कों से वचने के लिए प्रायः वे दस्तक कम्पनी-कर्मचारियों से खरीदने लगे।

वंगाल में राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर लेने पर कम्पनी देश की वाणिज्यिक गतिविधियों का नियन्त्रण करने लगी। उस समय भेदभावपूर्ण कर-निर्धारण करके और अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के सम्वन्ध में व्यापारिक एकाधिकार ग्रहण करके भारतीय और विदेशी व्यापारियों को एक सुयोजित ढंग से उनके व्यवसाय से वंचित कर दिया गया। क्लाइव के समय में देश के सम्पूर्ण आन्तरिक व्यापार पर कम्पनी और उसके कर्मचारियों का एकाधिकार था। विलियम वोल्ट्स ने लिखा है: "इस देश में जिन वस्तुओं का उत्पादन होता है, उनमें से प्रायः प्रत्येक वस्तु का—यहां तक कि विदेशों से आयात की जानेवाली कुछ प्रमुख वस्तुओं का भी—सम्पूर्ण आन्तरिक व्यापार कम्पनी के ऊंचे कर्मचारियों-द्वारा उनके बनियों तथा अन्य कृपापात्रों की सहायता से एकाधिकार के रूप में चलाया जा रहा है। इसके अतिरिक्त, पिछले वर्षों में कलकत्ता-स्थित सरकार ने प्रत्येक सरकारी कदम इस प्रकार के एकाधिकारों का समर्थन करने के लिए ही नहीं उठाया है, अपितु

---

1. ऐडम स्मिथ, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 600
2. वही, पृष्ठ 601

कभी-कभी स्थानीय बातों की जानकारी के अभाव के कारण और कभी कम्पनी के विदेश-स्थित कर्मचारियों के अव्यक्त अनुमोदन अथवा लीडन हाल में दलों की स्थिति के परिणामस्वरूप कम्पनी के कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के परस्पर-विरोधी और अविवेकपूर्ण आदेश भी इस प्रकार के लज्जाजनक कदमों को बढ़ावा देते रहे हैं।"[1] पारवहन-शुल्क-पद्धति का प्रयोग एक ऐसे साधन के रूप में किया जाता था, जिससे उन एकाधिकारों की रक्षा होती थी और एकाधिकारियों को उनके सौदों पर हो सकनेवाली हानियों से बचा लिया जाता था। मिसाल के तौर पर, जिस वर्ष बंगाल में कम्पनी के कुछ ऊंचे कर्मचारियों ने बम्बई की कपास मंगाने के लिए एकाधिकार स्थापित किया, उसी वर्ष उत्तर-भारत (उत्तरप्रदेश) में कपास की फसल असाधारण तौर पर अच्छी रही। बंगाल के स्थानीय व्यापारी उत्तर और दक्षिण-भारत से बहुत अधिक मात्रा में कपास मंगाने लगे और इस तरह कम्पनी के एकाधिकार के लिए खतरा पैदा हो गया तथा कम्पनी की ज़बर्दस्त हानि निश्चित जान पड़ने लगी। तत्काल बिहार से होकर बंगाल में लाई जानेवाली कपास के आन्तरिक आयात पर 30 प्रतिशत शुल्क लगा दिया गया और कीमतें इतनी ऊंची रहने दी गईं, जिनसे एकाधिकारियों को हानि से बचाया जा सके।"[2]

देश का आन्तरिक व्यापार कम्पनी-कर्मचारियों के हाथ में था और उससे होनेवाला लाभ स्वयं कम्पनी को मिलने के स्थान पर उसके चरित्रहीन कर्मचारियों को धनी बना रहा था। कम्पनी के ऊंचे कर्मचारी बहुत अधिक धन कमा रहे थे। इस कार्य-व्यापार में स्वयं गवर्नर-जनरल भी सहभागी था। इस तरह के कामों से न केवल भारतीयों को आन्तरिक व्यापार से वंचित कर दिया गया, बल्कि उत्पादक तथा उपभोक्ता, दोनों के साथ छल भी किया गया, क्योंकि उन्होंने प्रथम को सस्ते दामों पर माल बेचने के लिए बाध्य किया और दूसरे को वस्तुएं अधिक कीमत पर खरीदने के लिए।"[3] सन् 1770 का बंगाल का अकाल व्यापार के क्षेत्र में होनेवाली इन्हीं एकाधिकारपूर्ण गतिविधियों का प्रत्यक्ष परिणाम था। "अंग्रेजों ने सारा चावल खरीद कर और फिर बहुत अधिक कीमतों के अतिरिक्त और किसी भाव पर उसे बेचना अस्वीकार करके अकाल की सृष्टि की थी।"[4]

व्यापार के क्षेत्र से अपने प्रतियोगी व्यापारियों को निकाल बाहर करने के लिए कम्पनी ने और तरीकों से भी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया। ऐसे बहुत-से उदाहरण प्राप्त हैं, "जब स्वतन्त्र व्यापारियों का—यहां तक कि यूरोपियनों, विशेषत: आर्मेनियनों, मुगलों और हिन्दुओं का भी—माल, इस एकाधिकार के फलस्वरूप, सड़क पर खुलेआम रोक लिया गया और ज़बर्दस्ती महसूल-गोदामों में ले जाया गया।"[5] उस माल के मालिकों को प्राय: "उनकी इच्छा के विरुद्ध, ऐसे जहाज़ों-द्वारा माल भिजवाने के लिए बाध्य होना पड़ता था, जिनके बारे में उनकी राय अच्छी नहीं होती थी और जिन्हें ऐसी

---

1. विलियम बोल्ट्स, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 195
2. वही, पृष्ठ 196
3. टी० बी० मैकाले, 'क्रिटिकल ऐण्ड हिस्टारिकल एसेज़', डेंट का द्विखंडीय संस्करण (1933), पृष्ठ 528
4. मार्क्स, 'कैपिटल' (मास्को-संस्करण), खंड 1, पृष्ठ 753
5. विलियम बोल्ट्स, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 197.

व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे गंतव्य स्थानों तक जाना होता था, जो प्रायः उनकी अपनी व्यापार-योजना के प्रतिकूल पड़ते थे।"[1] इधर-उधर की तथा उपेक्षित बन्दरगाहों में उनका माल खराब होने के लिए छोड़ दिया जाता था और कभी-कभी तो वह खो भी जाता था। उन आर्मेनियनों को पूर्णतः नष्ट कर दिया गया, जो ईरान और अरब को किए जानेवाले निर्यातों के बंगाल-स्थित मुख्य व्यापारी थे, और उनका स्थान कम्पनी तथा उसके कर्मचारियों ने ले लिया।"[2]

आन्तरिक व्यापार पर पारवहन तथा सीमा-शुल्क मुगल-शासन में भी प्रचलित थे। अंग्रेजों ने बंगाल में राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने पर शुल्कों में उल्लेखनीय वृद्धि कर दी; उस समय तक जो वस्तुएं शुल्क-मुक्त थीं, उन पर भी सीमा-शुल्क लगा दिए और नए टैरिफ तथा राहदारी अवरोधक खड़े कर दिए। इस तरह, देश में पारवहन और सीमा-शुल्कों का एक वृहद तन्त्र कायम हो गया। उन महसूलों से दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति की गई थी— एक तो यह, कि उनके कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतियोगी— डच, फ्रेंच और भारतीय व्यापारी भी— देश के आन्तरिक व्यापार से बाहर हो गए; और दूसरे, उनके कारण कम्पनी के उस राजस्व में लाभप्रद वृद्धि हो गई, जिसका उपयोग अंशतः कम्पनी के सैनिक तथा असैनिक व्यय की पूर्ति के लिए और अंशतः इंग्लैण्ड को निर्यात किया जानेवाला भारतीय माल खरीदने के लिए किया जाता था। जैसा कि लगभग सदैव ही अधिक ऊंचे संरक्षणात्मक शुल्कों के सम्बन्ध में होता है, उपर्युक्त दोनों उद्देश्य किंचित् परस्पर-विरोधी सिद्ध हुए, क्योंकि संरक्षणात्मक प्रभाव उत्पन्न कर सकनेवाले ऊंचे शुल्कों से अधिक राजस्व नहीं मिल पाता।

अन्ततोगत्वा, अठारहवीं शताब्दी के अन्त के आस-पास आन्तरिक व्यापार पर लगे पारवहन-शुल्कों में कमी की जाने लगी और अखीर में, सन् 1838 में, ईस्ट इंडिया कम्पनी के मामलों की संसदीय जांच के बाद उन्हें बिल्कुल समाप्त कर दिया गया।

(ख) विदेशी व्यापार : इंग्लैण्ड में बैठे अंग्रेज यह बात भली-भांति जानते थे कि ब्रिटेन की सम्पन्नता बढ़ाने के लिए भारतीय संसाधनों का प्रयोग किस तरह किया जाना है। सन् 1769 में ही ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने हिदायतें दे दी थीं कि बंगाल में कच्चा रेशम-निर्माण को बढ़ावा दिया जाना चाहिए और निर्मित रेशमी वस्त्रों की तैयारी को निरुत्साहित किया जाना चाहिए।"[3] उसी पत्र में यह भी सिफारिश की गई थी कि रेशम का तार ऐंठनेवालों को अपने घरों में काम करने न देकर कम्पनी के कारखानों में काम करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। इस तरह, इस पत्र में भारतीय अर्थ-व्यवस्था को औपनिवेशिक पद्धति पर ढालने की नीति सार-रूप में निहित थी, जिसका मुख्य उद्देश्य था—अपने देश के उद्योगों के लिए कम कीमत पर कच्चा माल खरीदना और अपने देश में तैयार वस्तुएं अधिक कीमत पर बेचना। सन् 1783 की प्रवर-समिति ने ठीक ही कहा था कि "इस पत्र में बाध्यता और प्रोत्साहन, दोनों की

---

1. वही
2. वही
3. बंगाल के नाम लिखा गया सामान्य पत्र, दिनांक 17 मार्च, 1769; देखिए, आर० सी० दत्त, 'इकोनामिक हिस्टरी आफ इंडिया अण्डर अर्ली ब्रिटिश रूल', पृष्ठ 256

उस नीति की पूर्ण योजना निहित थी, जिसे उल्लेखनीय अंश तक बंगाल में हो... वस्तु-निर्माण पर घातक प्रभाव डालना था। इसका उद्देश्य उस उद्योग-प्रधान प्रदेश का पूर्णतः रूप-परिवर्तन करके उसे ग्रेट ब्रिटेन में बननेवाली वस्तुओं के लिए कच्ची सामग्री का उत्पादक प्रदेश बना देना था।"[1] यह योजना अठारहवीं शताब्दी में पूर्णतः बद्धमूल ब्रिटेन की वाणिज्यिक नीति के अनुरूप थी। सन् 1721 में ही सम्राट् के व्याख्यान में यह संकेत दिया गया था कि "यदि प्रोत्साहन-द्वारा उपनिवेशों को ऐसा नौसैनिक साज-सामान तैयार करने के लिए उकसाया जा सके, जिनका विदेशों से आयात किया जा रहा है, तो इससे केवल राष्ट्र के धन-वैभव तथा शक्ति में ही वृद्धि नहीं होगी, बल्कि उपनिवेशों को इस लाभप्रद सेवा में लगाने से यह लाभ भी होगा कि इस प्रकार वहां के लोग ऐसी वस्तुएं तैयार करने से विरत हो जाएंगे, जो इंग्लैण्ड में बनी वस्तुओं के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती हैं।"[2] इस नीति का पालन सबसे पहले उत्तर-अमेरिका में किया गया, किन्तु वे उपनिवेश हाथ से निकल जाने पर ब्रिटेन ने भारत की ओर ध्यान दिया, ताकि ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था में भारत वही कार्य कर सके, जो सन् 1776 से पहले अमेरिकी उपनिवेश कर रहे थे। भारतीय अर्थ-व्यवस्था को परम्परागत औपनिवेशिक सांचे में ढालने का उद्देश्य पूरा करने के लिए अंग्रेज़ी शासन की आरम्भिक अवधि में उत्साहपूर्वक कदम उठाए गए।

कम्पनी भारत और चीन के साथ अंग्रेजी व्यापार का एकाधिकार प्राप्त कर चुकी थी। जब तक कम्पनी को भारत में राजनीतिक शक्ति नहीं मिली, तब तक इस एकाधिकार का प्रयोग केवल उन अंग्रेज़ व्यापारियों के विरुद्ध होता था, जो कम्पनी से सम्बद्ध न थे। भारत-विजय के उपरान्त ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारतीय व्यापार से प्रतियोगी यूरोपीय कम्पनियों को निकाल बाहर करने का अधिकार प्राप्त हो गया। डचों और फ्रांसीसियों को कम्पनी के प्रदेशों में से भारतीय वस्तुएं खरीदने से रोक दिया गया, उत्पादकों और कारीगरों को गैर-ब्रिटिश कम्पनियों के एजेंटों के हाथ अपनी वस्तुएं बेचने से रोक दिया गया और डच तथा फ्रांसीसी कम्पनियों के गुमाश्तों को अंग्रेज़ी कम्पनी के एजेंट प्रायः मारने-पीटने तथा अपमानित करने लगे। केवल चीन के साथ किए जानेवाले अफीम और चाय के व्यापार में अन्य यूरोपीय कम्पनियों को भाग लेने के लिए उत्साहित किया जाता रहा, किन्तु यह कदम भी भारत में निवेश करने के लिए चीन की चांदी अधिकतम मात्रा में प्राप्त करने की आवश्यकता से प्रेरित होकर ही उठाया गया था।"[3]

---

1. 'नाइन्थ रिपोर्ट आफ द सेलेक्ट कमिटी', 1783, पृष्ठ 64

2. आर० एफ० रीस, 'द कमर्शल पालिसी आफ इंग्लैण्ड इन द एटीन्थ सेंचुरी', 'इकोनामिका', लंदन, 1925

3. तत्कालीन भारत की ब्रिटिश सरकार के अध्यक्ष, सर जान मैकफर्सन, ने अपने तौर पर सन् 1785 में डचों को जहाज-द्वारा बटाविया में अफीम भेजने के लिए सभी सम्भव सुविधा देने का प्रस्ताव किया था। उसने स्पष्ट समझ लिया था कि अंग्रेजी कम्पनी यदि इस तरह डच कम्पनी के हाथ अफीम बेचेगी कि उसका भुगतान बंगाल में न किया जाकर चीन में हो, तो इससे अंग्रेजी कम्पनी को लाभ होगा। डच प्रतिनिधि हर्कलाट बटाविया-स्थित डच गवर्नर-जनरल को इस बात के लिए तैयार करने में असमर्थ रहा कि वह अंग्रेजी कम्पनी को चांदी के रूप में इस तरह बड़ी-बड़ी रकमें अदा करने का दायित्व

कार्नवालिस की नियुक्ति के बाद एक ज़बर्दस्त परिवर्तन आरम्भ हुआ। फर्बर ने उसे "अनियन्त्रित से नियन्त्रित साम्राज्यवाद के रूप में होनेवाला परिवर्तन" कह कर पुकारा है। "हेस्टिंग्स के कार्यकाल के अन्तिम वर्षों में हम यूरोपियनों को प्रत्येक सम्भव उपाय से अपने घरों में धन बटोर लाने में संघर्षरत पाते हैं। कार्नवालिस. के कार्यकाल के अन्तिम वर्षों में भी धन के लिए ऐसा ही संघर्ष दिखाई तो देता है, परन्तु वह अधिक व्यवस्थित है।"[1] पिट के इंडिया ऐक्ट और कार्नवालिस के प्रशासनात्मक सुधारों ने साम्राज्यवाद का कार्य-साधन करने में महत्त्वपूर्ण सहायता पहुंचाई।

उस समय ऐसे परिवर्तन किए जा रहे थे, जिनसे ईस्ट इंडिया कम्पनी को पूरी तरह शासन के अधीन ही हो जाना था।"[2] ऐसी परिस्थितियों में भारत में ब्रिटेन की वाणिज्यिक नीति में अनुकूल व्यापार-संतुलन बनाए रखने और वार्षिक भुगतानों का वह अतिरिक्त अंश भारत से भेजे जाते रहने पर ज़ोर देने के बदले ब्रिटिश उद्योग के लिए भारतीय मंडी के शोषण-द्वारा व्यापार के परिमाण में वृद्धि करने पर स्वभावतया अधिक ज़ोर दिया जाने लगा। सन् 1773 से आरम्भ होकर प्रति बीस वर्ष के अंतराल पर संसद्-द्वारा की जानेवाली ईस्ट इंडिया कम्पनी के मामलों की जांच से उद्योगपतियों को, इंग्लैण्ड की वाणिज्यिक नीति निर्धारित करने में, संसद् पर प्रभाव डालने के अवसर प्राप्त हो गए। सन् 1813 से भारत में ब्रिटिश वस्तुओं की मंडी का विस्तार करने के सुयोजित प्रयास किए जाने लगे।

सन् 1793 से 1813 के बीच की बीस वर्ष की अवधि में इंग्लैण्ड और भारत के बीच प्रतिवर्ष औसतन बीस लाख पौण्ड मूल्य के माल का व्यापार हुआ। इस देश की विशालता और अठारहवीं शताब्दी में इस देश के धन-वैभव के बारे में इंग्लैण्ड पहुंचनेवाले समाचारों को ध्यान में रखते हुए यह उपलब्धि मामूली ही है। अतः, सन् 1813 में शासपत्र के पुनरीक्षण के अवसर पर कम्पनी के एकाधिकार पर कड़े प्रहार किए गए और उसके व्यापार-विषयक विशेषाधिकार समाप्त कर दिए जाने की मांग ज़ोर पकड़ गई। शासपत्र के पुनरीक्षण के फलस्वरूप कम्पनी का एकाधिकार छिन गया और सभी ब्रिटेन-निवासियों को भारत के साथ व्यापार करने की छूट मिल गई। इसके कुछ ही समय बाद भारत के भीतरी भागों में ब्रिटिश राष्ट्रजनों के बस जाने पर लगे प्रतिबंध हटा दिए गए और ब्रिटिश पूंजीपतियों को यहां बसने तथा भूमि की खेती और बगान-उद्योगों में अपनी पूंजी लगाने की अनुमति दे दी गई।

3. निर्बाध व्यापार का युग

कम्पनी का एकाधिकार समाप्त हो जाने और उद्यमियों को अपने तौर पर भी व्यापार की सुविधा मिल जाने से इंग्लैण्ड और भारत के सम्बन्धों में एक नए युग का

ले ले। इसीलिए निजी तौर पर किया गया उपर्युक्त प्रस्ताव स्वीकृत न हो सका। फिर भी, अफीम और शोरे के मामले में मैकफर्सन ने डचों को अधिक-से-अधिक सभी सम्भव छूट देने में अपनी ओर से कोई कसर न रखी। —होल्डेन फर्बर, 'जान कम्पनी ऐट वर्क', (कैम्ब्रिज, हार्वर्ड विश्वविद्यालय, 1948), पृष्ठ 87

1. होल्डेन फर्बर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 227
2. वही, पृष्ठ 302

सूत्रपात हुआ। एकाधिकार का अन्त हो जाने पर ब्रिटेन से भारत भेजी गई वस्तुओं की मात्रा में असामान्य वृद्धि हुई। सन् 1814 में भारत में आई 10 लाख 80 हजार पौण्ड मूल्य की ब्रिटिश वस्तुओं की तुलना में सन् 1829 में 40 लाख 50 हजार पौंड मूल्य की वस्तुएं इंग्लैण्ड से भारत भेजी गईं। ये आंकड़े भी उस वृद्धि को यथोचित रीति से अभिव्यक्त करने में असमर्थ हैं, जिसे श्री क्रैफर्ड ने "वाणिज्य के इतिहास में अद्वितीय"[1] बताया है, क्योंकि सन् 1814 में मुद्रा का मूल्य उसके मानक-मूल्य से कोई 25-26 प्रतिशत कम था। यदि इस तथ्य को ध्यान में रखा जाए, तो सन् 1814 की उपर्युक्त रकम 10 लाख 40 हजार ही रह जाती है।"[2] इसके अलावा, सन् 1814 में फ्रांसीसी लड़ाइयों के कारण कीमतें ऊंची थीं और सन् 1828-29 में कीमतें गिर कर अपने सामान्य शान्तिकालीन स्तर तक आ चुकी थीं। अतः, परिमाण की दृष्टि से उक्त पन्द्रह वर्ष की अवधि में इंग्लैण्ड से भारत भेजे गए माल में चौगुनी वृद्धि अवश्य हुई होगी। ब्रिटेन से भारत भेजी गई कुछ प्रमुख वस्तुओं के परिमाण में होनेवाली वृद्धि की सूचक निम्नलिखित तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाएगी"[3] :

वस्तु	1814	1828	पूर्ण वृद्धि	प्रतिशत वृद्धि
तांबा (तैयार और बिना तैयार किया गया) (हंडरवेट)	37,619	41,472	4,123	11
लोहा, छड़, बोल्ट और ढला हुआ (हंडरवेट)	1,86,454	4,38,629	2,52,175	135
बनात, ऊनी कपड़ा, हल्का गर्म कपड़ा (संख्या) .	17,790	49,502	31,712	178
सूती कपड़ा, सफेद और छपा हुआ (गज) .	6,80,234	3,48,43,110	3,41,62,876	5,022
सूती रस्सी (पौंड)	8	45,58,185	45,58,177	5,69,77,213

ईस्ट इंडिया कम्पनी की ओर से सन् 1813 में इस बात पर निष्ठापूर्वक ज़ोर दिया गया कि "भारत के लोगों के लिए उपभोग्य वस्तुओं की संख्या या परिमाण बढ़ाने की सम्भावनाएं कम हैं। अतः, उस रकम या उन वस्तुओं के वैविध्य में भी वृद्धि होने की सम्भावना कम है, जो भारत आयातित वस्तुओं के बदले में दे सकता है।"[4] जहां तक ब्रिटेन में बनी वस्तुएं भारत में खपा सकने का सम्बन्ध है, उस अवधि में ब्रिटेन-द्वारा किए गए ज़ोरदार निर्यात-उपक्रम के बावजूद उपर्युक्त विश्वास असत्य ही सिद्ध हुआ।

1. 'एविडेन्स बिफोर द सेलेक्ट कमिटी आन ईस्ट इंडिया अफेयर्स', 1833, रिपोर्ट, खंड 2, भाग 2, पृष्ठ 511
2. वही, पृष्ठ 511
3. वही
4. वही, पृष्ठ 512

भारत के व्यापारिक ढांचे में परिवर्तन

ब्रिटेन ने भारत में अपनी मंडी का विस्तार करने के लिए जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कदम उठाए, उनमें से एक था—इस देश पर ऐसे समय में मुक्त व्यापार-नीति थोपना, जब यहां के उद्योगों का ह्रास हो रहा था—भारत को ब्रिटिश वस्तुएं निःशुल्क या नाममात्र के शुल्कों पर भारत आने देने के लिए बाध्य किया गया, जबकि भारत में बनी वस्तुओं के इंग्लैण्ड में आयात पर कड़े शुल्क लगे रहे।"[1] इस नीति का फल तत्काल सामने आया। भारत के विदेशी व्यापार में तेज़ी से वृद्धि हुई। सन् 1846-51 के पांच वर्षों में समुद्र-मार्ग से किए गए भारत के विदेशी व्यापार का वार्षिक मूल्य 18.64 करोड़ रु० से बढ़ कर 35.70 करोड़ रु० हो गया। अगले पांच वर्षों में होनेवाली वृद्धि इससे भी अधिक ज़ोरदार रही। विदेशी व्यापार का औसत वार्षिक मूल्य बढ़ कर 52.70 करोड़ रु० हो गया, जिसमें से निर्यात 26.85 करोड़ रु० का था और आयात 25.85 करोड़ रु० का।

सामान्यतः किसी देश के व्यापार में होनेवाली वृद्धि उसके लिए हितकर होती है, परन्तु भारत के व्यापार के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने के कारण व्यापार में होनेवाला विस्तार भारतीय उद्योग के लिए घातक ही सिद्ध हुआ और उसका परिणाम लोगों की निर्धनता के रूप में सामने आया। जो भारत अठारहवीं शताब्दी में विश्व-भर में सूती कपड़े का प्रमुख उत्पादक और निर्यातकर्ता था, वही 70 वर्ष की छोटी-सी अवधि में विदेशों में बने माल का एक बड़ा उपभोक्ता-मात्र बन कर रह गया। अब सूती कपड़े का भारत के आयातों में प्रधान स्थान हो गया, जबकि अठारहवीं शताब्दी में उसे भारत के निर्यातों में सर्वप्रधान स्थान प्राप्त था। सन् 1814 से 1835 तक की बीस वर्ष की अवधि में भारत की औद्योगिक स्थिति में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, उनका अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है"[2] :

वर्ष	भारत को भेजा गया, ब्रिटेन में बना सूती माल	ब्रिटेन में आया, भारतीय सूती माल
	(गज़ों में)	(गज़ों में)
1814	8,18,208	12,66,608
1821	1,91,38,726	5,34,495
1828	4,28,22,077	4,22,504
1835	5,17,77,277	3,06,068

सन् 1814 और 1835 के बीच भारत से ब्रिटेन भेजे गए कपड़े का परिमाण 13 लाख

1. जोन ब्योशेम्प, 'ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म इन इंडिया', पृष्ठ 29
भारतीय उद्योग के ह्रास और मैंचेस्टर में सूती वस्त्र-उद्योग के उदय के बाद ब्रिटिश माल को भारतीय सूती कपड़े की प्रतियोगिता का भय न रहा। अतः, भारतीय माल पर लगे शुल्क धीरे-धीरे कम कर दिए गए। सन् 1840 में भारत आनेवाले ब्रिटिश सूती माल पर साढ़े-तीन प्रतिशत शुल्क दिया जाता था, जबकि इंग्लैण्ड जानेवाले भारतीय सूती माल पर दस प्रतिशत शुल्क चुकाना होता था।

2. वही, पृष्ठ 29

गज से घट कर 3 लाख गज से कुछ अधिक रह गया। उधर, भारत-द्वारा अन्य देशों को भेजे गए माल के परिमाण में भी कमी आई। मिसाल के तौर पर, अमेरिका भेजे गए सूती कपड़े का परिमाण 13,633 गांठों से गिर कर सन् 1829 में 258 गांठें ही रह गया और सन् 1800 में 1,457 गांठ सूती कपड़ा भारत से मंगानेवाले डेन्मार्क ने सन् 1820 के बाद कभी 150 गांठ से अधिक सूती कपड़ा भारत से नहीं मंगाया।

भारत अपने यहां निर्मित वस्तुओं के लिए विदेशी मंडियों से ही वंचित नहीं हो गया, बल्कि देश की अपनी मंडी भी विदेशों से आयातित माल से भर गई। ब्रिटेन से भारत भेजे गए सूती माल के मूल्य में होनेवाली वृद्धि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाती है"[1] :

(लाख पौण्डों में)

1813	1.1	
1831	16.5	(इस रकम में चीन भेजे गए माल का मूल्य शामिल है।)
1835	17.9	
1840	38.6	
1845	42.1	
1850	52.2	
1855	58.4	
1856	63.0	

सूती कपड़े के अलावा, भारत रेशमी और ऊनी वस्त्र, मशीनें और धातु की बनी वस्तुएं दूसरे देशों से मंगाता था। इस आयातित माल की प्रतियोगिता ने भारतीय उद्योग का नाश कर दिया, कारीगरों को उनकी आय से वंचित कर दिया और मजदूरों के लिए काम के अवसर बहुत कम कर दिए। दूसरी ओर, निर्यातों ने, जिनमें कच्ची कपास, कच्चा रेशम, अनाज, अफीम, नील और पटसन शामिल था, देश का अतिरिक्त कृषि-उत्पादन विदेशों में भेज कर भारत को नग्नप्राय कर दिया, कच्चे माल की कीमतें ऊंची कर दीं और भविष्य में सामने आनेवाले कृषि-उत्पादन-विषयक उन अभावों और अकालों की आधारशिला रख दी, जिन्होंने अगले एक सौ वर्ष तक इस देश को अपने चंगुल में दबाए रखा। इस तरह, भारत का विदेशी व्यापार उसके संसाधनों के शोषण तथा उसकी आर्थिक दासता का कारण बना।

"हेनरी सेंट जार्ज टकर"[2], 'जॉर्ज थाम्पसन"[3] और उनकी विचारधारावाले दूसरे अंग्रेजों ने उस वाणिज्यिक नीति पर खेद प्रकट किया, जिसका इंग्लैण्ड भारत में पालन कर रहा था। हेनरी जार्ज टकर ने सन् 1833 में लिखा : "यह क्या वाणिज्यिक

1. वही, पृष्ठ 30
2. जी० टकर, 'मेमोरियल्स आफ इंडियन गवर्नमेंट', लंदन, 1852
3. थाम्पसन, पूर्वोक्त 'सिक्स लेक्चर्स'

नीति है, जो हमने इस देश में भारत के सम्बन्ध में अपनाई है? रेशमी माल और सूत तथा रेशम से मिल कर बने कपड़े के थान बहुत समय से हमारी मंडियों में बिल्कुल नहीं आने दिए गए हैं और इधर कुछ समय से अंशतः 67 प्रतिशत शुल्क लगा दिए जाने के कारण, किन्तु मुख्यतः बेहतर मशीनों के प्रभाव के फलस्वरूप, वे सूती वस्त्र, जो अब तक व्यापार की प्रधान भारतीय वस्तु थे, अब न केवल इस देश से हटा दिए गए हैं, बल्कि हम वास्तव में अपने अधीनस्थ एशियायी प्रदेशों में उपभोग के लिए अपने यहां के सूती कपड़े का निर्यात भी करने लगे हैं। इस तरह, भारत को वस्तु-निर्माता देश की स्थिति से गिरा कर केवल खेतिहर देश के स्तर पर ले आया गया है।"[1] ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सन् 1840 में संसद् के सामने उन आयात-शुल्कों का विरोध किया, जो इंग्लैण्ड में भारतीय माल पर लगे थे और जो भारतीय उद्योगों को हतोत्साहित कर रहे थे। किन्तु उचित समय के बहुत बाद किए गए इन विरोधों का कोई बड़ा लाभ नहीं हुआ, क्योंकि साम्राज्य की रूप-योजना के एक अंग के नाते भारत को उद्योग-प्रधान देश के स्तर से गिरा कर कृषि-प्रधान देश बना देने की प्रक्रिया तब तक लगभग पूरी हो चुकी थी।

4. भुगतान-संतुलन

ब्रिटेन में बनी वस्तुएं भारत भेजने के मार्ग में अभी एक रुकावट बाकी थी। ब्रिटेन में बनी वस्तुओं का उत्तरोत्तर बढ़ता परिमाण भारत तभी खपा सकता था, जब उसे उन आयातों के बदले कुछ देने-योग्य वस्तुएं तैयार करने तथा देने-योग्य बना लिया जाता। भुगतान-संतुलन की समस्या हल करना आसान न था।"[2] भारत में होनेवाला उत्पादन आयातों में होनेवाली वृद्धि के बराबर न बढ़ सका। भारत की क्रय-शक्ति का यह अभाव ब्रिटेन में बनी वस्तुओं की बिक्री भारत में बढ़ाने में बाधक हो गई। सूती वस्त्र बुनने के जिस उद्योग से भारत प्रमुख रूप से विदेशी मुद्रा अर्जित कर रहा था, वह नष्ट किया जा चुका था और सूती कपड़े का निर्यात किए जाने के स्थान पर स्वयं भारत में मशीन से बने सस्ते कपड़े की भरमार की जा रही थी। कच्ची कपास एक अन्य ऐसी वस्तु थी, जो भारत इंग्लैण्ड के हाथ बेच सकता था। किन्तु अमेरिकी कपास की तुलना में भारतीय कपास महंगी भी थी और घटिया भी।"[3] गोलमिर्च, चीनी और दालचीनी की मांग भी बहुत कम हो गई थी।

इसके अलावा, विश्व की मंडी में भारतीय वस्तुओं की कीमतों में बहुत गिरावट आ गई थी और इस प्रकार व्यापार की स्थिति इस देश के बहुत प्रतिकूल हो गई थी।

---

1. हस्किसन के नाम पत्र, 1823, पूर्वोक्त 'मेमोरियल्स आफ इंडियन गवर्नमेंट' के पृष्ठ 494 पर पुनर्मुद्रित

2. भुगतान-संतुलन के सम्बन्ध में भारत की कठिनाइयों का कुछ अनुमान निम्नलिखित आंकड़ों से लग जाएगा: सन् 1806 में कलकत्ता-बन्दरगाह से 14,60,000 पौण्ड के कपड़े का निर्यात किया गया; सन् 1836 में जितना सूती कपड़ा दूसरे देशों को भेजा गया, उसका मूल्य 1,08,000 पौण्ड था। सन् 1805 में भारत से 4,00,000 पौण्ड मूल्य की कच्ची कपास का निर्यात किया गया था और सन् 1835 में 4,87,000 पौण्ड मूल्य की।

3. 'सेलेक्ट कमिटी रिपोर्ट', 1833, खंड 2, भाग 2, पृष्ठ 516

भारत से निर्यात की जानेवाली प्रमुख वस्तुओं की कीमतें किस हद तक गिर गई थी, इसका कुछ अनुमान निम्नलिखित तालिका से लगाया जा सकता है"[1] :

	1793	1815	प्रतिशत वृद्धि या कमी	1831	1815 की तुलना में प्रतिशत कमी
	शि० पे०	शि० पे०		शि० पे०	
कच्ची कपास प्रति पौण्ड	1–3/4	0–11½	—9	0–5	56
नील प्रति पौण्ड	7–4½	8–10	+9	4–0	54
चावल प्रति हंडरवेट	शून्य	23–9	—	14–10	39
शोरा प्रति हंडरवेट	59–9	87–0	+45	36–0	58
कच्चा रेशम प्रति पौण्ड	12–0	18–1	—13	13–7½	24
दालचीनी (श्रीलंका) प्रति पौण्ड	12–0	13–8	+13	8–9	35
काली मिर्च प्रति पौण्ड	1–2½	0–10½	—27	0–3¾	64
चीनी प्रति हंडरवेट	66–6	49–1	—26	26–2	46

कम्पनी के एकाधिकार की समाप्ति और भारत के साथ मुक्त व्यापार के आरम्भ को इस गिरावट का कारण ठहराया गया।"[2] किन्तु उसका प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि ब्रिटिश मंडी में भारतीय उत्पादनों की मांग कम हो गई थी। भारत के निर्यात-व्यापार के ढांचे में आमूल परिवर्तन हो चुका था। सूती और रेशमी माल, जिसका भारतीय निर्यात में प्रधान स्थान था, अब यहां के आयात की प्रमुख वस्तु बन चुका था। कच्चे रेशम की मांग गिर चुकी थी और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतीय कच्ची कपास घटिया किस्म की मानी जाती थी। काली मिर्च तथा चीनी के संभरण के नए स्रोत सामने आ जाने के कारण भारतीय काली मिर्च और चीनी की मांग भी गिर गई थी। इसके अलावा, उन वार्षिक प्रभारों की अदायगी की समस्या भी पैदा हो चुकी थी, जो इंग्लैण्ड के साथ भारत के राजनीतिक सम्बन्धों के कारण उत्पन्न हो गए थे और जिसका भुगतान, सोने-चांदी की अनुपस्थिति में वस्तुओं के रूप में ही किया जाना अनिवार्य था। एसी दशा में व्यापार की स्थिति भारत के प्रतिकूल हो जाना आश्चर्य की बात न थी।

1. वही, पृष्ठ 514
2. वही, पृष्ठ 515

सन् 1832 में कम्पनी के शासपत्र के पुनरीक्षण के समय भुगतान-संतुलन की स्थिति पर विचार व्यक्त करते हुए श्री मेकिलाप ने संसदीय उप-समिति के समक्ष कहा था : "भारत से रकमें भेजने में बहुत अधिक कठिनाइयां हैं। ये कठिनाइयां किस तरह सामने आ रही हैं, इसका एक उदाहरण देने के लिए मैं यह बताना चाहता हूं कि पिछले दो वर्षों में आयात किए गए नील और दूसरी वस्तुओं के अधिकांश के बदले यहां 1 शिलिंग 3 पेंस प्रति रुपये से अधिक वसूली नहीं हुई है, जबकि रुपये का टकसाली मूल्य 1 शिलिंग $11\frac{3}{4}$ पेंस कहा जा सकता है; और इसीलिए निजी तौर पर लोग और कम्पनी, दोनों ही इधर कुछ समय से अपने देश में वस्तुओं के बदले चांदी लाकर भुगतान कराते रहे हैं।"[1] शताब्दियों तक भारत अपने कच्चे माल का विदेशों में निर्यात करता रहा, जिसके बदले अन्य देश उसे सोना-चांदी देते रहे। किन्तु, अब स्थिति उलट चुकी थी और भारत अपने आयातों के बदले सोना-चांदी के अलावा और कुछ नहीं दे सकता था। भारत में सोना-चांदी पैदा तो होता नहीं था। अतः, जैसा कि मेकिलाप ने उल्लेख किया, "यदि भारत और चीन की ओर से भुगतान का यही तरीका जारी रखा गया, तो इससे उस देश (इंग्लैण्ड) से मंगाए जानेवाले माल पर रोक लग जाना अनिवार्य है।"[2]

भुगतान-संतुलन की प्रतिकूलता दूर करने के उपाय

(क) कृषि का विकास

भारत की भुगतान-संतुलन की समस्या हल करने और ब्रिटिश माल खरीदने के लिए उसके पास आवश्यक क्रय-शक्ति सुलभ करने का एक उपाय था, भारतीय कृषि-संसाधनों का विकास। इंग्लैण्ड के विभिन्न व्यापार-संगठनों ने सन् 1832 में संसदीय प्रवर समिति से अनुरोध किया कि भारत के कृषि-संसाधनों का विकास करने के लिए सभी सम्भव उपाय किए जाएं। मिसाल के तौर पर, मैंचेस्टर चेम्बर आफ कामर्स ने यह विचार व्यक्त किया : "भारत की निर्यात-योग्य वस्तुओं में वृद्धि और विकास करने से भारत को निस्संदेह बहुत लाभ होगा; इससे केवल भारत का ही नहीं, हमारे देश का भी बहुत हित-साधन होगा। भारतीय कपास की किस्म में सुधार करना ब्रिटेन के सूती वस्त्र-उत्पादन की सफलता की दृष्टि से इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि इस दिशा में भारत जो-कुछ कर सकता है, उसके अविलम्ब विकास के लिए सभी सम्भव सहायता अवश्य दी जानी चाहिए।"[3] इसी तरह, ग्लास्गो चैम्बर आफ कामर्स का विचार था कि "निर्यात-योग्य भारतीय वस्तुओं में होनेवाली प्रत्येक वृद्धि और सुधार से-निस्सन्देह यह प्रभाव पड़ेगा (भारत में ब्रिटिश माल की मंडी का विस्तार होगा)।"[4]

सन् 1840 में व्यापक रूप से यह अनुभव किया जाने लगा था कि ब्रिटेन भारत को विनिमय-योग्य कुछ वस्तुओं का उत्पादन करने के काबिल बनाए बिना अनिश्चित काल तक यहां ब्रिटेन की बनी वस्तुओं की भरमार करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। ईस्ट इंडिया कम्पनी पर यह दबाव डालने के लिए जन-आन्दोलन जड़ें जमाने लगा था कि उसे

---

1. वही, पृष्ठ 577
2. वही, पृष्ठ 577
3. वही
4. वही, पृष्ठ 578

भारत के कृषि-संसाधनों का विकास करना चाहिए। सुझाव दिए गए कि भूराजस्व कम कर दिया जाए, सिंचाई के साधनों का विकास किया जाए, वाणिज्यिक फसलों—विशेषत: कपास की बेहतर किस्मों—की खेती आरम्भ की जाए और इंग्लैण्ड के आयात-व्यापार में उस अमेरिकी प्रदेश में उपजी कच्ची कपास को तरजीह दी जाए, जो उस समय अंग्रेज़ी उपनिवेश नहीं रहा था और जहां दासों को काम पर लगा कर कपास पैदा की जा रही थी। वह आन्दोलन, जिसका खास नमूना जार्ज थाम्पसन-द्वारा सन् 1839 में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन[1] के सामने दिए गए 6 व्याख्यान हैं, भारतीय कृषि के विकास या ब्रिटेन में अमेरिकी कपास की मांग घटा कर भारतीय कपास की मांग बढ़ाने की दिशा में विशेष सफल न हुआ। फिर भी, इस तरह इंग्लैण्ड-द्वारा भारत पर किए जानेवाले अत्याचारों और उसकी नीति के कारण भारतीय कृषि को होनेवाली क्षति पर प्रकाश पड़ गया।

भारतीय कपास की घटिया किस्म और ब्रिटिश मिलों में बारीक कपड़ा तैयार करने में उसकी अनुपयोगिता पर विचार व्यक्त करते हुए थाम्पसन ने कहा था : "भारत की धरती अभिशापग्रस्त है। किसान अपने लिए उसे धन का स्रोत नहीं, अपने निरर्थक श्रम का कार्यस्थल-मात्र समझता है। वहां उसे जो फसल पैदा करनी पड़ती है, उससे वह सम्पन्न नहीं होता, उसका लाभ तो वहां की धरती से असम्बद्ध उस अजनवी को मिलता है, जो अपनी विजय के आधार पर उस धरती पर अपने स्वामित्व का दावा करता है और किसान को उसकी मेहनत के समस्त लाभ से वंचित कर देता है। ऐसी दशा में उद्योग का पिछड़ जाना और विकास की गति रुक जाना अचरज की बात नहीं। वहां के लोग तो असामी की दशा में हैं; वे वस्तुत: इच्छाधीन लगानदार-मात्र हैं। वे ऐसे लोगों की कृपा पर निर्भर हैं, जिनका उद्देश्य राजस्व-संग्रह-मात्र है। अधिकतम कर का भार इतना अधिक है कि वे उसे उठा ही नहीं सकते। वह पूरा भार न कभी उठाया जा सका है, न उठाया जा सकता है। रैयतों और काश्तकारों पर करों की रकमें बकाया रहती हैं और उसी समय से वे उस ज़िला कलक्टर-द्वारा दमन-योग्य समझ लिए जाते हैं, जो उस समय भी अपने आचरण को अधिकतम दयापूर्ण समझता है, जब वह उनकी कपास, गेहूं या चावल का अंतिम अंश लेकर उन्हें अवरुद्ध सांस और प्रकट दीनता के साथ गांव के साहूकार की शरण में जाकर उसकी अनुनय-विनय करने के लिए छोड़ देता है, ताकि वे उसकी सहायता पाकर धरती में बोने के लिए थोड़े-से बीज खरीद कर अगली फसल के समय तक अपने सर्वस्व-वंचित शरीरों और आत्माओं को जीवित बनाए रख सकें।"[2] थाम्पसन का प्रश्न था : "ऐसी परिस्थितियों में भारतीय कृषि में किस प्रकार के सुधार की आशा की जा सकती है?"

(ख) भारत का उपनिवेशीकरण

कृषि को संरक्षण प्रदान करने या भारत के अन्य उत्पादक व्यवसायों के विकास के लिए सहायता देने के हेतु सरकार के तैयार न होने के कारण ब्रिटिश वस्तु-निर्माताओं

---

1. जार्ज थाम्पसन, 'सिक्स लेक्चर्स आन द रिसोर्सेज़ आफ इंडिया', लंदन 1841

2. वही, पृष्ठ 70

ने प्रस्तुत समस्या का हल यह सोचा कि वे यहां आकर बसें और देश के भीतरी भागों में ब्रिटिश प्रजाजनों को बसा कर तथा ब्रिटिश पूंजी के निवेश-द्वारा उत्पादन को बढ़ावा दें। लिवरपूल ईस्ट इंडिया कमिटी ने संसदीय प्रवर समिति के सामने यह विचार प्रकट किया : "हम विशेष रूप से यह सुझाव देना चाहते हैं कि भारत के विभिन्न उत्पादनों में वृद्धि और विकास करने के सर्वश्रेष्ठ तरीके भली-भांति जाननेवाले प्रतिभाशाली व्यक्तियों को देश के भीतरी भागों में जाकर बसने के लिए प्रोत्साहित किया जाए, पूंजी-पतियों को सरल शर्तों पर स्थायी तौर से ज़मीन देकर अपनी धन-सम्पत्ति का ज़मीन के रूप में निवेश करने के लिए प्रोत्साहित और संरक्षित किया जाए, और पुल तथा सड़कें बना कर देश के विभिन्न भागों में आने-जाने के लिए आवश्यक सुविधाएं सुलभ की जाएं।"[1] इसी तरह, ग्लासगो चेम्बर आफ कामर्स ने यह कामना प्रकट की कि भारत जानेवाले उन ब्रिटिश प्रजाजनों को भारत की सुरक्षा और शान्ति का ध्यान रखते हुए सभी सम्भव सुविधाएं और प्रोत्साहन दिए जाएं, जिनकी निपुणता, पूंजी और उद्यम से अत्यन्त लाभप्रद परिणामों की आशा असंगत नहीं है।"[2] मैंचेस्टर चेम्बर आफ कामर्स के अनुसार, भारत के उत्पादनों और व्यापार को बढ़ाने का "प्रत्यक्ष" उपाय यह था कि "ब्रिटिश प्रजाजनों को वहां ज़मीन लेने दी जाए।"[3] चैम्बर ने यह भी कहा कि "यदि हानिप्रद रुकावटें हटा दी जाएं और ब्रिटिश पूंजी, योग्यता और उद्यम को सहज रूप से काम करने की छूट दे दी जाए, तो भारत की उपजाऊ भूमि और भारतीयों की शान्तिपूर्ण प्रकृति तथा उद्यमशील स्वभाव से प्रत्येक वांछित फल प्राप्त हो सकता है।"[4] हाल्ट मैकेनज़ी से जब यह पूछा गया कि यूरोपियनों को भारत में बसाने से भारत-सरकार को राजस्व के नाते निश्चित रूप से क्या लाभ होगा, तो उसने कहा था : "मैं समझता हूं कि भारत के किसी भी भाग में जा बसनेवाला प्रत्येक यूरोपियन राजस्व में कुछ-न-कुछ अंशदान अवश्य करेगा, क्योंकि वह लाभप्रद उपभोक्ता होगा, अर्थात् वह कर-योग्य वस्तुओं का उपभोग करेगा। मुझे यह भी आशा है कि वह उत्पादन के साधनों में भी बहुत सुधार कर देगा और इस तरह देश की सामान्य सम्पत्ति में अत्यधिक वृद्धि करेगा। उसे देख कर बहुत-से स्थानीय लोगों में ऐसी यूरोपीय आदतें प्रचलित हो जाएंगी, जो भारतीय लोगों की आदतों की तुलना में अधिक सुखप्रद भी हैं और महंगी भी, और लोगों के स्वभाव बदले बिना भी धन बढ़ने और आन्तरिक तथा बाह्य व्यापार की वस्तुओं का अधिक उत्पादन होने के कारण विविध करों में वृद्धि हो जाएगी। गैर-आबाद ज़िलों में खेती में होनेवाले प्रत्येक सुधार से सरकार का भूराजस्व बढ़ेगा। जहां अब सिंचाई की सुविधा नहीं है, वहां उसका आरम्भ कर देने से वह भूमि अधिक उपजाऊ हो जाएगी, जो अब तक कम उपजाऊ है। बेकार पड़ी जिस भूमि का लगान अभी विशेष रूप से निर्धारित न होकर भी सरकार का प्राप्तव्य है, ऐसे सब मामलों में खेती आरम्भ होते ही तत्काल या निकट भविष्य में राजस्व निर्धारित हो जाएगा। मैं समझता हूं कि यूरोपियनों के संसर्ग से सुरा-मदिरा का उपयोग

---

1. 'सेलेक्ट कमिटी रिपोर्ट', खंड 2, भाग 2, पृष्ठ 578
2. वही
3. वही
4. वही

बढ़ जाएगा, जो नैतिकता के नाते खेदजनक भले ही हो, राजस्व की दृष्टि से हितकर ही होगा। यूरोपियनों के नौकर-चाकर अच्छे कपड़े पहनते हैं और पहनने की वस्तुएं कर-योग्य होने के कारण इस तरह भी राजस्व में वृद्धि होगी।"[1] इसके अलावा, शासक देश के राष्ट्रजनों को शासित देश के भीतरी भागों में बसाने का महत्तवपूर्ण राजनीतिक लाभ भी था, क्योंकि इस तरह लोग विदेशी शासकों के विरुद्ध संगठित होने से रोके जा सकते थे और उनके हृदय में उत्पन्न होनेवाली विद्रोह-भावना को बढ़ने से रोका जा सकता था।

देश के भीतरी भागों में यूरोपियनों के रहने और बस जाने पर लगी पाबन्दियां सन् 1824 में हटा ली गईं। उसके बाद के वर्षों में भारत में ब्रिटिश राष्ट्रजनों और उनकी पूंजी के प्रवेश को बढ़ावा देने की जोरदार कोशिशें की गईं। उन्हें खेती करने और बगान-उद्योगों की स्थापना के लिए पूर्ण स्वामित्व-सहित या 60 वर्ष के दीर्घावधिक पट्टे पर ज़मीन सुलभ की गई। आन्तरिक व्यापार पर लगे पारवहन-शुल्क हटा लिए गए और भारत का समस्त व्यापार तथा उद्योग विदेशी उद्यमियों के लिए सुलभ कर दिया गया।

उपनिवेशीकरण-नीति की असफलता

किन्तु भारत का उपनिवेशीकरण अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड की भांति न हो सका, क्योंकि भारत भली-भांति बसा हुआ और अत्यन्त विकसित देश था, जबकि उपर्युक्त अन्य देश उपनिवेशीकरण के समय विकास की प्रतीक्षा में पड़े बड़े-बड़े भूभाग-मात्र थे।

इसके अलावा, अंग्रेज ज़मीन के छोटे-छोटे टुकड़ों पर खेती करने में भारतीय किसानों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। अंग्रेज उद्यमियों को तो केवल कहवा और चाय की खेती अपने अनुकूल जान पड़ी। खेती के सम्बन्ध में देश की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण खेती का बाकी कार्य-व्यापार वे नहीं अपना सकते थे।

दूसरे, अंग्रेज़ों को अपने देश में जिस तरह की जलवायु में रहने का अभ्यास था, भारत की जलवायु उससे बहुत भिन्न थी। अंग्रेज़ों की भारत-विजय के आरम्भिक दिनों में भारत आनेवाले अंग्रेज़ों की मृत्यु-संख्या बहुत अधिक थी। पेचिस, चेचक, मलेरिया और पेट की बीमारियां उनके लिए बहुत घातक सिद्ध हो रही थीं। जो अंग्रेज़ मरने से बच जाते थे, उनका भी स्वास्थ्य उन रोगों तथा भारत की तेज़ गर्मी के कारण गिर जाता था।

अन्तिम बात यह कि देश के भीतरी भागों में स्थित वाणिज्य-व्यापार में यूरोपियन भारतीयों के साथ प्रतियोगिता करने में सफल न हो सके। भारतवासी मितव्ययी, उद्योगशील और मेधावी रहे हैं। अतः, एक बार विदेशियों-द्वारा कोई उद्योग यहां स्थापित कर दिए जाने पर वे उनसे पीछे न रहे और उनका निर्वाह-व्यय कम होने के कारण वे यूरोपियनों-द्वारा उत्पादित वस्तुएं भी कम कीमतों पर बेच देते थे। मुनरो ने सन् 1813 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के मामलों की जांच करनेवाली संसदीय

1. 'सेलेक्ट कमिटी रिपोर्ट' (1833), खंड 2, भाग 1, प्रश्न-संख्या 89, पृष्ठ 11

समिति के सामने साक्ष्य देते समय इस कठिनाई का पहले से ही अनुमान लगा लिया था। उसने कहा था : "भारत के लोग हमारी ही भांति दुकानदार-जाति के हैं। दुकान पर से उनका ध्यान हटता ही नहीं है। उसे वे अपने धार्मिक और नागरिक, सभी कार्य-कलाप में स्थान दे देते हैं। उनके सभी तीर्थस्थान तथा यात्रियों के विश्राम-स्थल, वास्तव में, अनेक प्रकार की वस्तुओं की बिक्री के लिए आयोजित मेले ही हैं। भारत में धर्म और व्यापार, दो ऐसी कलाएं हैं, जो दो बहनों के समान हैं; उनमें से कोई भी एक किसी बड़े समाज में प्रायः अकेले भाग नहीं लेती। इन देश-वासियों की इसी प्रकृति के कारण मैं यह मानने के लिए विवश हो रहा हूं कि यूरोपीय व्यापारी बहुत समय तक भारत के भीतरी भाग में रह नहीं पाएंगे और उन्हें कभी-न-कभी समुद्र-तट की ओर खदेड़ ही दिया जाएगा। यूरोपीय व्यापारी एक महीने में जो-कुछ खाता-पीता है, उससे एक हिन्दू बारह महीने के लायक अच्छा व्यापारिक लाभ कमा सकता है। अतः, यहां उन दोनों की स्थिति समान नहीं है। उनकी स्थिति तो एक मंडी में से माल खरीदनेवाले उन दो व्यक्तियों के समान है, जिनमें से एक को बहुत अधिक शुल्क देना पड़ता है और दूसरे को बिल्कुल नहीं। अतः, यह असम्भव है कि वह (यूरोपियन) ऐसी असम्भव स्थिति में बहुत समय तक होड़ लगा सके। यह हो सकता है कि अत्यधिक पूंजी के बल पर वह कुछ समय के लिए कोई नई वस्तु तैयार करे या किसी पुराने उत्पादन—मिसाल के तौर पर, नील या चीनी—में सुधार कर दे। हिन्दू उस समय तक प्रतीक्षा करता रहेगा, जब तक वह उस उद्यम को सफल होता न देख लेगा। यदि वह काम सफल या स्थायी होता जान पड़ेगा, तो वह अपने को उसमें लगा देगा और तब यूरोपियन को वह मैदान छोड़ना ही पड़ेगा। मैं समझता हूं कि इसी कारण से अन्ततः यह स्थिति पैदा हो जाएगी कि यूरोपियनों को समुद्र-तट की ओर चले जाने के लिए विवश होना पड़ेगा और मुझे इसमें भी सन्देह नहीं है कि आगे चल कर जब हिन्दू इंग्लैण्ड-स्थित व्यापारियों के साथ स्वयं सम्पर्क स्थापित करने लगेंगे, उस समय समुद्र-तट पर बसे अनेक एजेंटों को इसी कारण, अर्थात् हिन्दुओं के अधिक मितव्ययी और अध्यवसायी होने के कारण, भारत छोड़ने के लिए विवश हो जाना पड़ेगा।"[1]

आगे आनेवाली घटनाओं ने इसी प्रकार घटित होकर मुनरो की दूरदर्शिता की पुष्टि कर दी। अंग्रेज़ भारत को एक अंग्रेज़ी बस्ती बनाने में असमर्थ रहे। उनकी पूंजी उन्हीं उद्योगों तथा वाणिज्यिक कार्य-कलाप की ओर बढ़ सकी, जिनसे भारतवासी अंग्रेज़ों को प्राप्य विशेषाधिकारों के कारण वंचित थे। विदेशी पूंजी मुख्य रूप से चाय और कहवे के बगानों, नील-उत्पादन, जहाज़रानी, विदेशी विनिमय बैंकों और बीमा कम्पनियों की ओर ही खिंचती रही और इस तरह भुगतान-संतुलन की समस्या सुलझने के बदले और उलझ गई; क्योंकि इससे उन अदृश्य आयातों में वृद्धि हो गई, जिनके बदले भारत से कच्चे माल और खाद्य पदार्थों के रूप में भुगतान करना आवश्यक था।

---

1. 'ब्रिटिश पार्लमेंटरी पेपर्स : हाउस आफ कामन्स रिटर्न्स', आदि, 1812-13, खंड 7, भाग 1, पृष्ठ 150-51 : 'मिनट्स आफ एविडेन्स···आन द अफेयर्स आफ द ईस्ट इंडिया कम्पनी' (कर्नल टामस मुनरो का साक्ष्य)

(ग) परिवहन का विकास

संचार के आन्तरिक साधनों के विकास और डलहौज़ी-द्वारा भारत में रेलों का जाल बिछाने के लिए बनाई गई योजना तथा भारतीय अर्थ-व्यवस्था को ब्रिटेन की उद्देश्य-सिद्धि पर निर्भर बनाने की ब्रिटिश योजना में परस्पर गहरी संगति थी। भारतीय उत्पादकों को देश के भीतरी भागों में इकट्ठा करने और उन भागों में ब्रिटेन में बनी वस्तुओं का उपभोग बढ़ाने के लिए देश में परिवहन के सस्ते और सुगम साधन सुलभ करना आवश्यक था। रेलों के निर्माण से एक और लाभ भी हो सकता था : इस प्रकार ब्रिटिश पूंजी के निवेश का एक लाभप्रद साधन प्राप्त हो सकता था। यह सत्य है कि रेलों के निर्माण का काम सही तौर पर उसी समय आरम्भ हुआ, जब देश का प्रशासन कम्पनी के हाथों से निकल कर ब्रिटिश सम्राट् के अधीन आया, किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी की नीति पहले से ही इस ओर संकेत कर रही थी। इस सम्बन्ध में नीति तो वही रही, किन्तु इस काम में तेज़ी सन् 1857 की उथल-पुथल के बाद ही आई।

5. धन की निकासी

भारत से प्रतिफलविहीन अतिरिक्त माल का निर्यात भारत के विदेशी व्यापार का एक ऐसा विशेष पहलू था, जिसने भारत और इंग्लैण्ड, दोनों की अर्थ-व्यवस्था पर व्यापक रूप से प्रभाव डाला। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने बंगाल में एकत्र राजस्व से भारतीय वस्तुएं खरीद कर उन्हें इंग्लैण्ड भेज देने की नीति अपना ली। उन खरीदों को निवेश कहा जाता था। उनके रूप में भारत से धन की 'निकासी' हो रही थी। बंगाल के राजस्व तथा खर्च-विषयक एक विवरण"[1] के अनुसार कम्पनी-प्रशासन के पहले छः वर्षों में इस देश का शुद्ध राजस्व 1,30 66, 99.1 पौण्ड और कुल खर्च 90,27,609 पौण्ड था; और इस तरह 40,39,152 पौण्ड का शुद्ध अधिशेष रह जाता था। अधिशेष की यह रकम वस्तुओं के रूप में इंग्लैण्ड भेज दी जाती थी। देश के शुद्ध राजस्व के एक-तिहाई भाग की– यह प्रतिफलविहीन निकासी बंगाल के आर्थिक संसाधनों की कुल निकासी की सूचक न थी। कम्पनी के कर्मचारी भारत में व्यक्तिगत रूप से अत्यधिक धन कमा कर अपने देश भेज रहे थे। इस तरह भेजी गई रकमों का पूरा विवरण तैयार करना असम्भव नहीं, किन्तु उसकी सीमा का कुछ अनुमान बंगाल के तत्कालीन गवर्नर हैरी वेरेल्स्ट-द्वारा संकलित सन् 1766 और 1768 के बीच के 3 वर्षों में हुए आयात-निर्यात के आंकड़ों से लगाया जा सकता है।"[2] उन आंकड़ों के अनुसार, उक्त तीन वर्षों में कुल 6,24,375 पौण्ड के माल का आयात हुआ और 53,11,250 पौण्ड के माल का निर्यात हुआ और इस तरह 46,86,875 पौण्ड का अथवा औसतन 15 लाख पौण्ड का वार्षिक अधिशेष रहा। इस प्रकार होनेवाली निकासी का परिणाम बाद के वर्षों में और अधिक बढ़ता गया।

1. 'फोर्थ रिपोर्ट आफ द हाउस आफ़ कामन्स, 1773,' जोन ब्योशेम्प-कृत पूर्वोक्त ग्रन्थ का पृष्ठ 25 भी देखिए।

2. हेरी वेरेल्स्ट, 'व्यू आफ द राइज़ एट्सेटरा आफ द ब्रिटिश गवर्नमेंट इन इण्डिया', ब्योशेम्प-द्वारा पूर्वोक्त ग्रन्थ के पृष्ठ 26 पर उद्धृत।

आगे चल कर यही बात भारतीय राष्ट्रवादियों-द्वारा अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध किए जानेवाले प्रतिरोध का एक प्रमुख आधार बनी।

यह विवादास्पद है कि बाद के वर्षों में इस तरह कितने धन की निकासी हुई। व्यक्तिगत तौर पर भेजी गई रकमों और सरकारी व्यापार के आंकड़ों में उपलब्ध निर्यात-अधिशेष को ध्यान में रखते हुए विलियम डिगबी ने अनुमान लगाया है कि "कदाचित् प्लासी और वाटरलू की लड़ाई के बीच एक अरब पौण्ड की रकम भारत से निकाल कर अंग्रेज़ी बैंकों में पहुंचाई गई।"[1] इसका वार्षिक औसत 1 करोड़ 72 लाख पौण्ड बैठता है। प्रोफेसर फर्बर ने दस 'व्यापारिक मौसमों' में हुए व्यापार के आंकड़ों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि "इसमें तो सन्देह नहीं कि भारतीय धन की जिस तरह की निकासी का ऊपर वर्णन किया गया है, वह वास्तव में होती थी, किन्तु यह निश्चित है कि वह बहुत अधिक हद तक नहीं पहुंची थी। सन् 1783-93 की अवधि में प्रति वर्ष 19 लाख पौण्ड से अधिक रकम की पश्चिम की ओर निकासी से अधिक की कल्पना उचित नहीं ठहराई जा सकती।"[2] जान स्ट्रेची का विचार है कि "प्रोफेसर फर्बर की बात ठीक ही है; क्योंकि इस आधुनिक तथा अमेरिकी खोजकर्ता का रकम कम करके बताने में कोई स्वार्थ नहीं है।"[3]

इस तरह भेजे जानेवाले धन का ठीक-ठीक परिमाण निश्चित करने के लिए आवश्यक तथ्यों के अभाव में किसी के लिए इस विवाद में पड़ना उचित नहीं है कि इस तरह, वास्तव में, कितना धन भारत से इंग्लैण्ड प्रति वर्ष भेजा जाता था। यदि डिगबी का अनुमान अतिशयोक्तिपूर्ण है, तो फर्बर का निश्चित रूप से अल्पोक्तिपूर्ण है, क्योंकि, जैसा कि स्वयं उसने भी स्वीकार किया है, उसका निष्कर्ष "पूरे महाद्वीप के आयात तथा निर्यात के पूर्ण तथा यथार्थ आंकड़ों पर आधारित नहीं है।"[4] वास्तविकता चाहे जो भी हो, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ब्रिटेन की भारत-विजय के फलस्वरूप भारत के विदेशी व्यापार को भारत की जनता के शोषण का एक साधन बनाया गया।

भारत की हानि और इंग्लैण्ड का लाभ

भारत से होनेवाली धन की निकासी ने इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास में योग दिया। उपलब्ध प्रमाणों के कारण इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि प्लासी की लड़ाई के बाद इंग्लैण्ड का जो भव्य औद्योगिक ढांचा अस्तित्व में आने लगा, वह प्रधानतः भारतीय उत्पादनों के अवशेषों पर ही निर्मित हुआ था। स्वयं ब्रिटिश इतिहासकारों के अनुसार इंग्लैण्ड में होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति और भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने बंगाल के ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक दिनों में भारत में जो लूट की, उससे प्राप्त रकमों ने ही औद्योगिक क्रान्ति के

---

1. विलियम डिगबी, 'प्रासपरस ब्रिटिश इंडिया', पृष्ठ 33
2. फर्बर, 'जान कम्पनी ऐट वर्क' (कैम्ब्रिज, 1948), पृष्ठ 305
3. जान स्ट्रेची, 'द एण्ड आफ एम्पायर', पृष्ठ 63
4. फर्बर, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 305

आरम्भिक चरणों में औद्योगिक उत्पादन को आवश्यक शक्ति तथा प्रेरणा प्रदान की।"[1] ब्रुक्स ऐडम्स ने स्वीकार किया है कि भारतीय धन ने यहां आकर और राष्ट्र की नगद पूंजी में उल्लेखनीय वृद्धि करके न केवल उसके शक्ति-भांडार में वृद्धि की, अपितु उसकी लोच तथा गतिशीलता में भी वृद्धि कर दी।

"प्लासी की लड़ाई के कुछ ही समय बाद बंगाल की लूट का धन लंदन पहुंचने लगा और उसका तत्काल प्रभाव भी दिखाई पड़ा। प्लासी की लड़ाई सन् 1757 में हुई और उसके बाद जितनी जल्दी परिवर्तन दिखाई पड़ा, वह कदाचित् अद्वितीय भी रहा और अभूतपूर्व भी। सन् 1760 में 'फ्लाइंग शटल' का आविष्कार हुआ और प्रद्रावण में कोयला लकड़ी का स्थान लेने लगा। सन् 1764 में हारग्रीव ने 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार किया; सन् 1779 में क्राम्पटन ने चरखा बनाया; सन् 1785 में कार्टराइट ने शक्तिचालित करघे को पेटेंट कराया और इन सबसे बड़ी बात, सन् 1768 में वाट्स ने भाप से चलनेवाले इंजन को परिष्कृत रूप दिया।.... पर यह सत्य होने पर भी कि इन मशीनों ने उस समय की बढ़ती हुई गतिशीलता को प्रकट होने के साधन प्रदान किए, उन्हें उक्त गतिशीलता का कारण नहीं माना जा सकता। आविष्कार अपने-आपमें निष्क्रिय ही होते हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण आविष्कार शताब्दियों तक छिपे हुए उस शक्ति-पुंज की प्रतीक्षा करते रहे हैं, जो उन्हें गतिशील बना सके। वह शक्ति-पुंज सदैव धन के ही रूप में प्रकट होता है, और यह धन भी गड़ा धन नहीं, गतिशील धन होता है।....भारतीय धन के यहां आने और उसके परिणामस्वरूप होनेवाले ऋण-सुविधा के विस्तार से पहले इस प्रकार की गतिशीलता प्रदान करनेवाली कोई शक्ति विद्यमान न थी और वाट्स यदि पचास वर्ष पहले हुआ होता, तो वह तथा उसके आविष्कार एक ही साथ काल के गाल में समा जाते।

"कदाचित् सृष्टि के आरम्भ से किसी भी अन्य निवेश ने भारतीय लूट के बराबर मुनाफा नहीं कमाया, क्योंकि उसके कारण लगभग 50 वर्ष तक कोई प्रतियोगी ब्रिटेन के सामने खड़ा न हो सका।"[2]

सन् 1694 से 1757 तक यह विकास कुछ धीमा रहा; सन् 1760 और 1815 के बीच यह अधिक तेज भी रहा और परिमाण की दृष्टि से अधिक उपादेय भी।

कनिंघम ने साफ तौर से तो यह नहीं बताया है कि इंग्लैण्ड में होनेवाली औद्योगिक क्रान्ति के स्रोत क्या थे, लेकिन यह क्रान्ति सन् 1760 के बाद ही होने के कारणों के सम्बन्ध में उसने ब्रुक्स ऐडम्स के विचारों का समर्थन किया है। उसने लिखा है: "आविष्कार और खोजें प्रायः केवल आकस्मिक जान पड़ती हैं। लोग प्रायः यही समझते हैं कि नई मशीनें अठारहवीं शताब्दी में आविष्कारिणी प्रतिभा का विशेष तथा अवर्णनीय प्रसाद थीं। किन्तु यह स्पष्ट कर देना कि आर्कराइट और वाट्स इस दृष्टि से सौभाग्यशाली थे कि उनका समय उनके लिए सर्वथा परिपक्व था, वास्तव में उनके गुणों को घटाना नहीं है। विलियम ली और डोडो डडले के समय से अनेक मेधावी व्यक्ति होते रहे हैं, किन्तु उनके समय की परिस्थितियां उनकी सफलता में बाधक थीं। महंगे औजारों अथवा प्रक्रियाओं के प्रचलन में काफी खर्च आता है; अतः,

1. जान स्ट्रेची, पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 67
2. ऐडम्स ब्रुक्स, 'द लाज आफ़ सिविलाइजेशन एण्ड डिके', पृष्ठ 259-60

कोई व्यक्ति कितना ही उत्साही क्यों न हो, तब तक उसके लिए ऐसा कोई प्रयास करना उपयोगी नहीं रहता, जब तक उसके पास पर्याप्त माला में पूंजी न हो और बड़ी-बड़ी मंडियों तक उसकी पहुंच न हो। अठारहवीं शताब्दी में ये बातें अधिकाधिक पूरी होती जा रही थीं।"[1]

दूसरी ओर, कुछ लोगों ने यह विचार प्रकट किया है कि इस निर्यात-अधिशेष को धन की निकासी कहना गलत है, क्योंकि जो भुगतान भारत से किए जा रहे थे, वे तो वास्तव में उस 'अच्छी' सरकार तथा सुख-शान्तिपूर्ण व्यवस्था के मूल्य थे, जो अंग्रेज़ों ने भारत को प्रदान की। जहां तक आरम्भिक अवधि का सम्बन्ध है, हमें जान स्ट्रैची के साक्ष्य को निर्णयात्मक मान लेना चाहिए, जिसके पूर्वज भारत में ऊंचे पदों पर रह चुके थे। उसने लिखा है: "किन्तु यह पूछा जा सकता है कि बंगाल ने अपने विजेताओं की इस तरह जो भेंट चढ़ाई, क्या उसके बदले में उसे अच्छी सरकार तथा शान्ति और सुव्यवस्था के रूप में कुछ-न-कुछ प्रतिफल नहीं मिल गया? निस्संदेह, ऐसा हुआ, और समय आने पर नियमित सरकार और शान्ति तथा सुव्यवस्था का महत्त्व होना ही था। किन्तु अंग्रेज़ों की भारत-विजय के कोई पन्द्रह वर्ष बाद ही इस तथ्य का उस दुखी प्रान्त के लिए कोई महत्त्व न रह गया कि बंगाल अपने पड़ोसियों के आक्रमण से संरक्षित था, कारण उसके नए शासकों ने कहीं अधिक क्रमबद्ध रीति से उसे लूटा। कम्पनी और व्यक्तिगत रूप से उसके कर्मचारियों ने जिस प्रकार बंगाल-प्रदेश का शोषण किया, उस प्रकार मराठों-द्वारा किए गए किसी भी आक्रमण में किसी शत्रु-प्रदेश को शोषित तथा विनष्ट नहीं किया गया था। वास्तव में, धनी बनने के अपने अन्ध आवेश में कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने बंगाली किसानों से उससे कहीं अधिक धन खसोटा, जितना वे अपनी प्राण-रक्षा करके दे सकते थे। ऐसी दशा में उनका मरना स्वाभाविक ही था।"[2]

इस मान्यता का भी सीमा-निर्धारण आवश्यक है कि अंग्रेज़ों ने जिस अच्छी सरकार तथा शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना की, वह अन्ततोगत्वा देश के लिए मूल्यवान थी, क्योंकि अंग्रेज़ों के सैनिक तथा असैनिक प्रशासन का प्रयोग भारत के संसाधनों के विकास तथा भारतीयों की वैभव-वृद्धि के लिए किए जाने के बदले इंग्लैण्ड के हित-साधन के लिए ही अधिक किया जाता था। अतः, इन तथ्यों पर संदेह करने का कोई कारण नहीं है कि उक्त भुगतानों में भारत के प्रति अन्याय निहित था और भारत से जानेवाले उस धन ने औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भिक दौरों में सहायक होकर ब्रिटेन की आर्थिक विकास-प्रक्रिया में हाथ बंटाया।"[3]

6. निष्कर्ष

जावा के अंग्रेज़ गवर्नर सर स्टैम्फोर्ड रैफल्स ने पुरानी डच कम्पनी के बारे में कहा था: "डच कम्पनी एकमात्र लाभ की भावना से अनुप्राणित थी और वे लोग

---

1. डब्ल्यू० कनिंघम, 'ग्रोथ आफ इंग्लिश इण्डस्ट्री ऐण्ड कामर्स : माडर्न टाइम्स' भाग 2, पृष्ठ 610
2. जान स्ट्रैची, 'द एण्ड आफ़ एम्पायर', पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृष्ठ 41
3. वही, पृष्ठ 60

अपने प्रजाजन की उससे भी कम चिन्ता या परवाह करते थे, जितनी पहले के समय में पश्चिम-भारत में बगान लगानेवाला व्यक्ति अपनी जागीर पर काम करनेवाले मानव-समूह की करता था, क्योंकि बगान का मालिक उक्त जन-सम्पत्ति का मूल्य अदा कर चुका होता था, पर कम्पनी को उनका कोई मूल्य नहीं चुकाना पड़ा था। इसीलिए कम्पनी लोगों से उनके सम्भव योगदान का अन्तिम कण, उनके श्रम का अन्तिम अंश, तक ऐंठ निकालने के लिए निरंकुशता के समस्त प्रस्तुत साधनों को काम में लाती थी और इस प्रकार राजनीतिज्ञों की अधिकतम सम्भव व्यवहारकुशलता और व्यापारियों के समस्त एकाधिकारपूर्ण स्वार्थ-भाव से अपनी नीति कार्यान्वित करके स्वेच्छाचारी तथा असभ्यप्राय शासन की बुराइयों को और भी बढ़ा देती थी।"[1] "अंग्रेजी कम्पनी ने भारत में वही मार्ग अपनाए, जो उसकी डच बहन ने ईस्ट इंडीज में अपनाए थे।"[2] उसने देश का व्यापार और उद्योग नष्ट कर दिया। इस काम का आरम्भ उसने यूरोपीय मंडियों में से भारतीय वस्तुओं के बहिष्कार-द्वारा किया। इसके बाद उसने "भारतीय करघा तोड़ दिया, फिर चरखा" और अन्त में "कपास की जन्मभूमि को सूती वस्त्रों से लाद दिया।"[3] उसने बुनकरों और अन्य शिल्पकारों का दमन किया और प्रतियोगी उत्पादकों को कुचल डालने के लिए अमानवीय पापकर्म किए। कच्चे रेशम के तार बनाने और बारीक कपड़ा बुनने से रोकने के लिए कारीगरों के अंगूठे काट डालने के उदाहरण विरल नहीं हैं। इन सबसे बड़ी बात यह कि अंग्रेज भारत से सर्वथा अन्यायमूलक तथा क्रूरतापूर्ण वार्षिक राज-शुल्क लेते थे, जिसके कारण न तो यहां पूंजी का संग्रह हो पाता था और न कृषि अथवा उद्योग का ही कुछ विकास हो पाता था। भारत का उत्पादनशील संगठन विनष्ट हो गया था और जो देश कभी अपने धन-वैभव के लिए विश्व-भर में विख्यात था, उसे निर्धनता, रोग, दरिद्रता और भुखमरी की स्थिति में डाल दिया गया था।

इस देश के आर्थिक ह्रास के साथ ही यहां एक सामाजिक क्रान्ति भी हुई। सहकारितापूर्ण जीवन को प्रश्रय देनेवाला ग्राम-समाज विशृंखल हो गया। व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उद्यम, प्रतियोगिता और मंडी की अर्थ-व्यवस्था की पाश्चात्य मान्यताओं पर आधारित नए आर्थिक सम्बन्ध जड़ें जमाने लगे। मार्क्स ने उस सामाजिक क्रान्ति में मानव की सौभाग्य-सिद्धि के लिए एक साधन के दर्शन किए। उसने लिखा: "यह सत्य है कि हिन्दुस्तान में एक सामाजिक क्रान्ति को जन्म देते समय इंग्लैण्ड केवल निकृष्टतम स्वार्थों से ही अनुप्राणित रहा था और अपनी नीति का परिपालन भी उसने दुष्टतापूर्ण ढंग से ही किया, परन्तु मुख्य प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न तो यह है कि क्या एशिया की सामाजिक स्थिति में आधारभूत क्रान्ति उत्पन्न किए बिना मानवता की सौभाग्य-सिद्धि सम्भव है। यदि नहीं, तो इंग्लैण्ड के अपराध चाहे जो भी रहे हों, वह अनजाने में उस क्रान्ति को सम्भव कर दिखाने में इतिहास का सहायक साधन अवश्य रहा।"[4]

---

1. मार्क्स-द्वारा 'द ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में उद्धृत; देखिए मार्क्स एंजेल्स, 'सेलेक्टेड वर्क्स' (फारेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को), खंड 1, पृष्ठ 313
2. वही
3. वही, पृष्ठ 315
4. वही, पृष्ठ 317

इंग्लैण्ड में भी कृषि के क्षेत्र में होनेवाली क्रान्ति के कारण मज़दूरों को खेतों से हटना पड़ा था और इस तरह बेकारी बढ़ गई थी तथा लोगों को बहुत कठिनाई और कष्टों का सामना करना पड़ा था। पर उसी के बाद औद्योगिक क्रान्ति होने पर उन बेकार मज़दूरों को शीघ्र ही नवस्थापित वस्तु-निर्माण-उद्योगों में लगा दिया गया था और इस तरह परेशानी तथा कष्टों की वह अवधि कम कर दी गई थी। दूसरी ओर, भारत में मज़दूरों को उद्योग से तो अलग कर दिया गया, पर यहां न तो उसी अनुपात में उद्योगों का विकास हुआ और न कृषि का विस्तार, जिसमें उन्हें काम पर लगा लिया जाता। इस देश का आर्थिक विकास तो शोषणमूलक विदेशी व्यवस्था का अनुचर-मात्र बन कर रह गया। सामाजिक क्रान्ति के कारण भारत में सामने आनेवाले मानव-संताप असंख्य-गुने अधिक और दीर्घकालीन रहे।

सन् 1857 तक आर्थिक क्रान्ति के प्रथम चरण का काम पूरा हो चुका था। उधर, नई शक्तियों ने पुनर्निर्माण तथा एक नई व्यवस्था की स्थापना का कार्य आरम्भ कर दिया था। उस वर्ष की घटनाएं निश्चित रूप से भारत के इतिहास के प्राचीन युग के अन्त और एक नए अध्याय के आरम्भ की सूचक थीं।

M89DPD/64—GIPF.